



MATS
UNIVERSITY

NAAC
GRADE **A⁺**
ACCREDITED UNIVERSITY

MATS CENTRE FOR OPEN & DISTANCE EDUCATION

राजनीतिक सिद्धांत

बैचलर ऑफ़ आर्ट्स (बी.ए.)

प्रथम सेमेस्टर



SELF LEARNING MATERIAL

COURSE DEVELOPMENT EXPERT COMMITTEE

- 1- Prof.(Dr.) Reshma Ansari, HOD Hindi Department , MATS University Raipur Chhattisgarh
- 2- Dr. Sudhir Sharma , Subject Expert ,HOD Hindi Department, Kalyan College, Bhilai
- 3- Dr. Kamlesh Gogia Associate Professor, MATS University ,Raipur, Chhattisgarh
- 4- Dr. Sunita Shashikant Tiwari Associate Professor, MATS University Raipur Chhattisgarh
- 5- Dr. Rajesh Kumar Dubey , Subject Expert, Principal , Shahid Rajeev Pandey Government College ,Bhatagaon , Raipur ,Chhattisgarh
- 6- Dr. Naaz Benjamin , Principal ,Government Mata Shabri Naveen Girls College, Bilaspur, Chhattisgarh

COURSE COORDINATOR

Mr. Khileshwar Raxsel ,Assistant Professor, MATS University ,Raipur, Chhattisgarh

COURSE /BLOCK PREPARATION

Dr. Sunita Shashikant Tiwari Associate Professor, MATS University Raipur Chhattisgarh

March, 2025

ISBN-978-81-987917-7-1

@MATS Centre for Distance and Online Education, MATS University, Village- Gullu, Aarang, Raipur-
(Chhattisgarh)

All rights reserved. No part of this work may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form, by mimeograph or any other means, without permission in writing from MATS University, Village- Gullu, Aarang, Raipur-(Chhattisgarh)

Printed & Published on behalf of MATS University, Village-Gullu, Aarang, Raipur by Mr. Meghanadhudu Katabathuni, Facilities & Operations, MATS University, Raipur (C.G.)

Disclaimer-Publisher of this printing material is not responsible for any error or dispute from contents of this course material, this is completely depends on AUTHOR'S MANUSCRIPT.
Printed at: The Digital Press, Krishna Complex, Raipur-492001(Chhattisgarh)

अनुक्रमणिका

माड्यूल	विषय – राजनीति सिद्धांत – I	
माड्यूल – 1	राजनीति विज्ञान : परिभाषा, प्रकृति एवं क्षेत्र	
	इकाई – 1 राजनीति विज्ञान : अर्थ एवं परिभाषा	1 – 10
	इकाई –2 राजनीति शास्त्र का स्वरूप व लक्षण	11–20
	इकाई – 3 राजनीति शास्त्र का क्षेत्र	21–36
माड्यूल – 2	राजनीति शास्त्र की पद्धति	
	इकाई – 4 पर्यवेक्षण विधि	37–45
	इकाई – 5 राजनीति विज्ञान का अन्य विज्ञानों के साथ सम्बन्ध –समाजशास्त्र (सोशियोलॉजी) के साथ सम्बन्ध : इतिहास के साथ सम्बन्ध	46–52
	इकाई– 6 मनोविज्ञान (साइकोलॉजी) के साथ सम्बन्ध : भूगोल (जियोग्राफी) के साथ सम्बन्ध	53–60
माड्यूल – 3	राजनीति विज्ञान एक परिचय	
	इकाई– 7 राजनीति विज्ञान : अर्थ एवं परिभाषा	61–70
	इकाई– 8 राजनीति विज्ञान राज्य एवं सरकार दोनों का अध्ययन है	71–75
	इकाई– 9 परम्परागत राजनीति विज्ञान	76–80
माड्यूल – 4	राजनीति विज्ञान : आधुनिक दृष्टिकोण	
	इकाई – 10 राजनीति विज्ञान मानव क्रियाओं का अध्ययन है	81–90
	इकाई – 11 राजनीति विज्ञान शक्ति का अध्ययन	91–99
	इकाई – 12 राजनीति शास्त्र के क्षेत्र	100–110
	इकाई – 13 राजनीति शास्त्र के दार्शनिक सिद्धांत	111–120
	इकाई – 14 राजनीति विज्ञान का अन्य विज्ञानों के साथ सम्बन्ध	121– 132

Acknowledgement

The Material (Pictures and images) we have used is purely for educational purpose. Every effort has been made to trace the copyright holders of material reproduced in this book. Should any infringement have occurred, the publishers and editors apologize and will be pleased to make the necessary corrections in future of this book.

राजनीति विज्ञान : परिभाषा, प्रकृति एवं क्षेत्र

माड्यूल – 1 – राजनीति विज्ञान : परिभाषा प्रकृति एवं क्षेत्र

इकाई – 1 – राजनीति विज्ञान : अर्थ एवं परिभाषा

राजनीति विज्ञान : परम्परागत दृष्टिकोण राजनीति विज्ञान : अर्थ एवं परिभाषा राजनीति विज्ञान : आधुनिक दृष्टिकोण

राजनीति विज्ञान : अर्थ एवं परिभाषा

राजनीति शास्त्र का स्वरूप व लक्षण

राजनीति शास्त्र का क्षेत्र

दर्शन या विज्ञान

राजनीति शास्त्र की पद्धति

पर्यवेक्षण विधि

राजनीति विज्ञान का अन्य विज्ञानों के साथ सम्बन्ध –

समाजशास्त्र (सोषियोलॉजी) के साथ सम्बन्ध : इतिहास के साथ सम्बन्ध :

अर्थशास्त्र (इकोनॉमिक्स) के साथ सम्बन्ध :

मनोविज्ञान (साइकोलॉजी) के साथ सम्बन्ध : भूगोल (जियोग्राफी) के साथ सम्बन्ध :

अन्य विज्ञानों के साथ सम्बन्ध : सारांश

स्व-प्रगति जाँच के उत्तर

अभ्यास-प्रश्न

शिक्षण उद्देश्य :

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् आप समझ सकेंगे—

राजनीति विज्ञान का परम्परागत दृष्टिकोण:

राजनीति विज्ञान का अर्थ एवं परिभाषा

राजनीति शास्त्र का स्वरूप व लक्षण

राजनीति शास्त्र का क्षेत्र

राजनीति शास्त्र की पद्धति

राजनीति शास्त्र का अन्य विज्ञानों के साथ सम्बन्ध समाजशास्त्र के साथ सम्बन्ध

राजनीतिक सिद्धान्त

परिचय

राजनीति विज्ञान : परम्परागत दृष्टिकोण

ईसा पूर्व छठी सदी से 20वीं सदी के दौरान लगभग द्वितीय महायुद्ध से पूर्व तक जिस राजनीतिक दृष्टिकोण का प्रचलन रहा है, उसे अध्ययन सुविधा की दृष्टि से परम्परागत राजनीतिक दृष्टिकोण कहा जाता है। इसे आदर्शवादी या शास्त्रीय दृष्टिकोण भी कहा जाता है।

राजनीतिक सिद्धान्त

परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्त के निर्माण व विकास में अनेक राजनीतिक विचारकों का योगदान रहा है, यथा—प्लेटो, अरस्तु, सिसरो, सन्त अगस्तीन, एक्विनास, लॉक, रूसो, मान्टेस्क्यू, कान्ट, हीगल, ग्रीन आदि। आधुनिक युग में भी अनेक विद्वान परम्परागत दृष्टिकोण के समर्थक माने जाते हैं जैसे— लियो स्ट्रांस ऐरिक वोगोलिन, ऑकसाट, हन्नाआरेन्ट आदि।

प्राचीन यूनान व रोम में राजनीतिक सिद्धान्त के निर्माण के लिए दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र, इतिहास व विधि की अवधारणाओं को आधार बनाया गया था। किन्तु मध्यकाल में मुख्यतः ईसाई धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण को राजनीतिक सिद्धान्त के निर्माण का आधार बना गया। 16वीं शताब्दी में पुनः जागरण आन्दोलन ने बौद्धिक राजनीतिक चेतना को जन्म दिया, साथ ही राष्ट्र राज्य अवधारणा को जन्म दिया। 18वीं सदी की औद्योगिक क्रान्ति ने राजनीतिक सिद्धान्त के विकास को नई गति प्रदान की। इंग्लैंड की गौरवपूर्ण क्रान्ति फ्रांस व अमेरिका की लोकतांत्रिक क्रान्तियों ने परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्त का विकास 'उदारवादी लोकतांत्रिक राजनीतिक सिद्धान्त' के रूप में किया। परम्परागत राजनीतिक दृष्टिकोण ने राजनीतिक सिद्धान्त के निर्माण के लिए मुख्यतः दार्शनिक, तार्किक, नैतिक, ऐतिहासिक व विधिक पद्धतियों को अपनाया है। 19वीं सदी ने इसमें विधिक, संवैधानिक, संस्थागत, विवरणात्मक एवं तुलनात्मक पद्धतियों पर विशेष बल दिया है। 20वीं शदी के प्रारम्भ से ही परम्परागत दृष्टिकोण ने राजनीतिक सिद्धान्त के निर्माण के लिए एक नई दृष्टि अपनाई जो अतीत की तुलना में अधिक यथार्थवादी है। परम्परागत राजनीतिक विज्ञान ने सरकार एवं उसके वैधानिक अंगों के बाहर व्यवहार में सरकार की नीतियों एवं निर्णयों को प्रभावित करने वाले सामाजिक—राजनीतिक तथ्यों के अध्ययन पर बल दिया। राजनीतिक दल एवं दबावसमूहों के साथ—साथ औपचारिक संगठनों के अध्ययन पर बल दिया। इसने उन सामाजिक—आर्थिक परिस्थितियों एवं आन्दोलनों के अध्ययन पर भी बल दिया जो स्पष्टतः सरकार के औपचारिक संगठन से बाहर तो होते हैं किन्तु उनकी नीतियों एवं कार्यक्रमों को प्रभावित करते हैं।

राजनीति विज्ञान : अर्थ एवं परिभाषा

'राजनीति' का पर्यायवाची अंग्रेजी शब्द पॉलिटिक्स यूनानी भाषा के पॉलिस शब्द से बना है जिसका अर्थ नगर अथवा राज्य है। प्राचीन यूनान में प्रत्येक नगर एक स्वतंत्र राज्य के रूप में संगठित होता था और पॉलिटिक्स शब्द से उन नगर राज्यों से सम्बन्धित शासन की विद्या का बोध होता था। धीरे—धीरे नगर राज्यों (जंजम) स्टेट का स्थान राष्ट्रीय राज्यों ने ले लिया अतः राजनीति भी राज्य के विस्तृतरूप से सम्बन्धित विद्या हो गयी। आधुनिक युग में जब संसार प्रत्येक विषय के वैज्ञानिक व्यवस्थित अध्ययन की ओर झुक रहा है, राज्य से सम्बन्धित विषयों का अध्ययन राजनीति शास्त्र अथवा राजनीति विज्ञान कहा जाता है।

परम्परागत राजनीति विज्ञान के विद्वानों ने राजनीति विज्ञान की भिन्न—भिन्न परिभाषायें दी हैं। इन परिभाषाओं की निम्नांकित पीर्शकों के अन्तर्गत व्याख्या की जा सकती है

— राजनीति विज्ञान राज्य का अध्ययन है — अनेक राजनीति शास्त्रियों की मान्यता है कि प्राचीन काल से ही राजनीति विज्ञान राज्य नामक संस्था के अध्ययन का विषय है। विद्वानों की मान्यता है कि प्राचीन काल से आधुनिक काल तक राजनीति विज्ञान का 'केन्द्रीय तत्व' राज्य ही रहा है अतः राजनीति विज्ञान में राज्य का ही अध्ययन किया

जाना चाहिए। प्रसिद्ध राजनीति शास्त्री ब्लुपली के अनुसार राजनीति शास्त्र वह विज्ञान है जिसका सम्बन्ध राज्य से है और जो यह

समझने का प्रयत्न करता है कि राज्य के आधारभूत तत्व क्या हैं, उसका आवश्यक स्वरूप क्या है, उसकी किन-किन विविध रूपों में अभिव्यक्ति होती है तथा उसका विकास कैसे हुआ? जर्मन लेखक गैरिस का कहना है कि राजनीति शास्त्र में, शक्ति की संस्था के रूप में, राज्य के समस्त सम्बन्धों, उसकी उत्पत्ति, उसके मूर्तरूप (भूमि एवं निवासी) उसके प्रयोजन, उसके नैतिक महत्व, उसकी आर्थिक समस्याओं, उसके अस्तित्व की अवस्थाओं, उसके वित्तीय पहलू, उद्देश्य आदि पर विचार किया जाता है। डॉक्टर गार्नर के अनुसार, "राजनीति शास्त्र का प्रारम्भ तथा अन्त राज्य के साथ होता है।" डॉक्टर जकारिया का कथन है कि "राजनीति शास्त्र व्यवस्थित रूप में उन आधारभूत सिद्धान्तों का निरूपण करता है जिनके अनुसार समष्टि रूप में राज्य का संगठन होता है और प्रभुसत्ता का प्रयोग किया जाता है।

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं से स्पष्ट है कि राजनीति विज्ञान का केन्द्रीय विषय राज्य है। इसका कारण प्लेटो व अरस्तु के समय के चली आ रही यह मान्यता है कि राज्य का अस्तित्व कुछ पवित्र लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए है।

कुछ राजनीति विज्ञान सरकार का अध्ययन है राजनीति शास्त्रियों की राय में राजनीति विज्ञान में राज्य का नहीं अपितु सरकार का अध्ययन किया जाना चाहिए। उनका मत है कि राज्य मनुष्यों का ही संगठन विषेश है तथा उसकी क्रियात्मक अभिव्यक्ति सरकार के माध्यम से होती है। उनका तर्क है कि राज्य एक अमूर्त संरचना है जबकि सरकार एक मूर्त एवं प्रत्यक्ष संस्था है और सम्प्रभुता का प्रयोग करती है। सरकार ही राज्य का वह यंत्र होता है जिसके द्वारा उसके उद्देश्य तथा प्रयोजन कार्य रूप में परिणित होते हैं। अतः राजनीति विज्ञान में सरकार काही अध्ययन होना चाहिए। सीले के अनुसार, 'राजनीति विज्ञान शासन के तत्वों का अनुसंधान उसी प्रकार करता है जैसे सम्पत्ति शास्त्र सम्पत्ति का, जीव विज्ञान जीवन का, बीजगणित अंकों का तथा रेखागणित स्थान एवं लम्बाई-चौड़ाई का करता है।' लीकॉक ने इस संदर्भ में संक्षिप्त एवं सारगर्भित परिभाषा दी है 'राजनीति विज्ञान सरकार से सम्बन्धित शास्त्र है।'।

राजनीति विज्ञान राज्य एवं सरकार दोनों का अध्ययन है

परम्परागत राजनीति विज्ञान

के कुछ विद्वानों की मान्यता है कि केवल राज्य या केवल सरकार की दृष्टि से दी गई परिभाषायें अपूर्ण हैं। वस्तुतः राज्य एवं सरकार का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है और इनमें से किसी एक के अभाव में दूसरे का अध्ययन ही नहीं किया जा सकता है। यदि राज्य अमूर्त संरचना है तो सरकार इसे मूर्त व भौतिक रूप प्रदान करती है तथा इसी प्रकार यदि राज्य प्रभुसत्ता को धारण करने वाला है तो सरकार उस प्रभुसत्ता का उपभोग करती है। अतः राजनीति विज्ञान के अंतर्गत इन दोनों का ही अध्ययन किया जाना चाहिए। पॉल जैनेट के अनुसार – "राजनीति विज्ञान सामाजिक विज्ञानों का वह अंग है जिसमें राज्य के आधार तथा सरकार के सिद्धान्तों पर विचार किया जाता है। डिमांक के अनुसार – "राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध राज्य तथा उसके साधन सरकार से है।" गिलक्राइस्ट ने संक्षिप्त परिभाषा देते हुए कहा है कि "राजनीति विज्ञान राज्य व सरकार की सामान्य समस्याओं का अध्ययन करता है।"

राजनीति विज्ञान मानव तत्व के संदर्भ में अध्ययन है

कुछ राजनीति शास्त्री उपरोक्त परिभाषाओं को पूर्ण नहीं मानते हैं क्योंकि इन परिभाषाओं में मानव तत्व की उपेक्षा की गई है। इनकी मान्यता है कि राज्य या सरकार का अध्ययन

बिना मानव के उद्देश्यहीन एवं महत्वहीन है क्योंकि इनका निर्माण मानव के हित के लिए ही हुआ है। अतः मानव तत्व का अध्ययन अनिवार्य है ।

प्रोफेसर लास्की के अनुसार – “राजनीति शास्त्र के अध्ययन का सम्बन्ध संगठित राज्यों से सम्बन्धित मनुष्यों के जीवन से है ।” राजनीति शास्त्र के प्रसंग में मानव तत्व का महत्व व्यक्त करते हुए एन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज में हरमन हेलर ने तो यहाँ तक कहा है कि “राजनीति शास्त्र के सर्वांगीण स्वरूप का निर्धारण उसकी मनुष्य विषयक मौलिक मान्यताओं द्वारा होता है” । वस्तुतः इसका अर्थ यह है कि राजनीति विज्ञान एक ऐसा सामाजिक विज्ञान है जिसके अन्तर्गत इस तथ्य का भी अध्ययन किया जाता है कि किसी संगठित राजनीतिक समाज में स्वयं मनुष्य की स्थिति क्या है । राजनीति विज्ञान व्यक्ति के अधिकार व स्वतंत्रताओं के अध्ययन के साथ समाज में विभिन्न समुदायों व वर्गों के प्रति सरकार की नीतियों का भी अध्ययन करता है ।

अतः राजनीति विज्ञान की परिभाषा हम ऐसे शास्त्र के रूप में कर सकते हैं जिसका सम्बन्ध उसके राज्य नामक संगठन से होता है और जिसके अंतर्गत स्वभावतः सरकार का भी विस्तृत अध्ययन सम्मिलित होता है। संक्षेप में राजनीति विज्ञान के अंतर्गत राज्य सरकार तथा अन्य सम्बन्धित संगठनों व संस्थाओं का, मानव के राजनीतिक जीवन के संदर्भ में अध्ययन किया जाता है ।

राजनीति विज्ञान से सम्बन्धित परम्परागत परिभाषायें निम्न प्रवर्तित हैं—

अपने पारम्परिक संदर्भ में राजनीति विज्ञान राज्य व सरकार दोनों का अध्ययन करता है। राजनीति विज्ञान का राज्य विषयक अध्ययन मूलतः संस्थात्मक है क्योंकि उसमें केन्द्रीय महत्व राज्य अथवा सरकार का है, अन्य तथ्य मात्र सांयोगिक हैं ।

राजनीति विज्ञान औपचारिक रूप से राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन करते हुए राज्य के संविधान

में निहित कानूनी वास्तविकता को अध्ययन का आधार बनाता है ।

परम्परागत राजनीति विज्ञान राजनीतिक प्रक्रियाओं के अध्ययन की अपेक्षा राज्य की नीतियों के अध्ययन पर बल देता है ।

राजनीति विज्ञान : आधुनिक दृष्टिकोण

आधुनिक काल में परम्परागत राजनीति विज्ञान की अध्ययन सामग्री एवं राज्य सम्बन्धी धारणाओं की आलोचना हुई है। आलोचकों के अनुसार राज्य व राजनीतिक संस्थाओं की परिधि से परे भी प्रक्रियाएँ एवं एक परिवेश देखने को मिलता है जिसके अध्ययन की अपेक्षाराजनीति विज्ञान की गरिमा व उपयोगिता के लिए अनर्थकारी है । इस मत के प्रतिवादक यह मानते हैं कि सभी समाज विज्ञानों की प्रेरणास्रोत व अध्ययन का केन्द्र बिन्दु मानव-व्यवहार है और राजनीति विज्ञान समान्यतः मानव व्यवहार की राजनीतिक पहलू का अध्ययन है ।

द्वितीय महायुद्ध से पूर्ण कतिपय राजनीतिक विचारक राजनीति विज्ञान के अध्ययन में मनुष्य की राजनीतिक प्रक्रियाओं एवं गतिविधियों को प्रमुख स्थान दिये जाने के प्रति आग्रहशील रहे हैं। बाल्टर बैज हॉट, बुडरोविलसन, लॉर्ड ब्राइस आदि ने राजनीति के यथार्थवादी अध्ययन पर बल दिया। ग्राम वालास, आर्थर बैन्टले, कैटलिन और लासवेल ने मानव एवं उसके व्यवहार के अध्ययन पर बल दिया । चार्ल्स मैरियम ने 1925 की अमेरिकी राजनीति विज्ञान एसोसिएशन के सम्मेलन में राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक तकनीकों एवं प्रविधियों के विकास व प्रयोग पर बल दिया। 1930 में लासवेल ने अपनी

पुस्तक "साइको – पैथोलॉजी एण्ड पॉलिटिक्स" में राजनीतिक घटनाओं एवं क्रियाओं की व्याख्या के लिए फ्राइड के मनोविज्ञान को आधार बनाया ।

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व अमेरिका का षिकागो विष्वविद्यालय व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान का कार्यक्षेत्र बन चुका था। परम्परागत राजनीति विज्ञान से आधुनिक राजनीति विज्ञान तक की विकास प्रक्रिया में द्वितीय महायुद्ध की घटना का विशेष महत्व है। जिसके बाद की दुनिया पूर्व की दुनिया से राजनीतिक संरचना, औद्योगिक विकास, वैज्ञानिक व तकनीकी उपलब्धियों तथा सैन्य क्षमता की दृष्टि से अत्यधिक भिन्न थी । विष्व स्तर पर हुए इस गम्भीर परिवर्तन ने मानव समाज व संस्कृति की परम्परागत अवधारणाओं के स्थान पर नई अवधारणाओं को जन्म दिया। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् इस वातावरण में चार्ल्स मैरियम के अपनी रचना "न्यू आस्पेक्ट ऑफ पॉलिटिक्स" में राजनीति विज्ञान के अध्ययन हेतु नवीन एवं वैज्ञानिक तकनीकों के पूर्ण समर्थन किया ।

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि द्वितीय महायुद्ध ही राजनीति विज्ञान में आई व्यवहारवादी क्रान्ति का एकमात्र कारण नहीं है। विष्व युद्ध ने वस्तुतः राजनीति विज्ञान की पहले की कमियों को उजागर किया। इन कमियों को पूरा करने की दिशा अन्य स्रोतों से भी प्राप्त हुई, और इन स्रोतों में सहयोगी

समाज विज्ञानों में यह हुआ परिवर्तन मुख्य है कि प्राकृतिक विज्ञानों की तरह समाज शास्त्रों को भी अधिकाधिक व्यवस्थित व वैज्ञानिक रूप प्रदान किया जाये उपरोक्त पृष्ठभूमि में 1960 के दशक में अमेरिका के षिकागो विष्वविद्यालय के राजनीतिशास्त्रियों ने राजनीति विज्ञान को दार्शनिक पद्धति से मुक्त करने एवं उसके अध्ययन को अधिक से अधिक वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया । राजनीति विज्ञान को सामाजिक विज्ञानमानते हुए इसके अध्ययन को पूर्ण बनाने हेतु समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, मानवशास्त्रजैसे समाज विज्ञानों की वैज्ञानिक पद्धतियों को अपनाना उचित समझा गया। इन वैज्ञानिकोंमें डेविड ईस्टन, कैटलिन, लासवेल आदि प्रमुख हैं।

राजनीति विज्ञान : अर्थ एवं परिभाषा

राजनीति विज्ञान की आधुनिक अवधारणाओं की दृष्टि से जार्ज कैटलिन, डेविड ईस्टन, हैलॉर्ड लासवेल व काप्लान विशेष उल्लेखनीय हैं । इन विद्वानों ने राजनीति विज्ञान सम्बन्ध में अपने तत्वों में राजनीति के वास्तविक एवं व्यावहारिक संदर्भों पर बल देते हुए उसे शक्ति, प्रभाव राजनीतिक औचित्य एवं सत्ता का अध्ययन माना है ।

आधुनिक दृष्टिकोण के समर्थक राजनीति शास्त्रियों द्वारा राजनीति विज्ञान के बारे में जो विचार प्रस्तुत किये गए हैं उनको निम्नलिखित बिन्दुओं के अंतर्गत स्पष्ट किया जा सकता है—

(प) राजनीति विज्ञान मानव क्रियाओं का अध्ययन है — राजनीति विज्ञान के आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति विज्ञान मानव के राजनीतिक व्यवहार एवं क्रियाओं का अध्ययन करता है। मानव व्यवहार को गैर राजनीतिक — कारक भी प्रभावित करते हैं। इन सभी कारकों का राजनीति विज्ञान में अध्ययन किया जाता है। ए. हर्ड एवं एस. हंटिंग्टन का कथन है, "राजनीतिक व्यवहारवाद शासन को मानव और उसके समुदायों के कार्यों की एक प्रक्रिया के रूप में स्वीकारता है" । हजार व इस्टीवेसन का यह विचार है कि "राजनीति विज्ञान अपने अध्ययन क्षेत्र में प्राथमिक रूप से व्यक्तियों में पारस्परिक व सामूहिक तथा राज्य एवं राज्यों के मध्य प्रकट शक्ति सम्बन्धों से सम्बन्धित है ।

(पप) राजनीति विज्ञान शक्ति का अध्ययन है दु कैटलिन व लॉसवेल इस विचार के समर्थक हैं । दोनों के विवेचन का मुख्य आधार मनोविज्ञान है। कैटलिन ने 1927-28 में राज्य के स्थान पर मनुष्य के राजनीतिक क्रियाकलाप के अध्ययन पर बल देते हुए राजनीति को

प्रभुत्व एवं नियंत्रण के लिए किये जाने वाला संघर्ष बताया है। उसके मतानुसार संघर्ष का मूल स्रोत मानव की यह इच्छा रही है कि दूसरे लोग उसका अस्तित्व मानें। 1962 में अपनी पुस्तक 'सिस्टेमैटिक पॉलिटिक्स' में कैटलिन ने लिखा है— "नियंत्रण भावना के कारण जो कार्य किये जाते हैं तथा नियंत्रण की भावना पर आधारित सम्बन्धों की इच्छाओं के कारण जिस ढांचे व इच्छाओं का निर्माण होता है, राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध उन सबसे है। अन्य शक्तिवादी विचारक लासवेल की मान्यता है कि समाज में कतिपय मूल्यों व मूल्यवान व्यक्तियों की प्राप्ति के लिए हर व्यक्ति अपना प्रभाव डालने की चेष्टा करता है तथा प्रभाव चेष्टा में शक्ति भाव निहित रहता है। अतः लासवेल के अनुसार

“ राजनीति शास्त्र का अभीष्ट वह राजनीति है जो बतलाये कि कौन, क्या, कब और कैसे प्राप्त करता है। उसके अनुसार राजनीति क्रियाकलाप का प्रारम्भ उस परिस्थिति से होता है जिसमें कर्ता विभिन्न मूल्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है तथा शक्ति जिसकी आवश्यक पड़ती है।

राजनीति विज्ञान राज्य-व्यवस्थाओं का अध्ययन है इस दृष्टिकोण के समर्थक डेविड ईस्टन, आमंड, आर. केगन आदि हैं। यह दृष्टिकोण राजनीति विज्ञान को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण में परिभाषित करता है। इनकी मान्यता है कि सम्पूर्ण समाज स्वयं में एक व्यवस्था है और राज्य व्यवस्था इस सम्पूर्ण समाज व्यवस्था की एक उप-व्यवस्था है तथा वह उसके एक अभिन्न भाग के रूप में होती है। राज्य व्यवस्था में अनेक क्रियाशील संरचनाएँ होती हैं जैसे संविधान सरकार के अंग, राजनीतिक दल, दबाव समूह, लोकमत एवं निर्वाचन एवं मानव-व्यवहार इस व्यवस्था का अभिन्न भाग हैं। संक्षेप में इन विद्वानों की मान्यता है कि राजनीति विज्ञान संपूर्ण समाज व्यवस्था के अंग के रूप में राज-व्यवस्था की इन संरचनाओं की पारस्परिक क्रियाओं एवं सम्बन्धों तथा मानव के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन करता है। राजनीति विज्ञान राज्य व्यवस्था के अध्ययन के अंतर्गत निम्न तथ्यों पर अधिक बल देता है – सम्पूर्ण समाज व्यवस्था के अंग के रूप में राजनीतिक प्रक्रिया का अध्ययन, व्यवस्था की संरचना एवं समूहों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन।

(पअ) राजनीति विज्ञान निर्णय प्रक्रिया का अध्ययन है इस दृष्टिकोण के समर्थक राजनीति शास्त्री यह मानते हैं कि राजनीति विज्ञान सरकार का अध्ययन करते हुए समाज या राज्य में विद्यमान परिस्थितियों के सम्बन्ध में सरकार या शास्त्र के नीति सम्बन्धी निर्णय लेने की प्रक्रिया का भी अध्ययन करता है। इस कारण राजनीति विज्ञान ऐसा विज्ञान है जो किसी शासन की नीति – प्रक्रिया एवं उसके द्वारा नीति निर्माण का अध्ययन करता है। विशेषकर इन दोनों को प्रभावित करने वाले कारकों के संदर्भ में, इस दृष्टिकोण की मान्यता है कि मानव प्रकृति के संदर्भ में सरकार द्वारा नीति निर्माण-प्रक्रिया का अध्ययन किया जाना चाहिए। वास्तविक राजनीतिक जीवन में शासन के नाम पर निर्णय लेने का कार्य स्वयं व्यक्ति करते हैं और इसलिए निर्णय निर्माण प्रक्रिया पर निर्णय कर्ताओं के व्यक्तिगत, अभिरुचि, संस्कृति, धर्म, राजनीतिक विचारधारा, मानसिक स्तर, निर्णय लेने की शक्ति आदि तत्वों का व्यापक प्रभाव पड़ता है। अतः यह कहा जा सकता है कि आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति विज्ञान मनुष्य के सामाजिक राजनीतिक जीवन का अध्ययन करता है। इसके अंतर्गत राजनीतिक प्रक्रियाओं के साथ-साथ राजनीतिक संगठनों का भी अध्ययन किया जाता है। पिनॉक एवं स्मिथ के अनुसार क्या है “यथार्थ” तथा क्या होना चाहिए “आदर्श” और इन दोनों के बीच यथासम्भव समन्वय कैसे प्राप्त किया जाए, इस दृष्टि से हम सरकार तथा राजनीतिक प्रक्रिया के व्यवस्थित अध्ययन को राजनीति विज्ञान कहते हैं।

राजनीति शास्त्र का स्वरूप व लक्षण (Definition of Political Science)

—राजनीति शास्त्र के विविध नाम भारत के प्राचीन विद्वान इस शास्त्र के लिए दण्डनीति, राजधर्म शास्त्र, तत्व शास्त्र, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि अनेक नामों का प्रयोग करते थे। आचार्य चाणक्य ने राजनीति शास्त्र विषयक जो महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा था, उसे उन्होंने अर्थशास्त्र नाम दिया था। उन्होंने अर्थशास्त्र शब्द का अभिप्राय इस प्रकार स्पष्ट किया है “मनुष्यों



किन-किन विविध रूपों में अभिव्यक्त करता है, और उसका विकास किस प्रकार होता है ।' एक अन्य जर्मन लेखक गैरियस ने राजनीति शास्त्र का लक्षण इस प्रकार प्रतिपादित किया है – 'राजनीति शास्त्र इन बातों का प्रतिपादन करता है, शक्ति (दण्ड) की संस्था के रूप में राज्य का क्या स्वरूप है, इसका दूसरों के साथ क्या सम्बन्ध है, इसका मूल क्या है, इसका मूर्तरूप (भूमि और जनसमुदाय) क्या है, इसका प्रयोजन क्या है, इसका नैतिक महत्व क्या है, इसकी आर्थिक समस्यायें क्या हैं, और इसके उद्देश्य क्या हैं?' फ्रेंच विद्वान पाल जाने के अनुसार 'राजनीति शास्त्र सामाजिक विज्ञान का वह अंग है, जो राज्य के आधारों और शासन के सिद्धान्तों पर विचार करती है।' प्रसिद्ध विद्वान पैली के अनुसार, 'राजनीति शास्त्र शासन के सिद्धान्तों और कार्यों का उसी प्रकार विवेचन करता है जैसे कि सम्पत्ति शास्त्र सम्पत्ति का, जीव विज्ञान जीवन का, बीजगणित अंकों का और ज्यामितीय स्थान व दूरी का ।'

राजनीति शास्त्र का क्षेत्र (The Scope of Political Science)

– राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र (स्कोप) दृ राजनीति शास्त्र के जो विविध लक्षण ऊपर दिये गये हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि इस शास्त्र का प्रतिपाद विषय 'राज्य' है जो मनुष्यों के एक विषिष्ट समुदाय का नाम है। राज्य रूपी यह समुदाय अन्य समुदायों से भिन्न होता है। परिवार, कुल, जाति, संप्रदाय आदि भी मनुष्यों के ही भिन्न-भिन्न प्रकार के समुदाय हैं। पर ये सब समुदाय राज्य से भिन्न व हीन होते हैं। राजनीति शास्त्र का प्रतिपाद विषय यह राज्य ही होता है, और इस शास्त्र में राज्य पर सब दृष्टियों से विचार किया जाता है। राज्य क्या है, उसकी उत्पत्ति किस प्रकार हुयीं, उसका प्रयोजन व उद्देश्य क्या है, वह अपने प्रयोजन व उद्देश्यों की पूर्ति किस प्रकार करता है, इसके लिए वह अपना क्या संगठन बनाता है, अपनी इच्छा व आकांक्षा को अभिव्यक्त व पूर्ण करने के लिए वह किन-किन साधनों का अवलम्बन करता है, ये सब बातें राज्य के स्वरूप पर प्रकाश डालती हैं, और इन सबका प्रतिपादन करना ही राजनीति शास्त्र का कार्य है।

राजनीति शास्त्र जब राज्य पर विचार करता है, तो साथ ही शासन या सरकार का भी प्रतिपादन करता है। राज्य और सरकारमें साध्य (मदक) और साधन (डमंदे) का सम्बन्ध है। अपने प्रयोजन की पूर्ति के लिए राज्यजिस साधन का आश्रय लेता है, उसी को सरकार (गवर्नमेन्ट) कहते हैं। अतः यह भी आवश्यक है, कि राजनीति शास्त्र में राज्य के साथ-साथ सरकार पर भी विचार किया जाए। कोई राज्य सरकार के बिना नहीं रह सकता। राज्य की शक्ति की अभिव्यक्ति और उसकाप्रयोग सरकार द्वारा ही होते हैं। अतः सरकार की सत्ता राज्य के लिए अनिवार्य होती है, और राजनीति शास्त्र में उस पर विचार करना भी आवश्यक होता है। इसी बात को दृष्टिमें रखकर सर फैंडरिक पोलक, गैटल आदि विद्वानों ने जहाँ राज्य को राजनीति शास्त्र का प्रतिपाद विषय माना है वहाँ साथ ही सरकार को भी इस शास्त्र का प्रतिपाद विषय स्वीकार किया है।

पोलक ने राजनीति शास्त्र को दो भागों में विभक्ति किया है (1) सैद्धान्तिक राजनीति शास्त्र, और (2) व्यावहारिक राजनीति शास्त्र। राजनीति शास्त्र के सैद्धान्तिक व शास्त्रीय भाग में राज्य के मूल तत्वों, सिद्धान्तों और आदर्शों पर विचार किया जाता है। व्यावहारिक व क्रियात्मकराजनीति शास्त्र में उन साधनों व उपायों का विवेचन होता है जिनके द्वारा राज्य अपनी सत्ता व शक्ति को अभिव्यक्त और प्रयुक्त करता है। राजनीति शास्त्र के व्यावहारिक भाग का सम्बन्ध प्रधानतया सरकार, उसके विविध भेदों व कार्य पद्धति के साथ होता है। जेलीनेक के अनुसार भी राजनीति शास्त्र के दो भाग होते हैं, सैद्धान्तिक (थ्योरिटिकल) और व्यावहारिक (प्रेक्टिकल)। गेटल ने राजनीति शास्त्र के क्षेत्र को विशद रूप से प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि राजनीति शास्त्र पहले इस बात का अध्ययन करता है कि इतिहासमें विविध प्रकार के राजनीतिक संघटनों का किस ढंग से विकास हुआ और राज्य किसप्रकार अपने वर्तमान रूप में आया। इसके बाद राज्य के आधारभूत तत्वों और उसके सिद्धान्तों

का अनुशीलन राजनीति शास्त्र में किया जाता है, और इस बात पर भी विचार किया जाता है कि राज्य का क्या स्वरूप व आदर्श होना चाहिए। साथ ही राजनीति शास्त्र में राज्यों की विविध शासन पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन भी होता है। इस प्रकार गेटल के अनुसार, राजनीति शास्त्र के क्षेत्र को तीन भागों में बाँटा जा सकता है (1) ऐतिहासिक (2) सैद्धान्तिक और (3) व्यावहारिक।

कुकमदक गार्नर के अनुसार भी राजनीति शास्त्र के क्षेत्र को तीन भागों में बाँट सकते हैं

(1) राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई और उसका स्वरूप क्या है, इन बातों का अनुशीलन। (2) राजनीतिक संस्थाओं के विविध रूपों के स्वरूप व इतिहास का अध्ययन, और (3) इन दोनों के अनुशीलन के आधार पर इस बात का परिज्ञान कि राजनीतिक उन्नति और विकास के क्या नियम हैं?

—राजनीति शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय ऊपर जो विचार किया गया है, उसे सम्मुख रखकर हम राजनीति शास्त्र का यह लक्षण कर सकते हैं, कि राजनीति शास्त्र सामाजिक विज्ञान का वह विषिष्ट अंग है, जिसके प्रतिपाद्य विषय राज्य और उसका संगठन (शासन व सरकार) होते हैं।

राजनीति शास्त्र में निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया जाता है मुख्यतया

—(1) राज्य का वर्तमान स्वरूप, (2) राज्य का ऐतिहासिक स्वरूप, और (3) राज्य का आदर्श स्वरूप, या राज्य को किस प्रकार का होना चाहिए।

(1) राज्य का वर्तमान स्वरूप ऐतिहासिक विकास द्वारा वर्तमान समय में राज्य एक विषेश स्वरूप प्राप्त कर चुका है। इस युग में राज्य मनुष्यों का सर्वोपरि व सर्वोत्तम उत्कृष्ट समुदाय है। धार्मिक, आर्थिक व सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में मनुष्यों के जो अन्य विभिन्न समुदाय हैं, वे सब राज्य के अधीन हैं। राज्य उनकी शक्ति व कार्य को मर्यादित करता है। अन्य कोई जन समुदाय राज्य की प्रतिस्पर्द्धा नहीं कर सकता, सबको उसके शासन में रहना पड़ता है। अतः राजनीति शास्त्र इन बातों पर विचार करता है, कि वर्तमान समय में राज्य संस्था का क्या स्वरूप है, उसका क्या प्रयोजन है, उसके क्या उद्देश्य हैं, और उसका कार्यक्षेत्र क्या है, इस समय राज्यों के कौन-कौन से भेद व प्रकार हैं, और राज्य अपने प्रयोजन व उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किस प्रकार अपनी आकांक्षा को अभिव्यक्त करता है, तथा इस आकांक्षा को पूरा करने के लिए वह किस प्रकार के साधनों का अवलम्बन करता है। राज शक्ति को प्रयुक्त करने के लिए साधन स्वरूप जिस सरकार का निर्माण होता है, उसका वर्तमान समय में क्या रूप है, और इससरकार का जनता के साथ क्या सम्बन्ध है। गेटल के शब्दों में हम इस विवेचना को वर्णनात्मक राजनीति शास्त्र कह सकते हैं, क्योंकि राज्य के वर्तमान स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए हम केवल यथार्थता का ही वर्णन कर रहे होते हैं।

—(2) राज्य का ऐतिहासिक स्वरूप मानव समाज की अन्य संस्थाओं के समान राज्य का वर्तमान रूप भी ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। राज्यों का जो स्वरूप हम अब देखते हैं, वह सम्भवतः पिछली दो सदियों में विकसित हुआ है। राज्य संस्था का प्रारम्भ कुलों द्वारा हुआ था। एक कुल व परिवार के सब सदस्य शुरु में एक राजनीतिक संगठन में संगठित हुए थे। अनेक कुल मिलकर फिर एक जन (कबीला या ट्राइब) के रूप में संगठित हुए। जब ये जन किसी एक निश्चित भूखण्ड पर बस गये तो जनपदों का विकास हुआ। प्राचीन काल के यह जनपद छोटे-छोटे होते थे। ग्रीक इतिहास में इन्हीं को 'नगर राज्य (सिटी इस्टेट)' कहा जाता था। धीरे-धीरे छोटे-छोटे नगर राज्य परस्पर मिलकर संघों (लीग) में संगठित होने लगे। ग्रीस की 'एथीनियन लीग' और 'एकियन लीग' इस प्रकार के संघ राज्यों के उदाहरण हैं। भारत में 'वज्जिय संघ' और 'अंधक वज्जिय संघ' आदि संघ राज्यों

रूप में अनेक नगर-राज्य ही परस्पर मिलकर संगठित हो गये थे । कुछ समय बाद इतिहास में साम्राज्यों का विकास हुआ, और अनेक षक्तिषाली महाजनपदों ने अपने पड़ोसी राज्यों को विजय कर अपने साम्राज्यों का निर्माण किया । मध्य काल में राज्यों का स्वरूप सामन्त पद्धति (फ्यूडल सिस्टम) पर आश्रित था । एक षक्तिषाली सम्राट या महाराजाधिराज की अधीनता में बहुत से छोटे-बड़े सामन्त व राजा अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्रता के साथ शासन करते थे । वर्तमान समय में फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, इटली आदि के रूप में जो सम्पूर्ण – प्रभुत्व-संपन्न (सॉवरेन) राज्य विद्यमान हैं, उनका विकास विषेश रूप से सत्तरहवीं और अठारहवीं सदियों में हुआ । इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि राज्य संस्था का स्वरूप सदा एक-सा नहीं रहा । अन्य मानवीय संस्थाओं के समान राज्य संस्था में भी विकास हुआ है, और विकास की यह प्रक्रिया इस समय भी जारी है । विज्ञान की उन्नति के कारण अब अमेरिका और रूस सदृश्य विषाल व षक्तिषाली राज्यों के हाथों में ऐसे प्रलयकारी अस्त्र-षस्त्र आ गये हैं, जिनके कारण अन्य छोटे व निर्बल राज्य अपनी सत्ता के लिए इन प्रबल राज्यों पर आश्रित होते जाते हैं । कोई आश्चर्य नहीं, कि निकट भविष्य में ही वह समय आ जाये, जबकि बेल्जियम व फ्रांस सदृश्य राज्यों के लिए अपनी वर्तमान स्थिति व स्वरूप को कायम रख सकना सम्भव न रहे । अतः राजनीति शास्त्र इस प्रश्न पर भी विचार करता है, कि राज्य का स्वरूप भिन्न-भिन्न समयों में कैसा रहा है, उसकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई, और उसमें कैसे निरंतर विकास होता गया । साथ ही, मनुष्य के राज्य सम्बन्धी विचारों में भी निरंतर परिवर्तन व विकास होता रहा है । किसी समय लोग राजा को दैवी मानते थे । राजा इन्द्र, मित्र, वरुण, यम आदि देवताओं के अंश से निर्मित होता है, यह विचार किसी समय भारत में भी प्रचलित था । यूरोप के लोग तो अठारहवीं सदी के अन्तिम भाग तक राजा के दैवीय अधिकार को स्वीकार करते थे । वर्तमान युग में राजनीति शास्त्र के विद्वानों का यह मत है, कि राज्य की प्रभुत्व षक्ति (सॉवरेनिटी) किसी एक व्यक्ति या किसी एक श्रेणी में निहित न होकर सर्वसाधारण जनता में निहित होती है । जिन व्यक्तियों के हाथ से राज्य षक्ति का प्रयोग होता है, वे अपने इस अधिकार को जनता द्वारा ही प्राप्त करते हैं । पर यह विचार बहुत पुराना नहीं है । राज्य सम्बन्धी विचारों में निरन्तर परिवर्तन होते रहने के कारण राजनीति शास्त्र यह भी विवेचना करता है, कि मनुष्यों के राजनीतिक विचारों में कैसे विकास हुआ और इस विकास का राज्य के स्वरूप पर क्या प्रभाव पड़ा । यह ऐतिहासिक विवेचन राजनीति शास्त्र का एक महत्वपूर्ण अंग है ।

(3) राज्य का आदर्श व भावी स्वरूप ऐतिहासिक विकास के कारण राज्य अपने जिस स्वरूप को वर्तमान समय में प्राप्त किये हुए हैं, उससे अन्तिम नहीं कहा जा सकता । इस समय अनेक ऐसे वाद या सिद्धान्त विकसित हो रहे हैं, जो राज्य के कार्यक्षेत्र, उद्देश्य और स्वरूप के सम्बन्ध में नये विचार जनता के सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं । समाजवाद चाहता है कि राज्य मनुष्यों के आर्थिक जीवन को भी पूरी तरह अपने नियंत्रण में ले ले । ऐसे विचारक भी विद्यमान हैं जो राज्य को अन्य जन समुदायों (आर्थिक, सांस्कृतिक आदि) की अपेक्षा किसी भी प्रकार ऊँचा स्थान नहीं देना चाहते । यह बहु समुदायवादी विचारक राज्य को आर्थिक व धार्मिक समुदायों के समकक्ष बना देना चाहते हैं । कुछ विचारक राज्य संस्था की आवश्यकता को भी स्वीकार नहीं करते और एक ऐसे समाज की कल्पना करते हैं, जिसमें राज्य की सत्ता ही नहीं रहेगी । मनुष्यों में प्रचलित इस विभिन्न विचारधाराओं का मानव समाज के संगठन व स्वरूप पर बहुत प्रभाव पड़ा है । कार्ल मार्क्स ने समाजवाद की जिस नई विचारधारा का प्रारम्भ किया था, वह रूस, चीन आदि अनेक देशों में क्रियात्मक रूप भी धारण कर चुकी है । इन समाजवादी राज्यों में राज्य व सरकार का स्वरूप, उनका कार्यक्षेत्र व उनके आदर्श अन्य वर्तमान राज्यों की अपेक्षा बहुत भिन्न हैं । अतः राजनीति शास्त्र इस विषय पर भी विचार करता है, कि भविष्य में राज्य और सरकार का क्या स्वरूप होना चाहिए और राज्य की प्रगति किस दिशा में होनी चाहिए । इस सम्बन्ध में जो विविध वाद व सिद्धान्त इस समय प्रचलित हैं, उनका प्रभाव राज्य के भावी स्वरूप पर पड़ना अपेक्षणीय है । अतः राजनीति शास्त्र इन सब वादों व विचारधाराओं पर भी प्रकाश डालता है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि राजनीति शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय राज्य और सरकार हैं। इतिहास में भिन्न-भिन्न समयों पर राज्य और सरकार का क्या स्वरूप रहा है, उनमें किस प्रकार निरंतर विकास होता रहा है, वर्तमान समय में उनका क्या स्वरूप है, और राज्य व सरकार के भावी स्वरूप और आदर्श के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचारकों के क्या विचार हैं। इन्हीं सब विषयों पर राजनीति शास्त्र प्रकाश डालता है। पर यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए, कि राजनीति शास्त्र फ्रांस, ब्रिटेन, चीन, भारत आदि विषिष्ट राज्यों पर विचार नहीं करता है। वर्तमान समय में जो बहुत से राज्य पृथ्वी पर विद्यमान हैं, या पहले रह चुके हैं, उन सब में जो 'राज्यत्व' सामान्य हैं, वही इस शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय हैं। राजनीतिक विचारों व संस्थाओं का प्रतिपादन करते हुए भूत व वर्तमान काल के विषिष्ट – राज्यों का उल्लेख इस शास्त्र में अवश्य किया जाता है। पर यह उल्लेख निर्देशन के रूप में होता है, प्रधान प्रतिपाद्य विषय के रूप में नहीं। राजनीति शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय 'राजत्व' सामान्य है, राज्य – विषेश नहीं।

एक या अनेक राजनीति शास्त्र अनेक विद्वानों के मतानुसार राजनीति शास्त्र कोई एक विधा नहीं है। बहुत-सी ऐसी विधायें व विज्ञान हैं, जिन्हें हम राजनीति शास्त्र कह सकते हैं। इसीलिए इस शास्त्र का प्रयोग वे बहुवचन में करते हैं। आधुनिक समय में राज्य संस्था का कार्य क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है, कि उसका स्वरूप केवल राजनीतिक ही नहीं रह गया है। हम राज्य रूपी जनसमुदाय पर अनेक दृष्टियों से विचार कर सकते हैं। उदाहरणार्थ राज्य जनता से कर वसूल करता है, और उसका सार्वजनिक हित के लिए उपयोग करता है। राज्य के इस आय-व्यय का अनुशीलन करने के लिए एक पृथक विज्ञान है, जिसे राजकीय आय – व्यय (पब्लिक फाइनेंस) कहते हैं। इसी प्रकार, राज्य पर विचार करने के लिए एक अन्य दृष्टिकोण यह है, कि राज्य उस जनसमुदाय को कहते हैं, जिसका संगठनकानून के आधार पर बना हो। राज्य का प्रत्येक निवासी एक निश्चित विधान व कानून का अनुसरण करता है। उसके शासन में रहता है। राज्य के इस कानूनी स्वरूप का अनुशीलन करने के लिए एक प्रथक विज्ञान है, जिसे विधान – शास्त्र (ज्यूरिसप्रयूडेन्ट्स) कहते हैं। इसी प्रकार, राज्य जहाँ एक सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्न 'सॉवरेन' जन समुदाय है, वहाँ साथही वह अपने ही सदस्य अन्य बहुत से राज्यों के साथ सम्बद्ध भी है, अन्य राज्यों के साथ उसके अनेक प्रकार के सम्बन्ध भी हैं। वह अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भी अपनी स्वतंत्र व सर्वोपरिसत्ता रखता हुआ भी अन्य राज्यों के साथ बर्ताव व व्यवहार करते हुए कुछ निश्चित नियमों का अनुसरण करता है। जो विज्ञान इनका अनुशीलन करता है, उसे अन्तर्राष्ट्रीय विधान (इण्टरनेशनल लॉ) कहते हैं। राजकीय आय-व्यय शास्त्र, विधान – शास्त्र और अन्तर्राष्ट्रीय विधान आदि विविध विज्ञानों का प्रतिपाद्य विषय मुख्यतः राज्य ही होता है, अतः उन्हें भी राजनीति शास्त्र ही समझना चाहिए, और यह मानना चाहिए कि राजनीति शास्त्र एक न होकर अनेक होते हैं। राजनीति शास्त्र एक विज्ञान न होकर विज्ञानों का एक समूह व वर्ग होता है।

पर बहुसंख्यक विद्वान इस बात से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि जो

सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि जो बहुत से विज्ञान विद्याओं के सामाजिक विज्ञान नामक वर्ग के अंतर्गत हैं, उनमें राजकीय आय – व्यय शास्त्र, विधानशास्त्र आदि का भी परिगणन करना चाहिए। यह सब विज्ञान समाज में रहते हुए मनुष्य की कतिपय विषिष्ट क्रियाओं को अपना प्रतिपाद्य विषय बनाते हैं, इन सबको अपनी पृथक-पृथक सत्ता है क्योंकि राज्य भी मानव समाज का भी एक विषिष्ट रूप है, अतः उस पर भी विभिन्न दृष्टियों से विचार करने वाले अनेक विज्ञानों की सत्ता सर्वथा स्वाभाविक और उचित है पर राजनीति शास्त्र ही एकमात्र ऐसा सामाजिक विज्ञान है, जो 'राजत्व' के सामान्य स्वरूप का प्रतिपादन करता है, जो राज्य की उत्पत्ति, स्वरूप, प्रयोजन, उद्देश्य, संगठन आदि विषयों का विवेचन करता है, और जिसका विचार क्षेत्र केवल राज्य तक ही सीमित है। पर क्योंकि राजकीय आय – व्यय शास्त्र, विधान शास्त्र आदि अन्य अनेक विज्ञानों का भी सम्बन्ध केवल राज्य के साथ है, और वे भी राज्य के किसी विषिष्ट पहलू को ही अपना प्रतिपाद्य विषय बनाते

हैं, अतः गार्नर आदि अनेक विद्वानों की सम्मति में उन्हें भी राजनीति शास्त्र समझना अनुपयुक्त नहीं है। गार्नर का मत है कि राज्य के साथ सम्बन्ध रखने वाले इन सब विज्ञानों को भी व्यापक अर्थ में राजनीति शास्त्र कहा जा सकता है, यद्यपि इस शास्त्र से प्रायः उसी विज्ञान का ग्रहण होता है जिसके प्रतिपाद्य विषय केवल राज्य व उसका संगठन ही है।

राजनीतिक सिद्धान्त

इकाई -2 राजनीतिशास्त्र का स्वरूप व लक्षण

— हम अब तक राजनीति शास्त्र का उल्लेख विज्ञान के रूप में करते रहे हैं। पर अनेक विद्वानों के मत में राजनीति शास्त्र को विज्ञान (साइन्स) न कहकर दर्शन (फिलॉसफी) कहना अधिक उपर्युक्त है। दर्शन हम उस ज्ञान को कहते हैं, जिसका आधार पर्यवेक्षण (ऑब्जरवेशन) व परीक्षण (एक्सपेरिमेंट) न होकर कल्पना व तर्क होता है। यह सृष्टि किस प्रकार उत्पन्न हुई, इसका निर्माण किन मूल-भूत तत्वों से हुआ है, सृष्टि में अनादि सत्तायें कौन-सी हैं, मृत्यु के बाद मनुष्य या जीव का क्या होता है — इन बातों पर प्राचीन इन बातों पर प्राचीन युग के विचारकों ने बहुत से सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। पर इन सिद्धान्तों का आधार वैज्ञानिक न होकर दार्शनिक था। इसी प्रकार राजनीति शास्त्र में विद्वान लोग जिन बहुत से सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते रहे हैं, उनका आधार भी दार्शनिक ही है। राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, राज्य संस्था के विकास से पूर्व मानव समाज की क्या दशा थी, शासन का कार्य जिन लोगों के हाथ में रहता है, वे राज्य शक्ति को किस अधिकार से प्राप्त करते हैं, राज्य-संस्था का प्रयोजन व उद्देश्य क्या है — इन सब बातों के विषय में जो कुछ भी राजनीति शास्त्र प्रतिपादित करता है, उसे वैज्ञानिक तथ्य की अपेक्षा दार्शनिक तथ्य कहना अधिक उपर्युक्त होगा। भारत, ग्रीस, रोम आदि के प्राचीन विद्वानों ने राजनीति शास्त्र — सम्बन्धी जो ग्रंथ लिखे थे, उनका स्वरूप दार्शनिक ही था। वर्तमान समय में भी जो अनेक विचारक राज्य के भविष्य व आदर्श आदि के सम्बन्ध में नवीन विचारों का प्रतिपादन करते हैं, उनका स्वरूप भी दार्शनिक ही होता है।

इसमें संदेह नहीं, कि राजनीति शास्त्र का एक महत्वपूर्ण भाग ऐसे विषयों का प्रतिपादन करता है, जिन्हें दार्शनिक कहा जा सकता है। राज्य की उत्पत्ति, विकास, प्रयोजन, कार्यक्षेत्र आदि के सम्बन्ध में हमारे जो विचार हैं, उनका आधार वैज्ञानिक खोज नहीं है उनका प्रतिपादन विद्वान लोग दार्शनिक ढंग से ही करते हैं। पर राजनीति शास्त्र का एक महत्वपूर्ण भाग ऐसा भी है, जो वैज्ञानिक है। वैज्ञानिक पैली में हम कुछ निश्चित घटनाओं से निश्चित परिणाम निकाला करते हैं और ऐसे नियमों को जानने का यत्न करते हैं, जो सब दशाओं में सत्य हो। ऊष्मा से पदार्थ फैलते हैं, यह एक ऐसा नियम है जो प्रायः सभी पदार्थों के सम्बन्ध में सत्य सिद्ध होता है। राजनीति शास्त्र के विद्वान भी यह प्रयत्न करते हैं कि विविध राज्यों का पर्यवेक्षण करके कुछ निश्चित नियमों का ज्ञान प्राप्त करें और ऐसे सत्त्यों को ढूँढ़ निकालें, जिन्हें 'वैज्ञानिक सत्य' कहा जा सके। ग्रीक विद्वान अरिस्टोटल ने अपने समय के बहुत से राज्यों के संविधानों को एकत्र कर उनका तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया था, और ऐसे नियमों को ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न किया था, जो राज्यों में सर्वत्र लागू

होते हैं। भारत में आचार्य चाणक्य ने विविध राज्यों के इतिहास का अनुशीलन करके अनेक ऐसे परिणाम निकाले थे, जो सनातन सत्य कहे जा सकते हैं। उन्होंने लिखा है कि राजा व शासक के लिए इंद्रीयजयी होना अनिवार्य है। काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष ये ऐसे षट्पद हैं जिन पर विजय पाये बिना कोई राजा अपने कार्य में सफल नहीं हो सकता। जो राजा इंद्रीयजयी न हो, वह चाहे चातुरन्त साम्राज्य का स्वामी भी क्यों न हो, षीघ्र ही

उपभोग करते रहे । आचार्य चाणक्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'अर्थशास्त्र' में ऐतिहासिक पर्यवेक्षण द्वारा राज्य व उसकी नीति सम्बन्धी अन्य भी बहुत से तथ्यों का प्रतिपादन किया है ।

वर्तमान समय के विद्वानों में तो यह प्रवृत्ति बहुत अधिक है, कि वे पर्यवेक्षण द्वारा राज्य सम्बन्धी तथ्यों का परिज्ञान प्राप्त करें। वे विभिन्न राज्यों की शासन – विधि का अनुशीलन करते हैं, विविध राज्य जो कानून बनाते हैं व जिस नीति का अनुसरण करते हैं उनका उन राज्यों की जनता पर व उन राज्यों की उन्नति पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस बात का अध्ययन करते हैं और इस प्रकार यह जानने का यत्न करते हैं, कि राज्य के लिए कौन सी शासन व्यवस्था उपर्युक्त है, राज्य शक्ति का उपयोग किस प्रकार करना चाहिए और राज्य में नागरिकों के क्या अधिकार व कर्तव्य होने चाहिए । इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि राजनीति शास्त्र केवल उन्हीं विषयों का प्रतिपादन नहीं करता जिनका स्वरूप दार्शनिक हो, अपितु साथ ही ऐसे विषयों का भी विवेचन करता है, जिनमें वैज्ञानिक पैली का अवलंबन किया जाता है और वैज्ञानिक तथ्यों का ढूँढ़ने का प्रयत्न होता है ।

क्या राजनीति शास्त्र विज्ञान है? दृ बहुत से विचारक यह स्वीकार करने को उद्धत नहीं हैं, कि राजनीति शास्त्र की गणना भी विज्ञानों में की जा सकती है । अपनी इस स्थापना के लिए वे निम्नलिखित युक्तियाँ उपस्थित करते हैं

—(1) राज्य सम्बन्धी या राजनीतिक कोई ऐसी बात नहीं होती जिस पर सब सहमत हों । कुछ विद्वान कहते हैं, कि लोकतंत्रवाद मनुष्य के हित के लिए अत्यंत उपयोगी है । अन्य विद्वान इस बात के विरोधी हैं वे कहते हैं, कि लोकतंत्रवाद (डिमोक्रेसी) में मनुष्यों को जो स्वतंत्रता व अधिकार प्राप्त रहते हैं, उनका परिणाम केवल यह होता है कि अमीर अधिक अमीर और गरीब अधिक गरीब बन जाते हैं । कुछ विद्वानों का मत है, कि वे राज्य उत्तम हैं जिनमें कि एक राष्ट्रीयता (नैषनेलिटी) का निवास हो । पर साथ ही ऐसे विद्वान भी विद्यमान हैं, जो राज्य की उन्नति के लिए उसमें विविध जातियों व विभिन्न राष्ट्रीयताओं की सत्ता को उपयोगी मानते हैं । कुछ की सम्मति में राज्य की पालिर्यामेन्ट में एक सदन (चौम्बर) होना चाहिए, कुछ की सम्मति में दो सदनों का होना अधिक हितकर है । राजनीति शास्त्र के विद्वान कोई भी ऐसा सिद्धान्त व नियम नहीं बता सकते, जो सर्वमान्य हो । विज्ञान के नियम निश्चित व सर्वमान्य होते हैं । दो और दो चार होते हैं, गणित का यह तथ्य सर्वमान्य है । पृथ्वी में गुरुत्वाकर्षण की शक्ति विद्यमान है, इससे भी सब सहमत हैं । इस प्रकार का कोई सर्वमान्य नियम व तथ्य राजनीति शास्त्र द्वारा भी प्रतिपादित होता है यह कह सकना कठिन है ।

(2) राजनीति शास्त्र जिस विषय पर विचार करता है, वह अत्यन्त विषाल, विस्तृत जटिल और अनिश्चित है । यही कारण है, कि उसमें पर्यवेक्षण व परीक्षण सम्भव नहीं है । भौतिक विज्ञानों में जिन विषयों का विवेचन होता है, उनका स्वरूप निश्चित रहता है । रसायन विज्ञान में जिन पदार्थों का अनुशीलन किया जाता है, वे स्पष्ट और निश्चित होते हैं । लोहा, सोना, गंधक, पारा, उद्जन, ओशजन आदि पदार्थ पूर्णतः स्पष्ट, निश्चित व नियमित रूप रखते हैं । इसीलिए वैज्ञानिक लोग उनका पर्यवेक्षण करके व उनके सम्बन्ध में परीक्षण करके उनके गुण, प्रभाव, स्वरूप आदि का सही-सही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं । पर राजनीति शास्त्र मानव समाज के जिस विषिष्ट रूप (राज्य) को अपना प्रतिपाद्य विषय बनाता है, वह इतना विस्तृत, जटिल और अनियमित है, कि उसमें न पर्यवेक्षण सम्भव है और न परीक्षण । एक राज्य में लोकतंत्र शासन सफल हो जाता है, तो दूसरे में असफल । एक में मनुष्य मात्र को वोट का अधिकार दे देने से राज्य – शासन सुदृढ़ और शक्तिशाली हो जाता है व वहीं दूसरे में इस अधिकार द्वारा राज शक्ति ऐसे लोगों के हाथ में आ जाती है, जिससे राज्य सर्वथा षिथिल और उच्छृंखल हो जाता है । एक राज्य में संरक्षण – कर की नीति व्यावसायिक उन्नति में सहायक होती है, दूसरे में उसका परिणाम आर्थिक जीवन के ह्रास होता है । इस दिशा में यह कैसे सम्भव है, कि पर्यवेक्षण की वैज्ञानिक पद्धति द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में किन्हीं नियमों व तथ्यों का पता किया जा सके ।



(3) राज्य मनुष्य के एक विषिष्ट समुदाय को कहते हैं। मनुष्य लोहे, सोने या पारे के सामान जड़ या निर्जीव सत्ता नहीं है। वह एक जीवित, जागृत व चेतन सत्ता है, जो इच्छा शक्ति रखती है। जड़ पदार्थ को जब एक निश्चित परिस्थिति में रखा जायेगा, तो उसका परिणाम निश्चित ही होगा। जल को गरम करने से वह भाप के रूप में हो जायेगा और अत्यधिक शीत पहुंचाने से वह बर्फ का रूप धारण कर लेगा। यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है, और इसका कोई भी अपवाद नहीं हो सकता। पर एक निश्चित नीति का मानव समाज पर क्या प्रभाव पड़ेगा, यह बात पूर्ण विश्वास के साथ नहीं कही जा सकती। यदि राजा प्रजा पर अत्याचार करता है, तो सम्भव है कि वह उसे चुपचाप सहन कर ले, और यह भी सम्भव है कि वह राजा के विरुद्ध विद्रोह के लिए उद्धत हो जाये। कोई राज्य यह कानून बनाता है, कि स्त्रियाँ परदे में न रहें। सम्भव है कि जनता इस कानून को मान ले और स्त्रियाँ परदे से मुक्त होकर स्वाधीन रूप से विचरण करने लगे। पर यह भी सम्भव है, कि जनता इस कानून को मानने से इंकार कर दे, और खुले तौर पर इसके विरुद्ध विद्रोह करने लगे। मनुष्य एक विचारशील प्राणी है, वह प्रत्येक बात पर स्वयं विचार करता है, और किस दशा में वह क्या व्यवहार करेगा, यह निश्चित रूप से कह सकना यदि असम्भव नहीं है, तो कठिन अवश्य है।

(4) राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में परीक्षण तो सम्भव ही नहीं है। भौतिक विज्ञानों में हम परीक्षण द्वारा तथ्य को जान सकते हैं। पारा, गंधक आदि किसी भी पदार्थ को परीक्षण नली में डालकर उसके सम्बन्ध में तरह-तरह के परीक्षण कर सकते हैं, और प्रयोगशाला में बैठकर प्रकृति के विभिन्न तत्वों के सम्बन्ध में तथ्य का परिज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। पर राज्य के विषय में इस प्रकार परीक्षण कर सकना कल्पना से भी परे की बात है।

—इन युक्तियों को दृष्टि में रखकर ऑगुस्त कॉम्ट बरकले आदि अनेक विद्वानों ने राजनीति शास्त्र को विज्ञान के रूप में स्वीकृत करने से इन्कार किया है, और मेटलैन्ड ने तो यहाँ तक लिखा है कि जब मैं किसी ऐसे प्रश्नपत्र को देखता हूँ जिसके ऊपर 'राजनीति विज्ञान' लिखा होता है, तो मुझे उन प्रश्नों पर कोई आपत्ति नहीं होती, पर राजनीति के साथ 'विज्ञान' शब्द को देखकर मुझे अत्यंत खेद होता है। इसी प्रकार के विचार अन्य विद्वानों ने भी प्रकट किये हैं।

राजनीति शास्त्र की वैज्ञानिकता इसमें संदेह नहीं, कि राजनीति शास्त्र के विज्ञान होने के विरोध में जो युक्तियाँ ऊपर दी गई हैं, उनमें सत्य का अंश अवश्य है। जिन अर्थों में गणित या रसायन (केमिस्ट्री) विज्ञान है, उनमें शायद राजनीति शास्त्र को विज्ञान कहना उपर्युक्त नहीं है। पर साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए, कि राज्य सम्बन्धी विविध विषयों का भी पर्यवेक्षण सम्भव है। पर्यवेक्षण द्वारा राज्य-विषयक बातों का निश्चित रूप प्रतिपादित किया जा सकता है, और उन तथ्यों का पता लगाया जा सकता है जिन्हें वैज्ञानिक अर्थों में सत्य कहा जा सके। उदाहरणार्थ, लोकतंत्रवाद को लीजिए। जिन राज्यों में लोकतंत्र शासन होते हैं, राज-शक्ति की अभिव्यक्ति और प्रयोग में जनता का हाथ होता है, उनमें जनता राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों व अधिकारों को अधिक अच्छी तरह अनुभव करती है। इसके कारण उन राज्यों की जनता में एक ऐसी राजनीतिक चेतना विकसित हो जाती जो उस राज्य के लिए अत्यंत हितकर होती है। पिछली डेढ़ सदी में विविध राज्यों में लोकतंत्रवाद का जिस प्रकार विकास हुआ है, उसका पर्यवेक्षण करके यह परिणाम निश्चित रूप से निकाला जा सकता है। पुराने समय के विविध राज्यों का पर्यवेक्षण करके ही आचार्य चाणक्य इस परिणाम पर पहुंचे थे, कि यदि दण्डशक्ति (शासन शक्ति) का दुरुपयोग किया जाए, तो गृहस्थों की तो बात ही क्या, वानप्रस्थी और सन्यासी लोग भी क्रुद्ध हो जाते हैं और विद्रोह कर देते हैं यदि दण्डशक्ति का ठीक प्रकार से प्रयोग किया जाए तो जनता धर्म और कार्य में प्रवृत्ति होती है। भारत में मुगल बादशाहों के शासन में हम इस तथ्य को प्रत्यक्ष देखते हैं। अकबर ने राज-शक्ति का ठीक तरह से प्रयोग किया। परिणाम यह हुआ कि अफगान, राजपूत आदि सब लोग मुगल बादशाह के साथ सहयोग करने लगे। भारत की चौमुखी उन्नति हुई। साहित्य, कला, संगीत आदि सब क्षेत्रों में भारतीयों ने असाधारण उन्नति की। औरंगजेब ने जब राज-शक्ति का दुरुपयोग किया, तो मराठे, सिक्ख,

राजपूत आदि सब उसके खिलाफ उठ खड़े हुए और मुगल साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया। ज्ञान-विज्ञान की उन्नति की वर्तमान दशा में राज्य का कार्यक्षेत्र केवल राजनीतिक ही नहीं रह सकता, आर्थिक जीवन को नियन्त्रित व मर्यादित करना भी उसके लिए आवश्यक है। इस प्रकार के अनेक परिणाम पर्यवेक्षण द्वारा निकाले जा सकते हैं, यह बात सर्वथा स्पष्ट है।

यह ठीक है, कि राज्य के सम्बन्ध में नये-नये परीक्षण (एक्सपेरिमेंट) कर सकना संभव नहीं है। हम राज्य को प्रयोगशाला की परीक्षण नली में नहीं रख सकते। पर यह कहना ठीक नहीं है, कि राज्यों में परीक्षण नहीं होते रहते। प्रत्येक राज्य कभी कोई कानून बनाता है, कभी किसी नीति का अनुसरण करता है, और कभी किसी प्रकार की शासन व्यवस्था को अपनाता है। ये सब परीक्षण हैं, इनका ध्यानपूर्वक अवलोकन करके हम किन्हीं निश्चित परिणामों पर पहुँच सकते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति के अधीन शासन (प्रेजीडेन्सल गवर्नमेन्ट) विद्यमान है। ब्रिटेन, भारत आदि में मंत्रिपरिषद के अधीन शासन (कैबिनेट गवर्नमेन्ट) की सत्ता है। इन राज्यों की इन दो पद्धतियों का अवलोकन कर हम यह जान सकते हैं, कि कौन सी शासन पद्धति अधिक उपर्युक्त है। महायुद्ध (1939-45) के अवसर पर अनेक राज्यों ने कीमतों को नियंत्रित करने की नीति को अपनाया व महायुद्ध द्वारा उत्पन्न असाधारण परिस्थितियों के कारण अब तक भी अनेक राज्यों में कीमतों को नियंत्रित किया जा रहा है। राज्यों के क्षेत्र में यह एक नया परीक्षण है। इसका हम ठीक वैसे ही अवलोकन कर सकते हैं, जैसे कि परीक्षण नली में पड़े हुए पारे या गंधक का। हिटलर और मुसोलिनी ने एक नये सिद्धान्त का परीक्षण किया। जिसे नाजीज्म व फासिज्म कहते हैं। इस परीक्षण का परिणाम हमारे सम्मुख पीछा ही आ गया। इस नये सिद्धान्त के गुण और दोष हमारे सम्मुख भली-भाँति स्पष्ट हो गये। समाजवाद का परीक्षण रूस, चीन, चेकोस्लोवाकिया आदि राज्यों में जारी है, और उसके परिणाम भी धीरे-धीरे हमारे सम्मुख आते जा रहे हैं। इतिहास राजनीति शास्त्र की विषाल प्रयोगशाला है। उसमें जो परीक्षण विभिन्न राज्यों में विभिन्न समयों में होते रहे हैं, उन्हें सामने रखकर हम इस शास्त्र के क्षेत्र में भी निश्चित परिणामों पर पहुँच सकते हैं, और ऐसे तथ्यों का पता लगा सकते हैं जो वैज्ञानिक दृष्टि से सत्य हैं।

इसमें संदेह नहीं, कि मनुष्य एक जीवित जागृत्, चेतन और विचारशील सत्ता है। किसी नीति, कानून व क्रिया का उस पर क्या प्रभाव होगा, यह पूर्णतया निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पर साथ ही यह बात भी सत्य है कि मानव प्रकृति में स्थिरता व एकरूपता भी रहती है। यत्न करने पर हम मानव समाज के विचारों, परिस्थितियों और उन्नति की तत्कालीन दशा पर विचार कर यह भली-भाँति समझ सकते हैं, कि एक विषिष्ट नीति, कानून व क्रिया का उस पर क्या असर होगा। विविध राज्यों की विधानसभाओं में किसी नई नीति या नये कानून का निर्माण करते हुए इन बातों को जानने का निरन्तर प्रयत्न किया जाता है। यदि 50 साल पहले भारत में अछूत प्रथा को कानून द्वारा नष्ट करने का प्रयत्न किया जाता, तो जनता उसे कदापि सहन न कर सकती। पर भारत में अब जो दशा हो गई है, उसमें किसी को अछूत मानना यदि कानून के विरुद्ध कर दिया गया है, तो यह लोकमत के सर्वथा अनुकूल है। कमालपाषा ने तुर्की में जब कानून द्वारा अनेक सामाजिक सुधार करने चाहे, तो जनता ने उन्हें प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया, क्योंकि वहाँ की जनता इन सुधारों के लिए तैयार थी। पर जब अफगानिस्तान के राजा अमानुल्ला ख़ाँ ने उन्हीं सुधारों को कानून द्वारा करनेका प्रयत्न किया, तो अफगान जनता ने विद्रोह कर दिया।

कमालपाषा और अमानुल्ला ख़ाँदोनों की नीति एक ही थी, पर तुर्क और अफगान जनता के विचारों, परिस्थितियों आदि में भेद था। इसी कारण एक ही नीति ने दो मुस्लिम राज्यों में दो भिन्न परिणामों को उत्पन्न किया। पर पर्यवेक्षण द्वारा परिणामों की इस भिन्नता के कारणों को समझ सकना कठिन नहीं है। मानव प्रकृति की एकरूपता के कारण ही यह बात भरोसे के साथ कही जा सकती है कि तिब्बत, नेपाल आदि जिन देशों में अब से कुछ साल पूर्व तक दैवी अधिकार वसामन्त-पद्धति पर आश्रित शासन विद्यमान थे, उनमें वे देर तक कायम नहीं रह सकेंगे और

पीछ ही वहाँ ऐसे षासन कायम हो जायेंगे, जो कि मानव विचारधाराओं के आधुनिक रूप के अनुकूल होंगे। इन दोनों राज्यों में यह परिवर्तन अब हो भी चुके हैं। मानव प्रकृति की एकरूपता के कारण ही यह बात भरोसे के साथ कही जा सकती है, कि धर्म व सम्प्रदाय का जो महत्व प्राचीन व मध्यकाल के राज्यों में था, वह अब सम्भव नहीं रह गया है। अब ऐसे राज्यों का युग आ गया है, जो धर्म निरपेक्ष (सेकुलर) हों, और जिनमें विविध सम्प्रदायों के लोगों के प्रति एक सदृष्य व्यवहार किया जाए।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि राजनीति षास्त्र के क्षेत्र में भी पर्यवेक्षण और परीक्षण द्वारा वैज्ञानिक तथ्यों का पता लगाया जा सकता है, और हम कुछ ऐसे परिणामों पर पहुंच सकते हैं, जिन्हें वैज्ञानिक अर्थों में सत्य कहा जा सके। पर साथ ही यह भी स्वीकार करना चाहिए कि अन्य सब सामाजिक विज्ञानों के समान राजनीति षास्त्र में भी जिन नियमों व तथ्यों का प्रतिपादन किया जाता है, वे एक प्रवृत्ति (टेडेन्सी) को ही सूचित करते हैं। दो और दो चार होते हैं, ऐसे निश्चित नियम व तथ्य सामाजिक विज्ञानों में नहीं होते। सामाजिक विज्ञानों के नियम एक प्रवृत्ति को ही प्रकट करते हैं। यदि किसी माल की मांग (डिमांड) कम हो और उसकी उपलब्धि (सप्लाई) अधिक हो तो वह सस्ता हो जायेगा। इसके विपरीत यदि किसी माल की मांग अधिक हो, पर उसकी उपलब्धि कम हो, तो वह महंगा हो जायेगा, सम्पत्ति षास्त्र का यह एक नियम है। पर यह नियम भी एक प्रवृत्ति को ही सूचित करता है। इसी प्रकार, राजनीति षास्त्र के नियम व तथ्य भी प्रवृत्ति को सूचित करने वाले ही होते हैं। राज षक्ति के दुरुपयोग से जनता में विद्रोह उत्पन्न होगा, जनता का कोप अन्य सब कोषों की अपेक्षा भयंकर होता है, वोट का अधिकार या राज्य कार्य में हाथ बंटाने का अवसर जनता में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करता हैय ये सब नियम व तथ्य एक प्रवृत्ति को प्रकट करते हैं। आजकल तो भौतिक विज्ञानों के सम्बन्ध में भी विद्वानों का यही मत है, कि उनके नियम भी 'सापेक्ष' होते हैं। गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त के विषय में भी वैज्ञानिकों ने यही प्रतिपादित किया है, कि वह भी सापेक्ष है। विज्ञान में भी कतिपय प्रवृत्तियां ही प्रकाष में लाई जाती हैं। गणित सदृष्य कतिपय विज्ञानों को यदि छोड़ दिया जाये, तो अन्य भौतिक विज्ञानों में भी जिन नियमों व तथ्यों को प्रतिपादित किया जाता है, वे वस्तुतः प्रवृत्तियाँ ही होते हैं। भूगर्भ विज्ञान में भूकम्प, ज्वालामुखी आदि प्राकृतिक विषयों के सम्बन्ध में जो तथ्य वैज्ञानिकों ने जाने हैं वे केवल पर्यवेक्षण के परिणाम हैं, परीक्षण के नहीं। ऋतुविद्या के क्षेत्र में षीत, ऊर्ष्ण, वर्षा, बादल आदि के सम्बन्ध में मनुष्य का सब ज्ञान पर्यवेक्षण पर ही आश्रित है। जिस प्रकार भूगर्भ विज्ञान ऋतु विज्ञान आदि प्राकृतिक विज्ञानों में मनुष्य पर्यवेक्षण द्वारा सत्य का पता लगाता है, उसी प्रकार राजनीति षास्त्र में भी पर्यवेक्षण और इतिहास की प्रयोगशाला में निरंतर होते हुए परीक्षणों द्वारा तथ्य का पता किया जाता है। राजनीति षास्त्र भी उन अर्थों में विज्ञान है, जिनमें कि हम भूगर्भ विज्ञान आदि अनेक प्राकृतिक विज्ञानों को विज्ञान कहते हैं। यही कारण है, कि हॉब्स, बोदों, मॉन्टसिक््यू, ब्लुंसली, ब्राइस, सिजिविक आदि अनेक विद्वानों ने राजनीति षास्त्र को विज्ञान के रूप में स्वीकृत किया है। प्राचीन ग्रीक तत्ववेत्ता अरिस्टोटल ने तो राजनीति षास्त्र को सर्वप्रधान विज्ञान माना है और अपने ग्रंथों को लिखते हुए वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग भी किया है। फ्रेंच विद्वान पॉलजाने के अनुसार राज्य – सम्बन्धी यह षास्त्र एक विज्ञान है, जो कि उस विषिष्ट राज्य का प्रतिपादन नहीं करता, अपितु सामान्य राज्य का विवेचन करता है, और राज्य के स्वरूप, कानून और विभिन्न भेदों व प्रकारों का निरूपण करता है।

राजनीति षास्त्र की पद्धति वैज्ञानिक विधि के प्रयोग में कठिनाइयाँ दृ यदि राजनीति षास्त्र विज्ञान है, तो इसके अनुशीलन के लिए वैज्ञानिक विधियों की सत्ता भी आवष्यक है। इसमें संदेह नहीं, कि इस षास्त्र में कतिपय वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग किया जाता है। इससे पूर्व कि हम इन पर प्रकाष डालें, यह स्ता देना उपयोगी है कि राज्य के क्षेत्र में इनके उपयोग में कौन-सी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। (1) राजनीति षास्त्र की सामग्री इस

प्रकार की है, कि उसके अनुशीलन के लिए किन्हीं उपकरणों का प्रयोग कर सकना सम्भव नहीं है। रसायन, भौतिक— विज्ञान आदि की सामग्री का पर्यवेक्षण करने के लिए हम प्रयोगशाला बना सकते हैं, उसमें अनेक प्रकार के उपकरणों को एकत्र कर सकते हैं, और अपनी खोज के विषय को प्रत्यक्ष रूप से अपने सम्मुख रख सकते हैं। पर राजनीति शास्त्र की सामग्री का पर्यवेक्षण करने के लिए इस प्रकार का कोई साधन हमारे पास नहीं होता। (2) राजनीति — शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय जो राज्य है उसमें कोई घटनायें किसी निश्चित क्रम के अनुसार नहीं होतीं। ऋतु विज्ञान में विभिन्न ऋतुयें निश्चित क्रम के अनुसार होती हैं। गर्मी के बाद वर्षा, फिर पतझड़, फिर शीत ऋतु और फिर बसंत ऋतु आती है। ज्योतिष में सूर्य—ग्रहण, चंद्र—ग्रहण, दिन—रात आदि के भेद सब निश्चित क्रम के अनुसार होते हैं, सूर्योदय, सूर्यास्त आदि सबके प्रत्यक्ष व स्पष्ट नियम हैं। पर ऐसा कोई नियम व क्रम राज्य में नहीं दिखाई देता। ऐसा नहीं होता, कि लोकतंत्र (डेमोक्रेसी) के बाद अवश्य ही एकतंत्र शासन (मोनाक्री) स्थापित हो, या लोकतंत्रवाद का भावी विकास अवश्य ही समाजवाद (सोषलिज्म) के रूप में हो। किसी नियम के अभाव में राज्य का पर्यवेक्षण भी सुगम नहीं रह जाता। (3) मनुष्य चेतन व विचारशील सत्ता है, वह जड़ नहीं है। यही कारण है कि मनुष्य की सब संस्थाओं में निरंतर परिवर्तन होते रहते हैं। परिवर्तन जड़ पदार्थों में भी होते हैं। पर उनमें परिवर्तन का कारण ब्राह्म प्रभाव होता है। इसी कारण पर्यवेक्षण द्वारा उनका अध्ययन सुगम होता है। मानव समाज के संगठन आदि में परिवर्तन केवल ब्राह्म प्रभाव से ही नहीं होते। मनुष्य विवेकशील प्राणी है, अतः वह अपने विचारों द्वारा भी अपनी संस्थाओं में परिवर्तन करता रहता है। इसीलिए यह कभी भरोसे के साथ नहीं कहा जा सकता, कि किसी ब्राह्म प्रभाव का राज्य व अन्य मानव—संस्था पर क्या असर होगा। (4) राजनीति शास्त्र के विवेचक भी मनुष्य होते हैं। जब वे राज्य या अन्य मानव संस्था पर विचार करने लगते हैं तो अपने को पूर्ण रूप से दृष्टा व विवेचक की स्थिति में नहीं रख सकते। वे प्रत्येक बात को अपनी विवेक दृष्टि से देखते हैं, और इसी कारण विभिन्न मनुष्य एक ही घटना को भिन्न भिन्न रंग में रंग देते हैं। जब हम पारे या गंधक पर विचार करने लगते हैं, तो हमारा उसके प्रति कोई स्नेह या विद्वेश नहीं होता। पर जब हम रूस के समाजवाद पर विचार करते हैं, तो यह नहीं भूल सकते, कि हम स्वयं एक ऐसे देश के निवासी हैं जो समाजवादी नहीं है। अमेरिकन या ब्रिटिश लेखक रूस के समाजवाद या जर्मनी के नाजिज्म के साथ न्याय नहीं कर पाते। रूसी लेखक पूंजीवादी राज्यों के प्रति अन्याय करते हैं इसका परिणाम यह होता है कि राजनीति शास्त्र व अन्य सामाजिक विद्वानों में विषुद्ध वैज्ञानिक विवेचन सम्भव नहीं रह जाता।

पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि इन कठिनाइयों के होते हुए भी राजनीति शास्त्र में वैज्ञानिक विधि का प्रयोग असम्भव नहीं है। इन कठिनाइयों के कारण इस शास्त्र के विद्वानों की उत्तरदायिता बहुत बढ़ जाती है, और उनके लिए यह आवश्यक हो जाता है, कि वे अपने अध्ययन व अनुशीलन को बहुत अधिक सावधानी के साथ करें। राजनीति — शास्त्र में वैज्ञानिक विधि का अनुसरण निम्नलिखित प्रकार से किया जाता है — पर्यवेक्षण द्वारा, तुलनात्मक विधि द्वारा, ऐतिहासिक विधि द्वारा, और दार्शनिक विधि द्वारा हम इन सब पर क्रमशः प्रकाश डालेंगे।

पर्यवेक्षण विधि — विविध राज्यों, उनकी शासन विधि, सरकार का संगठन, नीति व कार्य का ध्यान से अवलोकन करने पर हम अनेक तथ्यों का ध्यान प्राप्त कर सकते हैं।

अठारहवीं सदी में जब फ्रांस में एकतंत्र राजाओं का स्वेच्छाचारी व निरंकुष शासन विद्यमान था, एक फ्रेंच विद्वान मॉतस्क्यू ब्रिटेन गया और वहाँ जाकर उसने ब्रिटिश शासन पद्धति का ध्यानपूर्वक पर्यवेक्षण किया। उस समय ब्रिटेन में पार्लियामेन्ट का बहुत महत्व था। कानून बनाने का कार्य पार्लियामेन्ट के हाथ में था, और राजा कोई ऐसा नया टैक्स नहीं लगा सकता था, जिसे पार्लियामेन्ट ने स्वीकृत न किया हो। मॉतस्क्यू इससे बहुत प्रभावी हुआ। उसने ब्रिटिश शासन की फ्रांस के एकतंत्र शासन से तुलना की, वहाँ बस, बंस के राजा अपनी इच्छा को

ही कानून मानते थे। मॉतस्क्यू पर्यवेक्षण द्वारा इस परिणाम पर पहुंचा, कि राज्य की राज-शक्ति को तीन भागों में बांटा जा सकता है, शासन, व्यवस्थापन और न्याय। ब्रिटेन के उदाहरण से उसने यह प्रतिपादित किया, कि ये तीनों शक्तियाँ एक व्यक्ति के हाथों में न रहकर पृथक-पृथक रहनी चाहिए। वर्तमान समय में लॉर्ड ब्राइस ने इसी पद्धति का अनुसरण कर संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस, ऑस्ट्रेलिया, स्वीटजरलैंड, कनाडा, न्यूजीलैंड आदि राज्यों की यात्रा की, और उनकी शासन विधियों का ध्यानपूर्वक पर्यवेक्षण किया। उसने इन राज्यों के राजनीतिज्ञों से बातचीत की, उनकी विधानसभाओं की कार्यविधि को देखा और फिर अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'मॉर्डन डेमोक्रेसीज' में इस बात की विशद रूप से विवेचना की, कि इन राज्यों में लोकतंत्रवाद किस अंश तक सफल हुआ है। इसमें संदेह नहीं, कि ब्राइस ने वैयक्तिक पर्यवेक्षण द्वारा जो बहुत से परिणाम निकाले हैं, राजनीति शास्त्र में उनका बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। महात्मा बुद्ध ने बौद्ध संघ की स्थापना करते हुए उसका संगठन वज्जि संघ की व्यवस्था के सम्मुख रखकर किया था, और वज्जियों की शासन विधि का पर्यवेक्षण करके उन्होंने सात अपरिहारणीय धर्मों का प्रतिपादन किया था, जिनका अनुसरण न केवल वज्जियों के लिए उपयोगी था, अपितु बौद्ध संघ के लिए भी ने उन्हीं का उपदेश दिया था। अन्य राज्यों के शासन व कार्य – विधि को देखकर और उनका पर्यवेक्षण करके हम राजनीति शास्त्र के आधारभूत नियमों व तथ्यों का परिज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, यह बात बिल्कुल स्पष्ट है।

परीक्षण का स्थान – प्राकृतिक विज्ञानों में, विशेषतया रसायन और भौतिक विज्ञान में पर्यवेक्षण के अतिरिक्त परीक्षण की भी गुंजाइश होती है, क्योंकि ये विज्ञान जिन विशयों व पदार्थों का अनुशीलन करते हैं, उनके नमूनों को प्रयोगशाला में रखकर यंत्रों व उपकरणों से उन पर परीक्षण किये जा सकते हैं। यह बात राजनीतिशास्त्र में सम्भव नहीं है, क्योंकि न तो किसी राज्य को प्रयोगशाला में लाया जा सकता है, और न किसी राज्य को प्रयोगशाला के रूप में प्रयुक्त ही किया जा सकता है। पर राज्यों के क्षेत्र में भी निरंतर परीक्षण होते रहते हैं, यह बात हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं। उन्नीसवीं सदी में जब समाजवाद का प्रारम्भ हुआ, तो राबर्ट ओवन ने अपने समाज-वादी विचारों के अनुसार न्यूहार्मनी (अमेरिका में) नामक प्रदेश में एक नये प्रकार के समाज की स्थापना का परीक्षण किया। इस परीक्षण में उसे सफलता नहीं हुई। इसी तरह के अन्य भी अनेक परीक्षण कतिपय अन्य समाजवादियों ने निजी रूप से किये। राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में सभी राज्यों में निरंतर परीक्षण होते रहते हैं। विविध राजनीतिक दल राज्य के आदर्श, संगठन व कार्य-विधि के सम्बन्ध में अपने विचार रखते हैं, और जब पार्लियामेंट में बहुमत प्राप्त करके उन्हें राज-शक्ति के प्रयोग का अवसर मिलता है, तो वे अपने विचारों के अनुसार कानून स्वीकृत कराते हैं और नये परीक्षण करते हैं। यदि ये कानून सफल व हितकारी सिद्ध न हों, तो इनमें पुनः परिवर्तन किया जाता है और नये परीक्षण का प्रारम्भ होता है। राजनीति शास्त्र के विद्वान इन परीक्षणों का निरंतर पर्यवेक्षण करते रहते हैं, और इस शास्त्र के नियमों व तथ्यों का पता लगाते रहते हैं। राजनीति शास्त्र का जो विकास इस समय हुआ है, वह इन्हीं परीक्षणों के पर्यवेक्षण का परिणाम है। राज्य के क्षेत्र में परीक्षण केवल कानून में परिवर्तन द्वारा ही नहीं होते, अपितु क्रान्तियों व विद्रोह आदि द्वारा भी कोई राजनीतिक दल शक्ति प्राप्त करके अपने विचारों को क्रिया में परिणित करता है। फ्रांस में राज्य क्रान्ति द्वारा लोक सत्तावाद को जो परीक्षण प्रारम्भ हुआ, व क्रान्ति का ही परिणाम था। रूस में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना क्रान्ति द्वारा ही हुई थी। परीक्षण का प्रारम्भ चाहे क्रान्ति द्वारा हो, चाहे संवैधानिक (कॉन्स्टिट्यूशनल) उपायों द्वारा, पर इसमें संदेह नहीं, कि राज्यों में परीक्षण निरंतर होते रहते हैं और इतिहास की प्रयोगशाला में होते हुए इन परीक्षणों का पर्यवेक्षण करके ही राजनीति शास्त्र के नियमों व तथ्यों का अनुसंधान किया जाता है। तुलनात्मक विधि (जेम ब्रुचॉन्ट जेपम डमजीवक) राजनीति शास्त्र के अध्ययन के लिए तुलनात्मक विधि का बहुत महत्व है, इसका पर्यवेक्षण विधि इस तुलनात्मक विधि का ही एक अंग है। इस विधि द्वारा पहले राज्यों के सम्बन्ध में ज्ञात तथ्यों को एकत्र किया जाता है, फिर उन तथ्यों को विविध वर्गों में विभक्त किया जाता है, फिर उनमें तुलना करके किसी

परिणाम पर पहुंचने का प्रयत्न किया जाता है। उदाहरणार्थ, लोकतंत्र राज्यों को लीजिए। प्राचीन काल में ग्रीस, भारत, चीन आदि देशों में अनेक लोकतंत्र गणराज्य (रिपब्लिक) विद्यमान थे। कुछ सदियों तक कायम रहकर वे साम्राज्यवादी सम्राटों की अधीनता में आ गये। राजनीति शास्त्र में हम इन विविध गण – राज्यों के साथ सम्बन्ध रखने वाली सब ज्ञात बातों को एकत्र करते हैं, यह जानने का यत्न करते हैं कि इनमें क्या खूबियाँ व क्या कमियाँ थीं। किन कारणों से ये शक्तिशाली सम्राटों के अधीन हो गये और आत्मरक्षा करने में असमर्थ रहे। इन राज्यों के सम्बन्ध में विचार कर हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि प्राचीन गणराज्यों के संगठन व व्यवस्था में कहाँ दोष था। इस प्रकार तुलनात्मक पद्धति से विचार करने की प्रवृत्ति प्राचीन समय के विद्वानों में भी विद्यमान थी। अरिस्टोटल 150 के लगभग राज्यों के संविधानों को एकत्र कर उनके गुण-दोषों की विवेचना की थी। भारत में नारद ने गणराज्यों की शक्ति व निर्बलता पर विचार कर श्रीकृष्ण (जो कि अंधकवृश्णि संघ के संघ मुख् थे) को उपदेश दिया था, कि वे किस प्रकार अपने राज्य का सुचारु रूप से संचालन कर सकते हैं। नारद के अनुसार प्रत्येक गणराज्य को दो प्रकार की विपत्तियों का सामना करना पड़ता है, आभ्यन्तर विपत्ति और बाह्य विपत्ति। महाभारत के समय में साम्राज्यवाद ने इतना उग्र रूप धारण नहीं किया था, कि पश्चिमी भारत के गणराज्यों को बाह्य आक्रमणों द्वारा नष्ट हो सकने का विषेश भय हो। श्रीकृष्ण जिस विपत्ति से परेशान थे, वह आभ्यन्तर थी, गणों (रिपब्लिक) या संघों (लीग) के शासक कुलों व राजनीतिक दलों में जो विद्वेश होता है, वही उनको विषेश रूप से परेशान करता है। नारद ने श्रीकृष्ण को इन्हीं आभयान्तर विपत्तियों से अपने गणराज्य की रक्षा करने के उपायों का उपदेश भी दिया था।

आधुनिक समय में भी अनेक विद्वानों ने तुलनात्मक विधि से राजनीति शास्त्र के अध्ययन का प्रयत्न किया है। मॉतस्व्यू, मिल, ब्राइस आदि इनमें प्रमुख हैं। तुलनात्मक विधि का एक उदाहरण हम यहाँ उपस्थित करते हैं। पिछली डेढ़ सदी में पृथ्वी के अनेक राज्यों में राज्य क्रान्तियाँ हुई हैं जिन कारणों से या जिन परिस्थितियों में ये क्रान्तियाँ हुई, ऊपर से देखने पर इनमें बहुत भिन्नता प्रतीत होती है। पर यदि सावधानी से इन क्रान्तियों की सब घटनाओं व अन्य बातों को एकत्र किया जाए, तो हमें ज्ञात होगा कि जहाँ इनके स्वरूप और कारणों में बहुत भिन्नता थी, वहाँ साथ ही बहुत कुछ समता भी थी। जब किसी राज्य की जनता में शिक्षा, ज्ञान आदि के प्रसार द्वारा जागृति उत्पन्न हो जाती है, पर इस जागृति के अनुसार राज्य – शासन को अधिकार प्राप्त नहीं होता, तो उसे क्रान्ति द्वारा अधिकार प्राप्त करने की प्रेरणा मिलती है। मध्यकाल में, जबकि यूरोप की जनता प्रायः अपिक्षित थी, लोगों में ज्ञान व नये विचारों का प्रसार नहीं हुआ था तब राजाओं के स्वेच्छाचारी व निरंकुष शासन की सत्ता अस्वाभाविक नहीं थी। पर विद्या की पुनः जागृति और प्रेस के आविश्कार के कारण जब जनता में शिक्षा का प्रसार हो गया, तो शासन जैसे कार्य का किसी एक व्यक्ति या एक श्रेणी के हाथ में रह सकना सम्भव नहीं रह सका। यदि राजा लोग इस तथ्य को अनुभव कर जनता में विद्यमान राजनीतिक चेतना के अनुसार उसे राजनीतिक अधिकार देते जाते, तो क्रान्ति की आवश्यकता न होती। पर राजा अपने दैवी अधिकार (डिवाइन राइट) के सिद्धान्त पर दृढ़ रहे। इसी कारण फ्रांस, इटली आदि अनेक देशों में राज्य क्रान्तियाँ हुईं। इसके विपरीत इंग्लैण्ड के राजा स्वमेव समय के साथ-साथ अपने शासनाधिकार को मर्यादित करते गये और इंग्लैण्ड में वैध राज सत्ता (कॉन्स्टिट्यूशनल मोनार्की) का विकास हुआ। भारत में जो सषस्त्र क्रान्ति के अभाव में स्वराज्य की स्थापना हो सकी। उसका प्रधान कारण यही था कि यहां के ब्रिटिश शासकों ने महात्मा गांधी द्वारा उत्पन्न की गई जन-जागृति और राश्ट्रीय चेतना को अनुभव कर स्वयं ही देश का शासन भारतीयों के सुपुद्र कर दिया। लोकतंत्रवाद का प्रसार विभिन्न देशों में जिन विभिन्न रीतियों से हुआ, उसकी सब घटनाओं व बातों को एकत्र कर, उनमें तुलना करके, और सादृश्य रखने वाली घटनाओं को एक स्थान पर रखकर हम इस परिणाम पर पहुंच सकते हैं, कि जनता की जागृति व चेतना के अनुसार शासन-व्यवस्था व सामाजिक संगठन में परिवर्तन करते रहने से क्रान्तियों की आवश्यकता नहीं रहती। पर यदि जनता की दषा और शासन व राज्य संगठन में अंतर पड़ जाये तो

यह अंतर क्रान्ति के उपाय द्वारा ही दूर किया जाता है। तुलनात्मक विधि से ज्ञात यह तथ्य ऐसा है, जिसे सचमुच वैज्ञानिक सत्य समझा जा सकता है।

इसी प्रकार हम देखते हैं, कि इस समय साम्यवाद (कम्यूनिज्म) की प्रवृत्ति निरन्तर जोर पकड़ रही है। रूस, चीन, चेकोस्लोवाकिया आदि अनेक राज्यों में साम्यवादी (कम्यूनिस्ट) व्यवस्था कायम हो चुकी है। जिन देशों में अभी तक साम्यवादी व्यवस्था कायम नहीं हुई है, उनमें भी साम्यवादी दल की शक्ति बढ़ रही है और उनकी सरकारें यह प्रयत्न कर रही हैं, कि आर्थिक जीवन को राज-शक्ति द्वारा मर्यादित व नियंत्रित किया जाये। विविध राज्यों की इस प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखने वाली सब घटनाओं को एकत्र कर, और उनमें तुलना करके हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं, कि आर्थिक विशमता के रहते हुए राजनीतिक दृष्टि से सब नागरिकों का एक समान होना विशेष उपयोगी नहीं है। आर्थिक क्षेत्र में मनुष्यों को पूर्ण स्वाधीनता देने का परिणाम यह होता है, कि पूँजीपतियों को मजदूरों को शोषण करने का अवसर प्राप्त हो जाता है। अतः यह आवश्यक है, कि राजनीतिक जीवन के समान आर्थिक जीवन को भी राज-शक्ति के नियंत्रण में लाया जाये। इस नियंत्रण के स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है, पर इस विषय में आजकल मतभेद नहीं रह गया है, कि राज्य द्वारा आर्थिक जीवन का नियंत्रण न केवल मनुष्यों के वैयक्तिक व सामूहिक हितों के लिए उपयोगी है, अपितु लोकतन्त्रवाद की सफलता के लिए भी आवश्यक है। तुलनात्मक विधि से इसी प्रकार के कितने ही तथ्यों का परिज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

ऐतिहासिक पद्धति — तुलनात्मक पद्धति का ही एक अंग ऐतिहासिक पद्धति भी है। हम ऊपर लिख चुके हैं कि इतिहास राजनीति शास्त्र के लिए एक प्रयोगशाला के समान है। महाभारत के अनुसार इतिहास वह दीपक है, जो सब विषयों को यथावत प्रकाशित करके उनके यथार्थ स्वरूप को हमारे सम्मुख रख देता है। विविध राज्यों में किस प्रकार शासन व्यवस्था में परिवर्तन हुए, सरकारों व राजाओं की नीति के क्या परिणाम हुए, किस दिशा में कौन-सी नीति व कानून सफल हुए, किन्हें असफलता मिली— ये बातें हमें इतिहास द्वारा ही ज्ञात होती हैं। इसके अध्ययन से हम बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं और विविध राज्य संस्थाओं व सरकारों के सम्बन्ध में सही-सही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। राजनीतिक संगठन का विकास किस प्रकार हुआ, उसका वर्तमान स्वरूप क्या है, और भविष्य में राजनीतिक संगठनों में क्या रूप धारण करने की प्रवृत्ति है, इन बातों का पता ऐतिहासिक अध्ययन द्वारा ही लग सकता है। पर राजनीति शास्त्र के लिए ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग करने में बहुत सावधानी की आवश्यकता होती है। जो घटनाएँ आज हमारे सम्मुख घट रही हैं, उनके सम्बन्ध में भी विधि विचारकों में मतभेद दृष्टिगोचर होता है। एक ही घटना को 'विविध समाचार पत्र व विविध लेखक विविध रूपों में पेश करते हैं।' भूतकाल की घटनाओं के सम्बन्ध में तो इस दोष की सम्भावना और भी अधिक रहती है। कुछ लोगों की दृष्टि में औरंगजेब धर्मान्ध मुसलमान बादशाह था, अन्यो की सम्पत्ति में उसने हिन्दुओं पर प्रथम तो कोई अत्याचार किये ही नहीं यदि उसने कहीं कोई कठोर बर्ताव किया भी, तो उसका एक मात्र उद्देश्य अपने राज्य की रक्षा करना था। वैज्ञानिक रूप से इतिहास का अध्ययन तभी सम्भव है, जबकि ऐतिहासिक प्रत्येक घटना को दृष्टा के रूप में देखें, और अपने निजी विचारों को ऐतिहासिक विवेचन से अलग रखें। पर इसमें संदेह नहीं, कि ऐतिहासिक अनुशीलन का राजनीति शास्त्र के अध्ययन के लिए बहुत अधिक उपयोग है।

— दार्शनिक पद्धति यह पद्धति तुलनात्मक, ऐतिहासिक व पर्यवेक्षण पद्धति से सर्वथा भिन्न है। तुलनात्मक आदि पद्धतियों के अनुसार किसी परिणाम पर पहुँचने के लिए पहले कुछ निश्चित घटनाओं को अपने सम्मुख रखा जाता है व फिर इन घटनाओं में सादृश्य या विशमता देखकर, व उनसे उत्पन्न हुए परिणामों का पता लगाकर किसी एक तथ्य का अनुसंधान किया जाता है। यह पद्धतियाँ वैज्ञानिक हैं। पर दार्शनिक पद्धति का आधार कोई निश्चित घटनाएँ नहीं होती। उसके अनुसार, प्रत्येक विचारक पहले यह कल्पना करता है, कि राज्य का आदर्श स्वरूप क्या होना चाहिए। यह निश्चित कर चुकने पर वह यह प्रतिपादित करता है, कि राज्य को इस आदर्श तक पहुँचने के लिए किन उपायों का अवलम्बन करना चाहिए। प्राचीन समय में प्लेटो ने इसी पद्धति का अनुसरण

किया था । उसने पहले यह कल्पना की थी कि राज्य कैसा होना चाहिए, फिर यह बताया था, कि यह आदर्श राज्य कैसे स्थापित किया जा सकता है। वर्तमान समय में रूसो, कान्ट, हीगल आदि अनेक विचारकों ने भी प्लेटो के समान ही दार्शनिक पद्धति का अवलम्बन किया । दार्शनिक दृष्टि से राज्य की कल्पना का यह लाभ अवश्य होता है, कि जनता के सम्मुख नये विचार आते हैं, और मनुष्यों में उनके अनुसार अपनी संस्थाओं के पुनः निर्माण की प्रवृत्ति होती है । राजनीति शास्त्र के सैद्धान्तिक व शास्त्रीय भाग के लिए दार्शनिक पद्धति का बहुत उपयोग है।

राजनीति विज्ञान का अन्य विज्ञानों के साथ सम्बन्ध

(Relation of Political Science to other Science)

विधाओं का वर्गीकरण करते हुए हम यह बता चुके हैं, कि राजनीति शास्त्र उन विज्ञानों के अंतर्गत है, जिन्हें सामाजिक विज्ञान कहा जाता है। जिन विज्ञानों के अध्ययन का विषय समाज में रहता हुआ मनुष्य होता है, उन्हें सामाजिक विज्ञान कहते हैं। मनुष्य एक-दूसरे के साथ अनेक सम्बन्धों द्वारा सम्बद्ध होते हैं। उनका एक-दूसरे के साथ सामाजिक (सोशल), आर्थिक (इकोनॉमिक), राजनीतिक (पॉलिटिकल), नैतिक (मॉरल) आदि अनेक प्रकार के सम्बन्ध होते हैं। इन्हीं विविध सम्बन्धों को अपना प्रतिपाद्य विषय बनाकर समाजशास्त्र (सोषियोलॉजी), अर्थ (सम्पत्ति) शास्त्र (इकोनॉमिक्स), राजनीति शास्त्र, नीतिशास्त्र (ईथिक्स) आदि अनेक विधाओं का विकास हुआ है। पर इन विविध विधाओं व विज्ञानों का एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्योंकि यह सब मानव समाज का प्रतिपादन करते हैं, और बताते हैं कि समाज के विविध अंगों को एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक् कर सकना सम्भव नहीं है। राज्य भी एक विषिष्ट प्रकार का जन समुदाय व समाज ही है, और वही राजनीति शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। पर क्योंकि राज्य मानव समाज का ही एक विषिष्ट अंग है, अतः उसे समाज के अन्य प्रकारों व अंगों से सर्वथा अलग कर सकना असम्भव है। इसीलिए राजनीति शास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और इस शास्त्र का अध्ययन करते हुए हमें अन्य सामाजिक विज्ञानों का भी कुछ ज्ञान अवश्य ही होना चाहिए। वस्तुतः सब सामाजिक विज्ञान एक-दूसरे के पूरक होते हैं। फ्रैंच लेखक पॉलजाने ने अर्थशास्त्र, कानून, इतिहास और नीतिशास्त्र का राजनीति शास्त्र के घनिष्ठ सम्बन्ध माना है।

जेलीनेक आदि अन्य विद्वानों के अनुसार मनोविज्ञान (साइकोलॉजी), नसलशास्त्र (यूजेनेक्स) आदि का भी राजनीति शास्त्र के साथ निकट सम्बन्ध है। कुछ विद्वान तो भूगोल

आदिभौतिक विज्ञानों के साथ भी राजनीतिशास्त्र का सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। इन विविधविज्ञानों के राजनीतिशास्त्र के साथ सम्बन्ध पर अब हम पृथक्-पृथक् रूप से विचार करेंगे।

इकाई – 3 राजनीति शास्त्र का क्षेत्र

(1) समाजशास्त्र के साथ सम्बन्ध : समाजशास्त्र दृ मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के तारतम्य को समाज कहते हैं। मनुष्य एकसामाजिक प्राणी है। वह समाज में उत्पन्न होता है और समाज में रहकर अपनी उन्नतिकरता है। उसका धर्म, विचार, संस्कृति, रीति-रिवाज, नैतिक भावना व अन्य क्रियायें समाज की ही देन

मनुष्यों की यह सामाजिकता अनेक रूपों में प्रकट होती है। वह किसी सम्प्रदाय व चर्च का अंग होता है, किसी कुल, परिवार, बिरादरी व जाति का अंग होता है, किसी आर्थिक संगठन का अंग होता है, और किसी राजनीतिक समुदाय व राज्य का अंग होता है। ये सब भिन्न-भिन्न प्रकार के समुदाय मनुष्य की सामाजिकता के विविध रूप हैं। जो विज्ञान मनुष्य की इस 'सामाजिकता पर विचार करता है, उसे हम समाजशास्त्र कहते हैं। समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि मनुष्य की सामाजिकता के किसी एक पहलू पर किसी एक विषिष्ट अंग पर विचार करते हैं, पर समाजशास्त्र (सोषियोलॉजी) मनुष्य की आधारभूत सामाजिकता को अपना प्रतिपाद्य विषय बनाता है। राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र में भेद – राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषिष्ट सामाजिक विज्ञानों में और इस आधारभूत सामाजिक विज्ञान (समाजशास्त्र) में

प्रकार की सामाजिकता पर, उसके सब प्रकार के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करता है धार्मिक, आर्थिक, नैतिक, कानूनी

राजनीतिक सिद्धान्त

—आदि किसी भी प्रकार का सम्बन्ध उससे बाहर नहीं रहता । इसके विपरीत, राजनीतिशास्त्र मनुष्यों के केवल राजनीतिक सम्बन्धों का प्रतिपादन करता है । मानव इतिहास में एक ऐसा भी युग था, जब राज्य की उत्पत्ति नहीं हुई थी । प्राचीन भारतीय विचारक उस युग को 'अराजक' कहते थे । पर उस समय में भी मनुष्य समुदाय बनाकर रहता था, किन्हीं निश्चित प्रथाओं, परम्पराओं व नियमों का पालन करता था और एक प्रकार की सामाजिक व्यवस्था को स्वीकार करता था । यदि अराजकतावादियों (अनावर्षित) के सिद्धान्त के अनुसार भविष्य में भी कोई ऐसा समय आ जाए जब राज्य संस्था न रहे, तो भी मनुष्य की सामाजिकता नष्ट नहीं हो जायेगी तो भी मनुष्यों के अनेक प्रकार के समुदाय व समाज कायम रहेंगे । मनुष्यों की जो यह आधारभूत सामाजिकता है, जो राज्य की अपेक्षा नहीं रखती, समाजशास्त्र का वही परिपाद्य विषय है जबकि राजनीतिशास्त्र केवल एक विशेष प्रकार के समाज (राज्य) का प्रतिपादन करता है, जो कि इतिहास में बाद में उत्पन्न हुआ और अनेक विचारक जिसकी उपयोगिता को भी स्वीकृत करने से इन्कार करते हैं ।

(2) आधारभूत मानव सामाजिकता को अपना प्रतिपाद्य विषय बनाने के कारण समाजशास्त्र उन प्रथाओं नियमों, परम्पराओं व विचारों का अनुशीलन करता है, जिनके कारण मनुष्य एक-दूसरे के साथ निकट सम्बन्ध में बंधे हुए पाये जाते हैं । विभिन्न जातियों व समाजों को एक सूत्र में संगठित करने वाली ये प्रथायें व नियम सर्वत्र एक सदृश्य नहीं होते । इन प्रथाओं व नियमों में जहाँ भिन्नता होती है, वहाँ एकता व समता भी दृष्टिगोचर होती है । मनुष्य के स्वभाव व सामाजिकता के इन मूलभूत तत्वों का अन्वेषण करना समाजशास्त्र का कार्य है । जबकि राजनीतिशास्त्र केवल उन तत्वों का प्रतिपादन करता है, जो उन्हें राजनीतिक सम्बन्धों में सम्बद्ध करते हैं ।

(3) समाजशास्त्र यह बताने का यत्न नहीं करता, कि मानव समाज का स्वरूप क्या होना चाहिए । वह केवल यह प्रतिपादित करता है, कि मनुष्यों में सामाजिकता का उद्भव व विकास किस प्रकार हुआ, उसकी सामाजिकता ने कौन-कौन से विभिन्न स्वरूप ग्रहण किये और उसका विकास किस प्रकार हुआ या किस दिशा में हो रहा है । समाजशास्त्र विषुद्ध रूप से वैज्ञानिक अध्ययन है । इसके विपरीत, राजनीतिशास्त्र यह भी विचार करता है कि राज्य का स्वरूप व ध्येय क्या होना चाहिए, और मानव समाज के इस विषिष्ट रूप में किस ढंग से विकास किया जाना चाहिए । इस अंश में राजनीतिशास्त्र केवल विषुद्ध वैज्ञानिक न रहकर दार्शनिक भी बन जाता है । राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र में सम्बन्ध समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में भेद होते भी उनमें निकट सम्बन्ध है । क्योंकि राज्य मानव समाज का ही एक विषिष्ट रूप है, अतः समाजशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय से वह पूर्णतः पृथक् नहीं हो सकता । समाजशास्त्र द्वारा समाज के विकास के सम्बन्ध में जिन नियमों व तथ्यों का प्रतिपादन किया जाता है राजनीतिशास्त्र को वे स्वीकार होते हैं । विशेषतया, राज्य संस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो तथ्य समाजशास्त्र प्रतिपादित करता है, राजनीतिशास्त्र में उनका बहुत महत्वपूर्ण स्थान है । राज्य की उत्पत्ति से भी पहले समाज की सत्ता थी । रॉबिन्सन क्रूसों के समान मनुष्य किसी द्वीप या जंगल में अकेला नहीं रहता था । तब भी मनुष्य समुदाय बनाकर रहता था । वह किसी का पड़ोसी व साथी था, किसी के साथ मिलकर आर्थिक उत्पत्ति करता था, किसी के साथ रहकर अपना परिवार बनाता था । मनुष्य की यही आधारभूत सामाजिकता आगे चलकर राज्य के रूप में अभिव्यक्त हुई । मनुष्य की सामाजिकता का एक रूप जैसे राज्य है, वैसे ही कुल, परिवार, बिरादरी, जाति, सम्प्रदाय, ट्रेड यूनियन, सिन्डीकेट आदि भी उसी सामाजिकता के विभिन्न रूप हैं । जब समाजशास्त्र सामाजिक जीवन के इन भिन्न-भिन्न रूपों पर और उन्हें एक सूत्र में संगठित करने वाले तत्वों पर विचार करता है, तो उन तत्वों का भी स्वयमेव प्रतिपादन हो जाता है, जिनके कारण मनुष्य राज्य — रूपी समुदाय में संगठित हुआ है । इसीलिए राजनीति शास्त्र के लिए समाजशास्त्र का बहुत उपयोग है ।

(2) इतिहास के साथ सम्बन्ध :

राजनीति शास्त्र का इतिहास के साथ बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है, कारण यह है कि राज्य ऐतिहासिक विकास का परिणाम है और उसका स्वरूप व संगठन सदा एक-सा नहीं रहता । राज्यों के स्वरूप में निरंतर परिवर्तन होता रहता है, और उनके संगठन व सरकार में भी एकरूपता व सादृश्य नहीं रहता । राज्य सभा की उत्पत्ति, विकास और उसमें होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन इतिहास द्वारा ही सम्भव है । वर्तमान समय में विविध राज्यों का स्वरूप है, केवल इसी बात का अनुशीलन कर लेना राजनीति शास्त्र के लिए पर्याप्त नहीं समझा जा सकता । साथ ही, यह विवेचन करना भी आवश्यक है, कि पहले समय में राज्यों का क्या स्वरूप था, उनकी सरकारें किस प्रकार की थीं, उनका कार्यक्षेत्र कितना व क्या था, और भिन्न-भिन्न राज्यों में शासनों ने किस नीति का अनुसरण किया तथा इस नीति का क्या परिणाम हुआ । मनुष्यों की सब प्रकार की संस्थाओं को समझने के लिए इतिहास का बहुत उपयोग है । क्योंकि राज्य भी एक मानव संस्था है, अतः उसे समझने के लिए भी इतिहास का अनुशीलन करना आवश्यक है । इतिहास की उन घटनाओं व सामग्रियों को हमारे सम्मुख उपस्थित करता है, जिनके आधार पर हम राजनीतिशास्त्र के नियमों व तथ्यों का ज्ञान प्राप्त करते हैं । जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, इतिहास राजनीतिशास्त्र के लिए एक प्रयोगशाला के समान है, जिसमें होने वाली विविध घटनाओं का पर्यवेक्षण करके हम इस शास्त्र का विकास करते हैं । इसी बात को दृष्टि में रखकर प्रसिद्ध ऐतिहासिक लेखक फ्रीमैन ने लिखा था कि 'भूतकाल की राजनीति का नाम ही इतिहास है और वर्तमान इतिहास को ही राजनीति कहते हैं ।' फ्रीमैन का यह कथन पूर्णतया सत्य नहीं समझा जा सकता, क्योंकि इतिहास मनुष्यों के केवल राजनीतिक विकास का ही प्रतिपादन नहीं करता । मनुष्यों की राजनीतिक, उन्नति व प्रगति का वर्णन करने के साथ-साथ वह मनुष्यों के आर्थिक जीवन कला, संस्कृति, ज्ञान, विज्ञान, युद्ध विद्या, भाषा, रीति-रिवाज आदि के विकास का भी वर्णन करता है । मानव जीवन के जो भी विविध अंग हैं, उन सबकी प्रगति का वर्णन करना इतिहास का कार्य है । अतः भूतकाल की राजनीति को भी इतिहास कहना संगत नहीं समझा जा सकता । यदि भूतकाल की राजनीति इतिहास है, तो भूतकाल का धर्म, संस्कृति, आर्थिक जीवन व प्रथाएँ भी इतिहास हैं । इसी प्रकार वर्तमान इतिहास को भी राजनीति नहीं कहा जा सकता । राजनीति शास्त्र में राज्य सम्बन्धी जिन दार्शनिक विचारों का समावेश होता है, उनका इतिहास के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । पर फ्रीमैन ने जो कुछ लिखा है, उसका यह उपयोग अवश्य है, कि वह इतिहास और राजनीतिशास्त्र के घनिष्ठ सम्बन्ध व अन्योन्याश्रयिता को बड़े स्पष्ट शब्दों में सम्मुख ले आता है । इसमें संदेह नहीं, कि राजनीतिक संस्थाओं का अनुशीलन ऐतिहासिक दृष्टि से करना चाहिए, और इतिहास की घटनाओं को भली-भाँति समझने के लिए भी उनके राजनीतिक पहलूको विशेष महत्व देना चाहिए । इस दृष्टि से विचार करने पर फ्रीमैन की स्थापना का तथ्यसुचारु रूप से स्पष्ट हो जायेगा ।

प्रसिद्ध विद्वान सीले ने एक स्थान पर लिखा है—'राजनीति शास्त्र के बिना इतिहास एक ऐसे वृक्ष के समान है, जिसमें कोई फल नहीं लगता और इतिहास के बिना राजनीति शास्त्र बिना जड़ के वृक्ष के समान है, सीले के अनुसार अन्यविज्ञान भी मनुष्यों से सम्बन्ध रखने वाली भूतकालीन घटनाओं का उल्लेख करते हैं । रसायनशास्त्र, चिकित्सा शास्त्र, अर्थशास्त्र आदि अन्य विधाओं में भी ऐसी बातों को उल्लिखित किया जाता है जो मनुष्य के भूतकाल के साथ सम्बन्ध रखती हैं । चिकित्साशास्त्र में जहाँ चिकित्सा सम्बन्धी वर्तमान विचारों व विधाओं का अनुशीलन होता है, वहाँ साथ ही यह भी बताया जाता है कि इन विचारों व विधियों का विकास किस प्रकार हुआ, व पुराने समयों में लोग किस विधि से चिकित्सा करते थे तथा मानव शरीर के सम्बन्ध में क्या विचार रखते थे । क्योंकि चिकित्साशास्त्र अपने विज्ञान के विषिष्ट क्षेत्र में मानव इतिहास के भूतकाल का वर्णन कर देता है, अतः ऐतिहासिक लोग मनुष्य जाति का इतिहास लिखते हुए चिकित्सा के क्षेत्र में मनुष्यकी प्रगति का विशेष रूप से उल्लेख नहीं करते । जो बात चिकित्साशास्त्र के सम्बन्ध में सत्य है, वही कला, धर्म, नीतिशास्त्र आदि के सम्बन्ध में भी सत्य है । चित्रकला, स्थापत्य कला,

संगीत, भवन-निर्माण कला आदि के भी पुरातन इतिवृत्त है, पर उनका अध्ययन इन्हीं विविष्ट विधाओं के अंतर्गत रूप से किया जाता है, इतिहासकार उन पर विषद रूप से प्रकाश डालने का यत्न नहीं करता। मनुष्य की भूतकालीन क्रियाओं के बड़े भाग को अन्य विधाएँ व विज्ञान अपना प्रतिपाद्य विषय बना लेते हैं। उनसे जो बच रहता है, वह प्रधानतया मनुष्य की राजनीतिक प्रगति ही होती है, जिस पर इतिहास प्रधान रूप से प्रकाश डालता है। यही कारण है, कि इतिहास में मुख्यतः राज्यों की उन्नति, उनके शासन का प्रकार, शासन सम्बन्धी घटनाओं और राजनीतिक वृत्तान्त का ही उल्लेख रहता है, और इसीलिए राजनीति शास्त्र के साथ इतिहास का विशेष सम्बन्ध है। यदि इतिहास की उपेक्षा कर राजनीति शास्त्र का अध्ययन किया जायेगा, तो उसका स्वरूप प्रधानतया दार्शनिक हो जायेगा, क्योंकि इतिहास द्वारा प्रतिपादित घटनाओं के पर्यवेक्षण द्वारा ही हम राजनीति शास्त्र के वैज्ञानिक नियमों व तथ्यों का परिचय प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार, यदि इतिहास का अनुशीलन करते हुए राजनीति शास्त्र की उपेक्षा की जायेगी, राज्य संस्था के विकास, उसकी शासन विधि, शासकों की नीति व कार्यों का जनता पर प्रभाव आदि विषयों को समुचित महत्व नहीं दिया जायेगा, तो इतिहास केवल वर्णनात्मक रह जायेगा, साधारण साहित्य से वह भिन्न नहीं रह सकेगा और वैज्ञानिक दृष्टि से उसका कोई महत्व नहीं रहेगा। अनेक इतिहास – लेखक अपने ग्रन्थों को राज्यों के पारस्परिक युद्धों, राज दरबार के शडयंत्रों व महापुरुषों के वीर – कृत्यों के वर्णन से परिपूर्ण कर देते हैं। वे मानव समाज की विविध संस्थाओं के विकास के प्रश्न पर पर्याप्त प्रकाश डालने का प्रयत्न नहीं करते यही कारण है कि उनके ग्रन्थ साधारण साहित्यिक ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक महत्व नहीं रखते। पर यदि इतिहास का अनुशीलन ठीक प्रकार से किया जाये, तो वह उस सामग्री को उपस्थित करता है, जिसके आधार पर राजनीति शास्त्र का विकास होता है, और इसीलिए राजनीति शास्त्र के लिए इतिहास का बहुत अधिक महत्व है।

(3) अर्थशास्त्र (इकोनॉमिक्स) के साथ सम्बन्ध :

मनुष्यों के आर्थिक और राजनीतिक जीवन में बहुत अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। आर्थिक परिस्थितियाँ राजनीतिक दशा पर प्रभाव डालती हैं, और राज्य की नीति व कार्यों का आर्थिक जीवन पर असर होता है। यही कारण है कि राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र का सम्बन्ध भी बहुत घनिष्ठ है। जब तक मनुष्य अपने निर्वाह के लिए शिकार व पशुपालन पर निर्भर था, वह किसी एक प्रदेश पर स्थाई रूप से नहीं बस सकता था। वह शिकार व पशुपालन के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करता रहता था। मनुष्य की इस फिरन्दर व घुमक्कड़ दशा में राज्य – संस्था का विकास ही सम्भव नहीं था, क्योंकि राज्य उस जनसमुदाय को कहते हैं, जो किसी निश्चित भूखण्ड व प्रदेश पर स्थाई रूप से बसा हुआ होता है। जब मनुष्य शिकारी व पशुपालक की दशा से ऊपर उठकर कृषि द्वारा अपना निर्वाह करने लगा, तभी वह किसी निश्चित प्रदेश पर आबाद हुआ और तभी राज्य संस्था का विकास हुआ। प्राचीन समय में जब मनुष्य प्रधानतया कृषि पर निर्भर रहता था, तब उसकी राज्य संस्था का स्वरूप वर्तमान युग के व्यवसाय – प्रधान मनुष्य की राज्य संस्था से बहुत भिन्न था। कृषि प्रधान युग में जमीन के स्वामी जागीरदारों का राज्य में जो महत्व था, वही अब कल-कारखानों व व्यापार के मालिक पूंजीपतियों को प्राप्त है। प्राचीनकाल के राज्य मुख्यतया श्रेणितंत्र (अरिस्टोक्रेसी) थे उस समय में थोड़े से स्वतंत्र व्यक्ति बहुसंख्यक गुलामों से श्रम का कार्य लेते थे और उन पर शासन भी करते थे। उस युग में वैज्ञानिक उन्नति के अभाव के कारण मषीनो की सत्ता नहीं थी। जो कार्य अब मषीनें करती हैं, वह गुलाम लोग करते थे। इस दशा में यदि थोड़े से स्वतंत्र मनुष्य बहुसंख्यक गुलामों पर शासन करें, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था। वर्तमान युग में लोकतंत्र – शासनों का जो विकास हुआ है, उसका मुख्य कारण वह व्यवसायिक क्रान्ति व वैज्ञानिक उन्नति है, जिसने दास प्रथा को सर्वथा निरर्थक बना दिया है। राज्य का क्या स्वरूप हो, उसकी शासन – विधि क्या हो यह बातें देश की आर्थिक परिस्थितियों पर बहुत निर्भर करती हैं। राजनीतिक आन्दोलनों व विचारधाराओं पर भी आर्थिक दशा का बहुत प्रभाव होता है। समाजवाद (सोषलिज्म) के विकास का प्रधान कारण आर्थिक विषमता ही है। आर्थिक विषमता के रहते हुए केवल राजनीतिक समता स्थापित कर देने से मनुष्य की समस्या का हल नहीं हो जाता, इसी

अनुभूति ने समाजवाद को जन्म दिया है। राज्य के संगठन के सम्बन्ध में जो बहुत-सी नई विचारधाराएँ इस समय चल रही हैं, उनका मुख्य कारण आर्थिक समस्याएँ ही हैं। इसीलिए राजनीतिशास्त्र का अध्ययन करते हुए मानव समाज की आर्थिक परिस्थिति का अनुशीलन करना बहुत उपयोगी होता है।

न केवल आर्थिक परिस्थितियाँ ही राजनीतिक दशा पर प्रभाव डालती हैं, अपितु राजनीतिक परिस्थितियाँ भी देश की आर्थिक दशा पर असर रखती हैं। समाजवादी शासन के अधीन रूस, चीन, चेकोस्लोवाकिया आदि देशों की आर्थिक दशा में भारी परिवर्तन हो गया है। हिटलर और मुसोलिनी के नेतृत्व में स्व-प्रगति की जाँच करें— 1. राजनीति विज्ञान से सम्बन्धित परम्परागत परिभाषाएँ कौन-सी प्रवृत्तियाँ इंगित करती हैं?

2. गार्नर के अनुसार राजनीति शास्त्र के क्षेत्र को कितने भागों में बाँट सकते हैं ?

3. दार्शनिक पद्धति पर टिप्पणी लिखें।

जर्मनी और इटली में जो एक नये प्रकार का शासन (राष्ट्रीय समाजवाद का आश्रित) स्थापित हुआ था, उसके कारण इन राज्यों का आर्थिक संगठन बहुत कुछ परिवर्तित हो गया था। ब्रिटेन और भारत में आजकल जिस राजकीय समुष्टिवाद (स्टेट सोसलिज्म) का अनुसरण किया जा रहा है, उसके कारण इन देशों के आर्थिक जीवन पर राज्य का नियंत्रण बहुत बढ़ गया है और इसीलिए इनकी आर्थिक दशा का रूप संयुक्त राज्य अमेरिका सदृश पूंजीवादी (कैपिटलिस्ट) देशों से बहुत कुछ भिन्न हो गया है। आर्थिक उत्पादन का वितरण और विनमय किस प्रकार हो इस बात के निष्पत्ति में राजकीय कानूनों का बहुत प्रभाव होता है। अनेक राज्यों में ऐसे कानून विद्यमान हैं, जो मजदूरी की न्यूनतम दर कम करने का अधिकतम समय व इसी प्रकार की अन्य बातों की व्यवस्था करते हैं। इसी प्रकार चुंगी, आयातकर (इम्पोर्ट ड्यूटी) — निर्यात कर (एक्सपोर्ट ड्यूटी) मूल्य का नियंत्रण, मुद्रा पद्धति (करेंसी) आदि द्वारा सरकारें वस्तुओं के आदान-प्रदान व विनमय को नियंत्रित करती हैं। इन विविध प्रकार के राजकीय कानूनों द्वारा आर्थिक जीवन बहुत अंशों में नियंत्रित हो जाता है। यही कारण है, कि अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र अन्योन्याश्रित हैं, और उनमें से एक का अध्ययन करने के लिए दूसरे का परिज्ञान बहुत उपयोगी है। समाजवाद के सदृश जो नये वाद आजकल चल रहे हैं उनका इन दोनों शास्त्रों में समान रूप से प्रतिपादन किया जाता है।

अनेक विचारक ऐसे भी हैं, जो मानव सभ्यता के विकास में आर्थिक परिस्थितियों को बहुत अधिक महत्व देते हैं। उनके अनुसार सम्पूर्ण मानव-सभ्यता और संस्कृति आर्थिक जीवन पर ही निर्भर है। वे इतिहास की सब घटनाओं की व्याख्या आर्थिक आधार पर ही करते हैं। इस प्रकार के विचारकों में कार्ल मार्क्स का स्थान प्रमुख है। मानव इतिहास की सब घटनाओं की व्याख्या आर्थिक आधार पर करना उचित हो या अनुचित पर इसमें संदेह नहीं कि राज्य के स्वरूप पर आर्थिक जीवन का बहुत प्रभाव होता है और इसीलिए अर्थशास्त्र का राजनीति शास्त्र से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। (4) मनोविज्ञान (साइकोलॉजी) के साथ सम्बन्ध : राज्य भी एक जनसमुदाय ही है, अतः यह स्वाभाविक है कि मानवीय तत्व का उसमें महत्पूर्ण स्थान हो। राज्य का संचालन मनुष्य करते हैं, सरकार मनुष्यों के प्रति ही अपनी नीतिका प्रयोग करती है, और जनता राज्य का प्रमुख अंग या तत्व है। अतः मनुष्य का मन जिस प्रकार सोचता है और वह जिन बातों से उत्तेजना व प्रेरणा प्राप्त करता है, उन सबका मानवसंस्थाओं पर प्रभाव पड़ता है। जो शास्त्र मनुष्य के मन पर विचार करता है उसे मनोविज्ञान

कहते हैं। मनुष्य की विचार — शक्ति किस प्रकार काम करती हैय जिन परिस्थितियों में मनुष्य रहता है उनका उसके मन पर क्या प्रभाव पड़ता हैय बाह्य उत्तेजनाओं द्वारा मन पर क्या प्रतिक्रिया होती हैय मनुष्य कौन-सा काम आन्तरिक प्रेरणा से करते हैं और कौन से बाह्य प्रभाव द्वारा मनोविज्ञान इन सब विषयों का प्रतिपादन करता है क्योंकि राज्य भी एक मानव संस्था है, अतः यह स्वाभाविक है कि मनुष्य के मन का उस पर प्रभाव हो । यही कारण है, कि जो राजनीतिक नेता अपनी कार्य नीति को निर्धारित करते हुए जनता की मानसिक दशा को दृष्टि में रखते हैं, वे अपने कार्य में सफलता प्राप्त करलेते हैं। हिटलर जो सम्पूर्ण जर्मनी को अपने पीछे लगा सका उसका कारण यही था कि वह जर्मन लोगों की मनोवृत्ति को भली-भांति समझता था। सन् 1914-18 के महायुद्ध के बाद वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी के साथ जो घोर अन्याय हुआ था, सब जर्मन लोग उसे अनुभव करते थे। वर्साय की सन्धि ने जर्मनी में असंतोश और बेचौनी का वातावरण उत्पन्न कर दिया था। जनता में यह भावना विद्यमान थी, कि उसका घोर अपमान हुआ है । हिटलर ने इस भावना से लाभ उठाया। जर्मन जनता की इस भावना व मनोवृत्ति का उपयोग करके ही उसने न केवल वर्साय की सन्धि को खण्ड-खण्ड कर दिया अपितु जर्मनी को यूरोप का अत्यंत शक्तिशाली राज्य बना दिया । महात्मा गांधी ने भारत में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने के लिए यहां की जनता की मनोवृत्ति को पहचाना। भारत के लोग धर्म को बहुत महत्व देते हैंय अतः उन्होंने राजनीति और धर्म में अविरोध का प्रतिपादन किया और अपनी नीति का आधार सत्य और अहिंसा को बनाया, जो भारतीय संस्कृति के मूल तत्व हैं। अमानुल्ला ख़ाँ ने जब अफगानिस्तान में कानून द्वारा सुधार करने का प्रयत्न किया, तो उसने अफगान जनता की मानसिक भावना को पहचानने का यत्न नहीं किया। इसी कारण उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हो सकी।

जब किसी राज्य के राजनीतिक नेता कोई कानून बनाना चाहते हैं या किसी नई नीति का अनुसरण करने लगते हैं तो उन्हें यह अवश्य विचार करना होता है, कि इस नये कानून या नई नीति को जनता किस दृष्टि से देखेगी, जनता की सामूहिक भावना तभी स्थित रह सकती है, जबकि वह अपने को जनता की भावनाओं के अधिक से अधिक अनुकूल बनाने में समर्थ हो। इसमें संदेह नहीं, कि सरकार का यह भी कार्य है, कि वह जनता की भावनाओं को परिवर्तित करेय उसके अधविष्यासों, कुरीतियों व कुसंस्कारों को दूर करे। जनता के विचारों का अंधानुकरण करना किसी भी सरकार व राज्य संस्था के लिए वांछनीय नहीं हो सकता। पर जनता को एकदम परिवर्तित कर सकना भी सम्भव नहीं होता । यदि भारत में प्रचलित हिन्दू कानून और मुस्लिम कानून में कोई सरकार इस ढंग से परिवर्तन करने का यत्न करे, जो जनता की भावना के लिए प्रबल रूप से उद्देगकारी हो तो उसके लिए अपने प्रयत्न में सफल हो सकना सुगम नहीं होगा। अतः मनोविज्ञान का अध्ययन राजनीति शास्त्र के लिए बहुत उपयोगी है। विशेषतया, जनता की सामूहिक मनोभावनाओं को पहचानना, राज्य की उन्नति के लिए उसे प्रयुक्त करना और मनुष्यों के हित व कल्याण को दृष्टि में रखकर उसमें धीरे-धीरे परिवर्तन करना— यह राजनीति विषारदों के लिए परमावश्यक है। प्रत्येक राजनीति वेत्ता के लिए यह उपयोगी है कि वह मनोविज्ञान का पंडित हो और अपनी नीति व कार्यक्रम को निर्धारित करते हुए जनता की भावना को दृष्टि में रखे ।

राजनीति शास्त्र के पंडितों ने राज्य की उपमा शरीर (ऑर्गेनिज्म) से दी है। शरीर के लिए प्राण, जीव व आत्मा की सत्ता अनिवार्य है। चेतन शरीर के लिए जितना उपयोग पंचभूत से निर्मित विविध अंगों का है, उससे कहीं अधिक महत्व उस चितिशक्ति या जीव का है, जो शरीर को जड़ पदार्थ से भिन्न बनाता है । यही बात राज्य के विषय में भी कही जा सकती है । भूमि, जनता आदि राज्य के जो स्थूल अंग हैं, केवल उनसे ही राज्य संस्था का निर्माण नहीं होता। मानव संस्था होने के कारण राज्य में भी एक अशरीरी मानस तत्व की सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है। यह मानस तत्व सरकार के संगठन व स्वरूप पर बहुत प्रभाव डालता है। राज्य में जो विविध राजनीतिक आन्दोलन होते रहते हैंय जनता जो अपनी आकांक्षा व असंतोश को विविध उपायों द्वारा प्रकट करती रहती है, उसका कारण यह मानस तत्व ही है। इसी के कारण राज्य में विद्रोह होते हैं, क्रान्तियाँ होती हैं। इसी के कारण राज्य

के संविधान (कॉन्स्टिट्यूशन) में परिवर्तन होते रहते हैं। यदि इस मानस तत्व की सत्ता न होती तो पायद अब तक संसार में दैवीय अधिकार से शासन करने वाले राजा स्वेच्छाचारी रूप से शासन करते रहते। मानस तत्व के इस महत्व के कारण ही राजनीति शास्त्र के लिए मनोविज्ञान का क्रियात्मक उपयोग है।

(5) भूगोल (जियोग्राफी) के साथ सम्बन्ध :

— राजनीतिशास्त्र के विद्वानों का यह मत है कि भौगोलिक दशाओं का राज्य के स्वरूप व संगठन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। प्राचीन ग्रीस में जो बहुत से नगर — राज्यों का विकास हुआ, उसका एक कारण यह बताया जाता है, कि पर्वतों की श्रृंखलाओं द्वारा ग्रीस अनेक छोटी-छोटी घाटियों में विभक्त था। पुराने जमाने में इन चोटियों का एक-दूसरे के साथ बहुत कम सम्बन्ध था। इसी कारण ग्रीस के नगर राज्य एक-दूसरे से पृथक् रहते हुए अपनी स्वतन्त्र सत्ता को देर तक कायम रख सके। प्राचीन समय में क्रीट और फिनीषिया जो सामुद्रिक व्यापार व सामुद्रिक साम्राज्यों की स्थापना में समर्थ हुए, उसका कारण उनकी भौगोलिक स्थिति ही थी। वर्तमान समय में नौकानयन में ग्रेट ब्रिटेन और जापान ने जो असाधारण उन्नति की, उसका श्रेय भी उनकी भौगोलिक स्थिति को दिया जाता है। अफगानिस्तान और नेपाल सदृश्य राज्य जो उन्नति के दौर में पीछे रह गये, उसका एक कारण यह भी है कि उनके पास समुद्र तट का सर्वथा अभाव है, और इसी कारण वे व्यापार के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकते। जर्मनी और फ्रांस के बीच में कोई प्राकृतिक सीमा नहीं है। इस कारण उन्हें सदा एक-दूसरे के आक्रमण की आशंका बनी रहती है। इसीलिए उन्हें यह आवश्यकता सदा अनुभव होती रही है, कि वे अपनी सैनिक उन्नति पर विशेष ध्यान दें। जर्मनी और फ्रांस सैनिक बल को उन्नत करने के लिए जिस प्रकार विशेष रूप से प्रवृत्त रहे, उसका मुख्य कारण उनकी भौगोलिक परिस्थितियाँ ही थीं। अमेरिका और रूस जैसे राज्य जो आज संसार में इतना अधिक महत्व रखते हैं, उसका एक कारण उनका विषालकाय होना भी है। भौगोलिक दृष्टि से जो उन्हें इतना विस्तृत भूखण्ड प्राप्त है, वह उनकी शक्ति व समर्पद्धि में बहुत सहायक है।

अनेक विद्वान यह प्रतिपादित करते हैं, कि जलवायु और भूमि की उपज शक्ति आदि का भी राज्य की स्थिति, शक्ति व शासन— व्यवस्था पर प्रभाव पड़ता है। फ्रेन्च विद्वान रूसों के अनुसार जलवायु का राज्य की शासन विधि पर बहुत प्रभाव पड़ता है। ग्रीष्म जलवायु वाले देशों में एकतंत्र व स्वेच्छाचारी शासन का विकास होता है। अतिशीत जलवायु में जंगलीपन विकसित होता है और मध्यम प्रकार की (न अधिक शीत न अधिक गर्म) जलवायु में सुव्यवस्थित शासन स्थापित होते हैं। मॉर्तस्व्यू के अनुसार भी पर्वत — प्रधान और अतिशीत जलवायु वाले देशों में एकतंत्र स्वेच्छाचारी शासन विद्यमान होते हैं। प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान बकले ने इस विषय पर बड़े विषद रूप से विचार करके यह परिणाम निकाला था, कि मनुष्यों की क्रियायें उनके अपने विचार व चिन्तन पर उतना निर्भर नहीं करतीं, जितना कि प्राकृतिक परिस्थितियों पर। उसका कथन था, कि नार्वे और स्वीडन के लोगों तथा स्पेन और पुर्तगाल के लोगों में जो भारी अंतर है, उसका कारण इन देशों की भौगोलिक व प्राकृतिक परिस्थितियाँ ही हैं। मनुष्य जो भोजन करता है, जिस जलवायु में निवास करता है, और जिन परिस्थितियों में रहता है, उनका उसके शरीर, मन और विचारों पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इन बाह्य प्रभावों द्वारा न केवल मनुष्यों के वैयक्तिक चरित्र का निर्माण होता है, अपितु साथ ही उनके सामूहिक व राष्ट्रीय चरित्र का भी विकास होता है। ब्लुंस्ली और ट्रीटस्के आदि अन्य विद्वानों ने भी भौगोलिक परिस्थितियों के मानव — चरित्र व मानव — संस्थाओं पर होने वाले प्रभाव को स्वीकार किया है।

इसमें संदेह नहीं, कि भौगोलिक व प्राकृतिक परिस्थितियों का मनुष्य के वैयक्तिक व सामुदायिक चरित्र पर प्रभाव होता है, और राज्यों की प्रगति पर भी इनका असर पड़ता है पर अनेक विद्वानों ने इन प्रभावों का प्रतिपादन करते हुए बहुत ही अतिशयोक्ति में कहा किया है। शासन व्यवस्था जलवायु व भौगोलिक दशा पर निर्भर नहीं करती। जिस समय रूसो यह प्रतिपादित कर रहा था, कि ग्रीष्म जलवायु वाले देशों में एकतंत्र स्वेच्छाचारी शासन होते

हैं। तभी फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया, इटली आदि सभी यूरोपियन राज्यों में निरंकुष राजाओं का शासन था, जो अपनी इच्छा को ही कानून समझते थे। फ्रांस के लुई चौदहवें व स्पेन के फिलिप द्वितीय का शासन जहांगीर व औरंगजेब के शासन से स्वेच्छाचारिता में किसी प्रकार कम नहीं था। यदि प्राचीन ग्रीक और इटली में लोकतंत्र गणराज्यों का विकास हुआ था, तो भारत और चीन में भी इस प्रकार के राज्यों की सत्ता रह चुकी है, जिनमें सब नागरिक एकत्र होकर अपनी सभायें करते थे और सभा में निर्णीत नियमों का पालन करते थे। सरकार व शासनविधि का स्वरूप भौगोलिक दशा पर उतना निर्भर नहीं करता, जितना कि काल पर। मध्यकाल में जैसे भारत में सामंत पद्धति विद्यमान थी, वैसे ही यूरोप में भी थी। आधुनिक समय में जैसे यूरोप में लोकतंत्रवाद का विकास हुआ, वैसे ही भारत आदि प्राच्य देशों में भी हुआ।

पर यह सत्य है कि भौगोलिक व प्राकृतिक परिस्थितियों का प्रभाव राज्य पर पड़ता है। जिन देशों में खनिज पदार्थों का बाहुल्य है, उनके लिए व्यावसायिक उन्नति कर सकना अधिक सुगम है। जर्मनी और ग्रेट ब्रिटेन जो व्यावसायिक क्षेत्र में इतना अधिक आगे बढ़ गये उसका एक प्रधान कारण वे खनिज पदार्थ (कोयला, लोहा आदि) हैं, जो वहां बहुतायत से उपलब्ध हैं। जिन देशों में अब परमाणु शक्ति की उन्नति करने में सहायक यूरैनियम आदि पदार्थ उपलब्ध हो रहे हैं, भविष्य में उनकी बहुत उन्नति होगी, यह बात पूर्ण भरोसे के साथ कही जा सकती है। भौगोलिक परिस्थितियों का राज की शक्ति व उन्नति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। इसी कारण राजनीति शास्त्र के अध्ययन में भूगोल का भी महत्वपूर्ण स्थान है।

(6) अन्य विज्ञानों के साथ सम्बन्ध :

विधान शास्त्र (ज्यूरिस्प्रूडेन्स) का कार्य कानून का प्रतिपादन करना है, यह कानून चाहे परम्पराओं व प्रथाओं पर आश्रित हो या सरकार द्वारा निर्मित हो। राज्य-संस्था कानून पर ही आश्रित होती है। प्रत्येक व्यक्ति इन कानूनों को मानने के लिए बाध्य होता है और कानून के बिना राज की सत्ता ही सम्भव नहीं होती। अतः विधान शास्त्र का राजनीति शास्त्र के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है और उसका ज्ञान भी राजनीति शास्त्र के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

सारांश : नागरिक शास्त्र (सिविक्स) इस विषेश बात का प्रतिपादन करता है, कि प्रत्येक नागरिक को अपने पड़ोसियों व साथियों के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य किसी ग्राम व नगर में निवास करता है, जहां वह अन्य लोगों के साथ सम्पर्क में आता है। इन लोगों के प्रति उसके अनेक कर्तव्य होते हैं, और साथ ही इनका अंग होने के कारण वह अनेक अधिकारों का भी उपभोग करता है। जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य किसी ग्राम व नगर का निवासी होता है, वैसे ही वह किसी राज्य का भी अंग होता है। राज्य का अंग होने के कारण जहां उसे अनेक अधिकार प्राप्त होते हैं, वहां साथ ही राज्य के प्रति उसके अनेक कर्तव्य भी होते हैं। मनुष्य किस प्रकार एक आदर्श नागरिक बन सकता है, उसका अपने पड़ोसियों के प्रति क्या कर्तव्य है, राज्य के साथ उसका क्या सम्बन्ध होना चाहिए — इन सब बातों का प्रतिपादन नागरिक शास्त्र द्वारा किया जाता है। ये बातें राजनीति शास्त्र के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं, अतः नागरिक शास्त्र और राजनीति शास्त्र का भी परस्पर बहुत सम्बन्ध है। मानव ज्ञान के जो विविध अंग हैं, वे सब एक-दूसरे के साथ निकट सम्बन्ध रखते हैं। ज्ञान या विज्ञान को ऐसे विभागों में विभक्त कर सकना सम्भव नहीं है, जिनका एक-दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध न हो। किसी भी विधा या विज्ञान को भली-भांति समझने के लिए 'बहुश्रुत होना आवश्यक है। ज्ञान रूप वेद के लिए एक प्राचीन विद्वान ने बड़े सुन्दर रूप से कहा था 'अल्पश्रुत मनुष्य से वेद भय खाता है, कि वह मुझ पर प्रहार करेगा।' जो बात ज्ञान रूप वेद के सम्बन्ध में सत्य है, वही राजनीति शास्त्र के विषय में भी सत्य है। अल्पश्रुत व्यक्ति इस शास्त्र का भी सम्यक रूप से अनुशीलन नहीं कर सकता।

(प) अपने पारम्परिक संदर्भ में राजनीति विज्ञान राज्य व सरकार दोनों का अध्ययन करता है । (पप) राजनीति विज्ञान का राज्य विषयक अध्ययन मूलतः संस्थात्मक है क्योंकि उसमें केन्द्रीय महत्व राज्य अथवा सरकार का है, अन्य तथ्य मात्र सांयोगिक हैं ।

(पपप) राजनीति विज्ञान औपचारिक रूप से राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन करते संविधान में निहित कानूनी वास्तविकता को अध्ययन का आधार बनाता है ।

हुए राज्य के परम्परागत राजनीति विज्ञान राजनीतिक प्रक्रियाओं के अध्ययन की अपेक्षा राज्य की नीतियों के अध्ययन पर बल देता है ।

2. गार्नर के अनुसार भी राजनीति शास्त्र के क्षेत्र को तीन भागों में बाँट सकते हैं – (1) राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई और उसका स्वरूप क्या है, इन बातों का अनुशीलन (2) राजनीतिक संस्थाओं के विविध रूपों के स्वरूप व इतिहास का अध्ययन, और (3) इन दोनों के अनुशीलन के आधार पर इस बात का परिज्ञान कि राजनीतिक उन्नति और विकास के क्या नियम हैं?

3. दार्शनिक पद्धति (The Philosophical Method)

– यह पद्धति तुलनात्मक, ऐतिहासिक व पर्यवेक्षण पद्धति से सर्वथा भिन्न है । तुलनात्मक आदि पद्धतियों के अनुसार किसी परिणाम पर पहुँचने के लिए पहले कुछ निश्चित घटनाओं को अपने सम्मुख रखा जाता हैय फिर इन घटनाओं में सादृश्य या विशमता देखकर, व उनसे उत्पन्न हुए परिणामों का पता लगाकर किसी एक तथ्य का अनुसंधान किया जाता है । यह पद्धतियाँ वैज्ञानिक हैं । पर दार्शनिक पद्धति का आधार कोई निश्चित घटनायें नहीं होती । उसके अनुसार, प्रत्येक विचारक पहले यह कल्पना करता है, कि राज्य का आदर्श स्वरूप क्या होना चाहिए । यह निश्चित कर चुकने पर वह यह प्रतिवादित करता है, कि राज्य को इस आदर्श तक पहुँचने के लिए किन उपायों का अवलम्बन करना चाहिए । प्राचीन समय में प्लेटों ने इसी पद्धति का अनुसरण किया था । उसने पहले यह कल्पना की थी कि राज्य कैसा होना चाहिए, फिर यह बताया था, कि यह आदर्श राज्य कैसे स्थापित किया जा सकता है । वर्तमान समय में रूसो, कान्ट, हीगल आदि अनेक विचारकों ने भी प्लेटो के समान ही दार्शनिक पद्धति का अवलम्बन किया । दार्शनिक दृष्टिसे राज्य की कल्पना का यह लाभ अवश्य होता है, कि जनता के सम्मुख नये विचार आते हैं, और मनुष्यों में उनके अनुसार अपनी संस्थाओं के पुनः निर्माण की प्रवृत्ति होती है । राजनीति शास्त्र के सैद्धान्तिक व शास्त्रीय भाग के लिए दार्शनिक पद्धति का बहुत उपयोग है ।

अभ्यास—प्रश्न

1. राज्य के लक्षणों का वर्णन करें ।
2. राज्य के आवश्यक तत्व कौन-कौन से हैं?
3. राज्य एक सर्वोपरि समुदाय है । विवेचना करें ।



अध्याय-2

राज्य का लक्षण, स्वरूप और उसके आवश्यक तत्व

अध्याय में प्रस्तुत है :-

राजनीतिक सिद्धान्त

राज्य का लक्षण

राज्य के आवश्यक तत्व

सर्वोपरि समुदाय के रूप में राज्य का स्वरूप

सारांश

स्व-प्रगति जाँच के उत्तर

अभ्यास-प्रश्न

षिक्षण उद्देश्य :

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् आप समझ सकेंगे-

राज्य का लक्षण

राज्य के आवश्यक तत्व

सर्वोपरि समुदाय के रूप में राज्य का स्वरूप

परिचय :

1. राज्य का लक्षण :

— राजनीति शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय राज्य है । अतः यह आवश्यक है, राज्य शब्द का उपयोग कि राज्य शब्द पर सूक्ष्मता के साथ विचार किया जाए । हिन्दी में राज्य शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है । फ्रांस, ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, चीन, भारत आदि राज्य कहे जाते हैं । पर साथ ही न्यूयार्क, कैलिफोर्निया आदि जो प्रान्त, संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्तर्गत हैं वे भी राज्य कहलाते हैं । स्वतन्त्र भारत के संविधान के अनुसार उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, काशी आदि भी 'राज्य' हैं । यही नहीं, अनेक जमींदार व ताल्लुकेदार अपनी भूसम्पत्ति को भी राज्य व राज कहते हैं । बलरामपुर, महमूदाबाद आदि केवल जमींदारियाँ थीं, यद्यपि उन्हें भी राज्य कहा जाता था, और उनके स्वामी अपने को महाराजा व राजा कहते थे ।

मध्यकाल में सामन्त पद्धति के युग में न केवल राजाधिराजाओं द्वारा शासित प्रदेश ही राज्य कहलाते थे, बल्कि सामन्त राजाओं व ठाकुरों द्वारा अधिकृत प्रदेशों को भी राज्य कहा जाता था । अंग्रेजी शासन के समय में राजपूताना के अंतर्गत जयपुर, जोधपुर आदि भी राज्य कहलाते थे । इतना ही जयपुर के महाराजा के अधीन जो अनेक राव — राजा आदि थे, उनके प्रदेश भी राज्य कहे जाते नहीं, थे । केवल हिन्दी भाषा में ही नहीं, अंग्रेजी में भी राजनीति शास्त्र की अनेक संज्ञाओं का उपयोग इसी प्रकार अनिश्चित व विविध अर्थों में होता है । राज्य को अंग्रेजी में 'स्टेट' कहते हैं जहाँ फ्रांस, ब्रिटेन आदि को स्टेट कहते हैं वहाँ काशी, जयपुर, न्यूयार्क आदि भी स्टेट कहे जाते हैं । पर राजनीति शास्त्र में हमें जिस राज्य व स्टेट का प्रतिपादन करना है, उसमें प्रभुता व सर्वोपरिता (व्यवस्थितमपहदजल) का होना आवश्यक है, जो प्रदेश किसी अन्य के अधीन हो, जो सम्पूर्ण — प्रभुत्व-सम्पन्न न हो, और जिस पर किसी बाह्य सत्ता का नियंत्रण हो, वह राजनीति शास्त्र की दृष्टि में राज्य नहीं होता । न्यूयार्क, काशी, बिहार आदि को यद्यपि सामान्यतः " राज्य " कहा जाता है, पर

राजनीति शास्त्र जिस “राज्य” पर विचार करता है, वह इनसे भिन्न है। फ्रांस, चीन, भारत आदि जो राज्य सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्न (सॉवरेन) हैं, वे ही राजनीति शास्त्र की दृष्टि में “राज्य” हैं, और उन्हीं पर यह शास्त्र विचार करता है।

राज्य और सरकार हम साधारण भाषा में यह भी कहते हैं, कि राज्य को धर्म के मामले में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, या व्यवसायों पर राज्य का नियंत्रण उपयोगी है। इन वाक्यों में राज्य का अभिप्राय “सरकार” से है। राज्य एवं सरकार दो भिन्न वस्तुएं हैं। राज्य के उद्देश्यों व प्रयोजनों की पूर्ति के लिए जो साधन व संगठन बनाया जाता है। उसे “सरकार” कहते हैं। राज्य साध्य है, और सरकार उसका साधन। जब हम कहते हैं, कि राज्य को व्यवसाय पर नियंत्रण रखना चाहिए तो हमारा अभिप्राय यही होता है, कि सरकार को व्यवसायों पर नियंत्रण रखना चाहिए।

राज्य स्थिर रहता है, यद्यपि सरकार में परिवर्तन होता रहता है। रूस में पहले एकतंत्र सम्राटों का शासन था। 1917 में वहाँ राज्य क्रान्ति हुई। पहले लोकतंत्र सरकार की स्थापना हुई, और बाद में साम्यवादी (कम्युनिस्ट) सरकार की। पर जारषाही सरकार, लोकतंत्र सरकार और साम्यवादी सरकार की स्थापना से रूसी राज्य की सत्ता में कोई अंतर नहीं आया। रूसी राज्य स्थाई रहा, यद्यपि सरकार में परिवर्तन आते रहे।

14 अगस्त 1947 तक भारत में ब्रिटिश सरकार विद्यमान थी। 15 अगस्त 1947 को भारत की शासन सत्ता भारतीयों के हाथ में आ गई और स्वतंत्र भारतीय सरकार की स्थापना हो गई। यद्यपि सरकार में परिवर्तन आ गया, पर भारतीय राज्य की सत्ता कायम रही।

मनुष्य के अन्य समुदायों के समान राज्य भी एक समुदाय है। इसके भी निश्चित उद्देश्य व निश्चित प्रयोजन हैं। उन उद्देश्यों व प्रयोजनों की पूर्ति के लिए जब एक साधन (एक ही प्रकार की सरकार) उपयुक्त नहीं रहता, तो नये साधन (एक नयी सरकार) का अवलम्बन किया जाता है। यही कारण है कि सरकार में बहुधा परिवर्तन होते रहते हैं। इतिहास में हम देखते हैं, कि एकतंत्र शासन (मोनाक्री) का अंत होकर लोकतंत्र शासन (डेमोक्रेसी) की स्थापना होती है। 1789 में फ्रांस में राज्य क्रांति हुई। बूबों वंश के स्वेच्छाचारी निरकुंष राजाओं का अंत होकर वहाँ लोकतंत्र सरकार की स्थापना हुई। हम यह भी देखते हैं, कि लोकतंत्र शासन की सब शक्ति को कोई एक व्यक्ति अपने हाथ में करके स्वयं एकाधिपति (डिक्टेटर) बन जाता है। जर्मनी में हिटलर और इटली में मुसोलिनी इसी प्रकार एकाधिपति बन गये। राज्य क्रांति, शङ्खत्र आदि द्वारा राज्यों की सरकार में बहुधा परिवर्तन होते रहते हैं पर इससे राज्य की स्थायिता में बाधा नहीं पड़ती। जिन राज्यों में लोकतंत्र शासन होता है, उनमें भी संसद (पार्लियामेंट) में विद्यमान विविध दलों के पारस्परिक संघर्ष के कारण सरकार प्रायः बदलती रहती है। ग्रेट ब्रिटेन में कभी मजदूर दल की सरकार बनती है, तो तभी कन्जर्वेटिव दल की। अमेरिका में डेमोक्रेटिक और रिपब्लिकन दल अपनी सरकारें बनाते रहते हैं, पर सरकार में हुए इन परिवर्तनों के कारण ब्रिटेन व अमेरिका की सत्ता व स्थायित्व में अंतर नहीं आता। राज्य सदा स्थाई रहता है, स्थायित्व उसका एक आवश्यक गुण है। इसके विपरीत सरकार अस्थायी व परिवर्तनशील होती है, उसमें बहुधा परिवर्तन होते रहते हैं।

फ्रांस का राजा लुई 14वाँ (1643–1715) कहा करता था – “राज्य क्या है? मैं ही तो राज्य हूँ।” पर लुई 14वाँ की मृत्यु के साथ फ्रेंच राज्य का अंत नहीं हो गया। वस्तुतः लुई राज्य नहीं था। हाँ, वह फ्रेंच सरकार का अधिपति अवश्य था। फ्रेंच सरकार की सब शक्ति उसमें निहित थी, पर लुई राज्य से भिन्न था। इसी कारण उसके मरने पर फ्रांस की मृत्यु नहीं हो गई। फ्रेंच राज्य स्थिर रहा, यद्यपि फ्रेंच सरकार में परिवर्तन हो गया।

राज्य सम्पूर्ण – प्रभुत्व सम्पन्न (वैवमत्तमपहद) होता है, सरकार नहीं। सरकार के पास जो भी शक्ति, अधिकार व सत्ता होती है, वह सब उसे राज्य द्वारा ही प्राप्त होती है। संविधान (कॉन्स्टिट्यूशन) द्वारा जो शक्ति सरकार को प्रदान की जाती है, सरकार उससे अधिक शक्ति

प्रयोग में नहीं ला सकती । राज्य को अधिकार होता है, कि सरकार की दी हुई शक्ति में वृद्धि व कमी कर सके । अभिप्राय यह है, कि वास्तविक प्रभुता (सॉवरेन्टी) राज्य में निहित होती है, सरकार में नहीं, क्योंकि सरकार तो राज्य के हाथ में एक साधन मात्र है ।

—राज्य लक्षण राजनीति शास्त्र के विविध आचार्यों ने राज्य के लक्षण भिन्न-भिन्न रीति से बताये हैं। जर्मन विद्वान शुल्क ने ठीक ही लिखा है, कि राज्य के इतने अधिक लक्षण किये गये हैं, कि उनका परिगणन कर सकना कठिन है । प्रत्येक विद्वान राज्य का लक्षण भिन्न प्रकार से बताया है । इसके दो कारण हैं— (1) भिन्न-भिन्न समयों में राज्य के स्वरूप की भिन्नता — प्राचीन समय में एथेन्स, वज्जिगण, स्पार्टा आदि जो गणराज्य थे, उनका स्वरूप वर्तमान युग के विषाल राज्यों की अपेक्षा बहुत कुछ भिन्न था । अतः यदि प्राचीन पंडितों और अर्वाचीन विद्वानों के राज-संबंधी लक्षणों में भेद हो तो यह स्वाभाविक ही है । (2) कानून का पंडित राज्य को जिस दृष्टि से देखता है, राजनीति शास्त्र के विद्वान की दृष्टि उससे भिन्न होती है । विभिन्न विद्वान राज्य के भिन्न-भिन्न पहलुओं को महत्व देते हैं । इसी कारण उनके द्वारा दिये गये राज्य के लक्षणों में भी भेद आ जाता है ।

—प्राचीन विचारकों द्वारा बताये गये राज्य के लक्षण पाष्वात्य संसार में राजनीति शास्त्र का सबसे प्राचीन आचार्य अरिस्टोटल (चौथी सदी ई. पू.) था । वह ग्रीस का निवासी था, और राजनीति शास्त्र पर उसने अनेक ग्रंथों की रचना की थी । उसने राज्य का लक्षण इस प्रकार दिया था 'राज्य कुलों और ग्रामों के उस समुदाय का नाम है, जिसका उद्देश्य पूर्ण और सम्पन्न जीवन की प्राप्ति है ।' अरिस्टोटल के इस लक्षण के अनुसार राज्य की उत्पत्ति से पूर्व मनुष्यों के अन्य समुदायों का विकास हो चुका था । मनुष्य पहले कुलों में संगठित हुआ । फिर अनेक कुलों के मिलने पर ग्राम की रचना हुई । मनुष्य अकेला रहते हुए जीवन की पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकता । समुदाय में संगठित होने पर उसके लिए यह सम्भव हो जाता है, कि वह जीवन की पूर्णता को प्राप्त कर सके । जिन्हें हम सद्गुण कहते हैं, वे समुदाय में रहते हुए मनुष्य के लिए ही सम्भव हैं । उपकार, दया, सत्य, अस्तेय आदि गुणों की सत्ता तभी सम्भव है, जब मनुष्य समुदाय (समाज) में निवास करे । पर कुल व ग्राम सदस्य समुदायों में मानव जीवन पूर्णतः को प्राप्त नहीं कर सकता । इसके लिए यह आवश्यक है, कि मनुष्य अधिक विषाल व अधिक पूर्ण समुदाय में संगठित हो । मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । वह समुदाय में ही अपने जीवन का भली-भांति विकास कर सकता है । समुदाय का सबसे अधिक उत्कृष्ट रूप राज्य है, जिसमें कुल, ग्राम आदि भी अंग रूप से अंतर्गत रहते हैं । प्राचीन ग्रीक लोग यह मानते थे, कि व्यक्ति की सत्ता समाज के लिए है । व्यक्ति के हितों को समूह के लिए न केवल कुर्बान कर देना उचित है, अपितु व्यक्ति का चरम विकास व पूर्णतः ही इस बात में है, कि वह अपने को समूह (समिश्रित) में लीन कर दे । इसीलिए अरिस्टोटल ने राज्य (जो कि समूह या समुदाय का उत्कृष्ट रूप है) द्वारा पूर्ण व सम्पन्न जीवन को प्राप्त करने की बात का प्रतिपादन किया था । इसीलिए उसने लिखा था 'प्रत्येक समुदाय का उद्देश्य यही होता है, कि वह किसी हित का सम्पादन करे । राज्य एक ऐसा समुदाय है, जो अन्य सब समुदायों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है, और अन्य सब समुदाय जिसके अन्तर्गत होते हैं । अतः राज्य का उद्देश्य सर्वाधिक हित को सम्पादित करना है ।'

रोमन साम्राज्य में सिसरो एक प्रसिद्ध राजशास्त्री हुआ है । उसने राज्य का लक्षण इस प्रकार बताया था— 'राज्य उस समुदाय को कहते हैं, जिसमें यह भावना विद्यमान हो कि सबको उस (समुदाय) के लाभों का परस्पर साथ मिलकर उपभोग करना है ।' सिसरो के इस लक्षण में यह विचार प्रधान है, कि राज्य रूपी समुदाय में जो मनुष्य संगठित हैं, वे सब समान रूप से उन लाभों को व उन हितों को प्राप्त करते हैं, जो राज्य के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय व संगठन द्वारा प्राप्त नहीं किये जा सकते । राज्य की उत्पत्ति व विकास के कारण मनुष्य कुछ ऐसे लाभों को प्राप्त करने में समर्थ हुआ है, जो उसे पहले प्राप्त नहीं थे या जो राज्य के बिना उसे प्राप्त नहीं हो सकते थे ।

मध्यकालीन यूरोप पर रोमन विचारधारा का बहुत प्रभाव रहा । इसी कारण इस काल के अन्य राजशास्त्रियों पर सिसरो के विचारों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है । सिसरो

की विचार सारणी का अनुसरण करते हुए ग्रीसिद्धास ने राज्य का लक्षण इस प्रकार किया था – “राज्य ऐसे स्वतन्त्र मनुष्यों के पूर्ण समुदाय का नाम है, जिन्होंने अपना संगठन सर्वसामान्य लाभों व उपयोगिता की प्राप्ति के लिए किया है।” मध्यकालीन यूरोप के अन्य विचारक भी राज्य का लक्षण प्रायः इसी प्रकार से करते रहे। उनकी दृष्टि में राज्य की ये विशेषताएं होती थीं – (1) राज्य अन्य सब समुदायों की अपेक्षा अधिक परिपूर्ण (उच्चतम) समुदाय है । (2) उसका प्रयोजन व उद्देश्य यह है, कि मनुष्य सम्मिलित रूप से उन लाभों को प्राप्त करें, जो केवल राज्य द्वारा ही प्राप्त किये जा सकते हैं।

आधुनिक विचारकों द्वारा बताये गये राज्य के लक्षण अर्वाचीन युग में जब राजशास्त्रियों ने राज्य पर विचार करना शुरू किया, तो उन्होंने राज्य के निम्नलिखित तत्वों का प्रतिपादन किया (1) जनता (2) प्रदेश व भूमि (3) शासन और (4) प्रभुता या सर्वोपरिता । किसी ऐसे समुदाय को राज्य नहीं कहा जा सकता, जिसमें ये चारों बातें न हों। समुदाय मनुष्यों का होना चाहिए, उस समुदाय के पास कोई अपना निश्चित प्रदेश या भूमिखण्ड होना चाहिए जो केवल उस मानव समुदाय का हो और उस पर किसी अन्य बाह्य शक्ति का आविश्कार व नियन्त्रण न हो। यह तो आवश्यक है, कि यह समुदाय किसी राजनीतिक संगठन में संगठित हो और इसकी सत्ता सर्वोपरि हो, अन्य कोई समुदाय इसकी अपेक्षा अधिक शक्ति न रखता हो ।

—आधुनिक विचारकों ने राज्य के जो लक्षण बताये, उनमें उन्होंने राज्य की इन्हीं चार विशेषताओं को प्रकट करने का प्रयत्न किया । यहाँ यह उपयोगी होगा कि हम कतिपय विद्वानों द्वारा बताये गये राज्य के लक्षणों को उद्धृत करें ।

अंग्रेज विद्वान हालैण्ड ने राज्य का लक्षण इस प्रकार बताया है

“राज्य मनुष्यों के उस समूह व समुदाय को कहते हैं, जो साधारणतया किसी निश्चित प्रदेश पर बसा हुआ हो और जिसमें किसी एक श्रेणी व बहुसंख्या की इच्छा अन्य सब के मुकाबले में क्रिया में परिणत होती हो।” हालैण्ड द्वारा किये गये राज्य के इस लक्षण में निम्नलिखित बातों पर जोर दिया गया है – (1) राज्य मुन्खों का एक ऐसा समुदाय है, जो साधारणतया किसी निश्चित प्रदेश पर स्थायी रूप से बसा हुआ हो । (2) इस समुदाय में कुछ लोगों की इच्छा चलती हो, अन्य सब को इस इच्छा के सम्मुख सिर झुकाना पड़े । अन्य लोग चाहे इस ‘इच्छा’ के विरोधी भी क्यों न हों, पर उन्हें दबना पड़े। यह इच्छा किसी अल्पसंख्यक श्रेणी की भी हो सकती है और बहुसंख्यक जनता की भी । लोकतन्त्र राज्यों में बहुसंख्यक जनता की इच्छा क्रिया में परिणत होती है । कतिपय राज्यों में यह भी होता है, कि कोई असाधारण शक्ति सम्पन्न मनुष्य या कोई श्रेणी अपने धन, बुद्धि व शौर्य के बल पर स्वयं अल्पसंख्यक में होते हुए भी बहुसंख्यक लोगों पर शासन करें, और अपनी इच्छा के सम्मुख अन्य लोगों की इच्छा को न चलने दे ।

जर्मन विद्वान ब्लुंसली के अनुसार, “ मनुष्य जाति के राजनीतिक दृष्टि से संगठित हुए, एक विषिष्ट भाग का नाम ही राज्य है ।” इस लक्षण में जनता और शासन इन दो तत्वों का भली-भाँति समावेश हो गया है, पर प्रभुता व सर्वोपरिता का समावेश इसमें नहीं हुआ। जिस समय ब्लुंसली ने अपने विचारों का प्रतिपादन किया था, तब जर्मनी में बहुत से छोटे-बड़े राज्य थे, यद्यपि परशिया इन विविध राज्यों को अपनी अधीनता में लाने के लिए प्रयत्नशील था । ‘पवित्र रोमन साम्राज्य की सत्ता भी तब तक पूर्णतया नष्ट नहीं हुई थी । यूरोप के बहुत से शक्तिशाली व स्वतन्त्र राजा किसी न किसी अंश में पवित्र रोमन सम्राट के प्रभुत्व को स्वीकार करते थे । इस दशा में प्रभुता व सर्वोपरिता की बात को ब्लुंसली ने यदि महत्व न दिया हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं ।

बर्गेस ने ब्लुंसली के सदृश ही राज्य को मानव समाज का एक ऐसा विषिष्ट भाग माना है, जिसे एक संगठित इकाई समझा जा सके। मानव समाज अनेक भागों में विभक्त है । जिस भाग को एक पृथक सुसंगठित समुदाय समझा जा सके, वही एक पृथक राज्य है। इस

दृष्टि से फ्रांस, चीन, भारत आदि मानव-समाज के ऐसे विविष्ट भाग हैं जिन्हें पृथक् रूप से संगठित इकाई समझा जा सकता है ।

संयुक्त राज्य अमेरिका के उच्चतम न्यायालय ने एक मुकदमें का निर्णय करते हुए राज्य का लक्षण इस प्रकार दिया था “राज्य स्वतन्त्र मनुष्यों के ऐसे समुदाय का नाम है, जो इस उद्देश्य से संगठित हो कि सब का हित सम्पादित हो सके, जो कुछ उन मनुष्यों का अपना है, उसका वे शान्तिपूर्वक उपभोग कर सकें और दूसरों के प्रति न्याय कर सकें।” एक अन्य अवसर पर अमेरिका के उच्चतम न्यायालय ने राज्य का लक्षण कुछ भिन्न प्रकार से दिया था “राज्य स्वतन्त्र मनुष्यों के ऐसे राजनीतिक समुदाय को कहते हैं, जो किसी ऐसे प्रदेश से बसा हुआ हो, जिसकी सीमाएँ निश्चित हों और जिसका संगठन किसी ऐसी सरकार के अधीन हो, जिसकी स्थापना शान्तिपूर्वक लोगों की अनुमति द्वारा हुई हो और जिसकी शक्ति एक लिखित संविधान द्वारा मर्यादित होती हो।” इस लक्षण से राज्य का स्वरूप भली भाँति स्पष्ट हो जाता है, यद्यपि इसके अनुसार उन राज्यों को ‘राज्य’ नहीं कहा जा सकेगा, जिनमें किसी एकतन्त्र स्वेच्छाचारी राजा का शासन हो, या जिनका कोई निश्चित व लिखित संविधान न हो । संयुक्त राज्य अमेरिका में आजकल जैसी सरकार है, और वहाँ संविधान का जो रूप है, उसका हर लक्षण पर प्रभाव स्पष्ट है। सम्भवतः संसार के अनेक पुरातन व वर्तमान राज्यों पर यह लक्षण लागू नहीं हो सकेगा ।

फिलिमोर ने राज्य का जो लक्षण दिया है, वह सम्भवतः राज्य के स्वरूप को अधिक स्पष्ट करता है। उसके अनुसार, “राज्य मनुष्यों का वह समुदाय है, जो किसी निश्चित प्रदेश व भूखण्ड पर स्थायी रूप से बसा हुआ हो और जो एक कानून, एक अभ्यास और एक रीति-रिवाज द्वारा एक सुदृढ़ संगठन से भली-भाँति संगठित हो, और जो सुव्यवस्थित सरकार द्वारा उस प्रदेश की सीमा में बसने वाले सब मनुष्यों व उस प्रदेश में विद्यमान सब पदार्थों पर पूरा नियन्त्रण, अधिकार व प्रभुत्व रखता हो, और जिसे संसार के अन्य किसी भी समुदाय से सन्धि का विग्रह करने का या किसी अन्य प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार हो।” फिलिमोर ने राज्य का जो यह लक्षण किया है, उसमें जहाँ भूमि, जनता, सरकार और प्रभुता — इन चारों तत्वों का भली-भाँति समावेश हो गया है, वहाँ साथ ही एक अन्य बात को भी सूचित किया गया है। राज्य के सब निवासियों को एक कानून, एक अभ्यास व एक रीति-रिवाज द्वारा भली-भाँति सुसंगठित भी होना चाहिए । एक कानून, एक अभ्यास, एक रीति-रिवाज व एक परम्परा मनुष्यों के उस विषेशता को उत्पन्न करती है, जिसे राष्ट्रियता कहा जाता है। इतिहास के विविध राज्यों में यह प्रवृत्ति रही है, कि एक सुदृढ़ लोग एक समुदाय में संगठित हों, एक राज्य के सब निवासी एक राष्ट्रियता के अंग हों, फिलमोर ने राज्य के इस लक्षण में इसी तथ्य को सूचित किया है । पर इस लक्षण के अनुसार उन राज्यों को ‘राज्य’ नहीं कहा जा सकेगा, जिनमें विविध जातियों व राष्ट्रियताओं के लोग निवास करते हों । उन्नीसवीं सदी के आस्ट्रिया-हंगरी राज्य में आस्ट्रियन हंगेरियन, चेकोस्लोवाक आदि कितनी ही राष्ट्रियताओं का निवास था। इन सब के कानून, अभ्यास और रीति-रिवाज भी भिन्न-भिन्न थे।

गार्नर ने राज्य का जो लक्षण दिया है, वह शायद सबसे अधिक स्पष्ट व उत्तम है। उसके अनुसार, “राज्य मनुष्यों के उस समुदाय का नाम है, जो संस्था में चाहे अधिक हो या न्यून, पर जो किसी निश्चित भूखण्ड पर स्थायी रूप से बसा हुआ हो, जो किसी भी बाह्यशक्ति के नियन्त्रण से पूर्णतया व प्रायः स्वतन्त्र हो और जिसमें एक ऐसी सुसंगठित सरकार विद्यमान हो, जिसके आदेश का पालन करने के लिए उस भूखण्ड के प्रायः सब निवासी अभ्यस्त हों ।” इस लक्षण की विशेषता यह है कि इसमें राज्य के चारों तत्वों— भूमि, जनता, शासन (सरकार) और प्रभुता का जहाँ स्पष्ट रूप से समावेश है, वहाँ साथ ही ये बातें भी स्पष्ट हो गई हैं— (1) राज्य का जनसमुदाय जहाँ चीन, भारत, रूस आदि के जनसमुदाय के समान संख्या में बहुत विषाल हो सकता है, वहाँ बेल्जियम, लक्समबुर्ग, सन मारिनो, अफगानिस्तान आदि की जनता के समान अल्पसंख्यक भी हो सकता है। जनसंख्या, शक्ति आदि की दृष्टि से रूस और अफगानिस्तान में अत्यधिक विशमता होते हुए भी राज्य की दृष्टि से दोनों एक समान स्थित रखते हैं। (2) प्रभुता व सर्वोपरिता राज्य का आवश्यक तत्व है, पर इतिहास में

हम बहुत से ऐसे राज्यों को देखते हैं, जो अविकल रूप से 'सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्न' नहीं थे। मध्यकाल के बहुत से राजा—महाराजा अपने—अपने राज्य में 'प्रभु' होते हुए भी किसी अन्य शक्तिशाली राजा को अपना अधिपति स्वीकार करते थे। यूरोप के बहुसंख्यक मध्यकालीन राजा 'पवित्र रोमन सम्राट' को अपना अधिपति मानते थे। मध्यकालीन भारत के बहुत से स्वतंत्र महाराजा व नवाब दिल्ली के सुल्तानों व बादशाहों की प्रभुता को स्वीकार करते थे। वर्तमान काल में भी भारत, कनाडा आदि अनेक राज्य 'सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न' होते हुए भी ब्रिटिश कॉमनवेल्थ के अंग हैं और ऐतिहासिक व अन्य परिस्थितियों के कारण उन्होंने एक बाह्यशक्ति के साथ ऐसे सम्बन्ध स्थापित किये हुए हैं, जिनके कारण उनकी प्रभुता व सर्वोपरिता कुछ अंशों में मर्यादित हो सकती है। गार्नर द्वारा किये गये राज्य के लक्षण में यह गुंजाइश हो जाती है, कि ऐसे राज्यों को भी 'राज्य' कहा जा सके।

—राजनीति शास्त्र के विविध आचार्यों द्वारा राज्य के जो लक्षण दिये गये हैं, उनमें से कतिपय को यहाँ उद्धृत करने का यही प्रयोजन है, कि यह भली—भांति स्पष्ट हो जाए, कि राज्य के प्रधान तत्व निम्नलिखित होते हैं — (1) राज्य ऐसे मनुष्यों का एक समुदाय है, जो एक सदृश उद्देश्यों से परस्पर संगठित हुए हों। (2) ये मनुष्य पृथ्वी के किसी निश्चित भाग पर स्थायी रूप से बसे हुए हों, और वे इसे अपना घर व मातृभूमि समझते हों। (3) यह समुदाय पूर्ण — प्रभुत्व — सम्पन्न हो, किसी बाह्यशक्ति व सत्ता का इस पर नियन्त्रण न हो, और (4) इसमें एक ऐसी सरकार विद्यमान हो, जिसके आदेशों का पालन इस भूखण्ड के सब निवासी करते हों, और यह सरकार उस राज्य के उद्देश्यों को पूरा करने का साधन रूप हो।

राज्य विशेष और राज्य सामान्य पर यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए, कि राजनीति शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय जो राज्य है, वह कोई राज्य विशेष नहीं है, अपितु राज्य — सामान्य है। चीन, भारत, फ्रांस आदि राज्य विशेष हैं। पुरातन काल में एथेन्स, स्पार्टा, रोम, मगध, कौषल, गज्जि आदि जो राज्य थे, वे भी राज्य विशेष थे। राजनीति शास्त्र में इन विषिष्ट राज्यों पर विचार नहीं किया जाता, यद्यपि इन राज्यों के उदाहरण से विषय को समझने में सहायता ली जाती है। इतिहास के प्राचीन, मध्यकालीन व आधुनिक कालों के विभिन्न राज्यों में जो राज्यत्व समान रूप से है, वही राजनीति शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। उस 'राज्य' का क्या स्वरूप है, उसके क्या अंग हैं, उसका क्या ध्येय है, उसकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई— इसी प्रकार के प्रश्नों पर हमें विचार करना है। फ्रांस व भारत सदृश राज्य विशेष की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, उसका स्वरूप व ध्येय क्या है — इन प्रश्नों पर हमें विचार नहीं करना है।

आदर्श राज्य और वास्तविक राज्य कुछ विचारकों ने आदर्श राज्य और वास्तविक राज्य में भी भेद करने का प्रयत्न किया है। राज्य हमारे सम्मुख एक आदर्श का चित्र उपस्थित करता है। राज्य का निरन्तर विकास हो रहा है। मानव — इतिहास के प्रभातकाल में जो छोटे—छोटे अव्यवस्थित राज्य थे, उनका स्थान अब ऐसे विषाल व सुव्यवस्थित राज्यों ने ले लिया है, जिनमें विषाल जनता का निवास है। यह भी सम्भव है, कि भविष्य में 'राज्य' विष्वव्यापी हो जाए, सम्पूर्ण मानव—समाज एक 'समुदाय' में संगठित हो जायेय राज्य की जनता का अभिप्राय सम्पूर्ण मनुष्य जाति और राज्य की भूमि का अभिप्राय सम्पूर्ण पृथ्वी हो जाए। आधुनिक युग की अंतर्राष्ट्रीयता हमें इसी ओर ले जा रही है। जिस समय यह आदर्श क्रिया में परिणत हो जायेगा, तभी राज्य का चरम उत्कर्ष सम्भव होगा। हम कहते हैं, राज्य मानव समुदाय का सर्वोच्च रूप है पर राज्य मानव समुदाय का उत्कृष्टतम रूप तभी बनेगा, जब सम्पूर्ण मनुष्य जाति एक राज्य में संगठित हो जायेगी। तभी राज्य उस प्रयोजन की पूर्ति कर सकेगा, जिसके लिए मनुष्यों ने समूह में रहना प्रारम्भ किया था, और जिसके कारण उसे 'सामाजिक प्राणी' कहा जाता है।

पर राज्य का यह आदर्श अभी वास्तविकता से बहुत दूर है। अभी तो राज्य उसी मानव समुदाय का नाम है, जो किसी निश्चित प्रदेश पर बसा हुआ है, और जो सर्वोपरि सत्ता रखते हुए एक ऐसी शक्ति के रूप में संगठित है, जिसके आदेशों का पालन उस प्रदेश के सब निवासी करते हैं।



(2) राज्य के आवश्यक तत्त्व :

राज्य के स्वरूप को भली-भाँति स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक है, कि हम जनता, भूमि, सरकार और सर्वोपरिता— राज्य के इन चारों तत्वों पर विषद रूप से प्रकाश डालें ।

राजनीतिक सिद्धान्त

—(1) जनता (पॉपुलेशन) राज्य का प्रधान तत्व जनता है। जनता के एक समुदाय विशेष का नाम ही राज्य है। यदि जनता न हो, तो राज्य की कल्पना भी सम्भव नहीं । जिस प्रकार मिट्टी के बिना घट व सूत के बिना वस्त्र का निर्माण करना सम्भव नहीं है, वैसे ही जनता के बिना राज्य की सत्ता सम्भव नहीं है। जनता जैसी होगी, राज्य भी वैसा ही होगा। जनता के स्वरूप पर ही, राज्य का स्वरूप निर्भर है। यदि किसी राज्य की जनता परिश्रमी, त्यागशील व मातृभूमिसे प्रेम करने वाली हो, तो यह राज्य निरन्तर उन्नति करेगा। इसके विपरीत यदि किसी राज्य की जनता आलीस, स्वार्थी और मातृभूमि के प्रति उपेक्षावर्षति रखने वाली हो, तो वह राज्य अधोगति को ही प्राप्त होगा। यही कारण है कि जनता को सुपिक्षित, परिश्रमी, विनयसम्पन्न और नियन्त्रित करने के लिए विशेष ध्यान देना उचित है ।

जहाँ राज्य के लिए जनता का योग्य गुणी व समर्थ होना आवश्यक है, वहाँ साथ ही जनता का बहुसंख्यक (न्यूमरस) होना भी उपयोगी है। रूस और अमेरिका जैसे विषाल राज्यों में करोड़ों की संख्या में मनुष्य निवास करते हैं। बेल्जियम व अफगानिस्तान जैसे छोटे राज्यों की जनसंख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है। यह स्वाभाविक है, कि अमेरिका और रूस की शक्ति बेल्जियम व अफगानिस्तान के मुकाबले में बहुत अधिक हो । चीन और भारत जैसे राज्यों की शक्ति का एक बड़ा कारण वहाँ की जनता का बहुसंख्यक होना ही है। विषाल जनसंख्या न केवल सैन्यशक्ति में सहायक होती है, अपितु कृषि, व्यवसाय आदि की उन्नति भी जनसंख्या की प्रचुरता पर ही आश्रित होती है ।

राजनीति शास्त्र के अनेक पण्डित इस बात पर विचार करते रहे हैं, कि राज्य में जनता की संख्या कितनी हो । प्रसिद्ध ग्रीक विद्वान प्लेटो का यह मत था कि आदर्श राज्य वह है, जिसके नागरिकों की जनसंख्या 5040 हो । ग्रीक विचारकों के अनुसार राज्य इतना छोटा नहीं होना चाहिए, कि अन्य राज्य उसे सुगमता से परास्त कर सकें। साथ ही, राज्य इतना बड़ा भी नहीं होना चाहिए, कि उसका भली-भाँति सुशासन कर सकना कठिन हो जाए। राज्य का वही आकार उचित है, जिसमें कि वह आत्मनिर्भर रह सके, षत्रुओं से अपनी रक्षा कर सके और उसका शासन भी सुचारु रूप से सम्भव हो । इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर प्लेटो ने राज्य के नागरिकों की आदर्श जनसंख्या 5040 नियत की थी । अरिस्टोटल भी इस विषय में प्लेटो का ही अनुयायी था और उसका विचार था, कि किसी राज्य के लिए दस हजार नागरिक होना भी अत्यधिक ही है, प्राचीन ग्रीस में बहुत से छोटे-छोटे नगर-राज्य थे। उनका विस्तार प्रायः कुछ सौ वर्ग मील से अधिक नहीं होता था । इनकी आबादी भी कुछ हजार तक ही सीमित होती थी। इन राज्यों का शासन प्रायः लोकतन्त्र विधि से होता था । उस युग में प्रतिनिधि चुनने का रिवाज नहीं था। सब नागरिक लोकसभा में एकत्र होकर राज्य — सम्बन्धी मामलों का निर्णय किया करते थे । इस दृष्टि में प्लेटो और अरिस्टोटल जैसे विचारकों के लिए यह उचित ही था, कि वे आदर्श राज्य के नागरिकों की संख्या को पाँच हजार के लगभग रखें। यदि किसी राज्य की जनसंख्या अधिक होगी, तो उसके नागरिकों के लिए लोकसभा में एकत्र होकर राज्य कार्य का संचालन करना कठिन होगा और उसका शासन ठीक तरह से नहीं हो सकेगा। रोम के इतिहास में हम देखते हैं, कि नागरिकों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई। रोमन राज्य का विस्तार रोम नगर से बढ़कर पहले इटली में और फिर सुदूरवर्ती प्रदेशों तक हो गया । विषाल रोमन साम्राज्य के स्वतन्त्र निवासी रोम के नागरिक माने जाते थे, पर सैकड़ों-हजारों मील की दूरी पर रहने वाले रोमन नागरिकों के लिए यह सम्भव नहीं था, कि वे रोम आकर अपनी लोकसभा में शामिल हो सकें। परिणाम यह हुआ कि रोमन साम्राज्य की सब राज्य-शक्ति रोम के निवासियों के हाथों

में आ गई। रोमन गणराज्य का शासन लोकतन्त्र न रहकर एक गुट – विपक्ष के हाथ में आ गया।

वर्तमान समय में प्रतिनिधि निर्वाचित करने की प्रणाली से यह आवश्यक नहीं रह गया है, कि सब नागरिक स्वयं लोकसभा में एकत्र हों। साथ ही, यान्त्रिक आविष्कारों और वैज्ञानिक उन्नति के कारण मनुष्य ने देश और काल पर भी भारी विजय प्राप्त ली है। इस कारण विषालकाय राज्यों में भी यह सम्भव हो गया है, कि करोड़ों की संख्या वाली उनकी जनता अपने प्रतिनिधियों को निर्वाचित करके लोकतन्त्र शासन को सफल बना सके। पर जिन परिस्थितियों में प्लेटो और अरिस्टोटल ने आदर्श राज्य की जनसंख्या कुछ हजारों तक सीमित की थी, उन्हें दृष्टि में रखते हुए इन राजशास्त्रियों का विचार ठीक ही था।

माड्यूल – 2 राजनीतिशास्त्र की पद्धति

फ्रांस के प्रसिद्ध राजशास्त्री रूसो के अनुसार राज्य की जनसंख्या कितनी हो, इसकी कोई सीमा तो निश्चित नहीं की जा सकती पर राज्य की जनसंख्या और भूमि में कोई अनुपात अवश्य होना चाहिए। राज्य के पास भूमि इतनी होनी चाहिए, कि उसकी जनता का उससे भली-भांति निर्वाह हो सके। राज्य की जनसंख्या इतनी होनी चाहिए, कि भूमि उसका सुचारु रूप से पालन कर सके। रूसो ने इस प्रश्न पर विचार किया था, कि कितनी भूमि कितनी जनता का भली-भांति पालन कर सकती है। पर इस सम्बन्ध में वह किसी निश्चित नियम का निर्माण नहीं कर सका, क्योंकि भूमि की उपज – शक्ति भिन्न-भिन्न होती है। कृषि और व्यवसाय के लिए अनुकूल परिस्थिति होने की दशा में कोई भूमि अधिक जनता का भी पालन कर सकती है। इसके विपरीत मरुस्थल सदृश सुविस्तृत भूमि से थोड़े से लोगों का भी निर्वाह नहीं हो सकता।

वर्तमान समय में जनसंख्या की दृष्टि से राज्य बड़े और छोटे दोनों प्रकार के हैं। चीन, भारत, अमेरिका, रूस आदि राज्यों की जनसंख्या अत्यन्त विषाल है। दूसरी ओर मोनाको, लक्सम्बुर्ग आदि की जनसंख्या बहुत कम है। इस भेद के हाते हुए भी यह कहा जा सकता है, कि राज्य की भूमि और जनसंख्या में एक ऐसा सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए, जिससे कि राज्य की भूमि उसकी जनसंख्या का पालन-पोषण करने के लिए पर्याप्त हो।

—प्रजा और नागरिक राज्य में जो मनुष्य निवास करते हैं, वे सब उस राज्य की प्रजा तो होते हैं, पर वे सब उसके नागरिक नहीं होते। ग्रीस के प्राचीन नगर राज्यों में जनसंख्या का बड़ा भाग दासों का होता था, जिन्हें नागरिकता के अधिकार प्राप्त नहीं थे। वर्तमान युग में नागरिक वे कहलाते हैं, जिन्हें वोट देने व निर्वाचित होने का अधिकार प्राप्त हो। किसी राज्य में निवास करने वाले सब मनुष्यों के लिए, चाहे वे नागरिक हों या न हों, यह आवश्यक है कि वे उस राज्य के कानूनों का पालन करें। इसी कारण वे सब उस राज्य की प्रजा होते हैं। पर नागरिक केवल वे होते हैं, जिन्हें उस राज्य के संविधान के अनुसार प्रतिनिधि चुनने व स्वयं प्रतिनिधि बनने का अधिकार दिया गया हो। आजकल जब कि वोट देने का अधिकार सब स्त्री-पुरुषों (नाबालिगों को छोड़कर) को प्राप्त हो गया है, नागरिक और प्रजा का भेद उतने महत्व का नहीं रहा, जितना कि उस युग में था, जब राज – शक्ति किसी श्रेणी विपक्ष के हाथ में रहती थी और जनसाधारण के हाथ में राज-शक्ति नहीं आई थी।

(2) भू-भाग (टेरिटरी) – जिस प्रकार राज्य के लिए जनता का होना आवश्यक है, वैसे ही एक निश्चित भूमि का होना भी अनिवार्य है। मनुष्यों का एक समुदाय जब तक किसी भूमि पर स्थायी रूप से नहीं बस जाता, तब तक वह राज्य का रूप धारण नहीं करता। एक फिरन्दर कबीले का उदाहरण लीजिए। इस प्रकार के कबीले में जनता होती है, उस जनता का एक संगठन भी होता है, उसके अपने कानून, अपने अभ्यास, अपनी परम्परा, अपने रीति-रिवाज सब होते हैं। उसमें एक सुव्यवस्थित सरकार की सत्ता भी होती है। पर हम उसे राज्य नहीं कहते, क्योंकि वह किसी निश्चित प्रदेश व भूमिखण्ड पर बसा हुआ नहीं होता। वही कबीला या जन जब किसी प्रदेश (जनपद) पर स्थायी रूप से बस जाता है, तो वह राज्य का रूप धारण कर लेता है। संसार के प्राचीन इतिहास में स्पार्टा, एथेन्स, मालब, यौषेय कुद्रक आदि विविध राज्य पुरु से कबीले के रूप में ही थे। जब वे एक निश्चित भूमिखण्ड पर बस गये, तो वे राज्य कहलाने लगे। आधुनिक युग में यहूदी लोग इसी बात

के उदाहरण हैं। अब से कुछ साल पहले तक यहूदी लोग यूरोप के विविध राज्यों में बसे हुए थे। उनके अपने रीति-रिवाज, धर्म-नियम आदि सब थे, पर कोई ऐसा प्रदेश नहीं था, जिसमें वे स्थायी रूप से बसे हुए हों, या जिसे वे अपनी मातृभूमि कह सकें। पर इजराइल की स्थापना से अब यहूदियों का एक अपना राज्य बन गया है, जहां वे स्थायी रूप से बसने लग गये हैं। यहूदी अब भी बड़ी संख्या में अन्य राज्यों में फैले हुए हैं, पर अब एक ऐसे प्रदेश का निर्माण हो गया है, जिसे वे अपनी मातृभूमि व अभिजन समझ सकते हैं। वस्तुतः जैसे आत्मा को एक कलेवर की आवश्यकता होती है, वैसे ही जनसमुदाय को भी भूमिरूपी कलेवर की आवश्यकता होती है। यदि जनता आत्मा है, तो भूमि शरीर है। जिस प्रकार शरीर में हम ममत्व भावना रखते हैं, वैसे ही राज्य का जनसमुदाय अपनी भूमि में ममत्व की भावना रखता है। राज्य के सब निवासियों में एकता व एकानुभूति उत्पन्न करने के लिए भूमि के प्रति ममत्व की भावना बहुत सहायक है। राज्य की स्थिरता और शक्ति के लिए भी यह ममत्व बुद्धि बहुत उपयोगी होती है।

इस दृष्टि से राज्य अन्य जनसमुदायों से भिन्न है। अन्य समुदायों का सम्बन्ध किसी भूमि – विशेष से नहीं होता। उदाहरण के लिए धार्मिक समुदायों को लीजिए। बौद्ध, ईसाई व मुस्लिम सम्प्रदाय भी एक प्रकार के जनसमुदाय हैं। पर उनका सम्बन्ध किसी विषिष्ट प्रदेश से नहीं है। वे अपने गंतव्यों का प्रचार करने के लिए, लोगों को अपने धर्म में दीक्षित करने के लिए पृथ्वी के किसी भी प्रदेश में काम कर सकते हैं। यही दृष्टि अनेक साहित्यिक, वैज्ञानिक व आर्थिक समुदायों की भी है। राज्य के अतिरिक्त जो अन्य समुदाय हैं, वे एक प्रदेश में एक से अधिक संख्या में रह सकते हैं। भारत सदृश एक राज्य में आर्य समाज, ब्रह्मसमाज, नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदि कितने ही समुदाय विद्यमान हैं। पर राज्य एक ऐसा समुदाय है जो एक प्रदेश में एक से अधिक नहीं रह सकता। न ही कोई राज्य ऐसा हो सकता है, जिसका किसी विषिष्ट प्रदेश से सम्बन्ध न हो। यदि किसी प्रदेश में एक से अधिक राज्य होंगे, तो उनमें संघर्ष का होना अनिवार्य होगा। क्योंकि सर्वोपरिता राज्य का आवश्यक तत्व है, और किसी प्रदेश में सर्वोपरिता एक ही राज्य की हो सकती है, अतः एक प्रदेश में एक से अधिक राज्य की सत्ता सम्भव ही नहीं है।

जिस प्रकार जनता के गुण-दोष का प्रभाव राज्य पर पड़ता है, वैसे ही भूमि के गुणों व दोषों का भी राज्य पर प्रभाव होता है। भूमि का अभिप्राय केवल स्थल से ही नहीं है। राज्य के प्रदेश में जो नदियाँ, सरोवर, झील, पर्वत आदि हों, वे सब भूमि के अन्तर्गत माने जाते हैं। यदि राज्य से मिला हुआ कोई समुद्र हो, तो स्थल से 12 मील दूर तक का समुद्र भी राज्य में सम्मिलित समझा जाता है। जमीन के ऊपर जो वायुमंडल है, वह भी राज्य की भूमि के ही अन्तर्गत होता है।

राज्य के भू-भाग राज्य के स्वरूप पर बहुत प्रभाव होता है। ग्रेट ब्रिटेन का राज्य समुद्र से घिरा हुआ है, वह एक द्वीप के समान है। यही दृष्टि जापान की है। इस परिस्थिति से इन राज्यों को सामुद्रिक क्षेत्र में उत्पन्न होने में बहुत मदद मिली है। ग्रेट ब्रिटेन जो प्रबल नौ-शक्ति विकसित कर सकने में सफल हुआ, उसका कारण उसकी भूमि की यह विशेषता ही है। यूरोप के इतिहास में हम देखते हैं कि इंग्लैण्ड बाह्य आक्रमणों से प्रायः बचा रहा है। बीसवीं सदी के दो महायुद्धों में भी ब्रिटेन शत्रु के आक्रमण से प्रायः सुरक्षित रहा। इसका कारण यही था, कि इस राज्य की भूमि समुद्र से घिरी हुई है और स्थल द्वारा उसका किसी अन्य राज्य के साथ सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत जर्मनी और फ्रांस की कोई प्राकृतिक सीमा नहीं है। इन राज्यों की भूमि की इस विशेष परिस्थिति के कारण उनमें निरन्तर संघर्ष होता रहा है, और वे ब्रिटेन के समान निष्पिन्ता के साथ अपनी उन्नति नहीं कर सके। अनेक विचारकों के अनुसार प्राचीन ग्रीस में नगर – राज्यों का जो विकास हुआ, उसका कारण भी ग्रीस की भूमि की विशेष परिस्थितियाँ ही थीं। ग्रीस की भूमि पर्वत प्रधान है। पर्वतश्रृंखलाओं के कारण वह अनेक घाटियों में विभक्त है। प्राचीन समय में जब मनुष्य ने वैज्ञानिक उन्नति नहीं की थी, ये पार्वत्य घाटियाँ एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् थीं। इसीलिए

इनमें ऐसे अनेक छोटे-छोटे नगर – राज्यों का विकास हुआ, जो सदियों तक एक-दूसरे से पृथक रहे जैसे भू-भाग की प्राकृतिक परिस्थिति का राज्य पर असर पड़ता है, वैसे ही भूमि की जलवायु, उपज – शक्ति व समृद्धि का भी राज्य पर प्रभाव होता है। पृथ्वी का कोई भाग अधिक उपजाऊ है, कोई कम। कहीं खनिज पदार्थों की प्रचुरता है तो कहीं उनका अभाव है। कहीं की जलवायु अत्यधिक गरम है, तो कहीं की अत्यन्त ठण्डी। फ्रेंच विचारक रूसो ने प्रतिपादित किया था, कि गरम जलवायु में स्वेच्छाचारी शासन का विकास होता है, और अतिशीत जलवायु में मनुष्य उन्नति के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो पाता। जिन प्रदेशों की जलवायु न अधिक गरम होती है, न अधिक ठण्डी, वहाँ वैध लोकतन्त्र शासन का विकास होता है। इतिहास के अनुशीलन में रूसों के इस मन्तव्य की पुष्टि नहीं होती। यूरोप के अनेक राज्यों में वर्तमान समय में लोकतन्त्र वैध शासन विद्यमान है, पर मध्यकाल में वहाँ निरंकुष राजाओं का शासन था। गरम देशों में भी लोकतन्त्र शासन रह चुके हैं, और भविष्य में भी रह सकते हैं। भारत इसका उदाहरण है। वज्जि, मानव, क्षुद्रक, शिवि आदि कितने ही गणराज्य इस देश में पहले रह चुके हैं, और अब फिर सम्पूर्ण देश में एक विषाल गणराज्य की स्थापना हो गई है। रूसो का मन्तव्य सर्वांश में सत्य न होते हुए भी यह तो स्वीकार करना ही होगा, कि जलवायु का राज्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। जो राज्य अपनी जलवायु की दृष्टि से अधिक उत्तम दशा में हैं, उन्हें अपनी उन्नति करने में सहायता अवश्य मिलती है। इसी प्रकार खनिज पदार्थ, जंगल में प्राप्त होने वाली कीमती लकड़ी आदि की उपलब्धि से भी राज्य की उन्नति में सहायता पहुंचती है। इंग्लैण्ड जो व्यावसायिक उन्नति में इतना अधिक आगे बढ़ गया, उसका एक मुख्य कारण यह है, कि वहाँ कोयला और लोहा बड़े परिमाण में उपलब्ध होता है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में जर्मनी ने जो असाधारण व्यावसायिक उन्नति की, उसका कारण भी वहाँ की खनिज सम्पत्ति ही थी। बिहार के कोयले और लोहे को ही भारत की व्यावसायिक उन्नति का श्रेय प्राप्त है। परमाणु शक्ति के इस युग में उन राज्यों को उन्नति का विशेष अवसर होगा, जिनमें इस शक्ति को उत्पन्न करने के लिए विषिष्ट धातुएँ व तत्व बड़ी मात्रा में उपलब्ध होंगे।

भू-भाग का विस्तार राज्य की भूमि का विस्तार कितना होना उचित है, इस प्रश्न पर भी राजशास्त्रियों ने विचार किया है। प्लेटो और अरिस्टोटल जैसे प्राचीन ग्रीक विचारक यह मानते थे, कि राज्य की भूमि को न बहुत बड़ा होना चाहिए, न बहुत छोटा। अठारहवीं सदी तक के विचारक विषाल आकार के राज्य को उत्तम नहीं समझते थे। फ्रैंच विद्वान रूसो ने लिखा है कि जिस प्रकार प्रकृति ने मनुष्य का एक आकार नियत कर दिया है, उससे बहुत लम्बा व उससे बहुत छोटा मनुष्य षोभा नहीं देताय इसी प्रकार एक सुषासित व सुव्यवस्थित राज्य का आकार भी प्रकृति ने निर्धारित कर दिया है। राज्य को बहुत विस्तीर्ण नहीं होना चाहिए, क्योंकि उस दशा में शासन सुव्यवस्थित नहीं हो सकेगा। साथ ही, राज्य को बहुत छोटा भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि उस दशा में वह अकेले अपनी रक्षा नहीं कर सकेगा। यदि राज्य बहुत बड़ा होगा, तो सुदूरवर्ती प्रदेशों पर शासन करना कठिन होगा और जनता में राज्य के प्रति अनुरक्ति भी नहीं हो सकेगी। रूसो यह भी कहता था, कि शासन व सरकार का स्वरूप भी राज्य के आकार पर निर्भर है। लोकतन्त्र शासन छोटे आकार के राज्यों में सम्भव है, बीच के आकार के राज्यों में श्रेणितन्त्र शासन उपयुक्त रहता है, और विषाल राज्यों में राजतन्त्र शासन के अतिरिक्त अन्य कोई शासन पद्धति सम्भव नहीं रहती। मान्त्स्क्यू सदृश अन्य भी अनेक फ्रेंच विद्वानों ने इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। अठारहवीं सदी की परिस्थितियों में सम्भवतः यह बात ठीक भी थी। तब तब व्यावसायिक उन्नति भली-भाँति नहीं हुई थी, और न ही मनुष्य ने देश और काल पर विजय प्राप्त की थी। रेल, मोटर, रेडियो आदि का आविष्कार तब तक नहीं हुआ था। घोड़े की अपेक्षा अधिक तेज चल सकने वाली किसी सवारी का मनुष्य को तब तक ज्ञान नहीं था। इस दशा में यदि रूसो और माँत्स्क्यू सदृश राजशास्त्री विषालकाय राज्यों में लोकतन्त्र शासन को असम्भव समझे तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।



वैज्ञानिक उन्नति की वर्तमान दशा में विषालकाय राज्यों में भी लोकतन्त्र शासन की सत्ता सम्भव हो गई है। संयुक्त राज्य अमेरिका इसका उदाहरण है। उसका क्षेत्रफल भारत की अपेक्षा दुगुना है। इतने बड़े राज्य में जो लोकतन्त्र शासन सफल हो रहा है, इसका कारण देश और काल पर प्राप्त की गई वह विजय ही है, जो वैज्ञानिक आविष्कारों का परिणाम है। शासन की सुव्यवस्था की दृष्टि से भी राज्य का विषाल होना अब कोई नुकसान की बात नहीं रही है। ब्रिटिश साम्राज्य भूमण्डल के प्रायः सभी भागों में विस्तृत है, अनेक द्वीप व प्रदेश उसके अन्तर्गत हैं। पर उसका शासन छोटे-छोटे राज्यों के मुकाबले में कम व्यवस्थित नहीं कहा जा सकता। आवागमन के साधनों में उन्नति ही इसका कारण है।

इकाई – 4 –पर्यवेक्षण विधि

वर्तमान युग में राज्यों का छोटा होना घाटे की बात हो गई है। बीसवीं सदी के दो महायुद्धों ने यह सिद्ध कर दिया है, कि छोटे राज्यों के लिए आत्मरक्षा कर सकना सुगम नहीं है। 1914-18 के महायुद्ध में जर्मनी ने बेल्जियम जैसे छोटे-से राज्य को बात ही बात में परास्त कर दिया था। 1939-45 के संग्राम में तो चेकोस्लोवाकिया, फ्रांस, पोलैण्ड आदि के लिए भी जर्मनी के मुकाबले में आत्मरक्षा कर सकना सम्भव नहीं रहा। जर्मनी की शक्ति का मुकाबला अगर किया जा सका, तो ब्रिटिश साम्राज्य, रूस और अमेरिका जैसे विषालकाय राज्यों की सम्मिलित शक्ति से ही। आजकल तो कोई भी छोटा राज्य अकेला अपनी रक्षा नहीं कर सकता। यही कारण है, कि पश्चिमी यूरोप के विविध राज्य आत्मरक्षा के लिए एक संघ बनाने की आवश्यकता अनुभव कर रहे हैं। अटलान्टिक पैक्ट आदि का निर्माण इसी अनुभूति के कारण हुआ है, कि मंजले आकार के राज्यों की शक्ति भी अब आत्मरक्षा के लिए पर्याप्त नहीं है।

छोटे राज्यों को अन्य भी अनेक सुविधायें रहती हैं। आर्थिक दृष्टि से वे आत्मनिर्भर व स्वावलम्बी नहीं हो सकते। उनकी राजकीय आय इतनी नहीं होती, कि वे वर्तमान वैज्ञानिक युग के अस्त्र-पस्त्रों व अन्य साधनों को भरपूर परिमाण में जुटा सकें। परमाणु शक्ति का विकास व उपयोग करने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता है, वे अत्यधिक व्यय-साध्य हैं। इस खर्च को जुटा सकना तो उनकी कल्पना से भी बाहर की बात है। साथ ही, इस युग में सभ्यता, संस्कृति व ज्ञान के विकास के लिए जिस व्यापक दृष्टि की आवश्यकता है, वह छोटे राज्य में सम्भव नहीं हो सकती। बड़े राज्यों में जिस जनसुमदाय का निवास होता है, वह नस्ल, जाति, धर्म, संस्कृति आदि की दृष्टि से विविध तत्वों का सम्मिश्रण होता है इस कारण उसमें दृष्टि की विषालता व विविध प्रकार के गुणों की प्रचुरता सम्भव होती है।

इसमें सन्देह नहीं, कि प्राचीन काल के छोटे राज्यों का इतिहास बहुत गौरवपूर्ण था। एथेन्स जैसे नगर राज्य ने मानव इतिहास में जो काम कर दिखाया, वह रोमन साम्राज्य जैसे विषाल राज्य से नहीं किया। प्लेटो और अरिस्टोटल जैसे दार्शनिक सुकरात जैसे तत्वेत्ता, परिक्लीज जैसे राजनीतिज्ञ और हीरोडोटस जैसे ऐतिहासिक पुरुष ग्रीस के छोटे-छोटे नगर राज्यों में ही हुए। भारत में भी थे 1 कृष्ण, वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध जैसे विचारक व तत्त्वज्ञानी गणराज्यों में ही प्रगट हुए मानव-सभ्यता की दृष्टि से जो महत्व अन्धक – वर्षणि संघ, षाक्यगण और वज्जिसंघ जैसे छोटे राज्यों को प्राप्त है, वह मगध और वत्स जैसे विषाल राज्यों को प्राप्त नहीं है। बड़े राज्यों में आन्तरिक विद्रोह, अव्यवस्था और गृहकलह आदि होते रहे हैं। मुगल साम्राज्य, चीन आदि इसके उदाहरण हैं। जर्मनी, फ्रांस आदि राज्यों को विषालकाय नहीं कहा जा सकता। भारत, चीन, रूस आदि के मुकाबले में तो वे छोटे राज्य ही हैं। फिर भी सैनिक शक्ति, व्यावसायिक उन्नति और संस्कृति की दृष्टि से वे बड़े राज्यों के मुकाबले में आगे बढ़े हुए रहे हैं।

राज्य बड़े हों या छोटे, यह बात मानव समाज की उन्नति की दशा पर निर्भर है। निस्सन्देह, प्राचीन काल में छोटे राज्य ही अधिक उत्तम थे, क्योंकि सुशासन व आन्तरिक व्यवस्था उन्हीं में सम्भव थी उनके निवासी भी एक राष्ट्रीयता के अंग होने के कारण अधिक सुसंगठित हो सकते थे पर आवागमन के साधनों की उन्नति के कारण ये सब तो अब बड़े राज्यों में भी सम्भव हो गई हैं। अमेरिका और रूस शासन व सुव्यवस्था की दृष्टि से बेल्जियम व फ्रांस जैसे देशों से पीछे नहीं हैं। इस समय की तो प्रवृत्ति यही है, कि राज्यों के आकार अधिक

से अधिक बड़े होते जाएं, छोटे राज्य मिलकर अपना एक संघ बना लें और विविध मानव समूह मिलकर एक ऐसी संस्कृति व राष्ट्रीयता का विकास करें, जिसमें छोटे मानव समुदायों की अपनी विशेषतायें कायम रहते हुए भी सब में एकानुभूति की सत्ता हो। राज्यों की स्वाभाविक सीमा राज्यों की सीमा क्या हो, यह प्रश्न इतिहास में सदा महत्वपूर्ण

वे रहा है। भौगोलिक परिस्थितियों ने जिन राज्यों की कोई स्वाभाविक सीमा नियत कर दी है, बहुत सौभाग्यशाली हैं। ग्रेट ब्रिटेन व जापान की सीमायें सर्वथा प्राकृतिक हैं। पर यूरोप के बहुसंख्यक राज्यों को इस प्रकार की प्राकृतिक सीमायें प्राप्त नहीं हैं। इसी कारण अपनी भूमि के विस्तार के लिए व ऐसी सीमायें प्राप्त करने के लिए जो कि राज्य की उन्नति और समर्पण में सहायक हों, वे निरन्तर संघर्ष करते रहे हैं। 1914-18 के महायुद्ध के बाद यूरोपियन राज्यों में यह प्रवृत्ति बहुत प्रबल हो गई थी। पोलैण्ड का जो पुनः निर्माण इस महायुद्ध के बाद किया गया, उसके अनुसार उसे जर्मनी के बीच में से एक गलियारा प्रदान किया गया, ताकि समुद्र के साथ पोलैण्ड का सीधा सम्बन्ध हो सके। पोलैण्ड की सीमा कहीं भी समुद्र से नहीं लगती थी, यह बात उसके विदेशी व्यापार के लिए उचित नहीं थी। इसी कारण डान्टिससग के बन्दरगाह को राष्ट्रसंघ की अधीनता में एक पथक् स्वतन्त्र नगर के रूप में परिवर्तित किया गया, और उस तक पहुंचने के लिए पोलैण्ड को जर्मनी के बीच से एक गलियारा दिया। जर्मनी के लिए यह बात बहुत बुरी थी, पर पोलैण्ड की महत्वाकांक्षा को पूरा करने के लिए जर्मन के साथ यह अन्याय किया गया था। इसी प्रकार बल्गेरिया और चेकोस्लोवाकिया को भी यह अवसर दिया गया था, कि समुद्र तक उनकी पहुँच रहे। जिन प्रदेशों को इस उद्देश्य से इन राज्यों की सीमा के अन्तर्गत किया गया, उनका इनके साथ रहना सर्वथा अस्वाभाविक था। यह सिद्धान्त स्वीकार करके कि प्रत्येक राज्य को विदेशी व्यापार की सुविधा प्राप्त होनी चाहिए और विदेशी व्यापार के लिए समुद्र तट आवश्यक है, जिसकी सीमाओं का निर्णय किया गया था। एशिया में अफगानिस्तान एक ऐसा राज्य है, जिसकी सीमायें समुद्र से बहुत दूर हैं। वह अपनी इस कमी को अनुभव करता है, और पाकिस्तान के ऐसे प्रदेशों को, जिसमें पठान जाति प्रधानतया निवास करती है, अपने साथ मिलाकर अपनी भूमि का विस्तार समुद्र तक कर देने के लिए इच्छुक रहा है।

राज्यों का स्वरूप एक जीवित जागृत प्राणी के समान है। प्राणियों के समान राज्य भी अपने उत्कर्ष व समर्पण के लिए प्रयत्नशील होता है। अतः यदि राजशास्त्री लोग राज्य के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त का भी प्रतिपादन करें, कि प्रत्येक राज्य को ऐसी सीमायें प्राप्त रहें जो उनकी उन्नति व समर्पण में सहायक हों, तो इसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। प्राकृतिक सीमाओं की प्राप्ति राज्य की रक्षा के लिए भी उपयोगी है। अनेक राज्यों की सीमा किसी पर्वत, नदी व समुद्र द्वारा निर्धारित होती है। पहले भारत की एक प्राकृतिक सीमा थी। उत्तर में हिमालय, पश्चिम व पूर्व में अन्य पर्वतमालायें तथा दक्षिण में विषाल समुद्र ने इसे ऐसी सीमायें प्रदान की थीं, जिनके कारण विदेशियों से इसकी रक्षा सुगमता के साथ की जा सकती थी। भारत की इन्हीं स्वाभाविक सीमाओं को देखकर आचार्य चाणक्य ने लिखा था, कि हिमालय से समुद्र पर्यन्त जो हजार योजन विस्तीर्ण भूखण्ड है, वह एक चक्रवर्ती षासन का स्वाभाविक क्षेत्र है। पर बांग्लादेश और पाकिस्तान के निर्माण से पूर्व और पश्चिम में भारत की कोई स्वाभाविक सीमा नहीं रह गई है। कोई आश्चर्य नहीं कि यह स्थिति देर तक कायम न रहे और भारत फिर एक बार कोई ऐसी प्राकृतिक सीमा प्राप्त करने में समर्थ हो जाए, जो उसकी सुरक्षा के लिए अधिक अनुकूल हो।

राज्य की सीमा प्रायः ऐसी होती है, जिससे उसकी सब भूमि एक साथ रहती है। फ्रांस, पोलैण्ड, इटली आदि राज्य इसी प्रकार के हैं। पर कुछ राज्य ऐसे भी होते हैं, जिनकी भूमि एक स्थान पर न होकर भूमण्डल के विविध प्रदेशों में बिखरी होती है। 1914 से 1918 के महायुद्ध के बाद जर्मनी की भूमि को भी पोलिस गलियारे द्वारा दो भागों में विभक्त कर दिया गया था। ग्रेट ब्रिटेन एक राज्य है, पर उसका अन्तर्गत समुद्र जाने वाले अनेक द्वीप व उपनिवेश भूमण्डल के सुदूरवर्ती प्रदेशों में बिखरे हुए हैं। पर इसमें संदेह नहीं कि राज्य की सब भूमि का एक-साथ रहना उसकी शक्ति में सहायक होता है। भूमि का बिखरा हुआ होना



साम्राज्यवाद की दृष्टि से चाहे आवांछनीय न हो, पर राज्य के शासन व समृद्धि की दृष्टि से वह उचित नहीं होता ।

राज्य और भूमि का स्वामित्व मध्यकाल में यह माना जाता था कि, जो राजा राज्य का स्वामी है, वह राज्य की भूमि का मालिक भी है। सामन्त पद्धति के युग में यह सिद्धान्त अस्वाभाविक नहीं था, क्योंकि विविध सामन्त राजा जहां अपने प्रदेश के शासक होते थे वहां वे अपने प्रदेश के जागीरदार भी होते थे। उस समय राजा न केवल शासक था, अपितु स्वामी भी था। यही कारण है कि राजा लोग अपनी इच्छा व अधिकार से अपने द्वारा शासित प्रदेशों को बेच सकते थे, और दहेज में दे सकते थे या अन्य प्रकार से हस्तान्तरित कर सकते थे। जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने मकान, पशु या अन्य सम्पत्ति को अपनी इच्छानुसार दूसरे को दे सकता है, वैसे ही राजा अपने राज्य की भूमि व उस पर निवास करने वाले व्यक्तियों का आदान-प्रदान भी कर सकता था। मध्यकालीन यूरोप में चार्ल्स पंचमजिन विषाल व सुविस्तृत प्रदेशों पर शासन करता था, उनमें से अनेक उसे विवाह द्वारा प्राप्त थे। भारत से ही अंग्रेजों को जो मुम्बई का प्रदेश मिला था, वह इंग्लैण्ड के अन्यतम राजा को विवाह में दहेज के रूप में प्राप्त हुआ था। अठारहवीं सदी तक यूरोप के राज्य शास्त्री राज्य की भूमि पर राजा के स्वत्व को स्वीकार करते थे।

फ्रांस की राज्य क्रान्ति द्वारा मध्यकाल के सिद्धान्त को बहुत धक्का लगा। फ्रेंच क्रान्तिकारियों ने यह प्रतिपादित किया कि राज्य की प्रभुता जनता में निहित होती है। राज्य शक्ति जनता की है, अतः राज्य की भूमि पर राजा का स्वत्व सम्भव ही नहीं है। राज्य की भूमि पर जो विविध पदार्थ हैं, वे व्यक्तियों की सम्पत्ति हैं। राज शक्ति भी इन व्यक्तियों की ही है, जिसके उपयोग का अधिकार वे उस संगठन को दे देते हैं, जिसे सरकार कहा जाता है।

भूमि पर राजा के स्वत्व के सिद्धान्त के कारण ही खेतों, जंगलों और भूमि के अन्य हिस्सों पर राज्य का स्वत्व माना जाता रहा है। किसान खेत के उपयोग के लिए राज्य को मालगुजारी देता है। पर व्यापारी व व्यवसायी अपनी आमदनी पर आयकर देते हैं। यदि उनकी आमदनी एक निश्चित राशि से कम हो, तो उन्हें कोई कर नहीं देना होता। पर किसान अगर एक बीघा जमीन जोत कर चार मन अनाज भी पैदा करता है, तो उसे जहां जमींदार को लगान देना पड़ता है, वहां जमींदार को भी उस एक बीघे जमीन पर मालगुजारी देनी होती है। राज्य खेत व जमीन पर अपना विशेष स्वत्व मानता है, इसी कारण उसके उपयोग के लिए वह अपना 'अंश' प्राप्त करने का अधिकारी होता है। जमीन पर राज्य का स्वत्व है यह व्यक्तियों का, यह विवाद बहुत पुराना है। इसमें संदेह नहीं, कि भारत में जमीन पर व्यक्तियों का स्वत्व माना जाता है। जमीन के इन स्वत्वाधिकारियों को जमींदार कहते हैं। पर अनेक विचारकों के मत में यह जमींदार केवल मालगुजारी वसूल करने के साधन (एजेन्ट) रहे हैं, जमीन के मालिक नहीं। वस्तुतः, जमीन का मालिक राज्य है, जो अपनी भू-सम्पत्ति के उपयोग के लिए मालगुजारी प्राप्त करता है, और इस मालगुजारी को वसूल करने का ठेका लेने के कारण जमींदार किसान से लगान प्राप्त करने का अधिकारी होता है। जमीन के स्वामी व्यक्ति हैं या राज्य इस विवाद में पड़ने की हमें आवश्यकता नहीं। यहां इतना लिख देना पर्याप्त है, कि आधुनिक युग में राज्य की यह प्रवृत्ति है, कि वह भूमि और तत्सम्बन्धी सब वस्तुओं पर अपना विशेष स्वत्व और स्थापित करे। समाजवाद के विकास के कारण यह प्रवृत्ति और भी प्रबल हो गई है। न केवल भूमि, अपितु कल-कारखानों तक पर भी अब राज्य अपना स्वत्व स्थापित करने लगा है। समुदाय के हितों के सम्मुख व्यक्ति के हित नगण्य हैं, व्यक्ति के हितों का सच्चे अर्थों में सम्पादन भी समूह के हित द्वारा ही सम्भव है, इस सिद्धान्त के कारण अब वैयक्तिक सम्पत्ति का स्थान सामूहिक सम्पत्ति व राजकीय सम्पत्ति लेने लगी है। पर वर्तमान युग की इस प्रवृत्ति के कारण जिस राज्य का भूमि व तत्सम्बन्धी वस्तुओं पर स्वत्व स्थापित होता है, वह कोई एक व्यक्ति व श्रेणी नहीं है, अपितु राज्य के सब नागरिकों का समुदाय — मात्र है।

MATS Centre for Distance and Online Education, MATS University

राज्य के अधिकार से पृथक् भूमि — हम ऊपर लिख चुके हैं कि राज्य का अपनी सीमा के अंतर्गत सम्पूर्ण भूमि पर पूरा-पूरा अधिकार होता है। पर इस नियम के कुछ अपवाद भी हैं।

यह माना जाता है कि किसी राज्य में विदेशी राजदूतों के निवास के लिए जो प्रदेश नियत है, उस पर राज्य का अधिकार नहीं होता। उसके निवासियों पर राज्य के कानून भी लागू नहीं होते। इसी प्रकार यदि कोई विदेशी जहाज राज्य के बंदरगाह में या राज्य के समुद्र में (स्थल से 12 मील के अंदर) आया हुआ हो, तो वह भी राज्य के शासनाधिकार व कानून से मुक्त होता है। राज्यों ने ऐसी व्यवस्था आपस के समझौते से की है। इस सम्बन्ध में जो भी नियम हैं, वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा तय हुए हैं।

राज्य की भूमि के विषय में कुछ अन्य भी बातें हैं, जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों द्वारा तय होती हैं। किसी-किसी राज्य ने अपने किसी विशेष बंदरगाह, प्रदेश व नदी आदि को प्रयुक्त करने का अधिकार संधि द्वारा किसी अन्य राज्य को दे दिया है। ब्रिटेन, फ्रांस आदि राज्यों ने इस तरह के विशेष अधिकार चीन से प्राप्त किये हुए थे। जापान ने मंचूरिया में रेल बनाने व इसके लिए वहाँ की भूमि को प्रयुक्त करने का अधिकार लिया हुआ था। सुदूरवर्ती देशों में तार भेजने के लिए समुद्र की सतह पर जो तारें बिछाई जाती हैं, उनके लिए विविध राज्यों से विशेष अधिकार लेने पड़ते हैं। किसी पिछड़े हुए राज्य के खनिज पदार्थों व तेल के कुओं आदि को प्रयुक्त करने के लिए जब किसी उन्नत राज्य के नागरिक विशेष अधिकार प्राप्त करते हैं, तो वे प्रायः ऐसी शर्तें भी तय करा लेते हैं, जिनसे उनके अपने मामलों में उस पिछड़े हुए राज्य की सरकार कोई हस्तक्षेप न कर सके। इस प्रकार की व्यवस्थाओं द्वारा राज्य – संबंधी यह सिद्धान्त कि राज्य का अपनी भूमि पर अबाधित अधिकार है, कुछ मर्यादित हो जाता है।

(3) शासन या सरकार (व्यवसंस्था) राज्य का तीसरा आवश्यक तत्व शासन या सरकार है। किसी निश्चित भूमि खण्ड पर स्थाई रूप से बसा हुआ जनसमुदाय तब तक राज्य नहीं बनता, जब तक कि वह राजनीतिक दृष्टि से संगठित न हो। राज्य की अपनी सरकार अवश्य होनी चाहिए, जिसके द्वारा उन उद्देश्यों व प्रयोजनों की पूर्ति की जा सके। जिनके लिए राज्य का संगठन हुआ है। सरकार वह साधन है, जिससे राज्य अपने ध्येय की पूर्ति करता है। जन समुदाय की सामूहिक इच्छा की अभिव्यक्ति और कार्य में परिणति सरकार द्वारा ही होती है। सरकार के अभाव में जनसमुदाय संगठित नहीं हो सकता, और संगठन के बिना राज्य की सत्ता सम्भव नहीं।

सरकार का स्वरूप चाहे कैसा भी हो, वह चाहे एकतंत्र हो, चाहे श्रेणितंत्र और चाहे लोकतंत्र, पर उसकी सत्ता राज्य के लिए अनिवार्य है। इसी सरकार को भारत के प्राचीन राज्यशास्त्र – प्रणेताओं ने 'दण्ड' नाम से कहा है। दण्ड ही जनता का शासन करता है, दण्ड ही उसकी रक्षा करता है। जब यह दण्ड नहीं था, तब अराजकता की दशा थी। उस दशा में न कोई शासक था, न शासित। सर्वत्र 'मातस्य-न्याय' छाया हुआ था। जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, वैसे ही प्रबल व शक्तिशाली मनुष्य निर्बलों को लूट लेते थे, व नष्ट कर देते थे। इस दशा में कोई मनुष्य धर्म का पालन नहीं कर सकता था। मनुष्यों का आर्थिक जीवन, सुख समृद्धि सब खतरे में पड़ी हुई थी। मनुष्य और भूमि तब भी विद्यमान थे, पर दण्ड व सरकार के अभाव में सर्वत्र अव्यवस्था, अशान्ति और अराजकता छाई हुई थी। दण्ड के प्रादुर्भाव ने इस अवस्था का अन्त किया, और जन समुदाय राजनीतिक दृष्टि से संगठित होकर अपनी वैयक्तिक व सामूहिक उन्नति करने में समर्थ हुआ।

सरकार का रूप इतना अधिक विकसित भी हो सकता है, जिससे कि मानव जीवन के सब अंगों का नियंत्रण व संचालन उसके अंतर्गत हो जाये। साथ ही, सरकार का रूप ऐसा भी हो सकता है, कि वह केवल शान्ति स्थापित करने व व्यवस्था रखने पर ही ध्यान दे। पर सरकार का रूप चाहे कैसा भी हो, यह आवश्यक है कि सरकार के पास इतनी शक्ति हो, कि वह अपने आदेशों का राज्य की जनता द्वारा पालन करा सके और बाह्य व अभियान्तर शत्रुओं से अपने राज्य की भली-भाँति रक्षा कर सके।

(4) प्रभुता व सर्वोपरिता (व्यवसंस्था) – राज्य का चौथा आवश्यक तत्व प्रभुता है। यह आवश्यक नहीं कि किसी निश्चित भूखण्ड पर स्थाई रूप से बसा हुआ व राजनीतिक



दृष्टि से संगठित जनसमुदाय 'राज्य' ही हो। वह राज्य तभी होगा, जबकि वह 'सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न भी हो। जब उस पर किसी बाह्य शक्ति का नियंत्रण न हो, तभी हम उसे राज्य कहेंगे। 5 अगस्त, 1947 तक भारत 'राज्य' नहीं था, क्योंकि उस पर ब्रिटेन का नियंत्रण व अधिकार था। भारत की अपनी निश्चित भूमि थी, अपनी जनता थी, अपनी सरकार भी थी, पर 'प्रभुता के अभाव में उसे 'राज्य' नहीं कहा जा सकता था। वह ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग था, 'राज्य' ब्रिटिश साम्राज्य था भारत नहीं। ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत हांगकांग आदि अनेक प्रदेश अब भी ऐसे हैं, जिन्हें हम राज्य नहीं कह सकते। क्योंकि 'प्रभुता का उनमें अभाव है।

में जिन राज्यों का संगठन संघात्मक (फेडरल) सिद्धान्त के अनुसार होता है, उनमें यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है, कि प्रभुत्व शक्ति संघ में निहित है, या उसके अंगों में संयुक्त राज्य अमेरिका, भारत आदि संघात्मक हैं। न्यूयार्क, कैलीफोर्निया आदि की जहाँ अपनी-अपनी पृथक सरकारें हैं, वहाँ संयुक्त राज्य की सरकार भी पृथक रूप से है। भारत में जहाँ सम्पूर्ण राज्य की केन्द्रीय सरकार है वहाँ साथ ही बिहार, उत्तर प्रदेश, काश्मीर आदि की भी अपनी-अपनी सरकारें हैं। पर भारतीय गणराज्य प्रभुता केवल संघ – सरकार में है। उसके अंगों की सरकारों में नहीं। यही बात अमेरिका के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। एक राज्य में प्रभुता भी एक ही होती है। संघ – राज्यों के विभिन्न अंगों की सरकारों को 'प्रभु' नहीं कहा जा सकता। हाँ, इतिहास में ऐसे भी उदाहरण विद्यमान हैं, जबकि कतिपय 'प्रभु' राज्यों ने कुछ विषिष्ट प्रयोजनों के लिए आंशिक रूप से अपना संघ बनाया हो। 1914-18 के महायुद्ध से पूर्व आस्ट्रिया-हंगरी का संघ (यूनियन) ऐसा था, जिसमें कि दोनों राज्यों की सरकारें पृथक-पृथक थीं। दोनों सम्पूर्ण – प्रभुत्व सम्पन्न राज्य थे, यद्यपि दोनों का राजा एक ही था। सन्धिविग्रह पर राष्ट्र – सम्बन्ध आदि कुछ मामलों के लिए उन्होंने परस्पर सहयोग करने की सन्धि भी की हुई थी। इसी प्रकार, 1814 के बाद आस्ट्रिया और विविध जर्मन राज्यों ने मिलकर जो संघ बनाया था, उसमें भी विविध अंगों की प्रभुता को प्रायः अक्षुण्ण रखा गया था। इस प्रकार के संघ बहुत निर्बल थे, और वास्तविक शक्ति उन राज्यों के ही हाथों में थी, जो संघ में शामिल थे। आंशिक रूप से प्रभुता के मर्यादित होने पर भी राज्य की सत्ता संभव होती है। ब्रिटिश कॉमनवेल्थ के अंतर्गत कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड आदि जो अनेक औपनिवेशिक राज्य हैं, वे अपने आंतरिक शासन में पूर्णतया स्वतंत्र हैं, यद्यपि संघ – विग्रह व परराष्ट्र – सम्बन्ध के क्षेत्र में उनकी प्रभुता कुछ अंशों में मर्यादित है। वे संयुक्त राष्ट्र (र.छ.) में अपने प्रतिनिधि पृथक रूप से भेजते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में स्वतंत्र राज्यों के रूप में शामिल होते हैं, और अपने पड़ोसियों के साथ पृथक रूप से संधि व वैदेशिक सम्बन्ध भी स्थापित करते हैं। यह होते हुए भी उनसे यह आशा की जाती है, कि ब्रिटिश कॉमनवेल्थ के अंतर्गत रहने के कारण विदेशी मामलों में वे ब्रिटेन के परामर्श और सहयोग से कार्य करें। अपने क्षेत्र से बाहर की एक सत्ता (ब्रिटिश क्राउन) के प्रति वे निष्ठा व भक्ति भी रखते हैं। इन दृष्टियों से उनकी प्रभुता कुछ न कुछ मर्यादित अवश्य ही हो जाती है पर क्योंकि उन्हें यह भी अधिकार है कि यदि वे चाहें तो ब्रिटिश कॉमनवेल्थ से पृथक हो जायें, अतः उन्हें 'राज्य' कहा जा सकता है।

न केवल बाह्य शक्ति के नियंत्रण से ही राज्य को मुक्त होना चाहिए, अपितु अपने आंतरिक क्षेत्र में भी उसकी सत्ता सर्वोपरि होनी चाहिए। राज्य की भूमि में जो भी मनुष्य व प्राणी बसते हों, यह जो भी पदार्थ उस क्षेत्र में विद्यमान हों, उन सब पर राज्य का शासन व अधिकार होना आवश्यक है। ऐसा न होने से अराजकता हो जायेगी और राज्य राज्य नहीं रहेगा। राज्य में निवास करने वाले मनुष्यों के अनेक अन्य भी 'समुदाय' व संगठन होते हैं। धार्मिक, आर्थिक, मानसिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक आदि कितने ही प्रकार के संगठन मनुष्य बना सकते हैं पर यह आवश्यक है, कि ये सब राज्य के आधीन हों। उसके आदेशों का पालन करते हों, और उसकी प्रभुता को स्वीकार करते हों। राज्य का प्रतिस्पर्धी व प्रतिद्वन्दी अन्य कोई समुदाय हो ही नहीं सकता। एक क्षेत्र में एक ही राज्य-शक्ति रह सकती है। एक राज्य में अन्य कोई 'राज्य' नहीं रह सकता। यह सम्भव तथा उचित है, कि राज्य के कार्य की सहूलियत के लिए राज-शक्ति के प्रयोग को अनेक स्थानों पर विभक्त कर दिया जाए। भारत

जैसे विषाल राज्यों में एक केन्द्रीय सरकार के अतिरिक्त प्रादेशिक सरकारें और स्थानीय (जिलों व नगरों की) सरकारें स्थापित करना सर्वथा उचित है, पर वे सब अपनी शक्ति एक ही स्रोत से प्राप्त करती हैं। वास्तविक प्रभुता (अन्य राज्यों के साथ, सम्बन्ध – विषयक व आन्तरिक) इस एक स्रोत में ही निहित या स्रोत है। भारतीय राज्य, भारत भूमि में स्थाई रूप से बसे हुए मनुष्यों का ऐसा समुदाय है जो कि राजनीतिक दृष्टि से संगठित है और जो सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्न है। इसकी प्रभुत्व-शक्ति व राज्य सत्ता की अभिव्यक्ति भारत के संविधान द्वारा होती है, जिसने शासन की सुविधा के लिए राज-शक्ति के प्रयोग को केन्द्रीय व राज्यों की सरकारों में विभक्त कर दिया है।

जनता, भूमि, सरकार और प्रभुता यह राज्य के चार प्रमुख तत्व हैं, पर इनके अतिरिक्त राज्य के दो और तत्व हैं, जिन्हें हम स्थायित्व और समानता कह सकते हैं। वस्तुतः ये दोनों तत्व भी राज्य की ऐसी विशेषताएँ हैं, जो उसे अन्य समुदायों से पृथक् करती हैं। इन पर भी संक्षेप से प्रकाश डालना उपयोगी है।

(5) स्थायित्व राज्य का एक अन्य आवश्यक तत्व है, जिसे 'स्थायित्व' कहा जा सकता है। इसका अभिप्राय यह है, कि किसी भूखण्ड में बसा हुआ, राजनीतिक दृष्टिसे संगठित व प्रभुत्व सम्पन्न जनसमुदाय सदा 'स्थायी' रहता है। यह सम्भव है, कि वह राज्यखण्डित हो जाये, किसी दूसरे राज्य के अधीन हो जाये या किसी अन्य राजा के साथमिलकर अपनी पृथक् सत्ता को खो दे। पर यह सब होते हुए भी जो जनसमुदाय एक बार राजनीतिक दृष्टि से संगठित होकर राज्य बन जाता है, वह फिर कभी 'अराजकता' की दशा को प्राप्त नहीं हो सकता। भारत दो भागों में विभक्त हो गया— भारत और पाकिस्तान। पर इस विभाग के कारण राज-शक्ति का अन्त नहीं हो गया, यहां के जन-समुदाय का राज्यत्व कायम रहा। जब यह देश अंग्रेजों के अधीन था, तब भी यहाँ के जन-समुदाय में राजत्व विद्यमान था, यद्यपि यह राजत्व ब्रिटेन के राज्य के अंतर्गत था। 1914-18 के महायुद्ध के बाद सर्बिया अपने पड़ोस के कतिपय प्रदेशों के साथ मिलकर युगोस्लाविया के रूप में परिवर्तित हो गया, पर इस परिवर्तन के कारण सर्बिया व उन कतिपय प्रदेशों का 'राजत्व' नष्ट नहीं हो गया। राज्य के क्षेत्र व स्वरूप में परिवर्तन आता रहता है, राज्य की प्रभुता व राज – शक्ति भी भिन्न रूप धारण करती रहती है, पर इन परिवर्तनों के कारण राज्य के स्थायित्व में अन्तर नहीं आता।

यही कारण है, कि जब कोई राज्य किसी अन्य राज्य के साथ मिल जाने के कारण, विभक्त हो जाने के कारण या किसी बाह्य सत्ता के अधीन हो जाने के कारण एक नया रूप धारण करता है, तो उसकी सरकार पहले राज्य की सम्पत्ति आदि की स्वामिनी हो जाती है, और साथ ही उसके प्राप्त व्यय व दायित्व की भी जिम्मेदार बन जाती है। ब्रिटिश साम्राज्य से पृथक् व स्वतंत्र हो जाने के बाद नवीन भारतीय राज्य की सरकार ने जहाँ ब्रिटिश सरकार की सब सम्पत्ति को प्राप्त किया है, वहाँ साथ ही उसकी सब देनदारियों को भी अपनाया है। महायुद्धों के अंत होने पर जब अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों द्वारा राज्यों का पुनः निर्माण होता है, तो पुनः निर्मित राज्यों की सरकारें प्रायः पुरानी देनदारियों को अपने ऊपर ले लेती हैं। रूस की बोलशेविक सरकार ने जारशाही सरकार और करेन्स की लोकतंत्र सरकार की देनदारियों की उत्तरदायिता लेने से इन्कार कर दिया था। यही कारण है, कि संयुक्त राज्य अमेरिका ने बहुत समय तक उसकी कानूनी सत्ता को मानना स्वीकार नहीं किया था। यह हम पहले प्रतिपादित कर चुके हैं कि सरकार के परिवर्तन से राज्य के स्थायित्व में अंतर नहीं पड़ता। सरकार और राज्य दो भिन्न वस्तुएं हैं। सरकार में बहुधा परिवर्तन आते रहते हैं, सरकार अस्थायी होती है। इसके विपरीत स्थायित्व राज्य का एक महत्वपूर्ण तत्व है।

(6) राज्यों की समानता – अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से सब राज्य एकसमान होते हैं। भूमि, जनता व सैन्य शक्ति की दृष्टि से राज्यों में भेद स्पष्ट है। कोई राज्य बड़ा है, कोई छोटा। कोई शक्तिशाली है, कोई निर्बल पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सबकी स्थिति एक समान होती है। यही कारण है, कि संयुक्त राज्य संघ में सम्मिलित सब राज्यों को



संघ की जनरल असेम्बली में एक बराबर स्थिति प्रदान की गई है, और सबका वोट एक समान रखा गया है। संयुक्त राज्य अमेरिका और बेल्जियम सदस्य राज्यों की शक्ति में कितना भारी अंतर है, पर संयुक्त राज्य संघ में दोनों के वोट की कीमत एक बराबर है। 1914-18 के महायुद्ध के बाद जिस राष्ट्रसंघ का संगठन किया गया था, उसमें भी इसी सिद्धान्त को स्वीकार किया गया था। इस सिद्धान्त का आधार यह बात है, कि जैसे किसी एक राज्य में सब नागरिक, चाहे उनमें धन, विद्या व धैर्य का कितना भी अंतर क्यों न हो, एक समान अधिकार व स्थिति रखते हैं, ऐसे ही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी सब राज्यों को, चाहे उनमें बल का इतना ही अंतर क्यों न हो, एक समान स्थिति व अधिकार प्राप्त होना चाहिए। पर सिद्धान्त: राज्यों की स्थिति को चाहे एक समान माना जाए, फिर भी क्रिया में उनमें भेद अवश्य रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अमेरिका और रूस जैसे विषाल व शक्तिशाली राज्यों का जो महत्व होगा, वह ईराक व बर्मा जैसे राज्यों का कैसे हो सकता है? यह भेद संयुक्त राज्य संघ के संगठन में भी प्रकट हो गया है। उसकी सुरक्षा परिषद (सिक्योरिटी काउंसिल) में पांच शक्तिशाली राज्यों (अमेरिका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन) को स्थाई रूप से सदस्यता का अधिकार दिया गया है, और पांचों में से प्रत्येक को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह परिषद के किसी भी निर्णय का निषेध (वी टो) कर सकें। यह अधिकार अन्य राज्यों को प्राप्त नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से चाहे सब राज्यों की स्थिति एक समान हो, पर यथार्थ राजनीति में उन्हें समानता प्राप्त नहीं है।

इकाई – 5 राजनीति विज्ञान का अन्य विज्ञानों के साथ सम्बन्ध

(State as the Supreme Association)

राज्य मनुष्यों के एक समुदाय का नाम है। पर मनुष्य राज्य के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकार के समुदायों में संगठित है। ये समुदाय अनेक प्रकार के हो सकते हैं

(1) धार्मिक – ईसाई, बौद्ध, हिन्दू, मुस्लिम आदि धार्मिक सम्प्रदायों के अनेक प्रकार के

समुदाय इस समय विद्यमान हैं, व इतिहास में विद्यमान रहे हैं। एक समय था, जब राज्य के समान इनकी भी अपार शक्ति होती थी। मध्यकाल में यूरोप के ईसाई चर्च असाधारण शक्ति सम्पन्न थे। यह आवश्यक था कि प्रत्येक व्यक्ति चर्च के अधीन हो, और उसकी आज्ञाओं का पालन करें। चर्च राज्य के समान लोगों से बकायदा टैक्स भी वसूल करता था। चर्च के अपने कानून थे, अपने न्यायालय थे, अपनी पुलिस थी और अपनी दण्ड- व्यवस्था थी। उसके पास अपार धन था, जिसका उपयोग वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करता था। प्राचीन भारत में बौद्ध संघ भी बहुत शक्तिशाली था। मुस्लिम देशों में राज्य सम्प्रदाय के प्रभाव में रहता था, और अनेक अंशों में राज्य और सम्प्रदाय एक ही सत्ता के अधीन थे।

इस समय भी ईसाई, बौद्ध आदि सम्प्रदायों के चर्च व समुदाय विद्यमान हैं। भारत में आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज आदि ऐसे समुदाय हैं, जिनके बकायदा सदस्य, प्रबन्ध समिति, पदाधिकारी, सम्पत्ति, कोश, प्रतिनिधि सभा आदि हैं। चंदे के रूप में यह समुदाय अपने सदस्यों व अन्य लोगों से नियमित रूप से आर्थिक आमदनी प्राप्त करते हैं, और अपने अनुयायियों पर एक तरह का नियंत्रण भी रखते हैं। अपने नियमों का उल्लंघन करने वाले सदस्यों को दण्ड देने की व्यवस्था भी यह करते हैं।

(2) आर्थिक – श्रमिकसंघ, कृषक संघ आदि के रूप में आर्थिक दृष्टि से भी अनेक जनसमुदाय इस समय विद्यमान हैं। प्राचीन समय में शिल्पियों की “श्रेणियाँ” व व्यापारियों के “निगम” हाते थे। जिनके अपने सदस्य, अपने कानून, व्यवहार व चरित्र हुआ करते थे। अपने सदस्यों पर इनका नियंत्रण भी पर्याप्त कठोर था। कोई व्यक्ति अपनी श्रेणी या निगम के नियमों का उल्लंघन करने का साहस नहीं करता था। राज्य भी इनके नियमों को स्वीकार करता था, और यह उपयोगी समझता कि शिल्पी व व्यापारी अपने “समूहों” या समुदायों के नियमों का पालन करें।

श्रमिक संघ (ट्रेड यूनियन) आदि के रूप में आजकल जो आर्थिक समुदाय हैं, वे भी मानव समाज में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आर्थिक जीवन में उनकी स्थिति बहुत ऊँची है

। अपनी श्रेणी के हितों की रक्षा करने, व्यावसायिक उन्नति में सहायक होने व सरकार पर प्रभाव रखने में वे बड़े महत्व के कार्य करते हैं। उनके भी सुनिश्चित सदस्य, बाकायदा नियम, स्थिर कोश, नियमित आमदनी और दण्ड विधान आदि सब होते हैं। अनेक बार तो उनकी शक्ति और प्रभाव इतने अधिक बढ़ जाते हैं कि अपनी मांगों को पूरा कराने के लिए वे सरकार पर बहुत अधिक जोर डालने पर भी समर्थ रहते हैं।

—(3) राजनीतिक लोकतंत्र शासन के इस युग में राजनीतिक समुदायों का महत्व बहुत अधिक है। ये राजनीतिक समुदाय राजनीतिक दलों (पार्टियों) के रूप में हैं। ब्रिटेन में मजदूर, कंजर्वेटिव और लिबरल — ये तीन दल प्रधान हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में रिपब्लिकन और डेमोक्रेट — ये दो दल मुख्य हैं। इन दलों के बाकायदा सदस्य हैं, निश्चित नियम हैं, निश्चित संगठन हैं। इनके पास कोश की कमी नहीं है, और ये सरकार को अपने हाथों में अधिगत करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। इनका ढंग प्रायः वैध रहता है, और ये निर्वाचकों को प्रचार द्वारा अपने पक्ष में करके उनके वोट प्राप्त करने, संसद (पार्लियामेन्ट) में अपना बहुमत बनाने और इस प्रकार शासन शक्ति को अधिगत करने का प्रयत्न करते रहते हैं।

पर पिछले कुछ समय से अनेक राज्यों में ऐसे राजनीतिक समुदायों का भी विकास हुआ है जो केवल वैध व शान्तिमय उपायों का अवलम्बन करना पर्याप्त नहीं समझते। समाज का संगठन किस प्रकार का हो, इस सम्बन्ध में उनके विचार अत्यन्त उग्र हैं, और अपने विचारों को क्रिया में परिणत करने के लिए वे उग्र उपायों का अवलम्बन अनुचित नहीं समझते। जर्मनी का नाजी दल, इटली का फासिस्ट दल और रूस का कम्युनिस्ट दल इसके उदाहरण हैं।

—(4) सांस्कृतिक दृष्टि शिक्षा, ज्ञान प्रसार, खोज आदि के लिए भी मनुष्यों ने अनेक समुदायों का संगठन किया है। बहुत से समुदाय लोक सेवा के लिए भी बनाये गये हैं। रेडक्रॉस सोसाइटी, सर्वोदय समाज, रामकृष्ण सेवाश्रम मिशन आदि इसके उदाहरण हैं।

राज्य और अन्य समुदायों में भेद — मनुष्यों ने राज्य के अतिरिक्त अन्य भी अनेक समुदायों में अपने को संगठित किया है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, उसने अपनी सामाजिकता को अनेक रूपों में अभिव्यक्त किया है। पर राज्य अन्य मानव समुदायों से सर्वथा भिन्न होता है। उसका यह भेद आधारभूत है। अन्य समुदायों से राज्य की भिन्नता को हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं —

— (1) राज्य के अतिरिक्त अन्य सब समुदायों की सदस्यता मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है। कोई मनुष्य चाहे, तो किसी भी धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक समुदाय का सदस्य न बने। यह भी प्रत्येक मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है, कि वे जब तक चाहें किसी ऐसे समुदाय का सदस्य रहें, और जब चाहे उससे पृथक् हो जायें। इसके विपरीत प्रत्येक मनुष्य के लिए यह अनिवार्य है, कि वह राज्य का सदस्य हो। कोई मनुष्य ऐसा नहीं हो सकता, जो किसी राज्य रूपी समुदाय में सम्मिलित न हो।

(2) प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार है, कि वह जितने भी समुदायों का चाहे सदस्य बन सकता है, बशर्ते कि वह उनके नियमों के पालन के लिए उद्धत हो। पर कोई मनुष्य केवल एक ही राज्य का सदस्य हो सकता है। साधारणतया यह किसी के लिए भी सम्भव नहीं है, कि वह एक समय में एक से अधिक राज्य का नागरिक हो सके।

(3) अन्य समुदायों का क्षेत्र किसी स्थान विशेष तक सीमित नहीं होता — अनेक समुदाय तो विष्वव्यापी होते हैं। रेडक्रॉस सोसाइटी, आर्य समाज, कम्युनिस्ट पार्टी आदि की शाखायें संसार के बहुत से देशों में व्याप्त हैं। पर राज्य का क्षेत्र एक निश्चित भूखण्ड व प्रदेश तक ही सीमित रहता है, उसके बाहर उसकी सत्ता नहीं होती।

(4) अन्य समुदायों का संगठन किसी एक व एकाधिक निश्चित उद्देश्य को सम्मुख रखकर किया जाता है। रेडक्रॉस सोसाइटी का एक निश्चित लक्ष्य है, आर्य समाज का संगठन भी कुछ निश्चित उद्देश्यों को सम्मुख रखकर किया गया है। पर राज्य के उद्देश्यों को सीमित व निश्चित कर सकना सम्भव नहीं होता। राज्य मनुष्यों के हित, कल्याण व रक्षा के निमित्त संगठित हुआ पर “हित” एक इतना व्यापक शब्द है, कि उसमें बहुत-सी बातें अन्तर्गत हो जाती हैं। यही कारण है, जो राज्य का कार्यक्षेत्र निरन्तर विस्तृत होता जाता है। जहाँ वह अपनी जनता की बाह्य व आभ्यन्तर षत्रुओं से रक्षा करने की उत्तरदायिता लेता है, वहाँ साथ ही उसकी सर्वतोमुखी उन्नति के लिए भी प्रयत्न करता है। यही कारण है, कि वह शिक्षा, स्वास्थ्य आदि लोकहित के कार्यों को हाथ में ले लेता है और मानव हित की दृष्टि से अनेक व्यवसायों का नियंत्रण व संचालन भी करता है। जनहित को सम्मुख रखकर राज्य कोई सा भी कार्य अपने हाथों में ले सकता है, और मनुष्यों के किसी भी कार्य में हस्तक्षेप कर सकता है। शांति और व्यवस्था कायम रखना एक ऐसा कार्य है, जो कि राज्य के अतिरिक्त अन्य कोई भी समुदाय नहीं कर सकता। (5) अन्य समुदाय अस्थायी हैं राज्य स्थायी है। अन्य समुदाय किन्हीं निश्चित उद्देश्यों को सम्मुख रखकर स्थापित होते हैं और जब वे उद्देश्य पूर्ण हो जाते हैं तो उनकी समाप्ति हो जाती है, या आंतरिक क्षीणता के आ जाने से उन समुदायों का स्वमेव अन्त हो जाता है। पर राज्य एक ऐसा समुदाय है जो सदा स्थाई रहता है। राज्य क्रान्ति, शङ्खंत्र आदि द्वारा सरकार में परिवर्तन हो जाते हैं विजय, विभाजन आदि द्वारा राज्य के स्वरूप में भी परिवर्तन आ जाता है पर राज्य

की स्थिरता व स्थायित्व में अंतर नहीं आता। मनुष्य की रक्षा व हित के लिए राज्य की सत्ता अनिवार्य है, अतः वह कभी मरता नहीं। अन्य समुदायों के अभाव में मनुष्य जीवित रह सकता परन्तु राज्य के अभाव में अराजकता छा जायेगी, मातस्यन्याय हो जायेगा और मनुष्य की जान व माल सुरक्षित नहीं रहेंगे।

है (6) अन्य समुदायों को यह अधिकार नहीं होता, कि वे अपनी इच्छा आदेश का पालन करने के लिए शक्ति का प्रयोग कर सकें। धार्मिक समुदाय अपने अनुयायियों को नरक का डर दिखा सकते हैं आर्थिक व राजनीतिक समुदाय सामाजिक बहिष्कार व इसी तरह के अन्य उपायों से अपने सदस्यों पर जोर डाल सकते हैं पर राज्य ही एकमात्र ऐसा समुदाय है, जो मनुष्यों को अपने आदेशों का पालन कराने के लिए सजा दे सकता है, गिरफ्तार कर सकता है, और मृत्युदण्ड दे सकता है। राज्य की यह ऐसी विशेषता है, जो अन्य किसी समुदाय में हो ही नहीं सकती। (7) मनुष्य अपने अन्य समुदाय कैसे बनाये, उनके नियम क्या हों – इन बातों पर राज्य नियंत्रण रख सकता है। मनुष्यों को यह अधिकार नहीं, कि वे ऐसे समुदाय बना सकें, जिनका उद्देश्य सदाचार के विरुद्ध हों, व जिनसे मानव समाज का अहित होता हो। अभिप्राय यह है कि, राज्य अन्य समुदायों में हस्तक्षेप कर सकता है और अन्य समुदायों को इस बात के लिए विवश कर सकता है कि वे राज्य के नियंत्रण में रहें और उसके आदेशों का पालन करें।

राज्य सर्वोपरि समुदाय है जिस प्रकार राज्य मनुष्यों का एक समुदाय है, वैसे ही चर्च श्रमिकसंघ, रेडक्रॉस सोसाइटी आदि अन्य अनेक प्रकार के समुदायों में भी मनुष्य संगठित है। पर इन समुदायों में से राज्य रूपी मानव समुदाय का मुख्य भेद यह है कि वह सर्वोपरि (नचतमउम) है, अन्य सब समुदायों को उसके नियंत्रण में रहना पड़ता है। यदि उसके विचार में कोई अन्य समुदाय मनुष्यों के सर्वसामान्य हितों के विरुद्ध कार्य कर रहा हो, तो वह उसके विरुद्ध शक्ति का भी प्रयोग कर सकता है। सर्वोपरिता या प्रभुता राज्य रूपी समुदाय की एक ऐसी विशेषता है जो किसी भी अन्य समुदाय में नहीं पाई जाती।

1 राज्य रूपी समुदाय का ध्येय उत्कृष्ट जीवन है – मनुश्यों के जो अन्य अनेक प्रकार के समुदाय हैं वे किसी एक निश्चित उद्देश्य व कतिपय निश्चित प्रयोजनों से संगठित किये जाते हैं। आर्य समाज का उद्देश्य यह है कि वेदों की शिक्षा का प्रचार करे। ईसाइयों के विविध चर्च ईसा की शिक्षाओं का प्रसार करने के लिए कायम हुए हैं। श्रमिकसंघों की स्थापना श्रमिकों के हितों के संपादन के लिए की गई है, यूनीवर्सिटियों का संगठन उच्च शिक्षा के लिए हुआ है। धनपति लोग कम्पनियाँ इसलिए बनाते हैं कि उन्नत व्यवसाय कर सकें। पार्टियों परस्पर मिलकर इस प्रयोजन से संगठित की जाती हैं कि अपने विचारों के अनुसार राज्य शासन का संचालन कर सकें। पर राज्यरूपी समुदाय किसी एक निश्चित उद्देश्य व कतिपय निश्चित प्रयोजनों को सम्मुख रखकर संगठित नहीं हुआ है। वह मनुश्यों की सामाजिक भावना का परिणाम है, मानव जीवन के लिए खुद की सत्ता अनिवार्य है और उसका यह यत्न रहता है कि मनुश्यों के सर्वसामान्य हितों का सम्पादन हो और उसके द्वारा मनुश्य उत्कृष्ट जीवन व्यतीत कर सकने में समर्थ हो। इसी तथ्य को अरिस्टोटल ने इस ढंग से प्रकट किया था – “राज्य परिवारों और ग्रामों के एक ऐसे समुदाय को कहते हैं जिसका उद्देश्य पूर्ण व सम्पन्न जीवन को प्राप्त करना हो, जिसका अभिप्राय यह है कि सम्पन्न और सम्मानास्पद जीवन।” इसी तथ्य को अधिक स्पष्ट करते हुए अरिस्टोटल ने लिखा था कि प्रत्येक समुदाय किसी न किसी हित व कल्याण का सम्पादन करना ही अपना उद्देश्य निर्धारित करता है पर राज्य एक ऐसा समुदाय है जो कि अन्य समुदाय की तुलना में अधिक उत्कृष्ट है, और जिसका उद्देश्य अन्य किसी भी समुदाय की अपेक्षा सर्वाधिक हित व कल्याण को सम्पादित करना है। राज्य और अन्य समुदायों में क्या भेद है, यह अरिस्टोटल के उपयुक्त कथन के द्वारा सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। राज्य और अन्य समुदायों में दो मुख्य भेद हैं

(1) राज्य अन्य सब समुदायों से उत्कृष्ट है, वह सर्वोपरि है।

(2) अन्य समुदायों का उद्देश्य किसी विशेष हित का सम्पादन करना होता है, पर राज्य मनुश्यों के सर्वाधिक व सर्वोत्कृष्ट हितों को सम्पादित करता है। मनुश्यों का यह सर्वोत्कृष्ट हित क्या है, इस विषय पर जनता के विचार सदा एक से नहीं रहे, समय व परिस्थितियों के अनुसार उनमें परिवर्तन आता रहता है। जिस युग में मनुश्यों के सर्वाधिक हित के विषय में जो विचार हों, राज्य का उद्देश्य उन्हीं को सम्पादित करना होता है। वह उत्कृष्ट जीवन की स्थापना में तपर रहता है, यही बात उसे अन्य समुदायों से भिन्न व उत्कृष्ट रूप प्रदान करती है।

बहुसमुदायवाद – राज्य और अन्य समुदायों में जिस भिन्नता का हमने ऊपर प्रतिपादन किया है, उससे यह सूचित होता है कि राज्य अन्य सब समुदायों की अपेक्षा उत्कृष्ट और सर्वोपरि है। अन्य सब समुदाय उसके अधीन हैं, वह उसके नियंत्रण में रहते हैं। पर अर्वाचीनकाल के अनेक विचारकों ने इस मत का विरोध किया है। उनका कहना है, कि राज्य भी अन्य समुदायों के समान एक समुदाय ही है, और वह अन्य समुदायों का “प्रभु” व “नियंता” होने के बजाय उनका समकक्ष सहयोगी मात्र है। उदाहरण के लिए आर्थिक व धार्मिक सम्प्रदायों को लीजिए। प्रत्येक मनुश्य का सम्बन्ध किसी न किसी धार्मिक समुदाय के साथ होता है। कोई व्यक्ति आर्य समाज की सदस्य है तो कोई ईसाई चर्च का। मनुश्य की भक्ति इन धार्मिक समुदायों के प्रति भी वैसी ही होती है जैसी कि राज्य के प्रति। यदि कभी राज्य किसी धार्मिक समुदाय के विरुद्ध कोई कार्यवाही करना चाहे, तो अनेक समुदायों के सम्मुख यह प्रश्न उत्पन्न होगा, कि वे राज्य के प्रति भक्ति को अधिक महत्व दें या धार्मिक समुदाय के प्रति भक्ति को। यदि राज्य कोई ऐसा कानून बनाये या ऐसा आदेश दे, जो किसी धार्मिक समुदाय के विरुद्ध हो, तो बहुत से लोग उसका विरोध करने के लिए उद्धत हो जायेंगे। यही बात आर्थिक समुदायों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। आधुनिक काल में मजदूरों और किसानों ने अनेक ऐसे संगठन बनाये हैं जो बहुत शक्तिशाली हैं। इन समुदायों द्वारा उत्पादक लोग यह प्रयत्न करते हैं कि आर्थिक उत्पत्ति का संचालन व नियन्त्रण अपने हाथ में रखें। जिस प्रकार राज्य राजनीतिक जीवन का नियंत्रण



व संचालन करता है, ऐसे ही आर्थिक समुदाय आर्थिक जीवन को अपने नियंत्रण में रखते हैं। इनके सदस्यों की इन आर्थिक समुदायों के प्रति भक्ति बहुत प्रबल रहती है। प्रश्न यह है, कि यह क्यों समझा जाये कि राज्य इन सब समुदायों के ऊपर है? उसे उनके सदस्य ही एक समुदाय क्यों न माना जाए, जो कि इनके ऊपर न होकर इनके समकक्ष व इनका सहयोगी मात्र है?

मध्यकालीन यूरोप में चर्च और राज्य एक-दूसरे के प्रतिद्वन्दी रहे हैं। उस समय प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह अनिवार्य था कि वह चर्च का सदस्य हो और चर्च के आदेशों का पालन करे। राजाओं तक पर चर्च अपना नियंत्रण रखता था। यूरोप के जिन राजाओं ने चर्च के आदेशों की अवहेलना करने का प्रयत्न किया, उन्हें चर्च ने दण्ड भी दिया। मध्य कालीन यूरोप में राज्य एक ऐसा समुदाय था, जो चर्च की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट नहीं था।

अधिक से अधिक उसे चर्च का समकक्ष कहा जा सकता है।

इस समय भी फैंसिस्ट, नाजी, कम्युनिस्ट आदि दलों के रूप में ऐसे समुदायों का विकास हो गया है जिनके प्रति उनके सदस्यों की भक्ति व निष्ठा अत्यन्त उग्र है। अपने राजनीतिक दल के लिए कुछ लोग राज्य की अवहेलना करने में भी संकोच नहीं करते। विभिन्न देशों के कम्युनिस्ट दल अपने सिद्धान्तों के लिए विद्रोह तक करने के लिए उद्धत रहते हैं। 1939-45 के

के पूर्व महायुद्ध अनेक यूरोपीयन राज्यों के फैंसिस्ट व नाजी दल अपने राज्य के खिलाफ इटली और जर्मनी का पक्ष लेने को तैयार रहते थे। इंग्लैण्ड जैसे लोकतंत्र राज्य में श्रमिक संघ (ट्रेड यूनियन) की जो शक्ति है, उसके कारण उसके सदस्यों की अपने आर्थिक संघ के प्रति भक्ति बहुत उग्र है। यह सब दृष्टि में रखते हुए क्या यह कहना उचित नहीं होगा कि राज्य भी एक जनसमुदाय मात्र है और मनुष्यों की भक्ति (एलीजियन्स) एक से अधिक समुदाय के प्रति रह सकती है। राज्य का कार्य प्रधानतया राजनीतिक जीवन का नियन्त्रण है, बाह्य और आभ्यन्तर विपत्तियों से रक्षा करना उसका मुख्य प्रयोजन है। उसे अपने इसी क्षेत्र तक सीमित रहना चाहिए। धार्मिक-आर्थिक व इसी प्रकार के अन्य मामलों में स्व-प्रगति की जाँच करें- 1. हालैण्ड द्वारा किये गए

राज्य के लक्षण में किन बातों पर जोर दिया गया है ?

2. राज्य का तीसरा आवश्यक तत्व कौन-सा है?

3. समुदाय कितने प्रकार के दो सकते हैं? किसी एक का वर्णन करो।

अन्य समुदायों को स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने देना चाहिए। शिक्षा का स्वरूप व ढंग कैसा हो, इस विषय में राज्य को सोचने की क्या आवश्यकता है। यह काम उन विष्वविद्यालयों का है जो कि मनुष्यों के ही समुदाय हैं। यह काम विष्वविद्यालयों को ही करना चाहिए। लोगों का नैतिक जीवन कैसा हो, उनके सदाचार सम्बन्धी आदर कौन से हों, उनका सामाजिक व्यवहार किस तरह का हो यह सब बातें धार्मिक समुदायों के नियंत्रण में करने की हैं। राज्य को इन बातों के विषय में सिरदर्दी की क्या आवश्यकता है? इसी प्रकार आर्थिक उत्पत्ति कैसे की जाए, कारखानों व खेतों में श्रमिकों के कार्य करने की दशा क्या हो - ये प्रश्न मनुष्यों के आर्थिक समुदायों द्वारा निर्धारित करने योग्य हैं। राज्य इनमें हस्तक्षेप क्यों करे? राज्य को यह स्वीकार करना चाहिए कि अन्य समुदायों के समान वह भी एक समुदाय ही है, और उसका भी एक निश्चित उद्देश्य व प्रयोजन है। राज्य की शक्ति व सत्ता का आधार मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य तो कुछ नहीं है। राज्य रूपी समुदाय को

मनुष्यों ने बनाया है, अन्य समुदायों का निर्माण भी मनुष्यों ने किया है। जिस प्रकार मनुष्यों का राजनीतिक जीवन राज्य में संगठित है वैसे ही मनुष्यों का धार्मिक, आर्थिक व सांस्कृतिक जीवन अन्य समुदायों में संगठित है। जिस प्रकार लोकमत द्वारा राज्य को बल मिलता है वैसे ही लोकमत द्वारा अन्य समुदायों को भी बल मिलता है। राज्य को अन्य समुदायों के समकक्ष मानने के इस सिद्धान्त को ही 'बहुसमुदायवाद' कहते हैं।

मेकाइवर ने इस दृष्टिकोण को इस ढंग से प्रतिपादित किया है "हम केवल इस बात से इन्कार नहीं करते कि राज्य कोई कम्युनिटी है या कम्युनिटी का कोई प्रकार है, हमें निश्चित रूप से यह घोषित करना चाहिए कि राज्य कुटुम्ब व चर्च के वर्ग का एक समुदाय मात्र ही है। इन्हीं के समान राज्य का निर्माण भी सदस्यों के एक विशेष प्रकार से संगठित समूह द्वारा, जो कि कतिपय सीमित उद्देश्यों के लिए संगठित हुआ हो होता है। राज्य का संगठन पूर्ण समाज का संगठन नहीं है। वे सब उद्देश्य जिन्हें मानव जाति प्राप्त करना चाहती है उन उद्देश्यों के अंतर्गत नहीं आते, जिनके लिए राज्य का अस्तित्व है। यह स्पष्ट है कि राज्य जिन उपायों द्वारा अपने उद्देश्यों की पूर्ति करता है। वे उन उपायों में से कुछ ही हैं, जिनके द्वारा समाज में रहते हुए मनुष्य अपनी आकांक्षा व उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

बहुसमुदायवाद के इस सिद्धान्त को यदि स्वीकार कर लिया जाए, तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि राज्य में प्रभुता व सर्वोपरिता नहीं होती। पर प्रश्न यह है कि यदि किसी निश्चित भूखण्ड में विद्यमान विविध समुदायों में परस्पर विरोध हो, तो उसका समाधान किस प्रकार किया जाए। आर्थिक समुदायों को ही लीजिए। यह सम्भव है कि उपभोगताओं और उत्पादकों, श्रमिकों और पूँजीपतियों व जमींदारों और कृषिकों के समुदायों में परस्पर विरोध उत्पन्न हो। उस दशा में इस विरोध को दूर करने के लिए इसका फैसला करने के लिए कोई तो सर्वोपरि सत्ता होनी ही चाहिए। यह सर्वोपरि सत्ता ही राज्य है। यह भी मान लीजिए कि श्रमिकों और पूँजीपतियों, कृषिकों और जमींदारों व उपभोगताओं और उत्पादकों में कोई भेद नहीं है मनुष्यों का सम्पूर्ण आर्थिक जीवन एक संगठन में संगठित हो गया है जिस प्रकार राज्य मनुष्यों का राजनीतिक समुदाय है, वैसे ही मनुष्यों का सर्वापूर्ण आर्थिक समुदाय भी बन गया है। इस दशा में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है कि मनुष्यों के आर्थिक हितों और राजनीतिक हितों में भी विरोध उत्पन्न हो। राज्य की रक्षा व स्थिति के लिए बड़ी से बड़ी कुर्बानी की आवश्यकता होती है। राज्य द्वारा मनुष्यों के जीवन की वह परिस्थिति उत्पन्न होती है, जिससे वह बाह्य और आभ्यन्तर सब प्रकार के भयों से मुक्त रहते हुए अपने हित और कल्याण में व्याप्त रहें। इस स्थिति को उत्पन्न करने वाले समुदाय (राज्य) को यह अधिकार होना ही चाहिए कि वह आवश्यकता पड़ने पर मनुष्यों के अन्य समुदायों को अपने नियंत्रण में रख सकें।

सारांश

— यह सही है कि आधुनिक युग में मनुष्यों के अन्य समुदायों का महत्व भी बहुत अधिक है। पर जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, अन्य समुदाय किसी विषिष्ट उद्देश्यों को सम्मुख रखकर संगठित होते

हैं, जबकि राज्य मनुष्यों के सार्वजनिक व सर्वसामान्य हित को सम्मुख रखकर स्थापित किया जाता है। राज्य के अभाव में अराजकता छा जायेगी, मात्स्य न्याय हो जायेगा। मनुष्य के जीवन, पालन व उन्नति के लिए एक ऐसी सत्ता की आवश्यकता है, जो सबको अपने नियंत्रण में रखे, जो सर्वोपरि हो। अन्य समुदायों का मानव जीवन में चाहे कितना ही महत्व क्यों न हो, पर वे राज्य की समता नहीं कर सकते। मानव जीवन में एक नियन्त्रा व सर्वोपरि सत्ता का रहना आवश्यक है। इसी सत्ता को हम राज्य कहते हैं।

MATS Centre for Distance and Online Education, MATS University

स्व-प्रगति जाँच के उत्तर (Answers to Check Your Progrè)

1. हालैण्ड द्वारा किये गये राज्य के इस लक्षण में निम्नलिखित बातों पर जोर दिया गया है — (1) राज्य मनुष्यों का एक ऐसा समुदाय है, जो साधारणतया किसी निश्चित प्रदेश पर



स्थायी रूप से बसा हुआ हो। (2) इस समुदाय में कुछ लोगों की इच्छा चलती हो, अन्य सब को इस इच्छा सम्मुख सिर झुकाना पड़े। अन्य लोग चाहे इस 'इच्छा' कि विरोधी भी क्यों न हों, पर उन्हें दबना पड़े। यह इच्छा किसी अल्पसंख्यक श्रेणी की भी हो सकती है। और बहुसंख्यक जनता की भी। लोकतन्त्र राज्यों में बहुसंख्यक जनता की इच्छा क्रिया में परिणत होती है। कतिपय राज्यों में यह भी होता है, कि कोई असाधारण शक्ति सम्पन्न मनुष्य या कोई श्रेणी अपने धन, बुद्धि व पौर्य के बल पर स्वयं अल्पसंख्या में होते हुए भी बहुसंख्यक लोगों पर शासन करें, और अपनी इच्छा के सम्मुख अन्य लोगों की इच्छा को न चलने दे।

— 2. शासन या सरकार राज्य का तीसरा आवश्यक तत्व शासन या सरकार है। किसी निश्चित भूमि खण्ड पर स्थाई रूप से बसा हुआ जनसमुदाय तब तक राज्य नहीं बनता, जब तक कि वह राजनीतिक दृष्टि से संगठित न हो। राज्य की अपनी सरकार अवश्य होनी चाहिए, जिसके द्वारा उन उद्देश्यों व प्रयोजनों की पूर्ति की जा सके जिनके लिए राज्य का संगठन हुआ है। सरकार व साधन है, जिससे राज्य अपने ध्येय की पूर्ति करता है। जन समुदाय की सामूहिक इच्छा की अभिव्यक्ति और कार्य में परिणित सरकार द्वारा ही होती है। सरकार के अभाव में जनसमुदाय संगठित नहीं हो सकता, और संगठन के बिना राज्य की सत्ता सम्भव नहीं।

3. सरकार का स्वरूप चाहे कैसा भी हो, वह चाहे एकतन्त्र हो, चाहे श्रेणितन्त्र और चाहे लोकतन्त्र, पर उसकी सत्ता राज्य के लिए अनिवार्य है। इसी सरकार को भारत के प्राचीन राज्यशास्त्र — प्रणेताओं ने 'दण्ड' नाम से कहा है। दण्ड ही जनता का शासन करता है, दण्ड ही उसकी रक्षा करता है। जब यह दण्ड नहीं था, तब अराजकता की दशा थी। उस दशा में न कोई शासक था, न शासित। सर्वत्र 'मातस्य न्याय' छाया हुआ था। जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, वैसे ही प्रबल व शक्तिशाली मनुष्य निर्बलों को लूट लेते थे, व नष्ट कर देते थे। इस दशा में कोई मनुष्य 'धर्म' का पालन नहीं कर सकता था। मनुष्यों का आर्थिक जीवन, सुख समृद्धि सब खतरे में पड़ी हुई थी। मनुष्य और भूमि तब भी विद्यमान थे, पर दण्ड व सरकार के अभाव में सर्वत्र अव्यवस्था, अशान्ति और अराजकता छाई हुई थी। दण्ड के प्रादुर्भाव ने इस अवस्था का अन्त किया, और जन समुदाय राजनीतिक दृष्टि से संगठित होकर अपनी वैयक्तिक व सामूहिक उन्नति करने में समर्थ हुआ।

ये समुदाय अनेक प्रकार के हो सकते हैं।

1 धार्मिक — ईसाई, बौद्ध, हिन्दू, मुस्लिम आदि धार्मिक सम्प्रदायों के अनेक प्रकार के समुदाय इस समय विद्यमान हैं, व इतिहास में विद्यमान रहे हैं। एक समय था, जब राज्य के समान इनकी भी अपार शक्ति होती थी। मध्यकाल में यूरोप के ईसाई चर्च असाधारण शक्ति सम्पन्न। यह आवश्यक था कि प्रत्येक व्यक्ति चर्च के आधीन हो, और उसकी आज्ञाओं का पालन थे।

करें। चर्च राज्य के समान लोगों से बकायदा टैक्स भी वसूल करता था। चर्च के अपने कानून थे, अपने न्यायालय थे, अपनी पुलिस थी और अपनी दण्ड-व्यवस्था थी। उसके पास अपार धन था, जिसका उपयोग वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करता था। प्राचीन भारत में बौद्ध संघ भी बहुत शक्तिशाली था। मुस्लिम देशों में राज्य सम्प्रदाय के प्रभाव में रहता था, और अनेक अंशों में राज्य और सम्प्रदाय एक ही सत्ता के अधीन थे।

इस समय भी ईसाई, बौद्ध आदि सम्प्रदायों के चर्च व समुदाय विद्यमान हैं। भारत में आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, आदि ऐसे समुदाय हैं, जिनके बकायदा सदस्य, प्रबन्ध समिति, पदाधिकारी, सचिव, कोष, प्रतिनिधि समिति आदि हैं। चंदे के रूप में यह समुदाय अपने सदस्यों व अन्य लोगों से नियमित रूप से आर्थिक आमदनी प्राप्त करते हैं, और अपने अनुयायियों पर एक तरह का नियंत्रण भी रखते हैं। अपने नियमों का उल्लंघन करने वाले सदस्यों को दण्ड देने की व्यवस्था भी यह करते हैं।

अभ्यास—प्रश्न

1. राजनीतिक शास्त्र की परिभाषा दें तथा इसकी प्रकृति एवं क्षेत्रों का वर्णन करें।
2. राजनीति विज्ञान के अर्थ को विस्तार से समझायें।
- 3.

राजनीति विज्ञान के स्वरूप और लक्षणों का वर्णन करें।

4. राजनीति शास्त्र दर्शन है या विज्ञान ? स्पष्ट करें
5. राजनीतिक शास्त्र के अन्य विज्ञानों के संबंध की विवेचना करें।



राजनीतिक सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति और विकास

अध्याय में प्रस्तुत

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विविध सिद्धान्त ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त

राज्य का विकास

सारांश

स्व-प्रगति जाँच के उत्तर

अभ्यास-प्रश्न

षिक्षण उद्देश्य :

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् आप समझ सकेंगे—

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विविध सिद्धान्त

ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त:

राज्य का विकास, नागरिकता का सूत्रपात ।

परिचय :

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विविध सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विविध विचारकों ने इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है षक्ति – सिद्धान्त, दैवी – अधिकार – सिद्धान्त, संविदा- सिद्धान्त और ऐतिहासिक – सिद्धान्त इनमें से पहले तीन सिद्धान्त ऐसे हैं, जिनका सम्बन्ध राजनीति शास्त्र की विभिन्न विचारधाराओं के साथ है। केवल राज्य की उत्पत्ति के प्रश्न पर ही नहीं, अपितु उसके स्वरूप, कार्यक्षेत्र व ध्येय के सम्बन्ध में भी इन सिद्धान्तों के प्रतिपादकों के विभिन्न मन्तव्य हैं ।

इसीलिए इन सिद्धान्तों पर हम पृथक् रूप से भी विचार करेंगे। पर राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इन सिद्धान्तों के समर्थकों द्वारा जो विचार प्रतिपादित किये गये हैं, उनका यहाँ संक्षेप के साथ उल्लेख करना उपयोगी होगा ।

षक्ति सिद्धान्त इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति का मूलकारण व आधार षक्ति है। कुछ मनुष्य षक्तिशाली होते हैं, और कुछ निर्बल। यह सर्वथा

स्वाभाविक है कि कोई एक व्यक्ति अपने बल का प्रयोग करके अन्य मनुष्यों को अपने कर ले और उन्हें इस बात के लिए विवश करे कि वे उसके आदेशों का पालन करें। इस प्रकार षक्ति का प्रयोग कर एक षक्तिशाली व्यक्ति अपने साथियों को अपना वषवर्ती बना लेता है। यह व्यक्ति अपने कबीले या जन (जत्पड़म) का सरदार बन जाता है। जब अनेक कबीले एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं, तो उनमें जो कबीला सबसे अधिक षक्तिशाली हो, वह अन्य कबीलों को अपनी षक्ति द्वारा अपने अधीन कर लेता है। मनुष्य जाति के इतिहास में यही प्रक्रिया सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। छोटे-छोटे कबीले जब किसी प्रदेश पर स्थाई रूप से बसें कर अपने जनपद या राज्य स्थापित कर लें, तो उनमें भी परस्पर संघर्ष होता है

षक्तिपाली जनपद पड़ोस के निर्बल जनपदों को जीत कर अपने अधीन कर लेता है। प्राचीन ग्रीक इतिहास में स्पार्टा और एथेन्स जैसे षक्तिपाली जनपदों ने अपने समीपवर्ती अन्य जनपदों को जीतकर अपने “साम्राज्यों की स्थापना की थी। प्राचीन भारत में भी मगध, कौषल, अवन्ति और वत्स जैसे षक्तिपाली जनपद अन्य बहुत से जनपदों को जीतकर “महाजनपद” बन गये थे। सिकन्दर, चन्द्रगुप्त, सीजर आदि ने जो अपने विषाल साम्राज्य बनाये, उनका मूल उनकी षक्ति ही थी। मध्यकाल में जो विविध सामन्त राजा किसी षक्तिपाली सम्राट की संरक्षता में आने के लिए विविध होते थे, उनका कारण भी उनकी षक्ति ही थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि राज्य संस्था के प्रादुर्भाव व विकास में षक्ति का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। धीरे-धीरे कुलों से जनों का, जनों से जनपदों का, जनपदों से महाजनपदों का महाजनपदों से साम्राज्यों का जो निर्माण होता गया, और राज्य संस्था का स्वरूप जो अधिकाधिक विषाल होता गया, उसका हेतु षक्ति ही थी। जब ऐतिहासिक काल में राज्य संस्था के विकास का प्रधान कारण षक्ति रही है, तो यह मानना सर्वथा उपयुक्त है कि इस षक्ति ने ही राज्य संस्था का प्रादुर्भाव भी किया। मानव – इतिहास के प्रारम्भिक काल में कुछ षक्तिपाली व्यक्ति ही अन्य सबको अपने अधीन करने में और अन्य सबसे अपने आदेश मनवाने में समर्थ हुए, और षक्ति के इसी प्रयोग ने उस प्रक्रिया का प्रारम्भ किया जिसके कारण समयान्तर में राज्य संस्था की उत्पत्ति हुई।

षक्ति-सिद्धान्त से ही कुछ विचारक यह भी प्रतिपादित करते हैं कि राज्य संस्था सर्वथा उचित है। “जिसकी लाठी उसकी भैंस” यह सिद्धान्त सर्वथा संगत है। प्रकृति ने षक्ति का महत्व सर्वथा प्रत्यक्ष किया है। यही कारण है, जिससे प्रत्येक व्यक्तिको राज्य संस्था के अधीन होना पड़ता है, क्योंकि इसके अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प उसके सम्मुख होता ही नहीं। षक्ति – सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर ही अनेक विचारक यह प्रतिपादित करते हैं, कि राज्य एक आवश्यक बुराई है और वह अन्याय वह अत्याचार पर आश्रित है। इसमें संदेह नहीं कि राज्य एक ऐसी बुराई है, जो आवश्यक व अनिवार्य है, पर क्योंकि मूल तः यह बुराई है, अतः इसके अधिकार क्षेत्र को कम से कम रखना मनुष्यों के हित के लिए उपयोगी है।

दैवी अधिकार सिद्धान्त – इस सिद्धान्त के अनुसार यह माना जाता है कि राज्य की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा हुई है। राजा जिस अधिकार से अपने राज्य पर शासन करता है,

उसे वह ईश्वर द्वारा ही प्राप्त होता है। राजा पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है, या वह स्वयं एक लोकोत्तर पुरुष या देवरूप होता है। सृष्टि का कर्ता ईश्वर है। संसार में जो भी पदार्थ पाये जाते हैं, वे सब ईश्वर ने उत्पन्न किये हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, नक्षत्र, तारा, गण्ड आदि सबका सृष्टा ईश्वर है। ईश्वर ही सृष्टि के प्रारम्भ में मनुष्यों को ज्ञान देता है, या समय-समय पर अवतार लेकर या अपनी ओर से पैगम्बर भेजकर मनुष्यों को सत्य – मार्ग दिखाता है। राज्य संस्था की उत्पत्ति भी ईश्वर द्वारा की गई है। मनुष्यों के हित और कल्याण के लिए उसने ही राज्य का प्रादुर्भाव किया, और किसी एक व्यक्ति को राजा के रूप में जनता का शासन करने के लिए नियत किया।

प्राचीन काल में राजा के दैवी होने का विचार बहुत प्रचलित था। महाभारत, मनुस्मृति आदि प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में यह प्रतिपादित किया गया है कि राजा का निर्माण इन्द्र, मित्र, वरुण, यम आदि देवताओं के अंश को लेकर हुआ है, और राजा मनुष्य के रूप में वस्तुतः एक “महती देवता” है। ईजिप्ट के प्राचीन निवासी राजा को साक्षात् भगवान मानते थे। रोम के पुरातन निवासी भी राजा को देवता – रूप से स्वीकृति करते थे। यहूदियों का विश्वास था, कि ईश्वर ही राजा को नियुक्त करता है और सब सार्वजनिक कार्य जहोबा द्वारा ही नियंत्रित व संचालित होते हैं। मध्यकाल के बहुत से विचारक भी राजा के दैवी स्वरूप और उसके दैवी अधिकारों की पुष्टि करते रहे। यूरोप में क्रिस्चिनिटी का प्रदुर्भाव होने पर ईसाई धर्म – प्रचारकों ने रोमन सम्राटों को देवी रूप से स्वीकृत करने का विरोध किया।



ईसाई चर्च के संगठन के कारण जब मध्यकालीन यूरोप में राजाओं और चर्च में विरोध हुआ, तो चर्च के नेताओं ने यह दावा करना शुरू किया, कि चर्च ही एक ऐसी संस्था है, जो अपनी शक्ति प्रत्यक्ष रूप से ईश्वर द्वारा प्राप्त करती है। यह सही है, कि सब शक्तियों का मूल स्रोत ईश्वर है और सभी शक्तियाँ दैवी हैं। पर सम्राट या राजा जो भी शक्ति प्राप्त करते हैं, वे उसे ईश्वर से सीधे प्राप्त न करके पोप के माफ़त परोक्ष रूप से ही प्राप्त करते हैं। धार्मिक सुधारणा (त्ववितउंजपवद) के प्रारम्भ होने पर जब राजाओं और चर्च में संघर्ष शुरू हुआ, तो पोप के मुकाबले में अपनी सत्ता को स्थापित करने के लिए राजाओं ने दैवीय अधिकार के सिद्धान्त का आश्रय लिया। उन्होंने प्रतिपादित किया, कि राजा पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है और वह ईश्वर द्वारा शक्ति प्राप्त करके ही राज्य का शासन करता है।

राजा को दैवी और राज्य संस्था को ईश्वर द्वारा प्रादुर्भूत मानने वाले विचारक अपने इस मन्तव्य का प्रयोग इस प्रयोजन से करते रहे हैं कि राजा के एकतंत्र शासन को न्याय या उचित ठहराया जाए और जनता में लोकतंत्रवाद या विद्रोह की प्रवृत्ति उत्पन्न न होने पाये

सामाजिक संविदा का सिद्धान्त – इस सिद्धान्त के अनुयायी यह मानते हैं कि एक ऐसा समय था, तब राज्य संस्था का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, जबकि मनुष्य राज्य संस्था के अभाव में ही अपना जीवन व्यतीत किया करते थे। इस कालको हम “अराजक” काल या प्राकृतिक दशा का काल कह सकते हैं। इस अराजक दशा में मनुष्यों की क्या दशा थी, इस विषय पर विचारकों में मतभेद हैं। कुछ की सम्मति में यह एक ऐसी आदर्श दशा थी, जबकि सब मनुष्य धर्म के अनुसार ही एक-दूसरे के प्रति व्यवहार किया करते थे। उस समय भोज्य पदार्थों की कोई कमी नहीं थी। कन्दमूल, फल आदि भोज्य पदार्थ प्रचुर परिमाण में उपलब्ध थे। किसी वस्तु की कमी नहीं थी। लोगों की आवश्यकतायें भी तब अधिक नहीं थीं। सब मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को सुगमता से पूर्ण करत हुए सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे और एक-दूसरे से बरते हुए, सत्य, औचित्य, न्याय आदि धार्मिक नियमों का स्वेच्छापूर्वक पालन किया करते थे। दूसरे विचारक इस अराजक दशा का रूप बहुत भयंकर मानते हैं। उस समय सर्वत्र ‘मातस्य न्याय’ व्याप्त था। जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है वैसे ही शक्तिशाली मनुष्य निर्बलों को निरन्तर सताते रहते थे, जिसके कारण किसी भी व्यक्ति का जीवन सुरक्षित नहीं था। अराजक दशा का स्वरूप चाहे कैसा भी हो, पर मनुष्य जाति के इतिहास में एक समय ऐसा अवश्य था, जब कि राज्य संस्था का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था।

बाद में वह समय आया, जब कि मनुष्यों ने राज्य संस्था की आवश्यकता को अनुभव किया और उन्होंने परस्पर मिलकर आपस में एक संविदा की एक इकरार किया, जिसके कारण राज्य की उत्पत्ति हुई। राज्य की उत्पत्ति का मूल कारण यह संविदा इकरार या कॉन्ट्रैक्ट ही था, जिसे मनुष्यों ने जान-बूझकर स्वेच्छापूर्वक आपस में किया था। अराजक दशा में सब मनुष्य पूर्णतया स्वतन्त्र थे, वे जो चाहते थे कर सकते थे, क्योंकि उस समय कोई ऐसी सत्ता नहीं थी, जो उनकी स्वतन्त्रता को नियन्त्रित व मर्यादित करने वाली हो। स्वेच्छापूर्वक संविदा करके जब मनुष्यों ने राज्यसंस्था का प्रादुर्भाव कर लिया, तो उन्होंने स्वयं अपने को समाज व राज्य संस्था के नियन्त्रण के अधीन कर दिया। इससे मनुष्यों ने अपनी प्राकृतिक व नैसर्गिक स्वतन्त्रता का अन्त कर दिया, और उसके बदले में सुरक्षा को प्राप्त किया। राज्य के सम्मुख आत्मसमर्पण कर देने के बदले में मनुष्य को सम्पूर्ण समाज का सामहिक संरक्षण प्राप्त हो गया, और उसने अपने उन अधिकारों को प्राप्त किया, जिनकी रक्षा का वह राज्य से दावा कर सकता है। अराजक दशा में मनुष्य आत्मरक्षा के लिए व अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता के उपयोग के लिए अपनी निजी शक्ति पर ही निर्भर रह सकता था। पर राज्यसंस्था के प्रादुर्भाव के कारण वह अपनी मर्यादित स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए सम्पूर्ण समाज की सामहिक व सुसंगठित शक्ति पर निर्भर रह सकता है। संविदा द्वारा राज्य संस्था

की उत्पत्ति करक मनुश्य ने यदि अपनी स्वतन्त्रता को मर्यादित व नियन्त्रित करके कुछ नुकसान उठाया, तो उसके बदले में यह लाभ भी प्राप्त किया कि उसकी रक्षा का भार सम्पूर्ण समाज ने अपने ऊपर ले लिया ।

सामाजिक संविदा के सिद्धान्त के अनुसार राज्य संस्था एक मानव कृति है । न वह शक्ति पर आश्रित है, और न दैवी अधिकार पर। राज्य मनुश्यों की परस्पर की हुई संविदा का परिणाम है ।

विवेचना – शक्ति – सिद्धान्त, दैवी – अधिकार – सिद्धान्त और सामाजिक– संविदा– सिद्धान्त पर हम आगे चलकर अधिक विस्तार के साथ विचार करेंगे। राज्य की उत्पत्ति के विषय में ये तीनों सिद्धान्त जो बातें प्रतिपादित करते हैं, वर्तमान समय में राजनीति शास्त्र के विद्वान उन्हें स्वीकार्य नहीं मानते । पर इन मन्तव्यों में सच्चाई का कुछ-न-कुछ अंश अवश्य है । शक्ति-सिद्धान्त इस तथ्य पर जोर देता है कि राज्य संस्था में एक ऐसी शक्ति विद्यमान है, जो कि किसी अन्य मानव – समुदाय में नहीं है । अन्य मानव-समुदाय अपने निर्णयों को मानने के लिए किसी व्यक्ति को विवश नहीं कर सकते। पर राज्य अपने आदेशों व निर्णयों को मनवाने के लिए भौतिक शक्ति का प्रयोग कर सकता है। शक्ति राज्यसंस्था का एक आवश्यक व अनिवार्य तत्व है । दैवी अधिकार के सिद्धान्त द्वारा राज्य के विषय में इस तथ्य का प्रतिपादन किया जाता है कि वह केवल भौतिक शक्ति पर ही आश्रित नहीं है अपितु उसकी सत्ता में नैतिकता का भी महत्वपूर्ण स्थान है। राज्य के विकास में जहाँ शक्ति का हाथ है, वहाँ साथ ही धर्म का भी है। सामाजिक संविदा के सिद्धान्त द्वारा राज्य के विषय में इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है कि उसकी सज़ा मनुश्यों की पारस्परिक सहमति पर आश्रित है, और उसके कानून ऐसे होने चाहिए जो कि मनुश्यों की इच्छा के अनुरूप हों। इस सिद्धान्त ने लोकतन्त्रवाद के विकास बहुत अधिक सहायता पहुँचाई, और उन क्रान्तियों का समर्थन किया जो कि राजाओं के निरंकुश व स्वेच्छाचारी शासनों का अन्त करने के प्रयोजन से की गई थीं।

वर्तमान समय के विचारक राज्य की उत्पत्ति को मनुश्य की सामाजिकता का परिणाम मानते हैं । मनुश्य की यह प्रकृति है कि वह समुदाय बनाकर रहे। इसी कारण उसने प्रारम्भ से ही कतिपय समुदायों में संगठित होकर रहना प्रारम्भ किया था, और मनुश्यों के ये प्रारम्भिक समुदाय ही धीरे-धीरे विकसित होकर राज्य संस्था के रूप में परिणत हो गए। इस सिद्धान्त को ऐतिहासिक व विकासवादी सिद्धान्त कहा जाता है। अगले प्रकरण में हम इस पर विस्तार के साथ विचार करेंगे।

ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त इस समय राजनीति शास्त्र के विद्वान प्रतिपादित करते हैं, उसे ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त कह सकते हैं। इसके अनुसार राज्य की उत्पत्ति किसी निश्चित समय पर व किसी निश्चित योजना के अनुसार नहीं हुई । इसके विपरीत, राज्य संस्था ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। राज्य को हम एक ऐसा आविश्कार नहीं समझ सकते, जिसे मनुश्यों ने किसी निश्चित समय पर किया था। राज्य कोई ऐसी घटना नहीं है, जो किसी निश्चित समय पर घटित हुई थी। राज्य का विकास धीरे-धीरे हुआ। जब से मनुश्य इतिहास के रंगमंच पर प्रकट हुआ, तभी से वे परिस्थितियाँ उत्पन्न होनी शुरू हो गई, जिन्होंने बाद में राज्य संस्था का विकास किया । मनुश्य एक सामाजिक प्राणी है। उसकी यह प्रकृति है, कि वह समुदाय बनाकर रहे। जैसे बोलना, विचार करना और वाणी द्वारा अपने भावों को अभिव्यक्त करना मनुश्य की प्रकृति (नेचर) है, वैसे ही समुदाय में रहना भी मनुश्य का स्वभाव है। भाषा का जो उन्नत व विकास स्वरूप अब है, वह सदा से नहीं चला आ रहा है। एक समय था, जब मनुश्य की भाषा बहुत अव्यक्त व अविश्लिष्ट थी। संसार में अब भी ऐसे मनुश्य विद्यमान हैं, जिनकी भाषा का कोश



कुछ सौ षट्दों से अधिक नहीं है। यह हम भली-भांति जानते हैं, कि भाषा का विकास धीरे-धीरे हुआ। प्रारम्भिक मनुष्य कतिपय ध्वनियों द्वारा अपने भावों को प्रकट किया करता था। धीरे-धीरे इन ध्वनियों ने षट्दों का रूप धारण किया और इस प्रकार भाषा का निरन्तर होता गया। ठीक यही बात राज्य के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। जिस प्रकार अपने भावों को प्रकट करना मनुष्य की प्रकृति है, वैसे ही सामुदायिक जीवन बितना भी मनुष्य की प्रकृति है। अतः प्रारम्भिक काल में मनुष्य समुदाय बनाकर रहते थे। उनके इन समुदायों का स्वरूप चाहे कितना ही भद्दा, अव्यक्त और अविकसित क्यों न हो, पर इनकी सत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता। अफ्रीका और ऑस्ट्रेलिया के जंगलों में जो अत्यन्त असभ्य लोग निवास करते हैं, जो अभी तक भी पत्थर के मोटे-भड़े औजार प्रयोग में लाते हैं, जिन्हें अभी तक मकान बनाने का भी ज्ञान नहीं है, जो अब भी षिकार द्वारा ही अपना निर्वाह करते हैं, वे भी एक प्रकार के समूह (रेवड या पैक) में रहते हैं। मनुष्य की यही सामाजिक-प्रकृति धीरे-धीरे विकसित होती हुई राज्य के रूप में परिवर्तित हो गई। पहले मनुष्य परिवार में संगठित हुआ, फिर कुल (क्लैंड) में व जन (ट्राइब) में और जब ये अनुवस्थित (एक प्रदेश में न बसे हुए) जन स्थिर रूप से किसी एक स्थान पर बस गये, तभी जनपद या राज्य की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार राज्य संस्था ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। उसकी उत्पत्ति किसी एक निश्चित समय पर नहीं हुई थी, उसका धीरे-धीरे विकास हुआ था। सामाजिक-संविदा-सिद्धान्त के अनुसार अराजक दशा के बाद एकदम राज्य संस्था की दशा उत्पन्न हो गई थी, यह बात ऐतिहासिक-सिद्धान्त द्वारा खंडित हो जाती है।

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पितृसत्ताक सिद्धान्त विकास-वादी-सिद्धान्त को मानने वाले सब विद्वान इस बात पर सहमत नहीं हैं, कि मनुष्य की सामुदायिक प्रकृति भिन्न-भिन्न दशाओं में विकसित होती हुई किस प्रकार अंत में राज्य के रूप में परिवर्तित हुई। कुछ विद्वान पितृसत्ताक सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। इनके मतानुसार मानव-समुदाय का पहला रूप परिवार था। वे साथ मिलकर सब कार्य करते थे, अपनी सम्पत्ति का मिलकर उपभोग करते थे और एक व्यवस्थित जीवन व्यतीत करते थे परिवार — रूपी इस समुदाय में पिता की इच्छा ही कानून होती थी, पत्नी और संतान उसके आदेशों का पालन करते थे। धीरे-धीरे परिवार का कलेवर बढ़ने लगा। पर एक ही स्रोत से उत्पन्न हुए इन परिवारों में एकता की भावना विद्यमान रही। ये सब मिलकर एक “कुल” कहलाने लगे। कुल (अनेक परिवारों का एक समूह) में जो पुरुष सबसे बड़ा होया सबसे वृद्ध हो उसके आदेशों का सब पालन करते थे। वह सब पर शासन करता था। उसे कुल ‘पिता’ माना जाता था और उसी की शक्ति व सत्ता के कारण इन कुलों को ‘पितृसत्ताक’ (पेट्री आरकल) कहा जाता है। कुल का यह पिता शान्ति के समय कुल को व्यवस्था में रखता था, झगड़ों का फैसला करता था, और उन नियमों का निर्माण करता था, जिनका पालन कुल के सब सदस्यों को करना था। युद्ध के समय यह कुल पिता युद्ध का भी नेतृत्व करता था।

अनेक कुलों से मिलकर ‘जन’ (कबीला या ट्राइब) का निर्माण हुआ। एक जन ने प्रायः ऐसे ही बहुत से कुल सम्मिलित होते थे, जिनका उद्गम एक हो, जिनमें खून के वंश की दृष्टि से एकता हो। भारतीय इतिहास में वज्जि, अंधक, वषणि, आग्रह, मालव, श्रुदक, कोषल आदि जिन बहुत सी जातियों का उल्लेख है, उन सबका स्वरूप पुरु में ‘जन’ का ही था। इसी तरह ग्रीक इतिहास में एथेनियन, स्पार्टन, कोरिथियन आदि अनेक ‘जनों’ की सत्ता थी। पुरु में जन किसी निश्चित प्रदेश पर बस कर नहीं रहते, उनकी दशा ‘अनुवस्थिति’ होती थी। पशुपालन द्वारा जीवन निर्वाह करने के कारण ये जन एक स्थान से दूसरे स्थान पर आते जाते रहते हैं। पर कृषि के परिज्ञान के बाद इनमें यह प्रवृत्ति उत्पन्न होती गई, कि वे किसी निश्चित भूखण्ड पर स्थित रूप से बस जायें। जब ‘जन’ किसी प्रदेश पर स्थित रूप से बस जाते थे, तो वे वज्जि-जनपद, कोषल-जनपद और मालव-जनपद कहलाये। जनपद का नाम जन के नाम पर ही पड़ता है। ग्रीक इतिहास में स्पार्टन-जन से स्पार्टा, एथेनियन-जन से एथेन्स और कोरिथियन-जन से

कोरिन्थ नामक जनपदों की स्थापना हुई। इन जनपदों में पुरुषों में एक ही जन या जाति का निवास होता है। पर धीरे-धीरे अन्य जातियों के लोग भी इनमें निवास करने लगे और जनपदों के क्लेवर में निरन्तर वृद्धि होती रही। जनपद को राज्य (या नगर – राज्य) भी कहते हैं। षक्तिषाली जनपद जब अपने पड़ोसी निर्बल जनपदों को जीतकर अपने अधीन कर लेता है, तो वह 'महाजनपद' बन जाता है। प्राचीन भारतीय इतिहास में बौद्धकाल में 16 महाजनपदों की सत्ता थी, जिन्होंने अपने पड़ोसी विविध जनपदों को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। महाजनपदों के बाद सम्राज्यों या विषाल राज्यों का विकास हुआ। कुल का शासन कुलवृद्ध या पिता द्वारा होता था। अनेक कुल जब मिलकर जन के रूप में संगठित हुए, तो इन जनों का शासन दो प्रकार से विकसित हुआ। कुछ जनों में शासन षक्ति विविध। कुलों के नेताओं (वृद्धों या महलकों) की सभा के हाथ में रही, और कुछ जनों में एक प्रतापी कुल नेता ने राजा के रूप में अपना स्वत्व स्थापित कर लिया। जनपदों का शासन भी इन्हीं दो प्रकार (गणतंत्र और राजतंत्र) का रहा, यद्यपि ऐसे भी अनेक जनपद थे, जिनमें अन्य प्रकार के भी शासन विद्यमान थे।

इस प्रकार पितृसत्ताक सिद्धान्त के अनुसार राज्य संस्था का प्रादुर्भाव पितृसत्ताक कुलों द्वारा हुआ। इस सिद्धान्त में विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बातें निम्नलिखित हैं—

(1) पितृसत्ताक सिद्धान्त विवाह सम्बन्ध पर आश्रित है। इसके अनुसार यह माना जाता है, कि मानव इतिहास के आदिकाल में भी मनुष्यों में विवाह की प्रथा विद्यमान थी और मनुष्य परिवार बनाकर रहता था।

(2) मनुष्य का प्रथम समुदाय परिवार या कुटुम्ब था। इसी का विकास पहले 'कुल' के रूप में और फिर 'जन' के रूप में हुआ।

(3) राज्य संस्था में शासन का विकास भी परिवार के ढंग से ही हुआ। जैसे परिवार में पिता का शासन होता है, वैसे ही कुल में कुलवृद्ध का और जनपद में राजा का शासन स्थापित हुआ। प्राचीन ग्रीक में अरिस्टोटल ने कुलों द्वारा राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। अरिस्टोटल ने लिखा है "सबसे पहले परिवार या कुल का प्रादुर्भाव होता है। जब अनेक कुल आपस में संयुक्त हो जाते हैं, और उनके संगठन का प्रयोजन अपनी दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने की अपेक्षा अधिक विस्तृत हो जाता है, तो ग्राम की उत्पत्ति होती है। जब अनेक ग्राम मिलकर अपना एक संगठन बनाते हैं और यह संगठन इतना पूर्ण और विषाल बन जाता है, कि लगभग आत्मनिर्भर हो जाए, तो राज्य का प्रादुर्भाव होता है।" आधुनिक युग में भी अनेक विद्वानों ने पितृसत्ताक – सिद्धान्त की पुष्टि की है। मध्य एशिया में जो अनेक फिरन्दर (घुमक्कड़ या अनवस्थित) 'जन' या जातियाँ अब भी विद्यमान हैं, उनका उदाहरण सम्मुख रखकर ऐतिहासिक लोग यह प्रतिपादित करते हैं, कि किसी समय सम्पूर्ण मानव-समाज इसी ढंग का जीवन व्यतीत करता था। मध्य – एशिया के इन जनों में किसी एक पिता या वृद्ध (पेट्रियाक) का शासन कायम रहा है। सर हेनरी मेन ने लिखा है "परिवार प्रारम्भिक मानव-समुदाय होता है, जिसके व्यक्ति सबसे बड़े पुरुष वंशज की समान रूप से अधीनता स्वीकृत करने के कारण परस्पर जुड़े होते हैं। परिवारों से मिलकर कुल या गोत्र (ळमदे) बनता है। कुलों के परस्पर मिलने से कबीले (ट्राइब) का निर्माण होता है और जब अनेक कबीले संयुक्त हो जाते हैं तो राज्य बन जाता है।"

— लीकॉक ने इसी तथ्य को इस ढंग से स्पष्ट किया है— "सबसे पहले एक परिवार, फिर एक पितृसत्ताक कुल फिर सगोत्री कुलों का कबीला और अंत में एक राष्ट्र – इसी क्रम से मनुष्य के सामुदायिक जीवन का विकास हुआ है।"

पितृसत्ताक – सिद्धान्त की आलोचना अनेक विद्वान पितृसत्ताक – सिद्धान्त के विरोधी हैं इनमें मैकलेनन और एडवर्ड जेनक्स के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि से पितृसत्ताक – सिद्धान्त को असत्य ठहराया है—

(1) पुरु में मनुष्यों के जो परिवार थे, वे पितृसत्ताक न होकर मातृसत्ताक (मैट्रिआक़ल) थे इन परिवारों का मुखिया पिता न होकर माता होती थीं। इस सिद्धान्त पर हम अभी प्रकाश डालेंगे य (2) कतिपय विद्वानों के मत में परिवार या कुल से पहले कबीले की सत्ता थी। इससे पूर्व किमनुष्यों ने स्थिर रूप से विवाह सम्बन्ध कर परिवार बनाये, एक ऐसा समय था, जब किमनुष्य कबीलों में संगठित था। कबीले के सब स्त्री—पुरुष परस्पर भाई—बहन माने जातेथे, और वे पड़ोस के किसी कबीले के लोगों से अस्थायी सम्बन्ध करके संतान की उत्पत्तिकिया करते थे। इनके कबीलों में विवाह की प्रथा विद्यमान ही नहीं थी।

कतिपय कबीले ऐसे भी थे, जिनमें बहुपति – विवाह की प्रथा प्रचलित थी। इनमें परिवार का मुखिया कोई एक पुरुष हो ही नहीं सकता था। अभिप्राय यह है किमनुष्यों के पुरु—पुरु में जो समुदाय थे, वे अनेक प्रकार के थे। अतः यह मानना युक्तिसंगतनहीं है, कि प्रारम्भ में केवल पितृसत्ताक परिवार ही होते थे और उन्हीं से मनुष्यों केसामुदायिक जीवन का विकास हुआ। सर जे. जी. फ्रेजर के षट्ठों में पितृसत्ताक सिद्धान्तकी सबसे बड़ी कमजोरी यह है, कि उसमें इस तथ्य की उपेक्षा कर दी गई है, कि मनुष्योंके सामुदायिक जीवन का प्रारम्भिक रूप बहुत जटिल था। वह इतना सरल नहीं था, जैसाकि पितृसत्ताक सिद्धान्त के समर्थक समझते हैं।

मातृसत्ताक सिद्धान्त (Matriarchal Theory) दृ 19वीं सदी में नव इतिहास के क्षेत्र में जो नये अनुसंधान हुए हैं, उनसे यह सिद्ध हुआ है, कि पुरु के मानव समुदाय पितृसत्ताक न होकर मातृसत्ताक थे। मनुष्य परिवार – रूपी समुदाय में बाद में संगठित हुआ। विवाह की प्रथा के पुरु होने से पहले एक ऐसा समय था, जब मनुष्य विवाह – बंधन में बंधकर परिवार का निर्माण नहीं करता था। उस समय मनुष्य अपना ऐसा समुदाय बनाकर रहता था, जिसे रेवड़ (पैक) कहना अधिक उपयुक्त होगा। स्त्री, पुरुष, बच्चे सब इस रेवण

बच्चे सब इस रेवण के अंग होते थे। स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध सामयिक होता था, विवाह द्वारा वे किसी स्थिर बंधन में नहीं बंध जाते थे। इसी कारण संतान अपने वंश का परिचय माता द्वारा देती थी। स्त्री और पुरुष में स्थिर पारिवारिक व विवाह – सम्बन्ध नहीं होते थे। उस प्रारम्भिक काल में स्वाभाविक प्रवृत्ति से स्त्री और पुरुष में अल्पकालिक समागम हुआ करते थे। बच्चा माता का माना जाता था और उसी के साथ रहता था। पर माता और संतान का सम्बन्ध भी स्थिर नहीं रहता था। बच्चा बड़ा हो जाने पर माता से पृथक् हो जाता था। उस युग के मनुष्यों में जो भी पारिवारिक जीवन था, उसका आधार माता ही होती थी। ये मातृसत्ताक परिवार अनेक प्रकार के होते थे। उनके कुछ नमूने इस समय भी भारत की कतिपय द्रविण जातियों में और आस्ट्रेलिया और मलाया के मूल निवासियों में दृष्टिगोचर होते हैं।

ऑस्ट्रेलिया के मूल निवासियों में विद्यमान मातृसत्ताक परिवारों की दशा का अध्ययन कर एडवर्ड जेनक्स नामक प्रसिद्ध समाजशास्त्री ने मातृसत्ताक परिवारों के स्वरूप को इस प्रकार से प्रतिपादित किया है— मनुष्यों की प्रत्येक टोली किसी एक टोटम (चिन्ह, देवता) को मानती थी, और उसकी पूजा करती थी। प्रत्येक टोटम टोली

पैक या रेवड़) का जंगल में अस्थायी बस्ती या डेरा होता था। एक बस्ती के स्त्री—पुरुष परस्पर भाई—बहन समझे जाते थे। डेरे में पुरुष एक तरफ और स्त्रियाँ दूसरी तरफ रहती थीं। उनमें समागम नहीं हो सकता था। छोटे बच्चे स्त्रियों के पास और बड़े बच्चे पुरुषों के पास रहते थे। बच्चा केवल अपनी माता को जानता था पिता को नहीं। वह टोली के

सभी बड़े पुरुशों को अपना पिता समझता था । टोली या पैक एक बड़ा सामूहिक परिवार था, जिसमें बच्चे भी सामूहिक माने जाते थे । इस टोली का आर्थिक जीवन भी सामूहिक होता था । बसन्त आदि विविध अवसरों पर विविध टोलियाँ उत्सव मनाने के लिए एक स्थान पर एकत्र हुआ करती थीं । वहाँ नाच-गान सम्मिलित रूप से होता था । इन्हीं अवसरों पर विभिन्न टोलियों के स्त्री-पुरुश आपस में समागम भी करते थे और स्त्रियों को गर्भ रह जाता था । किन्तु प्रत्येक स्त्री का कोई विशेष पति हो और वह केवल उसी से समागम करे यह बात नहीं होती थी । लोग केवल इस नियम का पालन करते थे, कि एक टोटम की स्त्री अपनी टोटम – टोली के पुरुश से समागम न करे । उत्सव के बाद सब स्त्री-पुरुश अपनी-अपनी टोली के डेरे में वापस लौट जाते थे । वहाँ स्त्रियों को जो संतान उत्पन्न होती थी वह सम्पूर्ण टोली की संतान मानी जाती थी । मातृसत्ताक समुदाय का यही स्वरूप मानव – इतिहास के प्रारम्भिक काल में विद्यमान था । मनुष्य की सामाजिकता या सामुदायिक प्रवृत्ति जिस रूप में सबसे पहले प्रकट हुई थी वह ये टोलियाँ रेवड़ या पैक ही थे, जिनमें संतान का सम्बन्ध पिता से न होकर माता के साथ होता था । मनुष्य की इन प्रारम्भिक टोलियों से आगे चलकर पितृसत्ताक परिवारों का विकास हुआ । मातृसत्ताक टोलियों में कुछ व्यक्ति ऐसे भी थे जिनमें अपनी वैयक्तिक स्वतंत्रता की प्रवृत्ति अधिक प्रबल रूप में विद्यमान थी । इन मनुष्यों में से जिन्होंने अपना पृथक् व्यक्तिगत विवाह करना चाहा, या जिन्होंने वैयक्तिक सम्पत्ति रखनी चाही, उन्हें टोली से पृथक् होना पड़ा । धीरे-धीरे इन निर्वाचित व्यक्तियों ने अपनी पृथक् टोलियाँ या जत्थे बनाने शुरू किये । मातृसत्ताक टोलियों के लोगों की अपेक्षा इन निर्वाचित व्यक्तियों के जत्थे में सम्मिलित लोग अधिक साहसी और दुर्धश होते थे इसी कारण उन्होंने अपनी टोली को छोड़कर स्वतंत्र जीवन बिताने का साहस किया था । मातृसत्ताक टोलियों पर हमला करना, उनकी सम्पत्ति या स्त्रियों को लूट लाना इन्होंने अपना व्यवसाय बना लिया । लूटमार के काम में जो पुरुश सबसे अधिक निपुण व समर्थ होता वहीं इसका नेता बन जाता था । इन जत्थों में स्त्री और पुरुश का सम्बन्ध वैयक्तिक होता था । प्रत्येक पुरुश का अपना पृथक् परिवार होता था, उसकी सम्पत्ति भी वैयक्तिक होती थी । जत्थे द्वारा जो भी सम्पत्ति लूटमार में प्राप्त की जाती थी, वह सब में बांट दी जाती थी । जत्थे का नेता सबके परामर्श से ही लूट के माल का बँटवारा करता था । यह नेता जत्थे का एक प्रकार का शासक होता था, और सबको अपने नियंत्रण में रखता था । पुरानी मातृसत्ताक टोलियों के स्थान पर अब मनुष्यों के एक नये प्रकार के समुदाय का प्रारम्भ हुआ, जिसमें एक नेता या मुखिया का शासन होता था, जिसमें मनुष्यों के पृथक्-पृथक् परिवार होते थे और जिसमें सम्पत्ति पर व्यक्तियों का अधिकार स्वीकृत किया जाता था । इस प्रकार मातृसत्ताक परिवार से विकसित होकर पितृसत्ताक परिवारों का प्रादुर्भाव हुआ । सब मातृसत्ताक परिवार इसी ढंग से पितृसत्ताक परिवारों में परिणत हो गये ऐसी बात नहीं हुई । अनेक मानव समाज ऐसे भी रहे, जिनमें परिवारों का निर्माण माता को आधार मानकर किया जाता रहा ।

मातृसत्ताक सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भिक समाज की विशेषतायें निम्नलिखित थीं—

- (1) स्थाई – विवाह – सम्बन्ध का विकास इन समाजों में नहीं हुआ था । स्त्री पुरुश का समागम सामयिक एवं अल्पकालिक रूप से ही होता था ।
- (2) संतान का सम्बन्ध माता से माना जाता था पिता से नहीं । इसीलिए वंश व परिवार का आधार भी स्त्री को ही समझा जाता था ।
- (3) वैयक्तिक सम्पत्ति और वैयक्तिक पारिवारिक जीवन की सत्ता इन समाजों में नहीं थी । मातृसत्ताक सिद्धान्त की आलोचना – जो बातें पितृसत्ताक सिद्धान्त की आलोचना में

कहीं गई हैं, प्रायः वे ही मातृसत्ताक सिद्धान्त की आलोचना में भी कही जा सकती हैं। वस्तुतः मनुष्य के सामुदायिक जीवन का विकास किसी एक ही ढंग से सब जगह हुआ हो, यह बात निश्चित रूप से नहीं जा सकती। आजकल जो अनेक असभ्य जातियाँ पाई जाती हैं उन सब में मातृसत्ताक प्रथा की ही सत्ता नहीं है। वस्तुतः मनुष्यों का प्रारम्भिक सामुदायिक जीवन विविध स्थानों पर भिन्न-भिन्न प्रकार का था। कहीं मातृसत्ताक प्रथा की सत्ता थी, तो कहीं पितृसत्ताक प्रथा की। कहीं बहुपति – विवाह (पोलिगामी) प्रचलित था, तो कहीं बहुपत्नी – विवाह (पोलिगमी)।

पितृसत्ताक और मातृसत्ताक दोनों ही प्रथाएँ प्राचीन समय में रही हैं। इन दोनों के स्वरूप में भिन्नता है। पर साथ ही इन दोनों में यह बात सामान्य है कि मनुष्यों ने पहले विविध प्रकार के परिवारों में रहना शुरू किया और इन परिवारों से विकसित होकर ही बाद में मनुष्यों के अन्य समुदायों का निर्माण हुआ।

मानव इतिहास के प्रारम्भिक मनुष्यों में पितृसत्ताक समुदाय थे या मातृसत्ताक, इस प्रश्न का यहाँ विषेश महत्व नहीं है। समाजशास्त्र ने दोनों मतों के अनुयायी विद्यमान हैं। पर यह स्पष्ट है कि मनुष्य की सामुदायिक प्रवृत्ति राज्य संस्था के प्रादुर्भाव से पहले भी विद्यमान थी। इसी प्रवृत्ति के विकास के कारण राज्य की उत्पत्ति हुई।

– राज्य संस्था के विकास में सहायक तत्व नहीं। मनुष्यों की जो सामुदायिक प्रवृत्ति पहले-पहल रेवड़ या टोली के रूप में प्रकट हुई वही धीरे-धीरे विकास करती हुई परिवारों, कुलों और जनों के रूप में परिणत हुई। उसी द्वारा आगे चलकर राज्य संस्था का प्रादुर्भाव हुआ। पर मनुष्य की इस सामुदायिक प्रवृत्ति के विकास में अन्य भी अनेक बातों ने सहायता पहुंचाई। इनका उल्लेख भी इस विषय को समझने के लिए आवश्यक है।

राज्य का विकास धीरे-धीरे हुआ, इसमें कोई संदेह (1) सजात्ता मानव इतिहास के प्रारम्भिक समुदायों में यह भावना विद्यमान थी, कि एक समुदाय में सम्मिलित सब व्यक्ति 'सजात' हैं। इसी भावना के कारण मातृसत्ताक टोलियों के सभी स्त्री – पुरुष अपने को भाई-बहन समझते थे। उनका विचार था कि हमारे मूल पूर्वज एक जोड़े (दम्पति) को उसकी सन्तान हुई, सन्तान की फिर सन्तान हुई, इस प्रकार परिवार व समुदाय का विस्तार होता गया। एक टोली के सब लोग अपने को 'सजात' समझते थे। सजात्ता की यह भावना केवल प्रारम्भिक रेवड़ों या टोलियों में ही विद्यमान नहीं थी, अपितु बाद में जो पितृसत्ताक बने, जो कुल व जन विकसित हुए, उनमें भी इस भावना की सत्ता थी। सजात्ता की भावना मनुष्यों को एक-दूसरे के समीप लाने में और उन्हें एक समुदाय में संगठित करने में बहुत सहायक होती है। शुरू में जो राज्य बने उनमें भी यह भावना विद्यमान थी। जिन जनों ने एक निश्चित प्रदेश पर बसकर जनपद (राज्य) का निर्माण किया था, वे भी अपने को 'सजात' समझते थे। रुधिर की एकता का विचार उनमें विद्यमान था। भारत में खत्री, अरोड़ा, अग्रवाल, रस्तोगी, जाट, गूजर आदि के रूप में जो बहुत-सी जातियाँ व बिरादरियाँ विद्यमान हैं, वे अपने को "सजात" ही मानती हैं। इस विविध जातियों में यह विचार पाया जाता है कि उत्पत्ति किसी एक मूल पुरुष द्वारा हुई। लिच्छवी, मावल, यौधेय आदि जो जनपद प्राचीन भारत में विद्यमान थे, उन सबमें सजात्ता के विचार की सत्ता थी। प्राचीन ग्रीक नगर – राज्यों में भी "सजात" होने का विचार पाया जाता था। सजात होने या रुधिर की एकता के विचार से मनुष्यों में एकानुभूति उत्पन्न होती है, और वह उन्हें एक सुदृढ़ संगठन व समुदाय में संगठित होने के लिए प्रेरित करता है।

(2) धर्म की एकता प्रारम्भिक मानव समुदाय एक ही धर्म का अनुसरण करते थे। धर्म की एकता उनमें एकानुभूति उत्पन्न करने में वैसे ही सहायक होती थी जैसे सजात्ता। प्रारम्भिक धर्म के दो महत्वपूर्ण अंग थे, पितरों की पूजा और देवी-देवताओं की पूजा। पितरों या पूर्व पुरुषों की पूजा का भाव प्रायः सभी प्राचीन जन समुदायों में पाया जाता है। जो व्यक्ति किसी समय सारे जत्थे पर शासन करता था, जिसके साहस, प्रताप और वीर – कृत्यों के कारण जत्थे की संवृद्धि व उत्कर्ष होता था, जिसका एक प्रकार का आतंक जत्थे के सब

व्यक्तियों पर छाया रहता था, मृत्यु के बाद लोग उसे स्मरण रखें, उसकी पूजा करें तो यह बात सर्वथा स्वाभाविक थी। पितृ-पूजा के कारण मनुष्यों में अपनी सजात्ता का विचार जीवित रहता था। मनुष्यों के प्रारम्भिक देवी-देवता प्रायः प्राकृतिक शक्तियों के मूर्तरूप होते थे। प्रकृति की जिन शक्तियों के साथ मनुष्य का हित व कल्याण का घनिष्ठ रूप से सम्बन्ध था, उन सूर्य, अग्नि, जल आदि की वे विभिन्न रूपों में पूजा किया करते थे। जिन लोगों के उपास्य देव एक थे, उनके लिए यह स्वाभाविक था कि वे परस्पर एकानुभूति रखें। यह भावना समुदाय को सुदृढ़ करने में बहुत सहायक होती थी। जो लोग अपने देवी-देवताओं को न मानें, विधर्मी हों, उनको घृणा की दृष्टि से देखने व उनके प्रति विद्वेष रखने की प्रवृत्ति मनुष्यों में रही है, और अब तक भी विद्यमान है। धार्मिक सहश्रुता मानव – इतिहास में सदा से नहीं चली आ रही है। प्राचीन आर्य अन्य लोगों को दस्यु समझते थे और सारे संसार को आर्य बनाने की आकांक्षा रखते थे। ईसाईयों में यह प्रवृत्ति थी, कि वे अन्य लोगों को 'पैगन' समझते थे। मुसलमान दूसरे लोगों को "काफिर" समझकर उनसे घृणा करते थे। जब सभ्य मनुष्यों में विधर्मियों के प्रति विरोध भावना रखने की प्रवृत्ति रही है, तो यदि मानव – इतिहास के आदिकाल में मनुष्य अपनी देवी-देवताओं से भिन्न उपास्य देवों की पूजा करने वाले व्यक्तियों से घृणा व विद्वेष करें, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है। जिन लोगों का धर्म एक था, जिनके विष्वास, देवी-देवता व विधि-विधान एक थे, वे अधिक सुगमता से एक संगठन में संगठित हो सकते थे।

धर्म ने मनुष्यों में राज्य संस्था के विकास के लिए एक अन्य प्रकार से भी सहायता पहुंचाई। राज्य में यह आवश्यक है, कि मनुष्य नियंत्रण में रहें। अपने से भिन्न किसी सत्ता के आदेशों का पालन करें और मर्यादा व व्यवस्था के भावों को कायम रखें। व्यवस्था को न मानने पर, शासन शक्ति के प्रति आदर का भाव न रहने पर और नियंत्रण के अभाव में राज्य संस्था का कायम रहना सम्भव नहीं हो सकता। इन सब बातों के लिए धर्म का बहुत अधिक उपयोग है। प्राचीन समुदायों में मनुष्य राज – शक्ति को भी दैवी व लोकोत्तर मानते थे। राज्य संस्था के प्रादुर्भाव के बाद यह माना जाने लगा था कि राजा या तो स्वयं साक्षात् देवता है, या वह ईश्वर अथवा देवता की ओर से उसके प्रतिनिधि-रूप में शासन करता है। इतिहास की प्राचीनतम समस्याओं – सुमेरिया, ईजिप्ट आदि में राज – शक्ति का प्रयोग करने वालों के प्रति इसी प्रकार की भावना विद्यमान थी। मनुष्यों के लिए यह सुगम नहीं था कि अपने सदृश्य किसी व्यक्ति के आदेशों का पालन करें। पर उनके लिए यह बहुत सुगम था, कि वे किसी लोकोत्तर शक्ति व दैवी सत्ता के अधीन रहने को उद्धत हो जायें। धर्म ने मनुष्यों में व्यवस्था और नियंत्रण कायम रखने में बहुत सहायता पहुंचाई।

(3) आर्थिक जीवन सजात्ता और धर्म के अतिरिक्त अन्य भी अनेक तत्व राज्य के विकास में सहायक हुए। ये तत्व आर्थिक जीवन और युद्ध हैं। जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए यह उपयोगी होता है, कि मनुष्य परस्पर सहयोग से काम करें। पुरु में मनुष्य शिकार द्वारा अपना निर्वाह करता था। वह भोग्य पदार्थों को उत्पन्न नहीं करता था, अपितु पशुओं का शिकार कर अपना पेट पालता था। पर शिकार के लिए भी मनुष्य टोली बनाकर जाया करते थे। जो पशु उनके शिकार बनते थे, उन्हें आपस में कैसे बाँटा जाए, इसके लिए वे किन्हीं नियमों का पालन करते थे। ये नियम रिवाज पर आश्रित होते थे, और इनका पालन करना सबके लिए आवश्यक था। आर्थिक जीवन की इस विवशता के कारण मानव सभ्यता के आदिकाल में भी मनुष्य एक ढंग के संगठन में रहने के लिए प्रेरित हुए थे। बाद में मनुष्यों ने पशुपालन शुरू किया। पशुपालन के शुरू होते ही वैयक्तिक सम्पत्ति (प्राइवेट प्रॉपर्टी) की भावना का भी सूत्रपात हुआ। कौन से पशु किस व्यक्ति की सम्पत्ति हैं इस विचार के पैदा होते ही मनुष्यों के सम्मुख अनेक प्रकार की समस्याएँ उपस्थित हो गईं। यदि कोई मनुष्य किसी के पशु चुरा ले, तो उसे कैसे दण्ड दिया जाएय यदि किसी पशु के स्वामित्व के बारे में विवाद हो, तो उसका निर्णय कैसे किया जाएय इन समस्याओं ने मनुष्यों को व्यवस्था में रहने, किन्हीं निश्चित नियमों का अनुसरण करने और किसी संगठन के अधीन होने के लिए विवश किया।

ज्यों-ज्यों मनुष्य आर्थिक क्षेत्र में उन्नति करता गया, वैयक्तिक सम्पत्ति में वृद्धि होती गई । पशुपालन के बाद मनुष्य ने खेती शुरू की । वह किसी एक स्थान पर स्थाई रूप से बसकर रहने लगा । उसने अपने निवास के लिए मकान बनाये, और धीरे-धीरे उसकी ऐसी बस्तियाँ बस गई, जहाँ बहुत से लोग एक साथ मिलकर रहते थे । कृषि की उन्नति और भवन-निर्माण के कारण मनुष्यों में श्रम विभाग (डिवीजन ऑफ लेबर) का भी निरन्तर विकास होता गया । विविध वस्तुओं को उत्पन्न करने वाले लोग अपने माल का विनिमय (एक्सचेंज) किन नियमों के अनुसार करें, यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण हो गया । मनुष्यों का आर्थिक जीवन ज्यों-ज्यों जटिल होता गया, त्यों-त्यों यह आवश्यक होता गया, कि वे एक-दूसरे के साथ बर्ताव करते हुए किन्हीं नियमों का पालन करें, और कोई मनुष्य इन नियमों का उल्लंघन न कर सकें । आर्थिक जीवन का यह क्रमिक विकास राज्य संस्था की उत्पत्ति बहुत सहायक हुआ ।

— मनुष्यों की जो टोलियाँ, कुल वा कबीले पुरु-पुरु में संगठित हुए, वे सदा शांतिमय जीवन ही नहीं व्यतीत करते थे । शिकारियों की टोली जिस प्रदेश में शिकार के लिए घूमती-फिरती

थी, वह यह नहीं चाहती थी कि उस प्रदेश में कोई अन्य टोली आ जाये । पशु पालक कबीले जिन चरागाहों में अपने पशु चराते थे, वे वहाँ किसी अन्य कबीले के पशुओं को नहीं आने देना चाहते थे । कृषि द्वारा निर्वाह करने वाले मनुष्य इस बात के लिए उत्सुक रहते थे, कि कोई दूसरे लोग उनके खेतों व बस्तियों को अपने कब्जे में न कर लें । इसके लिए उन्हें युद्ध की आवश्यकता होती थी, और युद्ध का सुचारु रूप से संचालन करने के लिए किसी योग्य नेता का होना अनिवार्य होता था । युद्ध की इस आवश्यकता ने टोलियों, कुलों, कबीलों या बस्तियों में एक ऐसे नेता का प्रादुर्भाव किया जो सबसे अधिक योग्य था, सबसे अधिक बलवान था, युद्ध का नेतृत्व करने की क्षमता रखता था । केवल युद्ध के अवसर पर ही नहीं, अपितु शान्ति के समय भी लोग इस नेता का आदर करते थे और इसके आदेशों का पालन करने के लिए तैयार रहते थे । इस प्रकार युद्ध के अवसर की आवश्यकता के कारण मनुष्यों में एक ऐसे नेता व एक ऐसे वर्ग का विकास हुआ, जो अन्य लोगों को अपना वषवर्ती बनाकर रख सकता था । जब कोई कबीला किसी अन्य कबीले को जीत लेता था, तो उस पराजित कबीले के लोग तो इस नेता की आज्ञाओं को आँख मीचकर माल लेने में ही अपनाहित समझते थे । इस प्रकार शासक और प्रजा के भाव का विकास हुआ, और यह भेद राज्य संस्था की उत्पत्ति में सहायक हुआ । (5) राजनीतिक चेतना केवल सजाता, धर्म, आर्थिक जीवन और युद्ध की आवश्यकतायें ही मनुष्यों को एक सुदृढ़ संगठन में संगठित रखने के लिए पर्याप्त नहीं थीं । इसके लिए यह भी आवश्यक था, कि उनमें राजनीतिक चेतना भी विद्यमान हो । मनुष्य विवेकशील प्राणी है । वह इस बात को भली-भांति समझ सकता है, कि आत्मरक्षा के लिए संगठन बहुत उपयोगी है । जो मनुष्य सूर्य, अग्नि, नदी आदि में दैवी कल्पना कर उस सर्वोपरि ईश्वरीय शक्ति की सत्ता का अनुमान कर सकता है जिसके द्वारा शक्ति प्राप्त करके सूर्य आदि प्राकृतिक पदार्थ शक्ति-सम्पन्न होते हैं, उसके लिए यह जरा भी कठिन नहीं था कि वह अपनी रक्षा, हित व कल्याण के लिए संगठन, व्यवस्था और नियंत्रण की आवश्यकता को भी अनुभव करे । विशेषतया, विपत्ति व युद्ध आदि के अवसर पर किसी नेता के वषवर्ती होने, उसके आदेशों का पालन करने व उसके प्रति आदर भाव रखने की प्रवृत्ति बहुत सुगमता से मनुष्यों में उत्पन्न हो सकती थी । संकट के समय मनुष्यों को व्यवस्था व नियंत्रण की जो आदत पड़ जाती थी, वह शान्ति के समय में भी विद्यमान रहती थी । इस प्रकार मनुष्य धीरे-धीरे उस राजनीतिक चेतना को प्राप्त करने लगा था, जो राज्य संस्था का मूल है । सामुदायिक जीवन बिताने की प्रवृत्ति के कारण मनुष्य ने समूह व समुदाय बनाकर रहना शुरू ने किया । सजाता और धर्म की एकता ने इन समुदायों को सुसंगठित होने में सहायता दी । राजनीतिक चेतना के कारण ये प्रारम्भिक मानव-समुदाय धीरे-धीरे सुव्यवस्थित राज्य संस्था के रूप में परिवर्तित होने शुरू हो गये । राज्य संस्था के प्रादुर्भाव में ये ही सब बातें प्रामाण्यपूर्ण और ऐतिहासिक प्रक्रिया व विकास द्वारा मनुष्य उस सर्वोच्च संगठन में संगठित हुआ, जिसे राज्य कहते हैं ।

—मनुष्य की समाजिकता व समूह बनाकर रहने की प्रवृत्ति के कारण वे आदिम मनुष्य भी, जो शिकार द्वारा अपना निर्वाह करते थे, टोली बनाकर रहते थे। उनमें भी एक प्रकार का संगठन विद्यमान था। मनुष्य देर तक शिकारी व असभ्य दशा में नहीं रहा। धीरे-धीरे उन्नति करता हुआ व सभ्यता की ओर कदम बढ़ाने लगा। उसकी यह उन्नति दो ढंग से हुई, कृशक रूप में और पशुपालक रूप में। थे कृशक और पशुपालक जातियाँ कुछ प्रदेश ऐसे थे, जो खेती के लिए अधिक अनुकूल नदियों की घाटियाँ और जलाशयों के किनारे की जमीनें खेती के लिए अधिक उपयुक्त थीं। वहाँ अनाज सुगमता के साथ उत्पन्न हो सकता था। खेती का ज्ञान हो जाने पर जो लोग इन प्रदेशों में आये, स्वाभाविक रूप से उन्होंने खेती की ओर अधिक ध्यान दिया। खेती के लिए आवश्यक था कि वे स्थिर रूप से वहाँ बस जायें। वहाँ उन्होंने अपने मकान बना लिये। एक जगह बहुत से मकान बन जाने पर एक बस्ती या ग्राम का विकास हो गया। इन बस्तियों में जो लोग बसे, वे निरन्तर एक दूसरे के सम्पर्क में आते थे। उनमें सामूहिक भावना पहले भी विद्यमान थी। अब उनके लिए और अधिक आवश्यक हो गया कि वे एक-दूसरे के प्रति उचित बर्ताव करें, किसी की सम्पत्ति का अपहरण न करें, किसी को नुकसान न पहुंचायें। जो कोई किसी के प्रति अनुचित बर्ताव करे, उसे दंड मिले। इसी कारण इन बस्तियों में एक प्रकार की राज्य संस्था का विकास होने लगा।

नदियों की घाटियों व जलाशयों के समीपवर्ती स्थानों के अतिरिक्त बहुत से प्रदेश ऐसे भी थे, जो खेती के लिए बहुत उपयुक्त नहीं थे। इनमें या तो रेगिस्तान थे या तो जंगल। इनमें रहने वाले मनुष्य न खेती की ओर आकृष्ट हुए, और न ही वे किसी एक स्थान पर स्थिर रूप से आबाद ही हुए। शिकारी की दशा से ऊपर उठकर वे पशुपालन शुरू कर चुके थे। अब भी वे एक पशुपालक दशा में ही रहे। अपने पशुओं को साथ लेकर वे जंगलों या रेगिस्तानों में घूमते रहते थे, और जगह-जगह पर अपने डेरे डालकर उनमें निवास करते थे। एक स्थान पर न बसने के कारण सभ्यता के क्षेत्र में वे कृशक लोगों की अपेक्षा पीछे रह गये पर धीरे-धीरे उनमें संगठन भी अधिक सुदृढ़ और व्यवस्थित होते गए और उनमें भी शासक और शासित का भेद विकसित हो जाने के कारण एक प्रकार की सरकार का प्रादुर्भाव हो गया।

—प्रारम्भिक राज्य खेती के परिज्ञान के कारण जिन प्रदेशों पर स्थिर रूप से बसकर मनुष्यों ने सबसे पहले अपनी बस्तियों का विकास शुरू किया, उनमें सबसे प्रमुख निम्नलिखित थे

(1) पश्चिमी एशिया में यूफ्रेटिस और टिग्रिस नदियों की घाटी। (2) उत्तरी अफ्रीका में नील नदी की घाटी। (3) भूमध्यसागर में ईजियन सागर के तटवर्ती प्रदेश और विविध द्वीप जिनमें क्रीट सर्वप्रधान था। (4) चीन में ह्यांगो और यिआगतसेकियांग नदियों की घाटियाँ। (5) भारत में सिंधु नदी की घाटी।

इन विविध प्रदेशों में मनुष्यों की प्रारम्भिक बस्तियाँ बहुत छोटी-छोटी थीं पर धीरे-धीरे वे अपेक्षाकृत विषाल राज्यों के रूप में परिणित होती गईं। इस प्रक्रिया को यूफ्रेटिस और टिग्रिस नदियों की घाटी के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। इस घाटी के सबसे प्राचीन निवासी सुमेरियन लोग थे। वे 4500 ई. पूर्व के लगभग इस प्रदेश में आबाद हुए। वहाँ उन्होंने अपनी बहुत-सी छोटी-छोटी बस्तियाँ या राज्य कायम किये। शुरू में सुमेरिया के ये छोटे-छोटे राज्य पूर्णतया स्वतंत्र थे। पर धीरे-धीरे संघर्ष का प्रारम्भ हुआ। इनमें एरच का राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली था। उसने अन्य सब राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर लिया, और सम्पूर्ण सुमेरिया एरच की आधीनता में आ गया। जो प्रक्रिया सुमेरिया में हुई, वही मिश्र (नील नदी की घाटी), ईजियन क्षेत्र, चीन, भारत आदि में भी हुई।

प्रारम्भिक राज्यों का रूप इन प्राचीनतम राज्यों में शासन का क्या स्वरूप था, इस बात का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारे पास कोई साहित्यिक साधन नहीं हैं। इन राज्यों की दशा पर प्रकाश डालने वाले कोई ग्रंथ अब तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। पुरातत्व द्वारा जो कुछ ज्ञात हो सका है, उसके आधार पर ऐतिहासियों का मत है, कि इन राज्यों में शासन का स्वरूप

दैवी था । ये लोग देवी-देवताओं पर विष्वास रखते थे, और उनकी पूजा के लिए विषाल मंदिरों का निर्माण करते थे। शासन का कार्य या तो देवता के पुजारी “ पुरोहित” के आधीन था और या राजा को ही दैवी रूप में स्वीकृत किया जाता था । सर्वसाधारण जनता का शासन में कोई हाथ नहीं होता था । जनता का बड़ा भाग दासों की स्थिति में था। इन बस्तियों पर पड़ोस में रहने वाले पशुपालक लोग प्रायः आक्रमण करते रहते थे। जब कोई जाति इन बस्तियों को जीतकर अपने अधीन कर लेती थी, तो वह वहाँ के पूर्व निवासी सभ्य लोगों को अपना दास बना लेती थी । सुमेरिया पर 2750 ई. पूर्व के लगभग सार्गन नामक नेता के नेतृत्व में अकेडियन लोगों ने आक्रमण किया और उसे जीत लिया। अकेडियन लोग पशुपालक थे और सभ्यता की दृष्टि से सुमेरियन लोगों से बहुत पीछे थे। जब वे सुमेरिया को जीतकर वहाँ बस गये, तो उन्होंने सुमेरियन सभ्यता को पूरी तरह से अपना लिया । राजनीतिक दृष्टि से सुमेरियन लोग पराधीन हो गये थे। उन्हें दास बना लिया गया था, पर सभ्यता की दृष्टि से वे विजेता रहे । अकेडियन लोगों के बाद इसी क्षेत्र पर क्रमशः अमोराइट (2100 ई. पूर्व के लगभग), असीरियन (1200 ई. पूर्व), और कैल्डियन (606 ई. पूर्व) जातियों ने आक्रमण किये। इन विविध जातियों ने बेबीलोनिया के इस प्रदेश में जो भी राज्य कायम किये, उनमें थोड़े से विजेता लोग बहुसंख्यक दास लोगों पर स्वेच्छाचारी रूप से शासन करते थे । पर इन राज्यों की शासन-पद्धति के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है। जो कुछ भी पुरातत्व – सम्बन्धी खोज द्वारा ज्ञात हुआ है, वह यह है कि इनका शासन एक षक्तिशाली राजा के आधीन था, जो दैवीय शक्ति का आश्रय ले जनता पर शासन करता था । प्राचीन मिश्र, चीन, ईगियन सागर आदि के सभी राज्यों में यही दशा थी । धर्म के तत्व ने इन प्रदेशों को जनता में नियंत्रण व व्यवस्था कायम रखने में बहुत सहायता की थी।

ग्रीक नगर- राज्य देश –संसार की इन प्राचीनतम सभ्यताओं को आर्य जाति ने नष्ट किया । इन आर्यों ने ग्रीस में अनेक छोटे-छोटे राज्य कायम किये। ग्रीस में बहुत-सी पहाड़ियाँ हैं, जिनके कारण वह बहुत-सी घाटियों में विभक्त है । आर्यों की ग्रीक शाखा के विविध “जन” इन विविध घाटियों में बस गये और उनके राज्य एक-दूसरे से पृथक् रहे । इन ग्रीक राज्यों की संख्या सैकड़ों में थी । उनमें प्रमुख एथेन्स, स्पार्टा, कारिन्थ, थेबस, सेमस और मिलेटस थे। अधिकांश ग्रीक राज्यों की आबादी 50 हजार के लगभग थी। उनमें कोई भी राज्य ऐसा नहीं था, जिसकी आबादी कभी 3 लाख से अधिक रही हो। इस आबादी में भी दासों की संख्या अधिक होती थी । स्वतंत्र ग्रीक नागरिक संख्या में दासों की अपेक्षा बहुत कम थे।

विविध ग्रीक राज्यों की शासन-पद्धतियाँ भी भिन्न-भिन्न थीं । कुछ में वंशक्रमानुगत राजा राज्य करते थे, कुछ में कतिपय कुलीन श्रेणियों का शासन था और कुछ में सर्वसाधारण जनता का राज्य था। इन राज्यों में शासन-पद्धति भी सदा एक-सी नहीं रही। जहाँ पहले राजतंत्र शासन था वहाँ बाद में लोकतंत्र शासन स्थापित हो गये । जहाँ पहले जनता का शासन था, वहाँ बाद में किसी वीर पुरुष ने अपने एकतंत्र शासन की स्थापना कर ली । एथेन्स ग्रीस का प्रमुख राज्य था, जहाँ लोकतंत्र शासन-पद्धति विद्यमान थी । वहाँ के सब नागरिक स्वयं लोकसभा (एविलीजिया) में एकत्र होते थे और बहुसम्मति द्वारा सब विषयों का निर्णय करते थे। एगिलीजिया में एकत्र नागरिकों की संख्या हजारों में होती थी । अतः अनेक वक्ता यह यत्न करते थे, कि अपने प्रभावशाली और जोरदार भाषणों

1 द्वारा श्रोताओं को प्रभावित कर सकें और उन्हें अपनी बात मानने के लिए प्रेरित करें। वोट के समय नागरिक “हाँ” या “ना” कहकर अपनी सम्मति प्रकट करते थे। जिस पक्ष में अधिक ऊँची आवाज रहे, वही स्वीकृत माना जाता था । इसलिए अनेक राजनीतिक नेता अपने अनुयायियों को यह सिखाते थे कि वे बहुत जोर से चिल्लाकर अपने मत को प्रकट करें ।

कानून की दृष्टि से सब नागरिक एक समान होते थे। इसीलिए अनेक ग्रीक राज्यों में यह व्यवस्था थी कि राजकर्मचारियों की नियुक्ति लॉटरी द्वारा की जाए। लॉटरी में जिसका भी नाम निकल आये, उसे ही राज पद पर नियत कर दिया जाता था । इन प्राचीन ग्रीक राज्यों

में राजनीतिक दल भी विद्यमान थे। कई बार जब विविध राजनीतिक दलों के नेताओं में उग्र मतभेद हो जाता था, तो वोट द्वारा यह फैसला किया जाता था कि किस नेता को राज से बहिष्कृत कर दिया जाए। यह देश – निकाला प्रायः दस वर्ष के लिए होता था।

स्पार्टा में नागरिकों के स्वास्थ्य और शारीरिक बल पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता था। स्पार्टन लोग बालकों की शिक्षा के लिए इस पद्धति का अनुसरण करते थे कि छोटी आयु में ही उन्हें माता-पिता से पृथक् कर विद्यालयों में भेज दिया जाए। वहाँ उन्हें बहुत कठोर और नियंत्रित जीवन व्यतीत करना पड़ता था। सब बालक एक आश्रम में एक साथ रहते थे और एक ही भोजनशाला में भोजन करते थे। उन्हें सैनिक शिक्षा विशेष रूप से दी जाती थी। यही कारण है, जो स्पार्टा सैनिक दृष्टि से ग्रीक राज्यों में सिरोमणि थे पर शासन के क्षेत्र में स्पार्टन लोगों ने ऐसी लोकतंत्र – पद्धति का विकास नहीं किया था, जिसमें सर्वसाधारण नागरिक भी हाथ बँटाते हों। वहाँ का शासन श्रेणितंत्र था, जिसमें कतिपय कुलीन परिवार शासन किया करते थे।

प्राचीन ग्रीस में अनेक ऐसे विचारक उत्पन्न हुए जिन्होंने राजनीतिशास्त्र – सम्बन्धी बहुत से महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इसमें प्लेटो और अरिस्टोटल के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

स्व-प्रगति की जाँच करें— 1. पितृसत्ताक सिद्धान्त में विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बातें कौन-सी हैं?

2. मातृसत्ताक सिद्धान्त की आलोचना करें।

भारत के विचारकों में जो स्थान आचार्य चाणक्य का है वही पाश्चात्य विचारकों में अरिस्टोटल का है। उसने अपने समय के विविध राज्यों की शासन-पद्धतियों का संग्रह कर उनके तुलनात्मक अध्ययन का प्रयत्न किया और साथ ही राज्य संस्था के स्वरूप का भी निरूपण किया।

ग्रीक नगर – राज्यों की स्वतंत्रता और प्रथक सत्ता देर तक कायम नहीं रह सकी। स्पार्टा, एथेन्स और कोरिन्थ जैसे षक्तिशाली राज्यों ने धीरे-धीरे अपने पड़ोसी राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर लिया, और इस प्रकार अपने – अपने संघों (लीग) का निर्माण किया। कुछ समय बाद मैसीडोन के राजा फिलिप ने सब ग्रीक राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर लिया। सिकन्दर ने फिलिप के साम्राज्य-विस्तार सम्बन्धी कार्य को जारी रखा, और भूमध्य सागर से व्यास नदी तक विस्तृत साम्राज्य का निर्माण किया। यह 'रोम का सार्वभौम साम्राज्य – यूरोप की आर्य जतियों ने जो बहुत-से छोटे-छोटे राज्य स्थापित किये थे, पीछे ही वे एक साम्राज्य के अधीन हो गये। इस साम्राज्य का निर्माण रोम द्वारा किया गया था। हम अभी लिख चुके हैं, कि ग्रीक नगर – राज्यों की स्वतंत्रता का मैसीडोन के राजा फिलिप अंत किया था। पर फिलिप और सिकंदर द्वारा स्थापित मैसीडोनियन साम्राज्य भी देर तक स्थिर नहीं रहा। ग्रीस के पश्चिम में इटली में एक नगर राज्य था जिसका नाम रोम था। यह इटली के मध्य में टाइवर नदी के तट पर स्थित था। इसकी स्थापना 723 ई. पू. में हुई थी। पुरु में यह उसी प्रकार का एक नगर – राज्य था, जैसे कि ग्रीस में स्पार्टा व एथेन्स और भारत में विदेह या पाक्य आदि थे। पर धीरे-धीरे रोम ने न केवल संपूर्ण इटालियन नगर – राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर लिया, अपितु ग्रीस, ईजियन सागर के विविध द्वीप, मिस्र, एशिया माइनर, फ्रांस, स्पेन और ब्रिटेन आदि सुदूरवर्ती प्रदेशों के विविध राज्यों को भी जीतकर एक विशाल सार्वभौम साम्राज्य की स्थापना की।

पुरु में रोम में राजाओं का शासन था, पर 406 ई. पू. में वहाँ राजतंत्र शासन का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना हुई। रोम के निवासी दो श्रेणियों में विभक्त थे – कुलीन (पेट्रिसियन) और जनसाधारण (प्लेबियन)। प्रारम्भ में रोम के शासन में सार्वजनिक कुरीलों के हाथ में थी, जो सभाओं में एकत्र होते थे। ये सभाएं कानून बनाती थीं, और साथ ही शासन-कार्य



के लिए विविध राजकर्मचारियों का चुनाव भी करती थीं। प्रमुख राजकर्मचारी कौंसल कहलाते थे। रोम में एक साथ दो कौंसल हुआ करते थे जिनका चुनाव प्रतिवर्ष होता था। जनसाधारण का शासन में कोई हाथ नथा, इस कारण उनमें बहुत असंतोश था। उन्होंने अपने अधिकारों के लिए संघर्ष पुरुकिया। एक बार तो उन्होंने यह भी निष्पय किया, कि वे रोम को छोड़कर अन्यत्र जा बसैं। पर कुलीन लोग उन्हें समझा-बुझाकर वापस लौटा लाए। जनसाधारण के आन्दोलन कायह परिणाम हुआ, कि धीरे-धीरे शासन में उन्हें अनेक अधिकार प्राप्त हो गए। पर रोम में लोकतंत्र शासन की स्थापना पूरी तरह से नहीं हो सकी। जनसाधारण ने अपने अधिकारों के लिए अधिक संघर्ष की आवष्यकता भी नहीं समझी, क्योंकि इस समय रोम अपने साम्राज्य का विस्तार करने में तपर था। साम्राज्य के विविध प्रदेशों से प्रचुर परिमाण में धन-सम्पत्ति रोम पहुंच रही थी। इस सम्पत्ति का उपभोग करने का अवसर प्लेबियन लोगों को भी प्राप्त होता था। वे इससे संतोश का अनुभव करते थे।

रोमन साम्राज्य की यह विशेषता थी, कि उसकी स्थापना किसी दिग्विजयी सम्राट द्वारा नहीं की गई थी। रोम में लोकतंत्र गणराज्य विद्यमान था, और यह गणराज्य ही साम्राज्य – विस्तार के लिए प्रवृत्त हुआ था। उसे अपने उद्देश्य में असाधारण सफलता प्राप्त हुई थी। एषिया माइनर से पुरु कर पश्चिम में अटलाण्टिक सागर तक और उत्तर में आल्प्स की पर्वतमाला से लगाकर दक्षिण में मिस्र और मोरक्को तक जो विषाल रोमन साम्राज्य स्थापित था, उसका अधिपति कोई एक सम्राट नहीं था। उसका अधिपति रोम का वह नगर – राज्य था, जिसमें लोकतन्त्र गणशासन विद्यमान था। रोम के नागरिक साम्राज्य की स्थापना के बाद भी अपनी लोकसभा में एकत्र होते थे, और प्रतिवर्ष अपने कौंसलों का निर्वाचन करते थे, साम्राज्य के विविध नगरों के परभाव से उनकी अपार सम्पत्ति रोम में एकत्र हो रही थी, और इस सम्पत्ति को रोम के महत्वाकांक्षी सेनापति अपने राजनीतिक उत्कर्ष के लिए प्रयुक्त करते थे। वोट प्राप्त करने के लिए वे इस सम्पत्ति को पानी की तरह बहाते थे। रोम के नागरिकों को इससे बिना श्रम किए सम्पत्ति प्राप्त करने का अवसर मिलता था। साम्राज्य विस्तार के कारण रोम के बहुत से नागरिक सेना में भर्ती होकर साम्राज्य के दूरवर्ती प्रदेशों में रहने लगे थे। इन नागरिकों के लिए संभव नहीं था, कि वे रोम की लोकसभा और सीनेट के अधिवेषनों में सम्मिलित हो सकें। प्रतिनिधि निर्वाचित करने की प्रथा उस युग में नहीं थी। जो थोड़े-बहुत नागरिक रोम में रहते थे, सब राज-शक्ति उन्हीं के हाथों में आ गई थी। ये नागरिक गुलामों की मदद से अपना निजी कारोबार किया करते थे। राज-शक्ति के इनके हाथों में रहने के कारण महत्वाकांक्षी सेनापति व राजनीतिक नेता इन्हें संतुष्ट रखने और अपना पक्षपाती बनाने के लिए धन का प्रभूत मात्रा में उपयोग करते थे। ज्यों-ज्यों रोम के साम्राज्य का विकास होता गया, रोमन नागरिकता का अधिकार भी अधिक विस्तृत होता गया। इटली की विजय करने के बाद वे सब इटालियन लोग रोम के नागरिक बना दिये गए, जो गुलाम थे। रोमन साम्राज्य के अधिक विस्तृत होने पर साम्राज्य भर के सब स्वतन्त्र पुरुषों (गुलामों को नहीं) को रोमन नागरिकता का अधिकार दे दिया गया। पर साम्राज्य के सुदूरवर्ती प्रदेशों में रहने वाले इन लाखों नागरिकों के लिए यह संभव नहीं था, कि वे रोम आकर लोकसभा व सीनेट में शामिल हो सकें। अतः असली राजनीतिक शक्ति रोम में रहने वाले नागरिकों के ही हाथों में रही। कौंसल या अन्य उच्च पदों को प्राप्त करने के लिए महत्वाकांक्षी राजनीतिज्ञों सम्मुख यही मार्ग था, कि वे रोम-निवासी नागरिकों के वोट प्राप्त करें। ये वोट इसी एक तरीके से प्राप्त किये जा सकते थे, कि नागरिकों को रुपये द्वारा संतुष्ट किया जाए। जो सेनापति दूर देशों युद्ध कर उनके समष्ट नगरों को रोमन साम्राज्य की अधीनता में ला रहे थे, उनके पास धन-सम्पत्ति की कमी नहीं थी। लूट में वे अपार धन प्राप्त करते थे। इन धन का उपयोग व इस बात के लिए करते थे, कि रोम के निवासी नागरिकों में धन बाँटकर उनके वोट प्राप्त करें।

गणशासन के खिलाफ उठ खड़ीं हों, तो इन्हें वष में लाने का रोम के कौंसलों व नागरिकों के पास क्या उपाय था ? इन सेनाओं के सेनापतियों के हाथ में ऐसी शक्ति थी, जिसका प्रयोग करके वे रोम के शासन – विधान की सर्वथा उपेक्षा कर सकते थे। इसी दशा का यह परिणाम हुआ, कि जूलियस सीजर नाम के एक शक्तिशाली सेनापति ने रोम से गणशासन का अन्त कर सारी राज-शक्ति को अपने हाथों में कर लिया। रोम में यह प्रथा देर से चली आती थी, कि संकट के समय में किसी एक व्यक्ति को एकाधिकारी (डिक्टेटर) नियत किया जा सकता था। जूलियस ने इस प्रथा से लाभ उठाया, और सीनेट द्वारा अपने को एकाधिकारी नियत करा लिया। डिक्टेटर के पद पर सर्वप्रथम उसकी नियुक्ति दस साल के लिए हुई। बाद में 45 ई. पू. में उसने सीनेट से यह प्रस्ताव स्वीकृत कराया, कि डिक्टेटर के पद पर वह जीवन भर रहेगा। जूलियस का भतीजा ऑक्टेवियन सीजर रोम का पहला सम्राट हुआ। उसके समय में रोम से रिपब्लिक का अंत होकर सम्राटों के शासन का प्रारम्भ हो गया था। अपने विषाल साम्राज्य का शासन करने के लिए रोम के नगर राज्य ने एक ऐसी पद्धति का अविशकार किया, जो संसार के इतिहास में एक नयी बात थी। साम्राज्य के सब स्वतंत्र व्यक्ति अपने को रोम का नागरिक समझते थे। इस अधिकार को वे गौरव की दृष्टि से देखते थे। सारे साम्राज्य में एक कानून प्रचलित था। कानून के क्षेत्र में रोमन लोगों ने बहुत अधिक उन्नति की थी। साथ ही, साम्राज्य के शासन को एक केन्द्र में केन्द्रित करने और सुव्यवस्थित रूप से उसका संचालन करने में भी रोमन लोगों में बहुत सफलता प्राप्त की थी। रोमन लोग सांस्कृतिक एकता को बहुत महत्व देते थे। इसलिए उन्होंने न केवल सम्पूर्ण साम्राज्य में कानून की एकता को स्थापित किया, अपितु साथ ही भाषा, धर्म, कला और सांस्कृतिक एकता को स्थापित करने के लिए भी बहुत उद्योग किया। पर रोमन साम्राज्य के शासन में अनेक दोष भी थे। साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तों या प्रदेशों में स्थानीय स्वशासन को प्रचलित करने का कोई प्रयत्न रोमन लोगों ने नहीं किया। निर्वाचन-पद्धति के अभाव में यह भी सम्भव नहीं था, कि विविध प्रान्तों में निवास करने वाले रोमन नागरिक अपने प्रतिनिधियों द्वारा साम्राज्य के शासन पर अपना प्रभाव रख सकें। इस दशा का परिणाम यह हुआ, कि रोम में निवास करने वाले नागरिकों के हाथ में सब राज – शक्ति आ गई। साम्राज्य की जनता का बड़ा भाग गुलामोंका था, और इतनी बड़ी संख्या में गुलामों की सत्ता साम्राज्य की स्थिरता और शक्ति शक्तिके लिए बहुत विधातक थी। इसी कारण जब तीसरी सदी में साम्राज्य के उत्तर में विद्यमान जंगली जातियों ने उस पर आक्रमण शुरू किए, तो रोमन सम्राट उनका मुकाबला नहीं कर सके। रोम ने अपने साम्राज्य को कानून और संस्कृति की एकता प्रदान की थी। पर लोकतन्त्र शासन द्वारा जनता में राज्य के प्रति जो निष्ठा की भावना होती है, उसको विकसित करने में वह सर्वथा असमर्थ रहा था। पर रोम के नगर – राज्य में जिस प्रकार का लोकतन्त्र शासन था, यदि उसको साम्राज्य के विविध प्रदेशों में लागू किया जा सकता और प्रतिनिधि निर्वाचन की प्रथा द्वारा रोमन नागरिकों को साम्राज्य के शासन पर नियन्त्रण रखने का अवसर दिया जाता, तो रोम इस सार्वभौम साम्राज्य की शासन पद्धति आधुनिक युग के विषाल राज्यों की शासन पद्धति के बहुत समीप आ जाती।

सामन्त पद्धति (फ्यूडल सिस्टम) तीसरी सदी में रोमन साम्राज्य पर जर्मन जातियों के जो आक्रमण शुरू हुए थे, वे कई सदियों तक जारी रहे। इन आक्रमणों के कारण रोमन साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। विचित्र जर्मन जातियों के सरदारों ने रोमन साम्राज्य के भग्नावशेष पर अपने बहुत से छोटे-छोटे राज्य कायम किये छ इन राज्यों की संख्या सैकड़ों में थी। इनके अतिरिक्त जो प्रदेश जर्मन आक्रमणों से बच गये थे, उन पर पुराने रोमन युग के जागीरदार या राजकर्मचारी स्वतन्त्रता के साथ शासन करने लगे थे। कोई-कोई प्रदेश ईसाई महन्तों के हाथ में थे, और कहीं बड़े व्यापारिक नगरों में व्यापारियों के समूह (कॉरपोरेशन या निगम) स्वतन्त्रता के साथ राज्य करते थे। अभिप्राय यह है, कि यह काल राजनीतिक दृष्टि से सर्वथा अराजकता से पूर्ण था। जिसके पास शक्ति थी, वही अपनी सत्ता कायम किये हुए था। सर्वसाधारण लोगों की जान व धन उस समय

तक सुरक्षित नहीं थे, जब तक कि वे किसी शक्तिशाली व्यक्ति के संरक्षण में अपने को न ले आये। इसी परिस्थिति में सामन्त पद्धति का प्रादुर्भाव हुआ।

अव्यवस्था तथा अराजकता के इस युग में सामन्त – पद्धति द्वारा धीरे-धीरे व्यवस्था का विकास हुआ। जिन प्रदेशों पर कोई विजेता सरदार अपना अधिकार स्थापित करता था, वहाँ वह जीते हुए प्रदेश को अपने साथियों में बाँट देता था। यदि उस विजेता सरदार को हम राजा कहें तो उसके इन साथियों को हमें सामन्त कहना चाहिए। ये सामन्त यद्यपि अपनी जागीर राजा से प्राप्त करते थे, पर अपने प्रदेश के पूरे स्वामी होते थे। राजा के साथ उनका यह सम्बन्ध था, कि जब राजा को आवश्यकता हो, वे अपने सैनिकों के साथ उसकी सहायता करें। कौन सामन्त कितने सैनिक लाये, इसकी संख्या रिवाज द्वारा निश्चित होती थी। इसके अतिरिक्त, विशेष अवसरों पर सामन्त अपने राजा की सेवा में तरह-तरह के उपहार भी भेंट किया करते थे। कोई निश्चित टैक्स इन्हें नहीं देना पड़ता था। जब तक ये राजा के विरुद्ध विद्रोह न करें और उसके प्रति अनुरक्त रहें, जागीर पर इनका और इनकी संतान का अधिकार रहता था। सामन्त लोग भी अपनी जागीर को अपने साथियों में बाँटते थे। इस प्रकार सामन्तों का अपने राजा से संबंध था।

जिन प्रदेशों पर किसी विजेता सरदार ने अधिकार नहीं किया था, वहाँ पर भी इसी ढंग की सामन्त पद्धति का विकास हो गया था। वहाँ के निर्बल लोगों ने अपने प्रदेश के शक्तिशाली व्यक्ति के साथ और इन शक्तिशाली व्यक्तियों ने उस प्रदेश के और अधिक प्रबल व्यक्ति के साथ इसी पद्धति से सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। सामन्त – पद्धति एक पिरामिड के समान थी, जिसमें सबसे ऊपर एक प्रतापी राजा होता था, उसके नीचे कुछ बड़े-बड़े सामन्त, उनके नीचे बहुत से राव – राजा और सबसे नीचे अनगिनत छोटे-छोटे जागीरदार या ठाकुर होते थे।

—सामन्त पद्धति के समय विविध राजाओं में परस्पर संघर्ष चलता रहता था। जो राजा हार जाता था, वह प्रायः विजेता का सामन्त बन जाता था। अनेक प्रतापी सामन्त अपने राजा के विरुद्ध विद्रोह कर अपने को स्वतन्त्र राजा बनाने का प्रयत्न करते रहते थे। इस प्रकार सामन्त-पद्धति के युग में शान्ति या व्यवस्था कायम नहीं रह सकती थी। सामन्त-पद्धति के विकसित हो जाने पर भी यह युग अव्यवस्था और अराजकता का था। विविध सामन्तों और राजाओं के इस संघर्ष में सबसे अधिक सफलता शार्लमेगन (768 ई.) को हुई। फ्रांस, बेल्जियम, हॉलैण्ड, जर्मनी और आस्ट्रिया के प्रदेश उसने उत्तराधिकार में प्राप्त किये थे। उसने स्वयं इटली पर आक्रमण किया और उसको जीतकर रोम पर भी अपना अधिकार स्थापित कर लिया। अब शार्लमेगन एक विषाल साम्राज्य का स्वामी था, जो पुराने रोमन साम्राज्य की याद दिलाता था। यह अभिप्राय नहीं, कि वह इन प्रदेशों का एकच्छत्र सम्राट था। उसके अधीन अनगिनत छोटे-बड़े सामन्त राज्य करते थे, पर वे सब शार्लमेगन को अपना अधिपति स्वीकार करते थे। रोम क्राजनीतिक साम्राज्य जर्मन जातियों के आक्रमण द्वारा नष्ट हो चुका था। पर इसका धार्मिक साम्राज्य अभी तक विद्यमान था। रोमन साम्राज्य के निवासी ईसाई धर्म को अपना चुके थे। विविध जर्मन जातियों ने भी ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया था। ईसाइयों का सर्व प्रधान मठ रोम में था, और उसके मठाधीश (पोप) को सब ईसाई अपना धर्मगुरु मानते थे। आठ सौ ईसवी में रोम के पोप लिओ तृतीय ने शार्लमेगन को पवित्र रोमन सम्राट के रूप में अभिशिक्त किया। शार्लमेगन और उसके उत्तराधिकारी पवित्र रोमन सम्राट अपनी शक्ति के लिए पूर्णतया अपने सामन्तों पर आश्रित थे और ये सामन्त अपनी शक्ति को बढ़ाने और स्वतन्त्र हो जाने के लिए सदा संघर्ष करते रहते थे। मध्यकालीन यूरोप में इस सामन्तपद्धति के कारण राजनीतिक एकता व व्यवस्था का सर्वथा अभाव रहा। सामन्त – पद्धति में राज्य संस्था का स्वरूप पुराने नगर – राज्यों और सार्वभौम साम्राज्यों की राज्य संस्था से बहुत भिन्न था। जनता की निष्ठा या भक्ति अपने प्रदेश (निवास – स्थान या अभिजन)

के प्रति न होकर अपने सामन्त – राजा के प्रति होती थी । जनता की दृष्टि में उसका शासक सम्राट नहीं होता था । वह उस सामन्त को ही अपना शासक समझती थी, जिसकी जागीर में वह निवास करती थी । साथ ही, राज्य की एक आवश्यक विशेषता जो प्रभुत्व शक्ति सम्पन्नता मानी जाती है, उसका सामन्त-पद्धति के राज्यों में सर्वथा अभाव था य प्रभुत्व-शक्ति सामन्तों के पास नहीं थी, क्योंकि वे स्वयं किसी अन्य महाराजा के अधीन थे और न ही प्रभुत्व शक्ति सम्राट के हाथों में थी, क्योंकि वह अपने आदेशों का पालन कराने के लिए सामन्तों पर निर्भर होता था । इसी कारण राजनीति शास्त्र के अनेक विद्वानों की दृष्टि में मध्यकाल अराजकता का काल था, और उस समय में राज्य संस्था की सत्ता ही नहीं थी राष्ट्रीय राज्य (नेशन – स्टेट) दृ सामन्त पद्धति के समय में यूरोप में सैकड़ों महाराजा, राजा और सामन्त विविध प्रदेशों पर शासन किया करते थे । ये आपस में निरन्तर लड़ते रहते थे, और कोई किसी की प्रभुता को स्वीकृत नहीं करना चाहता था । पर धीरे-धीरे इन बहुत-से शासकों के बीच में कुछ ऐसे शक्तिशाली राजाओं का विकास शुरू हुआ, जिन्होंने अपने सामन्तों को पूरी तरह से काबू करके अपना एकतन्त्र शासन स्थापित किया । सामन्त लोग उनके प्रतिद्वन्द्वी न रहकर पूर्णतया उनके अधीन व वषवर्ती हो गए । वे आपस के झगड़ों की लड़ाई द्वारा निबटाने के स्थान पर उस शक्तिशाली राजा से अपना न्याय कराने लगे । अपनी-अपनी जागीरों में स्वतन्त्र राजाओं के सामान रहने के स्थान पर वे इस राजा के शानदार दरबार में रहना अधिक सम्मानास्पद समझने लगे । यह स्थिति यूरोप में एकदम नहीं आ गई । इसे आने में बहुत समय लगा । पर सत्रहवीं सदी तक यूरोप के अनेक देशों में यह स्थिति आ चुकी थी । अब सामन्त – पद्धति का ह्रास हो गया था, और उग्र व स्वतन्त्र सामन्त उन अमीर व उमरावों के रूप में परिवर्तित हो गए थे, जो राजा के दरबार में अदब-कायदे के साथ खड़े होने को गौरव की बात समझते थे । इनकी स्थिति अपनी तलवार के बल पर आश्रित न रहकर राजा की कृपा दृष्टि पर आश्रित हो गई थी । फ्रांस, इंग्लैण्ड, रूस, स्पेन आदि प्रायः सभी देशों में यही प्रक्रिया हुई । सत्रहवीं सदी तक इन सब देशों के शक्तिशाली राजाओं ने अपने – अपने सामन्तों को पूर्णतया काबू में करके अपनी सत्ता को भली-भांति स्थापित कर लिया था । इंग्लैण्ड का राजा हेनरी आठवाँ (1530), फ्रांस का राजा लुई चौदहवाँ (1643), स्पेन का राजा फिलिप द्वितीय (1558), और रूस का राजा पीटर (1689) सब इसी प्रकार के शक्तिशाली राजा थे ।

सामन्त पद्धति के ह्रास और शक्तिशाली केन्द्रीय राजाओं के विकास के कारण फ्रांस, इंग्लैण्ड और स्पेन सदृश राज्यों की उन्नति का बहुत उत्तम अवसर हाथ लगा । आन्तरिक व्यवस्था और शान्ति किसी भी देश की उन्नति में बहुत सहायक सिद्ध होती है । सामन्त – पद्धति के कारण पहले इन देशों में व्यवस्था का सर्वथा अभाव था । शक्तिशाली केन्द्रीय शासन के स्थापित हो जाने से ये देश उन्नति की दौड़ में बहुत आगे निकल गए । इस स्थिति का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि फ्रांस, इंग्लैण्ड आदि जिन देशों में शक्तिशाली केन्द्रीय शासन स्थापित हुए, उनमें एक प्रकार की एकता की भावना भी उत्पन्न होने लगी । फ्रेंच राजा द्वारा शासित सब प्रदेश एक थे, उसके दरबार में एकत्र हुए सब अमीर-उमराव एक भाषा बोलते थे, एक संस्कृति के रंग में रंगे हुए थे, और अपने राजा के राज्य को एक देश समझते थे । इस दिशा का परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे फ्रांस एक राष्ट्र बनने लगा, और उसके निवासियों में राष्ट्रीयता की अनुभूति विकसित होने लगी । यही प्रक्रिया इंग्लैण्ड, स्पेन, रूस आदि देशों में भी हुई ।

इतिहास के रंगमंच पर अब एक नये प्रकार के राज्य प्रकट होने लगे, जिन्हें राष्ट्रीय राज्य (नेशन – स्टेट) या राष्ट्र कहते हैं । ये राष्ट्र न केवल मध्यकालीन सामन्त – राज्यों से भिन्न थे, अपितु प्राचीन नगर – राज्यों और सार्वभौम राज्यों से भी भिन्नता रखते थे । इनके संगठन में यह विचार कार्य कर रहा था कि भाषा, धर्म, रीति-रिवाज, ऐतिहासिक परम्परा और संस्कृति आदि की एकता के कारण जिस देश के निवासी परस्पर एकानुभूति रखते हैं उनका अपना एक पथक राज्य होना चाहिए । यही राष्ट्रीयता का सिद्धान्त कहलाता है । सामन्त-पद्धति के ह्रास के बाद जो शक्तिशाली राज्य यूरोप में कायम हुए थे, उनका स्वरूप



एक राष्ट्र का था। इन राज्यों का आधार कोई एक “जन” नहीं था, और न ही इनमें एकता को उत्पन्न करने वाला तत्व, केवल मात्र शासक के प्रति निष्ठा थी। राष्ट्रीय एकता की अनुभूति के कारण ये राज्य बहुत संगठित और सुव्यवस्थित थे।

पुरु में इन राज्यों का शासन सम्बन्धी सिद्धान्त यह था कि राजा पृथ्वी पर परमेश्वर का प्रतिनिधि है। वह राजा है, क्योंकि परमेश्वर ने उसे राजा बनाया है। फ्रांस का राजा लुई सोलहवाँ अभिमान से कहा करता था, “यह कानून है, क्योंकि मेरी ऐसी ही इच्छा है। राज्य की प्रभुत्व – शक्ति मुझमें निहित है, कानून बनाने का हक केवल मुझे है। इसके लिए मुझे किसी का सहयोग लेने की आवश्यकता नहीं।” पर शासन सम्बन्धी यह सिद्धान्त यूरोप में देर तक प्रचलित नहीं रहा। अठारहवीं सदी में वहाँ अनेक ऐसे विचारक उत्पन्न हुए, जिन्होंने राजा के दैवी – अधिकार के सिद्धान्त के विरुद्ध आवाज उठाई, और लोकतन्त्रवाद का प्रतिपादन किया। इन नए विचारों के कारण राज्य – क्रान्ति की वह लहर पुरु हुई, जिसने कि कुछ ही समय में न केवल सम्पूर्ण यूरोप, अपितु सम्पूर्ण पृथ्वी को व्याप्त कर लिया। लोकतन्त्रवाद के आन्दोलन के कारण राज्यों के राष्ट्रीय स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आया, पर उनकी शासन-पद्धति आधारभूत रूप से परिवर्तित हो गई। फ्रांस की राज्य – क्रान्ति के बाद उन्नीसवीं और बीसवीं सदियों में प्रायः सभी राज्यों का राष्ट्रीयता की दृष्टि से पुनः निर्माण किया गया, और इन राष्ट्रीय राज्यों में लोकतन्त्र शासनों की स्थापना की गई। राष्ट्रीयता की दृष्टि से जो लोग एक हैं, उनका पृथक राज्य होना चाहिए। इस राज्य में जनता का शासन रहना चाहिए, यह विचार प्रबल हो गया। वर्तमान युग के राज्य राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्त पर आश्रित हैं। वैयक्तिक स्वतंत्रता, नागरिकता के अधिकार और राष्ट्रीय एकता को उनमें बहुत महत्व दिया जाता है। प्राचीन ग्रीक नगर राज्यों में स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखते थे, पर उनकी पृथक सत्ता के कारण ग्रीस में राष्ट्रीय एकता का अभाव था। विषाल रोमन साम्राज्य में कानून, नागरिकता और संस्कृति की एकता थी, पर वहाँ स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद का अभाव था। वर्तमान समय के राष्ट्रीय राज्यों में जहाँ राष्ट्रीय एकता की सत्ता है, वहाँ साथ ही लोकतन्त्रवाद भी क्रिया में परिणत है राज्य का भावी विकास विकास की जिस प्रक्रिया द्वारा प्राचीन काल के छोटे-छोटे दैव-सत्तात्मक राज्य वर्तमान युग के राष्ट्रीय राज्यों के रूप में परिणत हुए हैं, उसका अभीअन्त नहीं हो गया राज्य संस्था के क्षेत्र में विकास की प्रक्रिया अभी जारी है। राज्य का यह विकास दो दिशाओं में हो रहा है

(1) शासन पद्धति और राज्य के कार्यक्षेत्र के विषय में, और (2) राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में। अठारहवीं सदी में लोकतन्त्रवाद की जो लहर पुरु हुई थी, उसका स्वरूप अब निरन्तर परिवर्तित हो रहा है। केवल राजनीतिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता और समानता को अब पर्याप्त नहीं समझा जाता। अब यह आवश्यकता भी अनुभव की जाती है, कि आर्थिक क्षेत्र में भी मनुष्य पूर्णतया स्वतन्त्र और एक-दूसरे के समान स्थिति रखने लगे हों। इसी कारण समाजवाद के नए आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ है, और समाजवाद के सिद्धान्त को किसी-न-किसी रूप में संसार के बहुसंख्यक राज्यों ने अपना लिया है। समाजवाद की व्यवस्था का अनुसरण कर राज्य संस्था का जो स्वरूप अब विकसित हो रहा है, वह उन्नीसवीं सदी के लोकतन्त्र राष्ट्रीय राज्यों से बहुत भिन्न है।

पिछले दिनों में मनुष्य ने ज्ञान – विज्ञान के क्षेत्र में जो असाधारण उन्नति की है, उसके कारण संसार के विविध राज्य एक-दूसरे के इतने समीप आ गए हैं, कि उनके लिए एक-दूसरे से सर्वथा पृथक रह सकना अब संभव नहीं रहा है। साथ ही, एटम बम जैसे प्रलयकारी अस्त्रों के आविष्कृत हो जाने के कारण अब सब राज्यों के लिए यह भी संभव

नहीं रहा है, कि वे आत्म-रक्षा के लिए केवल अपनी शक्ति पर निर्भर रह सकें। अमेरिका और रूस की शक्ति इतनी अधिक हो गई है कि अन्य राज्य उनके वर्षवर्ती रहने के लिए विवश हो गए हैं। जिन अर्थों में आधुनिक युग के विविध राज्य संपूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्न माने जाते हैं, वे भविष्य में भी ऐसे ही रह सकेंगे, यह बहुत सन्देहास्पद है। जिस प्रकार मध्यकाल में निर्बल सामन्त राजा अपनी रक्षा के लिए अपने को किसी प्रबल पड़ोसी राजा के अधीन कर देते थे, वैसे ही अब यदि निर्बल राज्य आत्मरक्षा हेतु अपने को अमेरिका, ब्रिटेन और रूस जैसे शक्तिशाली राज्यों के अनुगामी बना दें, तो यह अस्वाभाविक नहीं है। वर्तमान परिस्थितियों में राज्यों के लिए यह आवश्यक हो गया है, कि वे अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता व सर्वोपरिता के विचार का परित्याग कर अन्तर्राष्ट्रीयता और अन्योन्याश्रितता के विचार को स्वीकृत करें। इस आवश्यकता से विवश होकर विविध राज्य अनेक प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में संगठित हो रहे हैं, जिन पर हम यथास्थान विचार करेंगे।

सारांश :

नागरिकता का सूत्रपात – राज्य संस्था के क्रमिकविकास का जिस ढंग से इस अध्याय में प्रतिपादन किया गया है, उसमें यह बात ध्यान देनेयोग्य है कि आधुनिक युग में लोकतन्त्र राज्यों के विकास के साथ-साथ नागरिकता का क्षेत्र भी निरन्तर अधिक व्यापक होता गया है। लोकतन्त्र गणराज्य प्राचीन काल में भी विद्यमान थे, पर उनमें नागरिकता का अधिकार राज्य के सब निवासियों को प्राप्त नहीं था। प्राचीन ग्रीक नगर – राज्यों के बहुसंख्यक निवासी दास हुआ करते थे। रोमन रिपब्लिक के स्वतन्त्र निवासी भी (जो दास नहीं थे) दू पेट्रिषियन और प्लेबियन दो वर्गों में विभक्त थे, जिनकी स्थिति और अधिकारों में भारी अन्तर था। भारत के प्राचीन गणराज्यों में भी नागरिकता का अधिकार सबको प्राप्त नहीं था। उनमें एक पथक शासक श्रेणी की सत्ता भी थी, जिसे 'जनपदी' कहते थे। प्राचीन युग के राजतन्त्र राज्यों में तो जनता की स्थिति 'प्रजा' की थी, राजा जिस पर मनमाने तरीके से शासन किया करता था। मध्यकाल में सामन्त-पद्धति के कारण राज्य की सर्वसाधारण जनता की स्थिति अर्ध-दासों की थी, जिसे नागरिकता के कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं थे। पर आधुनिक समय में राज्य संस्था का जिस ढंग से विकास हो गया है, उसमें राज्य के प्रायः सभी निवासी (विदेशियों के अतिरिक्त) उसके नागरिक माने जाते हैं। अब स्वतन्त्र मनुष्य और दास के भेद का अन्त हो चुका है, और अर्ध-दास भी अब नहीं रहे हैं। राज्य के सभी निवासी अब स्वतन्त्र माने जाते हैं। राज्य में जो भी स्त्री-पुरुष निवास करते हों और राज्य के प्रति निष्ठा (ससमहपदबन्ध) रखते हों उन सब को राज्य का नागरिक समझा जाता है और उन सबको एक समान राजनीतिक व नागरिक अधिकार प्राप्त रहते हैं।

नागरिकता का इस व्यापक रूप से सूत्रपात आधुनिक राज्यों की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। प्राचीन व मध्यकालीन और आधुनिक राज्यों में एक बड़ा भेद यही है, कि वर्तमान समय के राज्यों में सबको नागरिक माना जाता है और सबकी स्थिति एक समान है। अब शासन और शासित (राजा और रैयत) के भेद का अन्त हो गया है। अब यह समझा जाता है कि राज्य की प्रभुत्वशक्ति जनता में निहित है, और शासक वर्ग इस शक्ति के प्रयोग के अधिकार को जनता से ही प्राप्त करता है। सरकार को यह अधिकार नहीं है कि नागरिकों के आधारभूत अधिकारों का अतिक्रमण कर सके। यही कारण है, जो आधुनिक संविधानों में नागरिकता के अधिकारों का विषय रूप से प्रतिपादन किया जाता है, और ये अधिकार संविधान के आवश्यक अंग होते हैं।

स्व-प्रगति जाँच के उत्तर

1. इस सिद्धान्त में विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बातें निम्नलिखित हैं—

(प) पितृसत्ताक सिद्धान्त विवाह सम्बन्ध पर आश्रित है। इसके अनुसार यह माना जाता है, कि मानव इतिहास के आदिकाल में भी मनुष्यों में विवाह की प्रथा विद्यमान थी और मनुष्य परिवार बनाकर रहता था ।

(पप) मनुष्य का प्रथम समुदाय परिवार या कुटुम्ब था । इसी का विकास पहले 'कुल' के रूप में और फिर 'जन' के रूप में हुआ ।

(पपप) राज्य संस्था में शासन का विकास भी परिवार के ढंग से ही हुआ । जैसे परिवार में पिता का शासन होता है, वैसे ही कुल में कुलवृद्धि का और जनपद में राजा का शासन स्थापित हुआ ।

2. मातृसत्ताक सिद्धान्त की आलोचना जो बातें पितृसत्ताक सिद्धान्त की आलोचना में कहीं गई हैं, प्रायः वे ही मातृसत्ताक सिद्धान्त की आलोचना में भी कही जा सकती हैं। वस्तुतः मनुष्य के सामुदायिक जीवन का विकास किसी एक ही ढंग से सब जगह हुआ हो, यह बात निश्चित रूप से नहीं जा सकती। आजकल जो अनेक असभ्य जातियाँ पाई जाती हैं उन सबमें मातृसत्ताक प्रथा की ही सत्ता नहीं है। वस्तुतः, मनुष्यों का प्रारम्भिक सामुदायिक जीवन विविध स्थानों पर भिन्न-भिन्न प्रकार का था । कहीं मातृसत्ताक प्रथा की सत्ता थी, तो कहीं पितृसत्ताक प्रथा की । कहीं बहुपति – विवाह (पोलिआन्द्री) प्रचलित था, तो कहीं बहुपत्नी – विवाह (पोलिगमी) । पितृसत्ताक और मातृसत्ताक दोनों ही प्रथाएँ प्राचीन समय में रही हैं। इन दोनों के स्वरूप में भिन्नता है । पर साथ ही इन दोनों में यह बात सामान्य है कि मनुष्यों ने पहले विविध प्रकार के परिवारों में रहना शुरू किया। और इन परिवारों से विकसित होकर ही बाद में मनुष्यों के अन्य समुदायों का निर्माण हुआ ।

मानव इतिहास के प्रारम्भिक मनुष्यों में पितृसत्ताक समुदाय थे या मातृसत्ताक, इस प्रश्न का यह यहाँ विशेष महत्व नहीं है। समाजशास्त्र ने दोनों मतों के अनुयायी विद्यमान हैं। पर यह स्पष्ट है कि मनुष्य की सामुदायिक प्रवृत्ति राज्यसंस्था के प्रादुर्भाव से पहले भी विद्यमान थी । इसी प्रवृत्ति के विकास के कारण राज्य की उत्पत्ति हुई ।

अभ्यास—प्रश्न

1. राज्य की उत्पत्ति के संबंध में प्रचलित सिद्धान्तों की व्याख्या करें ।
2. राज्य के विकास के क्रम का विवरण दें ।
3. राज्य के विकास के क्रम का विवरण दें। नागरिकता का सूत्रपात कब और किस प्रकार हुआ ?

बदलकर 6 एकड़ के 1/4 इंच की, तब 1 फीट 1 इंच की हक़ की
 1/4 फीट की, तब 1 फीट 1 इंच की

प्रभुता का सिद्धान्त

अध्याय में प्रस्तुत है :-

प्रभुता का स्वरूप

प्रभुता के विविध रूप

राज्य की प्रभुत्व शक्ति की विशेषताएँ सीमित प्रभुता का सिद्धान्त

आस्टिन का प्रभुता – सम्बन्धी सिद्धान्त

प्रभुत्व शक्ति की अविभाजनीयता प्रभुता के सिद्धान्त की आलोचना

ऐतिहासिक दृष्टि से आलोचना

इ) अन्तर्राष्ट्रीयता के पक्षपातियों द्वारा प्रभुता के सिद्धान्त की आलोचना

ब) विधानसभा की दृष्टि से प्रभुता के सिद्धान्त की आलोचना

क) बहु समुदायवादियों द्वारा प्रभुता के सिद्धान्त की आलोचना सारांश

स्व-प्रगति जाँच के उत्तर

अभ्यास-प्रश्न

शिक्षण उद्देश्य :

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् आप समझ सकेंगे-

प्रभुता का स्वरूप, प्रभुता के विविध रूप

राज्य की प्रभुत्व शक्ति की विशेषताएँ

सीमित प्रभुता का सिद्धान्त

आस्टिन का प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त

प्रभुत्व शक्ति की अविभाजनीयता

प्रभुता के सिद्धान्त की आलोचना ।

परिचय :

इस पुस्तक के तृतीय अध्याय में यह प्रतिपादित किया जा चुका है, कि राज्य का एक आवश्यक – तब प्रभुता या सर्वोपरिता भी है । यही तब है, जो राज्यको अन्य मानव समुदायों से भिन्न बनाता है । अन्य समुदाय भी ऐसे ही हो सकते हैं, जिनका

अपना संगठन हो, जो किन्हीं निश्चित नियमों का पालन करते हों, किसी निश्चित प्रदेश पर बसे हुए हों, और अपनी सामूहिक इच्छा को नियमों के रूप में प्रकट करते हों। पर

अन्य

MATS Centre for Distance and Online Education, MATS University

समुदाय "सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्न नहीं होते। जिस मानव-समुदाय में प्रभुता या सर्वोपरिता हो, वही राज्य है । प्रत्येक राज्य में एक ऐसी सत्ता अवश्य होती है, जो अपने क्षेत्र के अन्तर्गत सब मनुष्यों को अपने आदेशों का पालन करने के लिए विवश कर सके।

यह सत्ता अपनी इच्छा को कानून के रूप में प्रकट करती है, और सब मनुष्यों को इस बात के लिए विवश करती है, कि कानून के रूप में अभिव्यक्त हुई उसकी इच्छा का पालन करें। यह सत्ता कोई एक व्यक्ति, कोई एक श्रेणी या बहुसंख्यक जनता हो सकती है। राज्य के अतिरिक्त अन्य मानव – समुदाय भी अपनी सामूहिक इच्छा को नियमों व आदेशों के रूप में प्रकट कर सकते हैं, पर उनके पास यह शक्ति नहीं होती कि वे अपनी इच्छा या आदेश को मानने के लिए लोगों को विवश कर सकें। यदि उनके पास ऐसी शक्ति होती भी है, तो वह अन्य अधिक ऊँची शक्ति के अधीन होती है। यदि कभी राज्य की इच्छा और किसी अन्य जनसमुदाय की इच्छा में विरोध उपस्थित हो, तो राज्य की इच्छा के सम्मुख उस जनसमुदाय को झुकना पड़ेगा। इसका कारण यह है कि राज्य में प्रभुता व सर्वोपरिता होती है, अन्य जनसमुदायों में यह विशेषता नहीं होती।

1 मध्यकाल में जब राज्यों का शासन एकतन्त्र होता था, तो राज्य की प्रभुत्वशक्ति राजा द्वारा अभिव्यक्त होती थी। इसीलिए फ्रांस का राजा लुई 14वाँ यह कह सकता था “राज्य क्या है? मैं ही तो राज्य हूँ।” उस युग में राजा की जो भी इच्छा हो, उसे वह कानून या राजाज्ञा के रूप में प्रचलित कर सकता था। अन्य सब लोग उसके आदेशों का पालन करने के लिए विवश होते थे। कतिपय राज्यों बहुत से में प्रभुत्वशक्ति किसी श्रेणी – विशेष के हाथ में रहती थी। प्राचीन काल में इस प्रकार के जिसमें श्रेणितन्त्र राज्यों की सत्ता थी। भारत का लिच्छवि राज्य एकश्रेणितन्त्र ही था, सात हजार के लगभग ‘राजा’ शासन करते थे। राजाओं की यह ‘श्रेणी’ जो इच्छा रखती थी, वही राज्य में सर्वोपरि होती थी। अर्वाचीन काल के लोकतन्त्र राज्यों में प्रभुत्वशक्ति जनता के हाथ में है। जनता अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा अपनी इच्छा को प्रकट करती है, और जनता की यह इच्छा राज्य के संविधान व अन्य कानूनों द्वारा मूर्तरूप धारण करती है।

प्रभुता के लक्षण राज्य की इस प्रभुत्वशक्ति के लक्षण राजशास्त्रियों ने विविध प्रकार से किये हैं। लोदा के अनुसार “ नागरिकों और प्रजा – जन के ऊपर राज्य की जो सर्वोच्च शक्ति होती है, जिसे कानून द्वारा मर्यादित नहीं किया जाता, वही प्रभुता कहलाती है।” प्रोटियस ने प्रभुता का लक्षण इस कृत्य किसी अन्य प्रकार दिया है— “जिसकी इच्छा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता और जिसके के अधीन नहीं होते, उसी सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति को ‘प्रभु’ कहते हैं।” जैलिनेक के अनुसार, “प्रभुता राज्य की वह विशेषता है, जिसके कारण राज्य को उसकी अपनी इच्छा के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार कानूनी बन्धन से नहीं बाँधा जा सकता, और जिसे उसकी अपनी शक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति से सीमित नहीं किया जा सकता।” प्रसिद्ध फ्रेन्च विद्वान घुगइ का कथन है, कि “प्रभुता राज्य की आदेश देने वाली शक्ति को कहते हैं। राज्य के रूप में संगठित हुए राष्ट्र की जो इच्छा है, वही प्रभुता है। राज्य के क्षेत्र में सम्पूर्ण व्यक्तियों को निर्बाध रूप से आदेश देने का जो अधिकार है, वही प्रभुता है।” वर्गस के अनुसार, “राज्य के सब व्यक्तियों व व्यक्तियों के समुदायों के ऊपर जो मौलिक, संपूर्ण और असीम शक्ति है, वही प्रभुता है।” पोलक के अनुसार, “प्रभुता वह शक्ति है, जो अस्थायी नहीं है, जो किसी अन्य द्वारा प्रदत्त नहीं है, जो किन्हीं ऐसे नियमों के अधीन नहीं है, जिन्हें वह स्वयं न बदल सके और जो संसार की किसी अन्य शक्ति के प्रति उत्तरदायी नहीं है।” बिलोबी ने प्रभुता का लक्षण इस प्रकार संक्षेप के साथ दिया है— “राज्य की सर्वोपरि इच्छा को ही प्रभुता कहते हैं।”

विविध विद्वानों द्वारा दिये गये इन लक्षणों से प्रभुता का स्वरूप भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं, कि राज्य में एक ऐसी शक्ति होती है, जो उसमें निवास करने वाले सब व्यक्तियों और जनसमुदायों व उसमें विद्यमान सब पदार्थों पर सर्वोच्च अधिकार रखती है और जिससे कि वह सब को अपने आदेशों का पालन करने के लिए विवश कर सकती है। इसी शक्ति को प्रभुता कहते हैं। यह शक्ति राज्य के अतिरिक्त अन्य किसी समुदाय व संगठन में नहीं होती।

ध्वजमात्र प्रभुता – राजनीति शास्त्र में प्रभुता शब्द का प्रयोग

अनेक अर्थों में होता है। जिन राज्यों में वैध शासन

हो, उनके नाममात्र व ध्वजमात्र के अधिपति को भी प्रभु (वैधमतमपहद) कहते हैं। ग्रेट ब्रिटेन का राजा 'प्रभु' कहलाता है। राज्य के सब आदेश उसके नाम से ही प्रचारित किये जाते हैं। यदि किसी व्यक्ति व समुदाय ने राज्य के विरुद्ध कोई विद्रोह किया हो, या किसी अन्य प्रकार से राज्य का अपकार किया हो, तो उस पर चलाये गये मुकदमें में वादी का स्थान भी राजा को दिया जाता है। यद्यपि ग्रेट ब्रिटेन में प्रभुता जनता के हाथों में है, राजा के हाथों में नहीं यथापि वहाँ राजा को 'प्रभु' कहते हैं। राजा को जो इस प्रकार प्रभु कहा जाता है, उसका कारण यह है कि मध्यकाल में ब्रिटेन का राजा वस्तुतः प्रभु था, उस समय राजा की इच्छा ही ब्रिटेन में कानून थी। यद्यपि अब यह दशा नहीं रही है, पर पुराने रिवाज के अनुसार अब भी राजा को 'प्रभु' कहा जाता है। इस प्रकार की नाममात्र की प्रभुता को ध्वजमात्र प्रभुता कहा जा सकता है, क्योंकि जिस प्रकार ध्वजा का उद्देश्य एक विषिष्ट विचार, आदर्श व भावना को सूचित करना होता है, वैसे ही ग्रेट ब्रिटेन की प्रभुत्व शक्ति राजा द्वारा सूचित होती है। आचार्य चाणक्य इस प्रकार के राजा को 'ध्वजमात्र' कहते हैं, और निःसंदेह यह शब्द ऐसे राजा के लिए सर्वथा उपयुक्त है।

1 राजनीतिक प्रभुता और कानूनी प्रभुता – प्रत्येक राज्य

में एक ऐसी सर्वोच्च सत्ता होती है जिसे कानून निर्माण करने का अधिकार होता है, जो ऐसे आदेशों को जारी कर सकती है जिनका पालन करने के लिए सब लोग विवश हों। ग्रेट ब्रिटेन में यह सत्ता पार्लियामेन्ट है। ब्रिटिश पार्लियामेन्ट न केवल साधारण कानून बनाती है, अपितु संविधान सम्बन्धी कानूनी (कॉन्स्टिट्यूशनल लॉ) का भी निर्माण करती है। उसके आदेश देने व कानून बनाने के अधिकार को असीम कहा जा सकता है। अगर कानूनी दृष्टि से देखा जाए, तो ब्रिटिश पार्लियामेन्ट इतनी सर्वशक्तिमान है, कि उसे यह व्यवस्था दे सकने की शक्ति है, कि कोई बच्चा पूर्णायु का पुरुष है। वह यह भी फैसला कर सकती है, कि कोई अपराधी अपने अपराध का स्वयं निर्णय करे व जो नाजायज सन्तान है, उसे जायज करार दे दे। अभिप्राय यह है, कि ब्रिटिश पार्लियामेन्ट की कानूनी शक्ति को मर्यादित करने वाली कोई अन्य सत्ता नहीं है। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि ब्रिटेन की पार्लियामेन्ट कानूनी दृष्टि से

सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न है। पर ब्रिटेन में ही एक अन्य शक्ति ऐसी है, जो पार्लियामेन्ट की अपेक्षा भी अधिक शक्तिशाली है। यह शक्ति जनता की इच्छा व लोकमत है। ब्रिटेन से जिन लोगों को पार्लियामेन्ट के सदस्यों का चुनाव करने के लिए वोट देने का अधिकार प्राप्त है, उनकी सम्मति, उनकी इच्छा एक ऐसी शक्ति है, जो पार्लियामेन्ट के निर्णयों पर प्रभाव डालती है। पार्लियामेन्ट के सदस्य किस नीति का अनुसरण करें, कैसे कानून बनायें, देश के हित और कल्याण के लिए किस मार्ग का अनुसरण करें— ये सब बातें इस लोकमत के अनुसार ही निश्चित होती हैं। इस लोकमत या निर्वाचकों की इच्छा की 'राजनीतिक प्रभुता' कहा जा सकता है। कानून के पण्डित राजनीतिक प्रभुता की सत्ता को स्वीकृत करने की आवश्यकता नहीं समझते। न्यायालयों की दृष्टि में भी इस प्रभुता की कोई सत्ता नहीं होती, क्योंकि मुकदमों का फैसला करते हुए वे केवल देश के कानून को ही देखते हैं। पर फिर भी इस राजनीतिक प्रभुता की सत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि पार्लियामेन्ट के निर्णयों पर इस प्रभुता का प्रभाव अवश्य होता है। सामयिक रूप से पार्लियामेन्ट लोकमत की अवहेलना कर सकती है, पर लोकतन्त्र राज्यों में यह सम्भव नहीं है, कि राजनीतिक प्रभु कानूनी प्रभु को अपने पीछे न चला सकें।

अनेक राज्यों में पार्लियामेन्ट की शक्ति संविधान द्वारा मर्यादित होती है। पार्लियामेन्ट ऐसी कोई कानून नहीं बना सकती, जो संविधान में प्रतिपादित मूल सिद्धान्तों के प्रतिकूल हो। अमेरिका के कांग्रेस की शक्ति संविधान द्वारा मर्यादित है। यही दशा भारत में है। फ्रांस, पोलैण्ड, स्विट्जरलैण्ड आदि अन्य राज्यों में भी पार्लियामेन्ट की शक्ति संविधान द्वारा

मर्यादित की गई है। यही कारण है कि इन राज्यों में पार्लियामेन्ट यह अधिकार नहीं रखती, कि कोई ऐसा कानून बना सके, जो संविधान के विरुद्ध हो। इसीलिए इन राज्यों में नागरिकों को यह अधिकार होता है कि वे पार्लियामेन्ट द्वारा स्वीकृत किये गये किसी कानून के खिलाफ न्यायालय में अपील कर सकें और उसे संविधान के विरुद्ध होने के कारण अवैध । उद्घोषित करा सकें। इन राज्यों में कानूनी प्रभुता पूर्णतया पार्लियामेन्ट में निहित नहीं होती । पार्लियामेन्ट की कानूनी प्रभुता संविधान के अधीन होती है । इन राज्यों में भी राजनीतिक प्रभुता निर्वाचकों में निहित रहती है, जो अपनी इच्छा व लोकमत द्वारा न केवल पार्लियामेन्ट को अपनी पीछे चलाते हैं, अपितु संविधान में भी परिवर्तन करने का अधिकार व शक्ति रखते हैं ।

दो पर राजनीतिक प्रभु अपनी शक्ति को कानूनी प्रभु द्वारा ही अभिव्यक्त कर सकता है। यदि कभी इन प्रभुताओं में संघर्ष या विरोध हो, तो कानूनी प्रभु की ही विजय होगी, कारण यह है कि न्यायालय की दृष्टि में राजनीतिक प्रभु की कोई सत्ता नहीं होती। पर निर्वाचन के समय जनता को यह अवसर प्राप्त होता है कि वह पार्लियामेन्ट को अपने अनुकूल बना सके, और समाचार पत्रों, सभाओं आदि द्वारा लोकमत को प्रकट कर पार्लियामेन्ट के सदस्यों को अपनी इच्छा को मानने के लिए विवश कर सके । इसी प्रकार संविधान में संशोधन करने की शक्ति भी जनता के पास ही रहती है। इसी कारण राजनीतिक प्रभु की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। अनेक बार ऐसा भी होता है, कि संविधान में स्वीकृत किये गये सिद्धान्तों में परिवर्तन करने के लिए जनता को उग्र उपायों का अवलम्बन करने की आवश्यकता पड़ सकती है। केवल लोकमत की अभिव्यक्ति व शान्तिमय उपायों द्वारा जनता अपनी सर्वोच्च सत्ता व प्रभुता को प्रकट नहीं कर पाती । वह विवश होकर शान्ति के मार्ग का अवलम्बन करती है, और शक्ति का प्रदर्शन कर अपनी प्रभुता को अभिव्यक्त करती है । क्रान्ति द्वारा जनता राज्य के संविधान को नये सिरे से बनाती है, क्योंकि संविधान जनता की प्रभुता व सर्वोपरि इच्छा का मूलरूप होता है। अंतोगत्वा, कानूनी प्रभु को राजनीतिक प्रभु के अनुकूल बनना ही पड़ता है, यह अनुकूलता चाहे तो विद्यमान संविधान में प्रतिपादित नियमों का अनुसरण करके स्थापित की जाए, और चाहे क्रान्ति द्वारा वर्तमान कानूनी प्रभु नष्ट कर नये कानूनी प्रभु का निर्माण किया जाये ।

प्रभुत्व शक्ति की एकता – कानूनी प्रभुता और राजनीतिक प्रभुता में जो भेद ऊपर किया गया है, उससे यह नहीं समझना चाहिए कि राज्य की प्रभुत्व शक्ति अखंडित व अभिभाज्य न होकर खंडित क्योंकि व विभाजित होती है। वस्तुतः राज्य की प्रभुत्व – शक्ति अखंडनीय व अविभाजनीय होती है, जो सत्ता सर्वोपरि व सर्वोच्च है वह विभाजित हो ही नहीं सकती व विभाजित होने की दशा में वह सर्वोपरि कैसे रह सकेगी। कानूनी प्रभुता और राजनीतिक प्रभुता एक ही सर्वोपरि शक्ति के दो विभिन्न रूप हैं, वे एक ही सत्ता के दो पहलू हैं। यह सच है, कि कभी-कभी कानूनी प्रभुता और राजनीतिक प्रभुता में विरोध उपस्थित हो जाता है । पर अंत में पार्लियामेन्ट (कानूनी प्रभु) को निर्वाचकों (राजनीतिक प्रभु की इच्छा के सम्मुख सिर झुकाना ही पड़ता है। पार्लियामेन्ट जो कानून बनाये वह यदि लोकमत के विरुद्ध हो, तो न केवल उस कानून को बदलना, अपितु उसे बनाने वाले कानूनी प्रभु को भी लोकमत के अनुसार चलने के लिए बाध्य करना अवश्यम्भावी होता है। लोकतंत्र राज्यों में यह प्रक्रिया सुगमता के साथ हो जाती है। पर जिन राज्यों में कानूनी प्रभुता किसी एक व्यक्ति या एक श्रेणी के हाथ में होती है, उनमें इस समन्वय की स्थापना के लिए अधिक उग्र उपायों का अवलम्बन करने की आवश्यकता पड़ती है ।

जनता की प्रभुत्व शक्ति (People's Sovereignty)

शक्ति निर्वाचकों में निहित के इच्छा होती है, क्योंकि वे अपने वोट के अधिकार का प्रयोग कर पार्लियामेन्ट को अपनी

— राज्य में प्रभुत्व अनुकूल बना सकते हैं। इस बात के प्रतिपादन का स्वाभाविक परिणाम यह होगा, कि हम मानें कि राज्य में असली प्रभुत्व शक्ति जनता के हाथों में रहती है। अठारहवीं सदी तक संसार के प्रायः सभी राज्यों में एकतंत्र, स्वेच्छाचारी व निरंकुश राजाओं का शासन था। इस दशा में यूरोप में अनेक ऐसे विचारक उत्पन्न हुए, जिन्होंने जनता की प्रभुत्व शक्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इनमें रूसो सबसे प्रमुख हैं। उसने डंके की चोट के साथ यह प्रतिपादित किया, कि राज्य की प्रभुत्व-शक्ति जनता में निहित होती है, और सरकार शासन व कानून निर्माण की शक्ति जनता से ही प्राप्त करती है। फ्रांस की राज्य क्रान्ति के नेता रूसो के इसी विचार को सम्मुख रखकर लुई 16वें के निरंकुश शासन के विरुद्ध विद्रोह करने और जनता की इच्छा के अनुकूल शासन को स्थापित करने के लिए कटिबद्ध हुये थे। अमेरिका के विविध उपनिवेशों ने जब ब्रिटिश शासन के विरुद्ध अपने यहाँ रिपब्लिक की स्थापना की तो उन्होंने भी रूसो के इसी सिद्धान्त को अपना ध्येय बनाया। फ्रांस की राज्य क्रान्ति के समय से यूरोप के विभिन्न राज्यों में लोकतंत्रवाद के सिद्धान्तों ने जोर पकड़ना शुरू किया और धीरे-धीरे न केवल यूरोप में, अपितु संसार में प्रायः सर्वत्र ही यह सिद्धान्तों सर्वमान्य हो गया। परजब हम यह कहते हैं कि राज्य की प्रभुत्व शक्ति जनता में निहित है तो हमारा अभिप्राय यही होता है कि राज्य की सर्वोच्च — शक्ति उन लोगों के हाथों में है, जिन्हें वोट का अधिकार प्राप्त है। जिन राज्यों में सब पुरुषों और स्त्रियों को (बच्चों को छोड़कर) वोट का अधिकार हो, उनमें तो जनता और निर्वाचकों में कोई विषेश भेद नहीं होता। पर वोट का अधिकार भी धीरे-धीरे ही सब पुरुषों और स्त्रियों को प्राप्त हुआ है। अब तक भी ऐसे राज्य विद्यमान हैं, जिनमें वोट के अधिकार के लिए शिक्षा, धन आदि की शर्तें लगाई जाती हैं। पर यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि वोट का अधिकार किस हद तक विस्तृत हो, यह बात भी लोकमत व जनता की इच्छा पर ही निर्भर रहती है। राज्य की प्रभुत्व शक्ति अन्तोगत्वा जनता में (निर्वाचकों व अन्य लोगों में) ही निहित होती है, क्योंकि वोट के अधिकार के विषय में नई व्यवस्था करना भी लोकमत पर ही निर्भर करता है।

यह राष्ट्र की प्रभुत्व शक्ति राजनीति शास्त्र के अनेक लेखकों ने यह प्रतिपादित किया है, कि राज्य की प्रभुत्व शक्ति वस्तुतः राष्ट्र में निहित होती है। नस्ल, धर्म, भाषा, चरित्र, ऐतिहासिक परम्परा आदि की एकता के कारण जो जनसमुदाय अपने एक होने की भावना रखता है, उसे राष्ट्रियता कहते हैं। फ्रांस के क्रान्तिकारी कहते थे, कि प्रभुत्व शक्ति राज्य में निहित न होकर फ्रेंच राष्ट्र में निहित है। इसीलिए जब उन्होंने फ्रांस के गणराज्य (रिपब्लिक) के संविधान का निर्माण किया, तो उसमें यह सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ कि सब "प्रभुत्व शक्ति आवश्यक रूप से राष्ट्र में निहित है" फ्रांस के अनेक राजषास्त्रियों ने इस सिद्धान्त का समर्थन करते कहा कि राज्य की प्रभुत्व शक्ति उन व्यक्तियों में निहित नहीं होती जो कि राज्य में निवास करते हैं। ऐसा मानने से प्रभुत्व शक्ति को लाखों करोड़ों अंशों में विभक्त हुआ मानना पड़ेगा। यदि किसी राज्य की जनसंख्या 5 करोड़ है, तो उसकी प्रभुत्व शक्ति इन 5 करोड़ निवासियों में वैयक्तिक रूप से पृथक-पृथक निहित मानने की अपेक्षा यह मानना अधिक उपयुक्त है, कि प्रभुत्व शक्ति इन पांच करोड़ व्यक्ति की समष्टि में निहित है। इन पांच करोड़ व्यक्तियों का समुदाय अपनी एक पृथक सत्ता, अपना एक अलग व्यक्तित्व रखता है। इसी को हम राष्ट्र कहते हैं। प्रभुत्व शक्ति इस समष्टि में इस राष्ट्र में ही निहित है, पृथक-पृथक व्यक्तियों में नहीं। इसी कारण राज्य की प्रभुत्व शक्ति की अभिव्यक्ति किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं हो सकती। सम्पूर्ण राष्ट्र की जो सामूहिक इच्छा है, वही वस्तुतः सर्वोपरि है, उसे ही हम प्रभुत्व शक्ति कहते हैं। प्रभुत्व शक्ति और असली प्रभुत्व शक्ति दो अनेक बार ऐसा होता है, कि राज्य की असली प्रभुत्व शक्ति और वैध प्रभुत्व शक्ति में भेद रहता है। जब हिटलर ने बेल्जियम, फ्रांस आदि राज्यों पर कब्जा कर लिया तो उसमें शासन करने के लिए ऐसी सरकारें कायम कीं, जो इन राज्यों के संविधान के अनुसार स्थापित नहीं हुई थीं। बेल्जियम में जो सरकार विधान के अनुसार कायम थी, वह जर्मनी के आक्रमण के कारण अपना राज्य छोड़कर इंग्लैण्ड में चली गई थी। बेल्जियम की वैध सरकार वह थी जिसका प्रधान

कार्यालय इंग्लैण्ड में था, पर बेल्जियम का असली शासन सूत्र एक ऐसी नई सरकार के हाथ में था, जो वैध न होते हुए भी उस देश की असली (द फैक्टो) सरकार थी। जब क्रामवेल ने इंग्लैण्ड की पार्लियामेन्ट को भंग कर सारी शासन – शक्ति अपने हाथों में ले ली, तो उसकी सरकार वैध न होते हुए भी इंग्लैण्ड की असली सरकार बन गई थी। यही बात नेपोलियन की उस सरकार के सम्बन्ध में कही जा सकती है, जिसका निर्माण उसने फ्रांस के संविधान की उपेक्षा करके किया था। राज्य – क्रान्ति के परिणामस्वरूप जो नई सरकारें बनती हैं, वे राज्य के पुराने संविधान के अनुसार नहीं होती हैं। जार के पतन के बाद केरेन्स्की ने 1917 में जो नई सरकार रूस में कायम की थी, वह वैध नहीं थी। इसी प्रकार वॉल्सेविक लोगों ने केरेन्स्की की सरकार के विरुद्ध क्रान्ति करके जिस नये शासन का संगठन किया था, वह वैध न होते हुए भी रूस की असली सरकार थी। जब कोई एक व्यक्ति, एक श्रेणी या बहुसंख्यक जनसमूह राज्य के विद्यमान संविधान और कानून की उपेक्षा कर क्रान्ति, विद्रोह या शक्ति के प्रयोग द्वारा राज – शक्ति को अपने हाथ में करके अपनी सरकार कायम कर लेता है, या कोई विदेशी आक्रान्ता सैनिक बल द्वारा किसी राज्य को जीतकर अपनी सरकार स्थापित करता है, तो इस प्रकार स्थापित हुई सरकार उस राज्य की वास्तविक व असली सरकार हो जाती है, चाहे वह वैध सरकार न होय और वह सरकार जिस प्रभुत्व शक्ति को अभिव्यक्त करती है वह वैध न होते हुए भी असली प्रभुत्व शक्ति होती है।

असली प्रभुत्व शक्ति बहुधा अपने को वैध रूप में परिणित कर लेती है। यह प्रक्रिया अनेक प्रकार से होती है। क्रान्ति के कारण जिस नई सरकार का निर्माण होता है, वह प्रायः जनता द्वारा अपने को स्वीकार करा लेती है। हिटलर ने जब जर्मनी से लोकतंत्र शासन का अंत कर सब राज-शक्ति अपने हाथों में ले ली, तो जर्मन जनता ने नयी व्यवस्था को स्वीकार कर लिया। नेपोलियन जब प्रधान तो कौंसल बना, और बाद में जब वह फ्रांस का सम्राट बनकर राज्य सिंहासन पर आरुण हुआ, उसने जनता की स्वीकृति प्राप्त कर ली थी। उसने फ्रांस के संविधान में इस प्रकार के परिवर्तन करा लिये थे, जिनके कारण प्रधान कौंसल व सम्राट के रूप में उसे सब शक्ति प्राप्त हो गई थी। जब लेनिन के नेतृत्व में वॉल्सेविक पार्टी ने रूस की राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया, तब इस भारी परिवर्तन को भी रूसी जनता ने स्वीकार कर लिया। अनेक बार ऐसा भी होता है, कि नई सरकार जनता की बाकायदा स्वीकृति लेने की जरूरत नहीं समझती है और जनता के स्वीकृति के बिना ही वह अपने को वैध सरकार मान लेती है। विदेशी आक्रान्ता जब किसी राज्य को जीतकर अपने अधीन करते हैं तो वे उस देश की जनता की इच्छा की कोई भी परवाह किये बिना अपनी सरकार को वैध रूप देकर उस पर शासन करते हैं। भारत की ब्रिटिश सरकार इसका उत्तम उदाहरण है। भारत का शासन करने के लिए जिस विधान का उपयोग ब्रिटिश शासक करते थे, वह ब्रिटिश पार्लियामेन्ट द्वारा निर्मित होता था, भारतीय जनता की ओर से निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा नहीं। इस दशा में भारत की प्रभुत्व शक्ति भारतीय जनता में निहित न रहकर ब्रिटिश जनता में निहित रहती थी, और इसीलिए तब भारत एक पृथक राज्य न होकर ब्रिटिश राज्य का ही एक अंश था।

ब्राह्म और आभयन्तर प्रभुत्व शक्ति – राजनीति शास्त्र के अनेकलेखकों ने राज्य की बाह्य और आभयन्तर शक्ति का पृथक रूप से प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार राज्य जो अपने अंतर्गत सब मनुष्यों को अपनी आज्ञा में रखता है, सबको आदेशदेता है, वह अपने क्षेत्र के अन्दर विद्यमान सब पदार्थों को अपने नियन्त्रण में रखता है, वह राज्य की आभयन्तर प्रभुत्व शक्ति है। इसके विपरीत, राज्य जो अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है, उनसे सन्धि और विग्रह करने का अधिकार रखता है, यह उसकी बाह्यप्रभुत्व शक्ति है। वस्तुतः बाह्य और आभयन्तर प्रभुता राज्य की एक ही प्रभुत्व शक्ति के दोपहलू हैं। जो राज्य अपने आन्तरिक क्षेत्र में सम्पूर्ण – प्रभुत्व सम्पन्न हो उसके लिए यहभी आवश्यक है कि वह किसी अन्य राज्य के अधीन न हो, वह पूर्णतः स्वतन्त्र हो और अन्यसब राज्यों के साथ जिस प्रकार का भी चाहे सम्बन्ध रख सके। उसे यह अधिकार हो कि वह अन्य राज्यों से स्वेच्छापूर्वक सन्धि या विग्रह कर सके।

उपसंहार इस प्रकरण में प्रभुत्व शक्ति के विविध रूपों का प्रतिपादन किया गया है। वस्तुतः प्रभुता व सर्वोपरिता ही एक ऐसी विशेषता है, जो राज्य को अन्य विविध जनसमुदायों से भिन्न करती है। राज्य की यह प्रभुत्व शक्ति उसमें सदा स्थिर रहती है, यद्यपि इसका प्रयोग भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न प्रकार से होता रहा है। वर्तमान युग में संसार के प्रायः सभी राज्यों में लोकतंत्र शासन विद्यमान है। प्रभुत्व शक्ति जनता में निहित है और जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों की सरकार ही इस शक्ति का प्रयोग करती है। मध्यकाल में प्रायः सर्वत्र एकतंत्र, स्वेच्छाचारी राजाओं का शासन था वे अपनी इच्छा को ही कानून समझते थे। उस युग में राज्य की प्रभुत्व शक्ति का उपयोग राजा लोग में अपनी इच्छा के अनुसार कर सकते थे। पर उग्र-से-उग्र, निरंकुष व स्वेच्छाचारी राजा को भी यह भय सदा बना रहता था, कि कहीं जनता उसके विरुद्ध विद्रोह न कर दे। आचार्य चाणक्य ने लिखा है – “प्रकृति कोपो ही सर्वकोपोभव गरीयाम” – अर्थात् जनता का रोश अन्य सब रोशों से अधिक भयंकर होता है। स्वेच्छाचारी एकतंत्र राजा भी इस बात को समझते थे, कि यद्यपि प्रभुत्व शक्ति का प्रयोग वे मनमाने तरीके से कर सकते हैं। पर यदि जनता उनके शासन से परेशान होकर विद्रोह कर देगी तो उसके सम्मुख वे सदा खड़े नहीं रह सकेंगे। प्रभुत्व शक्ति किसी एक व्यक्ति या श्रेणी में निहित न होकर सम्पूर्ण राज्य में, जनता में निहित होती है, यह बात उस युग में भी सत्य थी, जब कि लोकतंत्र शासन का विकास नहीं हुआ था। जनता ने सदा अपनी इस शक्ति का प्रयोग नहीं किया था। बहुधा या अत्याचारी निरंकुष राजाओं के उच्छृंखल शासन को चुपचाप सहती रही। इस दशा में उसकी हालत एक सुप्त ज्वालामुखी के सामान थी पर इतिहास में जब कभी जनता ने अपनी शक्ति का उपयोग किया, कोई एक व्यक्ति या एक श्रेणी उसके सम्मुख टिक नहीं सकी।

Characteristics of Sovereignty)

राज्य की प्रभुत्व शक्ति के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक है, कि उसकी विशेषताओं पर अधिक विस्तार के साथ प्रकाश डाला जाए। ये विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(1) स्थायित्व जब तक राज्य कायम रहता है, उसमें प्रभुत्व शक्ति भी कायम रहती है। जब राज्यों का शासन स्वेच्छाचारी एकतंत्र राजाओं के हाथ में था, तब राजाकी मृत्यु के साथ राज्य की प्रभुत्व शक्ति का अंत नहीं हो जाता था। प्रभुता कायम रहती थी। यद्यपि उसको धारण करने वाला, उसको प्रयोग करने वाला बदल जाता था। आजकलके लोकतंत्र राज्यों में सरकार में प्रायः परिवर्तन होते रहते हैं। कभी किसी राजनीतिक दलकी सरकार बनती है, तो कभी किसी की। पर सरकारों के इन परिवर्तनों द्वारा राज्य की प्रभुत्व शक्ति में बाधा नहीं पड़ती। प्रभुत्व शक्ति अखंड व स्थिर रहती है, यद्यपि उसका प्रयोग करने वाली सरकार बदल जाती है। जब कोई राज्य किसी अन्य राज्य को जीतकर अपने अधीन कर लेता है, तब भी प्रभुत्व शक्ति का स्थायित्व नष्ट नहीं होता। विदित राज्य की प्रभुत्व शक्ति विजेता राज्य के हाथ में चली जाती है, और वह उसका प्रयोग करने लगता है।

(2) केवलित्व या अनन्यत्व

राज्य में केवल एक ही प्रभुत्व सम्पन्न सत्ता हो सकती है, एक से अधिक नहीं। राज्य के सब निवासी इसी एक सत्ता के आदेशों का पालन करते हैं। यदि यह माना जाये, कि राज्य में एक से अधिक प्रभुता व सर्वोपरिता रह सकती है तो परस्पर – विरोध हो जायेगा। सर्वोपरि सत्ता एक से अधिक हो ही नहीं सकती। जो सबसे ऊपर हो, वही सर्वोपरि है। अतः सर्वोपरि सत्ता एक ही हो सकती है। इसी कारण राज्य की प्रभुत्व शक्ति की यह विशेषता है, कि वह “केवली” या अनन्य होती है, राज्य में अकेली वही रहती है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई प्रभुत्व – सम्पन्न सत्ता उसमें नहीं रहती।



राज्य की प्रभुत्व शक्ति अपने क्षेत्र में सर्वव्यापी होती है। राज्य के अंतर्गत जो भी प्रदेश हो, उन प्रदेशों में जो भी पदार्थ हो, वहाँ जो भी मनुष्य व जनसमुदाय निवास करते हों, सब पर प्रभुत्व शक्ति अपना अधिकार व नियंत्रण रखती है। राज्य के अन्तर्गत कोई भी ऐसा मनुष्य व पदार्थ नहीं होता, जो प्रभुत्व शक्ति के अधिकार व नियंत्रण से मुक्त हो, सिवाय उन मनुष्यों, क्षेत्रों व पदार्थों के जिन्हें कि जान-बूझकर, स्वेच्छापूर्वक इस अधिकार व नियंत्रण के क्षेत्र से बाहर रखा गया हो। राज्य के जिन स्थानों पर विदेशी राजदूत निवास करते हैं उन्हें राज्य के कानून के अधीन नहीं माना जाता। इसी प्रकार यदि कोई विदेशी राजा व राष्ट्रपति सामयिक रूप से किसी राज्य में यात्रा व निवास करने के लिए आया हुआ हो, या कोई विदेशी सेना किसी राज्य से गुजर रही हो, या कोई विदेशी जहाज किसी राज्य के क्षेत्र में आया हुआ हो, तो ये सब उस राज्य के अधिकार व नियंत्रण से मुक्त होते हैं। राज्य की प्रभुत्व शक्ति की सर्वव्यापित्व होने की बात इन पर लागू नहीं होती। क्योंकि राज्यों ने जान बूझकर स्वेच्छापूर्वक उन्हें अपनी सर्वव्यापी प्रभुत्व शक्ति के क्षेत्र से बाहर रखना स्वीकार किया होता है। अन्यथा, राज्य के क्षेत्र में कोई भी ऐसा मनुष्य, जनसमुदाय व पदार्थ नहीं होता, जो राज्य के अधिकार व नियंत्रण से बाहर हो। इसीलिए सर्वव्यापित्व राज्य की प्रभुत्व शक्ति की एक आवश्यक विशेषता है।

(4) अपथ्यकरणीयत्व राज्य प्रभुत्व शक्ति को, अपने को नष्ट किये बिना अपने से पथ्यक नहीं कर सकता। जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने जीवन व व्यक्तिको आत्म विनाश किये बिना अपने से पथ्यक नहीं कर सकता, या जैसे कोई वृक्ष अपने फूलने-फलने के गुण को आत्म-विनाश के बिना अपने से पथ्यक नहीं कर सकता, वैसे ही कोई राज्य अपनी प्रभुत्व शक्ति को अपने को नष्ट किये बिना, अपने से पथ्यक नहीं कर सकता। प्रभुत्व शक्ति राज्य के प्राण के समान है, अतएव उसे राज्य से पथ्यक करना सम्भव नहीं है। अपथ्यक-करणीयत्व राज्य की प्रभुत्व शक्ति की आवश्यक विशेषता है। राजा के बदले जाने व सरकार के स्वरूप में परिवर्तन हो जाने से राज्य की प्रभुत्व शक्ति परिवर्तित नहीं होती, यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है। इन दशाओं में प्रभुत्व शक्ति को प्रयुक्त करने वाले व धारण करने वाले में ही परिवर्तन होता है, प्रभुत्व शक्ति स्थायी रहती है। इसी प्रकार जब राज्य अपने किसी प्रदेश को अपने से पथ्यक कर देता है, तो भी उस पथ्यक हुए प्रदेश से प्रभुत्व शक्ति पथ्यक नहीं हो जाती। उसकी प्रभुत्व शक्ति कायम रहती है। यद्यपि उसका प्रयोग दूसरे हाथों द्वारा होने लगता है। उदाहरण के लिए भारत को ही लीजिए। पाकिस्तान के प्रदेश भारत से पथ्यक हो गये पर इन पथ्यक हुए प्रदेशों में प्रभुत्व शक्ति का अभाव हो गया हो, यह बात नहीं हुई। इन प्रदेशों की प्रभुत्व शक्ति अब भी विद्यमान है, यद्यपि उसका प्रयोग पाकिस्तानी सरकार द्वारा होता है, जो कि भारत सरकार से भिन्न है। इसमें संदेह नहीं, कि इतिहास में ऐसे बहुत से उदाहरण विद्यमान हैं जिनमें एक राज्य के अनेक खण्ड हो गये हों, या राज्यों की सीमा में परिवर्तन हुए हों, या अनेक राज्यों ने मिलकर अपना एक राज्य बना लिया हो। पर इन सब में ऐसा कभी नहीं हुआ, कि राज्य की प्रभुत्व शक्ति राज्य से पथ्यक हो गई हो। उसका प्रयोग करने वालों वा उसे धारण करने वाली सत्ता में अवश्य परिवर्तन होता रहा है, पर प्रभुत्व शक्ति किसी न किसी सत्ता द्वारा अवश्य ही अपने को अभिव्यक्त करती रही है। प्रभुत्व शक्ति राज्य से तभी पथ्यक की जा सकती है, जबकि राज्य का सदा के लिए विनाश हो जाए, क्योंकि यह शक्ति राज्य के प्राण व जीवन के समान है।

(5) एकता व अविभाजनीयता (Indivisibility)

राज्य में जो सर्वोच्च शक्ति है, वह एक ही हो सकती है, उसका विभाग कर सकना सम्भव नहीं है। यदि उसे विभक्त कर दिया जा सकेगा तो सर्वोच्च या सर्वोपरि कैसे रह सकेगी? इसीलिए राज्य की प्रभुत्व शक्ति के लिए एक व अविभाजनीय होना परम आवश्यक है। राज्य की प्रभुत्व शक्ति को विभाजित करना अशुभव है, कि अन्य कोई भी उसकी समानता न कर सके, वह सर्वोपरि हो। इस दशा में यह कैसे सम्भव है कि प्रभुत्व शक्ति के विभाग हो सकें।

पर अनेक लेखक ऐसे भी हैं, जो इस मत से सहमत नहीं हैं। मध्यकालीन यूरोप में अनेक ऐसे छोटे-छोटे राज्य थे, जो अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होते हुए भी किसी बड़े शक्तिशाली सम्राट की आधीनता स्वीकार करते थे। भारत में ही मुगल साम्राज्य की क्षीणता के काल में हैदराबाद का निजाम, अवध का नवाब, वजीर, विविध राजपूत व मराठे राजा अपने-अपने क्षेत्र में 'प्रभु' होते हुए भी दिल्ली के मुगल सम्राट को अपना स्वामी स्वीकार करते थे। आजकल के संघ – राज्यों में जो विविध राज्य अंतर्गत होते हैं, वे अपने-अपने क्षेत्र में प्रभुता – सम्पन्न होने पर भी संघ – राज्य की सत्ता को स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि को देखकर अनेक विद्वानों ने यह प्रतिपादन किया है कि प्रभुत्व शक्ति विभाजनीय

होती है, उसके अनेक विभाग हो सकते हैं, और उन विविध विभागों का प्रयोग विविध सत्ताओं द्वारा हो सकता है। हम इस विषय पर एक पृथक् प्रकरण में विचार करेंगे।

इकाई- 7 राजनीति विज्ञान : अर्थ एवं परिभाषा

सीमित प्रभुता का सिद्धान्त (The Theory of Limited Sovereignty)

प्रभुता के जिस सिद्धान्त का ऊपर प्रतिपादन किया गया है, उसके अनुसार यह आवश्यक है कि राज्य की प्रभुत्व शक्ति पूर्ण हो और उसे किसी भी प्रकार सीमित या मर्यादित न किया जा सके। कोई भी ऐसी व्यवस्था न हो, जिससे राज्य की प्रभुता व सर्वोपरिता में किसी भी प्रकार का व्याघात पड़े। राज्य को पूर्ण अधिकार होता है कि वह जो चाहे आदेश दे सके, जिस प्रकार चाहे कानून बना सके। पर राज्य स्वयं इन आदेशों व कानूनों के अधीन नहीं होता। इसी कारण वह जब चाहे, इन आदेशों या कानूनों में परिवर्तन कर सकता है, वह उन्हें रद्द कर सकता है। सरकार अवश्य इन कानूनों के अधीन होती है, पर सरकार और राज्य दो भिन्न सत्तायें हैं। राज्य अपने बनाये हुए कानूनों के भी ऊपर होता है। सर्वोपरिता के लिए यह आवश्यक है, कि राज्य की प्रभुत्व शक्ति पूर्ण व असीम हो। पर अनेक विचारकों का कथन है, कि राज्य की प्रभुत्व शक्ति पूर्णतया असीम नहीं होती। अनेक बातें हैं, जो उसे सीमित करती हैं यथा (1) धर्म, न्याय, औचित्य और सत्य सम्बन्धी विचार राज्य कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकता, जो जनता में विद्यमान सत्य, औचित्य आदि के विचारों के विपरीत हों व ये विचार ऐसे हैं, जो निःसंदेह मनुष्यों के सब कार्यों को नियंत्रित व मर्यादित करते हैं। इन्हीं विचारों को वैदिक साहित्य में 'ऋत' कहा गया है। कोई भी राज्य इनका उल्लंघन करने का साहस नहीं कर सकता। अतः यह मानना होगा कि राज्य की प्रभुत्व शक्ति, त द्वारा मर्यादित होती है।

(2) जनता में जो चरित्र, व्यवहार व प्रथायें देर से चली आती हैं, राज्य उनका उल्लंघन नहीं कर सकता। राज्य कोई ऐसा आदेश नहीं दे सकता जो इस सामाजिक चरित्र के विरुद्ध हो। कोई राजा कितना ही निरंकुश क्यों न हो, कोई अधिनायक कितना ही स्वेच्छाचारी क्यों न हो, उसे भी इनको स्वीकृत करना पड़ता है।

(3) मनुष्य की इच्छा से ऊपर एक अन्य इच्छा है, जिसे ईश्वरीय व दैवी इच्छा कहते हैं। राज्य की इच्छा भी मानवीय इच्छा ही है, दैवी नहीं। वह किसी भी दृष्टि में दैवी इच्छा से ऊपर नहीं हो सकती। इसलिए उसे पूर्ण व असीम मानना ठीक नहीं है। यही कारण है, कि राज्य अपनी इच्छा को कानून व आदेश के रूप में प्रकट करते हुए यह सदा ध्यान रखता है, कि वह इस दैवीय इच्छा का उल्लंघन न करे इन्हीं विचारों को दृष्टि में रखकर राजनीति शास्त्र के अनेक विद्वानों ने प्रभुता को सीमितमाना है। लॉर्ड ब्राइस के अनुसार, "प्रभुता के सम्बन्ध में लिखने वाले कतिपय लेखकों ने

यद्यपि प्रभुत्व- शक्ति – सम्पन्न सत्ता को इस प्रकार प्रतिपादित किया है, मानो उस पर कोई भी प्रतिबन्ध न होता हो, उसकी अपनी इच्छा ही सम्पूर्ण मानव प्रजा पर हावी रहती हो। यदि वस्तुतः देखा जाए तो संसार में कभी कोई ऐसा व्यक्ति या व्यक्ति – समूह नहीं हुआ जिसने अनियंत्रित शक्ति का उपयोग किया हो और जिसे किसी बाह्य शक्ति का भय न रहा



हो।" रूसी लेखक मारटेन्स ने प्रभुता का लक्षण करते हुए ईश्वर को ऐसी सर्वोच्च शक्ति प्रतिपादित किया था, जो राज्य की प्रभुत्व शक्ति को सीमित करता है। जर्मन लेखक ब्लुंस्ली के अनुसार

1" राज्य भी सर्वशक्तिमान नहीं होता, क्योंकि बाह्य सम्बन्धों में उसकी शक्ति अन्य राज्यों के अधिकारों द्वारा सीमित होती है, और आभ्यन्तर क्षेत्र में राज्य में विद्यमान विविध व्यक्तियों के अधिकारों द्वारा।"

—सीमित प्रभुता के सिद्धान्त की आलोचना पर यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि राज्य अपने आदेशों व कानूनों को मर्यादित करते हुए जिन किन्हीं बातों को सम्मुख रखता है, उनसे अपने को मर्यादित करना न करना उसके अपने हाथ में है। भारत की ब्रिटिश सरकार ने जब सती प्रथा को बंद किया, तो उसने जनता में चली आई इस प्रथा को कोई महत्व नहीं दिया। आजकल कानून द्वारा भारत की स्वतंत्र सरकार ने अछूत प्रथा को निशिद्ध किया है। ऐसा करते हुए उसने भी जनता में सदियों से चली आई उस प्रथा को कोई महत्व नहीं दिया। जनता के धर्म, सत्य, न्याय, औचित्य आदि विषयक विचार परिवर्तित होते रहते हैं। अनेक बार राज्य इस बात के लिए भी यत्न करता है, कि कानून द्वारा जनता के विचारों, चरित्र व प्रथाओं में परिवर्तन करे। राज्य इन सबको कितना महत्व दे, यह उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर है। इसलिए यह मानना पड़ेगा, कि राज्य की प्रभुत्व शक्ति असीम और पूर्ण है। वह स्वयं चाहे, तो समाज में विद्यमान किन्हीं विचारों या प्रथाओं को महत्व दे, चाहे न दे। इस सम्बन्ध में गार्नर ने ठीक ही लिखा है, कि प्रकृति का कानून सदाचार — सम्बन्धी सिद्धान्त, दैवी विधान, मानवता और युक्ति — युक्तता के आदेश, लोकमत का भय व इसीप्रकार की अन्य बातें जिनके विषय में यह कहा जाता है, कि वे राज्य की प्रभुत्व शक्ति को मर्यादित करती हैं, वस्तुतः कोई भी वैधानिक प्रभाव नहीं रखती, सिवाय उस दशा में जबकिराज्य स्वयं ही उन्हें स्वीकार करें और उन्हें महत्व दे।" अभिप्राय यह हुआ कि राज्य की प्रभुत्व शक्ति को मर्यादित करने की शक्ति अन्य किसी भी सत्ता में नहीं है। हाँ, राज्य स्वयं अपने आदेशों व इच्छा को प्रकट करते हुए कुछ बातों को दृष्टि में रखता है। पर वे बातें राज्य से ऊपर नहीं हैं। राज्य चाहे तो उनका उल्लंघन व उपेक्षा कर सकता है।

ऑस्टिन का प्रभुता — सम्बन्धी सिद्धान्त (Austin's Theory of Sovereignty)

19वीं सदी के पूर्वार्ध में राजनीति शास्त्र का एक महान पंडित हुआ, जिसका नाम ऑस्टिन था। उसने राज्य की प्रभुत्व शक्ति के सम्बन्ध में बड़े विषद रूप से विचार किया था, और राजनीति शास्त्र में उसके विचारों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। 19वीं सदी के बहुत से लेखक ऑस्टिन के मंतव्यों पर तर्क-वितर्क करते रहे। अतः यह उपयोगी होगा, कि उसके प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त पर कुछ विस्तृत रूप से प्रकाश डाला जाए। ऑस्टिन के अनुसार एक उच्च सत्ताधारी व्यक्ति अपने में निम्न सत्ता वाले व्यक्ति को जो आदेश देता है, उसे कानून कहते हैं। इसी मन्तव्य को सम्मुख रखकर ऑस्टिन ने राज्य की प्रभुत्व शक्ति के स्वरूप को इस प्रकार प्रतिपादित किया था — "यदि कोई निष्चित उच्च सत्ताधारी मनुष्य, जिसे कि स्वयं किसी अन्य उच्चतर सत्ताधारी मनुष्य से आदेश प्राप्त करने की आदत न हो, और जो स्वयं किसी मानव समाज के बड़े भाग से अपने आदेशों का पालन कराने की स्थिति में हो, तो वह उच्च सत्ताधारी मनुष्य उस समाज में "प्रभु" होता है और वह समाज (उस उच्च सत्ताधारी मनुष्य के सहित) एक राजनीतिक व स्वाधीन समाज होता है।"

ऑस्टिन ने प्रभुता — सम्बन्धी जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, उसके प्रधान तत्व निम्नलिखित हैं

(2) प्रभुत्व – शक्ति – सम्पन्न सत्ता निश्चित होती है, चाहे यह सत्ता कोई एक व्यक्ति हो, कोई एक श्रेणी हो या कोई एक जन-समूह हो । इस शक्ति का किसी एक निश्चित सत्ता में केन्द्रित रहना आवश्यक है । । इसीलिए ऑस्टिन के अनुसार राज्य की प्रभुत्व शक्ति सर्वसाधारण जनता में केन्द्रित नहीं हो सकती ।

(3) यह प्रभुत्व – शक्ति – सम्पन्न निश्चित सत्ता जनसमाज की बहुसंख्या से अपने आदेशों का पालन कराती है। यदि समाज का बहुत बड़ा भाग इस सत्ता के आदेशों का पालन न करता हो, तो यह सत्ता प्रभुत्व – शक्ति – सम्पन्न नहीं कही जा सकती ।

(4) राज्य की यह प्रभुत्व – शक्ति – सम्पन्न सत्ता स्वयं किसी अन्य सत्ता व शक्ति के आदेशों का पालन नहीं करती । यदि यह किसी अन्य सत्ता के, चाहे व राज्य के अन्दर की सत्ता हो और चाहे बाहर की, आदेशों का पालन करे, तो इसे प्रभुत्व – सम्पन्न नहीं कहा जा सकता ।

(5) प्रभुत्व – शक्ति – सम्पन्न सत्ता जो आदेश दे, वही कानून है। आदेश दे सकना व कानून का निर्माण कर सकना और उनका समाज के बड़े भाग से पालन करा सकना ऐसी विशेषता है, जो

प्रभुत्व – शक्ति – सम्पन्न सत्ता में आवश्यक रूप से होनी चाहिए । अतः यह प्रभुत्व – सम्पन्न सत्ता पूर्ण और असीम होती है। इसे मर्यादित करने वाली अन्य कोई सत्ता हो ही नहीं सकती । वैधानिक दृष्टि से राज्य पूर्ण, असीम, अबाध और अनियन्त्रित होता है ।

ऑस्टिन के सिद्धान्त की आलोचना – राजनीति शास्त्र के विविध विद्वानों ने ऑस्टिन के सिद्धान्त की अनेक प्रकार से आलोचना की है। इनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं

(1) ऑस्टिन का प्रभुत्व – शक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त वर्तमान काल के लोकतन्त्र राज्यों पर लागू नहीं होता । लोकतन्त्रवाद का प्रमुख सिद्धान्त यह है, कि राज्य की प्रभुत्व – शक्ति जनता में निहित है । लोकमत या जनता की इच्छा ही राज्य में सर्वोपरि है। रूसो ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। फ्रांस की राज्य – क्रांति द्वारा लोकतन्त्र शासन की जो लहर यूरोप में प्रबल हुई थी, उसकी तह में यही विचार काम कर रहा था । यदि ऑस्टिन के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाए, तो जिसे हमने ऊपर जनता की प्रभुत्व-शक्ति व राजनीतिक प्रभुता कहा है, उसकी सत्ता से ही इनकार करना होगा ।

(2) ऑस्टिन का यह कथन कि उच्च सत्ताधारी मनुष्य अपने से निम्न सत्ता रखने वाले मनुष्यों को जो आदेश देता है, वही कानून है, सही नहीं है। आचार्य चाणक्य ने कानून के चार स्तम्भ या आधार बताये हैं (क) धर्म या औचित्य या न्याय, जिसका आधार सत्य होता है । (ख) व्यवहार – विविध व्यक्ति परस्पर जो व्यवहार करें, लेन-देन, क्रय-विक्रय आदि के लिए जो शर्त तय करें। (ग) चरित्र – विविध कुलों, जातियों, श्रेणियों व अन्य जनसमुदायों में जो परम्परागत नियम व प्रथाएं चली आ रही हों। (घ) शासन – राजा जो आदेश दें। इस प्रकार आचार्य चाणक्य कानून के जो आधार बताये हैं, राजा के आदेश भी उनमें अन्यतम हैं। पर उसके अतिरिक्त कानून के तीन अन्य आधार भी हैं, जिन्हें कोई उच्च – सत्ताधारी निश्चित सत्ता जारी नहीं करती। प्राचीन और मध्यकालों में प्रायः सभी देशों में कानून का निर्माण केवल राजा द्वारा प्रचारित आदेशों द्वारा ही नहीं होता था। धर्म, व्यवहार और चरित्र भी उनके कानून के प्रमुख अंग होते थे। भारत में मुगल बादशाहों व पंजाब के सिक्ख राजाओं के शासनकाल में इस देश के कानून का निर्माण किया गया। राजा रणजीत सिंह का अपनी प्रजा पर निरंकुश शासन था । पर वह परम्परागत व्यवहार और चरित्र के अनुसार शासन करता था, और उसने कोई ऐसे आदेश प्रचलित नहीं किये, जिन्हें ऑस्टिन की परिभाषा के अनुसार कानून कहा जा सके । चरित्र और व्यवहार परम्परागत होते हैं, उन्हें कोई उच्च सत्ताधारी निश्चित मनुष्य व जनसमूह प्रचलित नहीं करता। ऑस्टिन का प्रभुत्व शक्ति सम्पन्न

११ सिद्धान्त उसके कानून के स्वरूप पर आश्रित है। जब ऑस्टिन द्वारा प्रतिपादन कानून की परिभाषा ही ठीक नहीं है, तो उसके प्रभुत्व – सम्बन्धी सिद्धान्त को कैसे ठीक समझा जा सकता है। कानून की जो परिभाषा ऑस्टिन ने दी है, वह केवल प्राच्य देशों के कानून पर ही लागू न होती हो, यह बात नहीं है। इंग्लैण्ड तक में कानून के अच्छे बड़े भाग का आधार परम्परागत व्यवहार और चरित्र है। यही बात संसार के अन्य राज्यों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

(3) ऑस्टिन के अनुसार प्रत्येक राज्य में एक ऐसी सत्ता होनी चाहिए जो प्रभुत्व – शक्ति – सम्पन्न हो,

चाहे यह सत्ता कोई एक व्यक्ति हो, कोई एक श्रेणी हो, या कोई एक जनसमूह हो, पर इसका 'निश्चित' होना आवश्यक है। विषुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से यह बात ठीक हो सकती है। पर हम पहले प्रतिपादित कर चुके हैं, कि कानूनी प्रभुता के अतिरिक्त राजनीतिक प्रभुता की भी सत्ता होती है। कानून बनाने का अधिकार जिन लोगों के पास हो, उनसे भी ऊपर एक सत्ता होती है जो इस कानूनी प्रभु को नियंत्रित करती है। वर्तमान लोकतंत्र राज्यों में पार्लियामेंट का नियंत्रण निर्वाचक लोग करते हैं, और निर्वाचकों पर सम्पूर्ण जनता का लोकमत अपना प्रभाव रखता है। स्वेच्छाचारी निरंकुष राजा भी पूर्णतया मनमानी नहीं कर सकते क्योंकि उन्हें भी जनता के विद्रोह या क्रान्ति का भय बना रहता है। राज्य की कानूनी प्रभुता जिस व्यक्ति, श्रेणी या जन समूह के हाथ में होती है, वह अवश्य ही 'निश्चित' होता है। पर इस प्रभुत्व – शक्ति – सम्पन्न निश्चित सत्ता के ऊपर एक अन्य सत्ता भी होती है, जो राजनीतिक प्रभु कहलाती है, और जिसे पूरी तरह 'निश्चित' नहीं समझा जा सकता।

(4) ऑस्टिन ने प्रभुता का जो स्वरूप प्रतिपादित किया है, उसमें शक्ति के सिद्धान्त को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। क्योंकि उच्च सत्ताधारी मनुष्य में शक्ति होती है। अतः वह आदेशों का जनता से पालन करा सकता है। पर यह बात सही नहीं है। जनता जो कानून का पालन करती है, उसका यह कारण नहीं होता, कि वह किसी उच्च शक्ति के सम्मुख अपने को असहाय अनुभव करती है, और अपनी इच्छा के प्रतिकूल कानून का अनुसरण करती है। इसके विपरीत, कानून के रूप में जनता की इच्छा ही अपने को अभिव्यक्त करती है, और इसलिए जनता उसका प्रसन्नतापूर्वक पालन करती है।

(5) ऑस्टिन ने प्रभुत्व शक्ति जो स्वरूप प्रतिपादित किया है, वह कानूनी प्रभुता के विषय में ठीक हो सकता है, पर हम पहले लिख चुके हैं कि कानूनी प्रभुता और राज्य की प्रभुत्व शक्ति एक ही वस्तु नहीं है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि ऑस्टिन द्वारा प्रतिपादित प्रभुत्व शक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त को पूर्णतः सही नहीं समझा जा सकता। पर ऑस्टिन ने प्रभुता के कानूनी पहलू पर जो जोर दिया है, वह बड़ा महत्वपूर्ण है। राज्य की प्रभुत्व शक्ति के कानूनी पहलू को स्पष्ट करने में उससे बड़ी सहायता मिली है। इसलिए राजनीति शास्त्र में उसका महत्वपूर्ण स्थान है।

प्रभुत्व शक्ति की अविभाजनीयता हम ऊपर लिख चुके हैं कि एकता व अविभाजनीयता प्रभुत्व शक्ति की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। पर राजनीति शास्त्र के अनेक लेखक इससे सहमत नहीं हैं। संयुक्त राज अमेरिका के लेखकों ने वे पहले-पहल इस प्रश्न को उठाया। संयुक्त राज्य अमेरिका का संगठन विविध राज्यों द्वारा हुआ, पुरु में ब्रिटेन के उपनिवेश थे। ब्रिटेन के आधिपत्य के विरुद्ध विद्रोह कर वे स्वतंत्र हुए, और फिर उन्होंने अपना एक (कॉन्फेडरेशन) बनाया। इस संगठन के एक संविधान में यह बात स्पष्टरूप से लिख दी गई थी, कि संघ के अंतर्गत सब राज्य प्रभुत्व – शक्ति – सम्पन्न हैं। अतः इस संदेह की कोई गुंजाइश नहीं थी, कि प्रभुत्व शक्ति कहाँ निहित है। पर 1789 ई. में जब संयुक्त राज्य अमेरिका का नया संविधान बना, और संगठन के अंतर्गत विविध राज्य एक नये

राजशास्त्री यह प्रतिपादित करते, कि प्रभुत्व शक्ति विभाजनीय है, और जहाँ विविध जर्मन राज्यों में प्रभुत्व शक्ति विद्यमान है, वहाँ साथ ही साम्राज्य भी प्रभुत्व शक्ति – सम्पन्न है। वेट्ज, ब्लुंसली, माल आदि जर्मन विद्वान प्रभुत्व शक्ति की विभाजनीयता के ही पक्ष पोशक थे। फ्रांस के भी अनेक विद्वानों ने इस मति की पुष्टि की थी। 19वीं सदी में फ्रांस में संघ – राज्य नहीं था। अतः प्रभुत्व शक्ति के विभक्ति होने का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता था। पर स्विट्जरलैंड, जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी आदि यूरोपियन राज्यों में जो दशा उस समय में थी, उसे दृष्टि में रखकर फ्रेंच विद्वानों ने यह उचित समझा कि प्रभुत्व शक्ति की विभाजनीयता को ही ठीक माना जाये।

मध्यकाल में प्रायः सभी देशों में सामन्त – पद्धति विद्यमान थी। इस पद्धति के अनुसार जहाँ सामन्त राजा अपने राज्य-क्षेत्र में स्वतंत्र शासक के रूप में शासन करते थे, वहाँ वे सम्राट की अधीनता भी स्वीकार करते थे, जो अपने सम्पूर्ण साम्राज्य के लिए आदेश जारी कर सकता था। सामन्त-पद्धति के समय में भी प्रभुत्व शक्ति सामन्त राजाओं और उनके अधिपति के बीच में विभक्त रहती थी।

विवेचना – प्रभुत्व शक्ति के अविभाजनीय होने के विरोध में जो युक्तियाँ ऊपर दी गई हैं, उनमें मुख्य गलती यह है, कि उनमें राज्य और सरकार के भेद को भली-भाँति दृष्टि में नहीं रखा गया है। संघ राज्यों में दो सरकारें होती हैं, एक केन्द्रीय संघ- सरकार और दूसरी संघ के अंतर्गत विविध राज्यों की राजकीय सरकारें। संघ के संविधान के अनुसार कुछ राज – शक्ति संघ – सरकार के हाथ में होती है, और कुछ राज्यों की सरकारों के हाथ में। पर प्रश्न यह है, कि यह कौन निश्चय करता है, कि कितनी शक्ति संघ – सरकार के हाथों में हो और कितनी राज्यों की सरकारों के हाथ में? इसे निश्चित करने वाली जो मूलभूत शक्ति होती है, वही वस्तुतः प्रभुत्व शक्ति है। आखिर, किसी मूल भूत शक्ति द्वारा ही निर्णय किया जाता है, कि कौन-सी सरकार किस राज-शक्ति का प्रयोग करे। यह मूलभूत शक्ति (प्रभुत्व शक्ति) संघ सरकार व राज्यों की सरकारों के पास विद्यमान राज – शक्ति से सर्वथा भिन्न होती है। लोकतंत्र राज्यों में यह मूलभूत शक्ति जनता में निहित रहती है, जो निर्वाचकों द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों से यह निश्चय कराती है, कि इस शक्ति का प्रयोग किस प्रकार किया जाए। यही मूलभूत शक्ति राज्य के संविधान का निर्माण कराती है, राज्यों के कानूनों की रचना कराती है, और यह निर्णय कराती है, कि शासन सूत्र किस राज्य के हाथों में रहे।

में कठिनाई यह है, कि इस मूलभूत शक्ति (प्रभुत्व शक्ति) का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। मध्यकाल में जब राजाओं का निरंकुश शासन था, सामन्त राजा अपने-अपने प्रदेशों में और सम्राट अपने-अपने साम्राज्यों में शासन करते थे, तब भी इस प्रभुत्व शक्ति की सत्ता थी। पर यह मूलभूत शक्ति किसमें निहित रहती थी यह बात स्पष्ट नहीं है। वैधानिक दृष्टि से सम्राट की इच्छा ही उस युग में कानून होती थी। सीलियेल्यू 14वाँ अभिमान के साथ कह सकता था – “राज्य क्या है? मैं ही तो राज्य हूँ।” पर वस्तुतः वह राज्य नहीं था, और न राज्य की प्रभुत्व शक्ति ही उसमें निहित थी। यही कारण है, कि कुछ वर्षों के बाद जब 16वें ल्यू के शासनकाल में फ्रांस में राज्य – क्रान्ति हुई तो यह बात स्पष्ट हो गई, कि फ्रांस की प्रभुत्व शक्ति राजा में निहित न होकर किसी अन्य सत्ता में निहित थी। 15वीं और 16वीं सदियों जब लोकतंत्रवाद के विचारों का सर्वथा अभाव था, तब भी सामन्त लोग सम्राट की निरंकुशता में बाधा उपस्थित करते रहते थे। उग्र से उग्र स्वेच्छाचारी सम्राट के लिए भी यह संभव नहीं था, कि वह कोई ऐसा आदेश दे सके, जो जनता की इच्छा के एकदम विरुद्ध हो। चार्ल्स पंचम और फिलिप द्वितीय जैसे सम्राट लाख प्रयत्न करने पर भी अपनी प्रजा को अपने मनचाहे धर्म में दीक्षित होने के लिए विवश नहीं कर सके। भारत में औरंगजेब ने जब शक्ति का प्रयोग कर अपने धर्म का प्रचार कर चाहा, तो भारतीय प्रजा उसके विरुद्ध उठ खड़ी हुई और मुगल साम्राज्य की जड़ें खोखली हो गयीं। स्पष्ट है, कि मध्यकाल में राज्य की प्रभुत्व शक्ति न सम्राट में निहित थी, और न उसके अधीन विविध सामंतों में। यह शक्ति उस समय भी उस जनसमुदाय में विद्यमान थी, जिसके राजनीतिक दृष्टि से संगठित रूप को हम राज्य कह सकते हैं। उस युग जनसमुदाय इस प्रकार से

संगठित नहीं था कि वह अपनी ईच्छा को भलीभांति अभिव्यक्त कर शासन पर अपना प्रभाव डाल सके। पर उस युग में भी वह शासकों के किसी ऐसे कार्य व नीति को क्रिया में परिणत होने से रोक सकता था, जो उसे उग्र रूप से उद्देगकारी प्रतीत होता हो। राज-शक्ति अवश्य विभाजनीय होती है। उसे केवल संघ – सरकार और राज्यों की सरकारों में ही विभक्त नहीं किया जाता, अपितु म्यूनिसिपैलिटी और जिला बोर्डों की सरकारों में भी विभक्त किया जाता है। म्यूनिसिपैलिटी और जिला बोर्डों तक को राज-शक्ति का कुछ अंश प्रदान किया जाता है। पर प्रश्न यह है, कि राज्य में वह कौन सी शक्ति है, जो यह निश्चय करती है कि राज-शक्ति का विभाग विविध सरकारों में किस प्रकार से किया जाए? आजकल के लोकतंत्र राज्यों में यह शक्ति स्पष्ट रूप से जनता में निहित है, जिसके पास अपनी इच्छा को अभिव्यक्त करने के अनेक साधन हैं। मध्यकाल के राज्यों में कुछ राज-शक्ति सामंतों के हाथों में रहती थी, और कुछ सम्राटों के। पर उस युग में राज्यों में भी एक ऐसी मूलभूत शक्ति की सत्ता थी, जिसने राज-शक्ति को सम्राटों और सामंतों में विभक्त किया था। यह शक्ति कहाँ निहित थी, यह स्पष्ट कर सकना सुगम नहीं है, पर इसकी सत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता। कानूनी प्रभुता किसी राज्य में कहाँ निहित होती है, यह मालुम कर सकना कठिन नहीं होता। पर कानूनी प्रभुता के अतिरिक्त एक अन्य प्रभुता है, जिसे राजनीतिक प्रभुता कहा जाता है। इतिहास के विविध युगों में राज्यों के अंदर यह राजनीतिक प्रभुता कहाँ निहित रहती है, इसे भलीभांति स्पष्ट न कर सकने पर भी हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा, कि यह प्रभुत्व शक्ति प्रत्येक राज्य में विद्यमान रहती है, और राज्य की यह शक्ति एक व अविभाजनीय होती है।

1. प्रभुता के सिद्धान्त की आलोचना

(1) ऐतिहासिक दृष्टि से आलोचना

हमने ऊपर प्रतिपादित किया है, कि प्रभुत्व शक्ति राज्य की एक ऐसी विशेषता है, जो राज्य को शक्ति अन्य सब जनसमुदायों से पृथक् करती है। पर राजनीतिशास्त्र के अनेक विद्वानों ने इस प्रभुत्व की सत्ता को स्वीकृत करने से ही इन्कार किया है। उनका कथन है, कि यह आवश्यक नहीं कि राज्य सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्न हो। इन विद्वानों की युक्तियों पर विचार करना बहुत उपयोगी है। कुछ विद्वानों के अनुसार, राज्य के लिए सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्न होना आवश्यक व अनिवार्य नहीं है। फ्रांस की राज्य क्रान्ति के बाद ही 19वीं सदी में ऐसे राज्यों का विकास हुआ, जो सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्न हैं। प्राचीन काल व मध्य काल में बहुत से ऐसे राज्य विद्यमान थे, जो सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्न नहीं थे। भविष्य में फिर ऐसे राज्य विकसित हो सकते हैं, जिनमें यह विशेषता न हो। आजकल के सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्न राज्य इतिहास की कृति हैं। उनका विकास प्रधानतयः 19वीं सदी में हुआ था, और अब 20वीं सदी में उनका ह्रास स्पष्टतया दृष्टिगोचर हो रहा है। पूर्वी यूरोप के अनेक राज्य इस समय रूस के प्रभाव में हैं। पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, बल्गेरिया, आदि विविध राज्यों की स्थिति इस समय प्रायः वही है, जो कि मध्यकाल में सामन्त राज्यों की थी। परिस्थितियों से विवर्ण होने के कारण वे अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से पूर्णतया रूस के अधीन हैं। यही बात पश्चिमी यूरोप के उन अनेक राज्यों के सम्बन्ध में कही जा सकती है, जो अटलांटिक चार्टर के कारण अमेरिका के वशवर्ती हो गये हैं। वेल्जियम, लक्समबुर्ग आदि राज्यों को ब्राह्म और आभांतर – दोनों दृष्टियों से सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्न कहना प्रभुता का उपहास करना होगा। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने आज संसार के बहुसंख्यक राज्यों को इस बात के लिए विवर्ण कर दिया है, कि वे अपने को किसी प्रबल व शक्तिशाली राज्य के संरक्षण में ले आये और अपनी विदेशी राजनीति को उस प्रबल राज्य की अनुगामी बना दें।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि 1939-45 के विश्व संग्राम के बाद अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वही दशा पैदा हो गई है जो मध्यकाल में थी, जबकि निर्बल राजा अपने राज्य की रक्षा का एक मात्र उपाय यही समझते थे, कि अपने को किसी प्रबल शक्तिशाली सम्राट के संरक्षण में ले आये जैसे कि मध्यकाल में सामन्त-पद्धति के समय राज्य सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्न नहीं होते थे। अब 20वीं सदी में फिर वही दशा आ गई है। केवल 19वीं सदी के राज्यों को दृष्टि में

रखते हुए यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है, कि प्रभुता राज्य की एक अनिवार्य विशेषता है ?

हुए मुगल साम्राज्य के पतनकाल में भी भारत के विविध राजा दिल्ली के मुगल सम्राट की अधीनता स्वीकार करते थे। हैदराबाद का निजाम, अवध का नवाब – वजीर, मराठों के होल्कर, सिन्धिया आदि राजा, और उदयपुर आदि के राजपूत राजा मुगल साम्राज्य के ह्रासकाल में क्रियात्मक दृष्टि से स्वतंत्र होते भी मुगल सम्राट के आधिपत्य को स्वीकार करते थे। यही दशा यूरोप में भी थी। जर्मनी, इटली, आदि के विविध राजा आस्ट्रियन सम्राट को, जो पवित्र रोमन सम्राट भी होता था, अपना अधिपति मानते थे। इस दशा में क्या यह माना जाए, कि सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्न न होने के कारण इन सबकी स्थिति वस्तुतः राज्य की नहीं थी? क्या औरंगजेब के बाद भारत को एक राज्य स्वीकार करना उचित होगा, क्योंकि उस समय के विविध भारतीय राज्य निर्बल मुगल सम्राट के नाममात्र आधिपत्य को स्वीकार करते थे? क्या नेपल्स पीडमोंन्ट, बबेरिया आदि विविध यूरोपियन राज्यों की राज्य – रूप से सत्ता को केवल इसलिए अस्वीकृत करना उचित होगा, क्योंकि वे आस्ट्रिया के पवित्र रोमन सम्राट को अपना अधिपति मानते थे? वर्तमान युग में भी क्या पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि की राज्य रूप से सत्ता स्वीकृत करना उचित नहीं है, क्योंकि वे अंतराष्ट्रीय क्षेत्र में रूस के वषवर्ती हैं? सम्भवतः अधिक उचित यह है, कि हम इन सबको राज्य रूप से स्वीकार करें, पर सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्न व प्रभुता को राज्य का एक आवष्यक व अनिवार्य तत्व मानने की आवष्यकता न समझें राज्य का अनिवार्य तत्व प्रभुता नहीं, अपितु वह शक्ति है, जो उसके अंतर्गत सब मनुष्यों को उसके आदेशों का पालन करने के लिए विवश करती है। राज्य में यह शक्ति होती है, कि वह आज्ञा दे सके, शासन कर सके और जो लोग उसके आदेशों का पालन करें, उसे दण्ड दे सकें। शासन करने की यह शक्ति ही राज्य की आवष्यक व अनिवार्य विशेषता है। “अन्यों को वषवर्ती रख सकने की क्षमता” राज्य की विशेषता है, न कि सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्नता विवेचन दृष्टि ऐतिहासिक दृष्टि से जो विवेचना ऊपर की गई है, उसमें बहुत कुछ सच्चाई है। इसमें संदेह नहीं, कि राज्य के स्वरूप में परिवर्तन आते रहते हैं। मध्यकाल में विविध राज्यों का जो स्वरूप था, अर्वाचीन काल के राज्य उससे भिन्न थे। यह भी सम्भव है कि भविष्य में राज्यों के रूप में और परिवर्तन हों। पर इतिहास के विविध युगों के और विविध प्रकारों के राज्यों में यह एक बात समान है कि उनमें अपने क्षेत्र में निवास करने वाले सब मनुष्यों को आज्ञानुवर्ती रखने व अपने क्षेत्र में विद्यमान सब पदार्थों को नियंत्रित रखने शक्ति रही है। यह शक्ति यदि वे राज्य अपने से ऊपर की किसी उच्चतर सत्ता से प्राप्त करते हैं, तो उन्हें हम सच्चे अर्थों में राज्य नहीं कह सकते। पर यह शक्ति यदि उनकी अपनी है, बाह्य प्रभाव व नियंत्रण से मुक्त है, तो उन्हें राज्य कहना उचित होगा। इसी शक्ति को हम राजनीति शास्त्र में प्रभुता कहते हैं। मध्यकाल के अनेक सामंत राज्यों में यह शक्ति विद्यमान थी। नाममात्र को पवित्र रोमन सम्राट की अधीनता स्वीकृत करते हुए भी मध्यकालीन यूरोप के विविध राज्य सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्न थे। जिस समय नेपोलियन ने पवित्र रोमन साम्राज्य की सत्ता का अंत किया, तो उस साम्राज्य की शक्ति नाममात्र की ही थी। उसके अधीन जो विविध राज्य थे, वे वस्तुतः स्वतंत्र थे और बाह्य नियंत्रण से मुक्त थे। पर मध्यकालीन यूरोप में अनेक सम्राटों के अधीन कतिपय सामंत राज्य ऐसे भी थे, जिन्हें सम्पूर्ण – प्रभुत्व-सम्पन्न न होने के कारण राज्य नहीं कहा जा सकता। फ्रांस के सम्राट के अधीन जो विविध सामंत राजा थे, वे स्वतंत्र नहीं थे। विसमा द्वारा जब जर्मन साम्राज्य का संगठन हो गया था, तो बबेरिया आदि की स्थिति स्वतंत्र राज्यों की नहीं रह गई थी। इसी कारण उस युग के जर्मन विद्वानों ने यह प्रतिपादित करना आरम्भ कर दिया था, कि जर्मनी की प्रभुत्व शक्ति जर्मन साम्राज्य में निहित है, उसके अंतर्गत विविध राज्यों में नहीं। सामंत पद्धति के अनुसार संगठित विविध राज्यों में कौन से राज्य सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्न हैं, यह इस बात पर निर्भर था कि वे जनता को आज्ञानुवर्ती रखने की शक्ति कहां से प्राप्त करते थे। यदि यह शक्ति उन्होंने अपने से ऊपर की किसी सत्ता से प्राप्त नहीं की है, तो वे वस्तुतः राज्य थे। भारत के मुगलकाल में अकबर, जहांगीर आदि के समय में भी सामंत-पद्धति विद्यमान थी। पर इन शक्तिशाली सम्राटों के अधीन जो विविध राजपूत व अफगान राजा थे, उनकी शक्ति मुगल सम्राट की कृ

पा पर ही निर्भर थी । इसके विपरीत औरंगजेब के बाद मुगल साम्राज्य के ह्रासकाल में मराठों व निजाम आदि की जो राज-शक्ति थी, वह दिल्ली के बादशाह की कृपा पर निर्भर नहीं थी । अतः उनके राज्य सच्चे अर्थों में “राज्य” थे । ब्रिटिश काल में ग्वालियर, हैदराबाद, कम्भीर आदि की राज-शक्ति ब्रिटिश सत्ता की कृपा पर निर्भर होने के कारण उन्हें सही अर्थों में राज्य नहीं समझा जा सकता था ।

आजकल चीन और अमेरिका का अंतराष्ट्रीय क्षेत्र में जिस प्रकार प्रभाव बढ़ रहा है, उसका यह परिणाम हो सकता है, कि विविध निर्बल व छोटे राज्य अपनी स्वतंत्र सत्ता खोकर अपना एक एक ऐसा संघ बना लें, जो इन प्रबल राज्यों का यथवर्ती हो । इस दशा में इनका राजत्व नष्ट हो जायेगा । पश्चिमी यूरोप के देशों का एक राज्य संघ बनाने का जो विचार चल रहा है, उसका यह परिणाम हो सकता है, कि बेल्जियम, लक्समबर्ग, फ्रांस आदि की वही स्थिति रह जाए, जो संयुक्त राज्य अमेरिका के अंतर्गत कैलीफोर्निया, न्यूयार्क आदि की है । पर जब तक यह स्थिति नहीं आती, ये सब राज्य सच्चे अर्थों में राज्य रहेंगे, क्योंकि आज्ञानुवर्ती रखने की शक्ति इनमें विद्यमान है, और यह शक्ति ये किसी उच्चतर सत्ता से प्राप्त नहीं करते

(2) अन्तराष्ट्रीयता के पक्षपातियों द्वारा प्रभुता के सिद्धान्त की आलोचना

राज्य की प्रभुत्व शक्ति का विरोध उन लोगों की ओर से भी किया जाता है, जो अन्तराष्ट्रीयता के विकास पर जोर देते हैं । वैज्ञानिक उन्नति के कारण मनुष्य ने देश और काल पर जो भारी विजय प्राप्त कर ली है, उसके कारण अब संसार के विविध राज्य एक-दूसरे के बहुत समीप आ गये हैं । साथ ही, विज्ञान ने अस्त्र-शस्त्रों के क्षेत्र में जो असाधारण उन्नति की है, उसके कारण किसी भी एक राज्य के लिए अकेले अपनी रक्षा कर सकना सुगम नहीं रह गया है । इस दशा में अब राज्यों के लिए यह सम्भव नहीं रहा, कि वे अपने को सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्न रख सकें । अब उनके लिए यह आवश्यक हो गया है, कि वे अपने को पूर्णतया स्वतंत्र न रखकर एक-दूसरे पर आश्रित होकर रहें । नेपोलियन के युद्धों के बाद (1814 ईसवी) से संसार के विविध राज्य अन्तराष्ट्रीयता की ओर बड़ी तेजी के साथ कदम बढ़ा रहे हैं । 20वीं सदी के दो महायुद्धों (1914-18 और 1939 से 45) के बाद तो ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, कि कोई भी राज्य अपने को पूर्णतया स्वतंत्र नहीं समझ सकता, और न अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में मनमानी ही कर सकता है । राष्ट्र संघ और संयुक्त राष्ट्र संघ (न्दपजमक छंजपवद त्दहंदपेंजपवद) के संगठन के कारण अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में राज्यों की सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्नता बहुत कुछ सीमित हो गई है । सिद्धान्तः, सब राज्य अब भी एक-दूसरे के समान स्थिति रखते हैं । अमेरिका, रूस, बेल्जियम और अफगानिस्तान अन्तराष्ट्रीय दृष्टि से अब भी एक दूसरे के समान हैं । पर क्रियात्मक दृष्टि से राज्यों की समानता व सम्पूर्ण – प्रभुत्व-सम्पन्नता अब नहीं रह गई है । केवल अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में ही नहीं, अपितु अपने आंतरिक मामलों में भी अब राज्य पूर्णतया “प्रभु” नहीं रहे हैं” । मजदूरों के सम्बन्ध में क्या कानून बनाये जायें स्वास्थ्य, मुद्रा, बैंक आदि के लिए क्या व्यवस्था की जाए इन मामलों में भी अब राज्यों को संयुक्त राज्य संघ के आदेशों व परामर्श को मानने के लिए विवश होना पड़ता है । संसार अन्तराष्ट्रीयता की ओर तेजी से आगे बढ़ रहा है । इस दशा में यह संभव नहीं, कि विविध राज्य अब अपने को सम्पूर्ण – प्रभुत्व-सम्पन्न बनाये रख सकें ।

ऐसा होना उचित भी है क्योंकि राज्यों की सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्नता विष्व षान्ति के लिए अत्यंत विघातक है । जब तक संसार में विविध राज्य अपने को किसी अन्तराष्ट्रीय व्यवस्था व संगठन के अधीन नहीं कर देंगे, और अपने को “प्रभु” समझना नहीं छोड़ देंगे, तब तक षान्ति की आशा करना व्यर्थ है । राज्य संस्था के विकास से पूर्व सब मनुष्य सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्न होते थे और मनमानी कर सकते थे । परिणाम यह था, कि समाज में मात्स्य न्याय छाया हुआ था । जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, वैसे ही शक्तिशाली मनुष्य निर्बल मनुष्य की जान और माल का अपहरण करने के लिए उद्यत रहते थे । अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में अब भी मात्स्य न्याय विद्यमान है । किसी व्यवस्था व संगठन के अभाव में शक्तिशाली राज्य निर्बल राज्यों की स्वतंत्रता का अपहरण करने के लिए सदा उद्यत रहते हैं । अतः

मानव समाज के लिए यह उपयोगी है, कि जो राज्य सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्न हैं, वे भी अपनी इस विशेषता को छोड़ दें और किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के अधीन हो जायें ।

प्रो. लास्की ने इस सम्बन्ध में लिखा है, “अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से एक स्वतंत्र व सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्न राज्य का विचार मानव के कल्याण के लिए विघातक है। किसी राज्य को अन्य राज्यों के साथ किस सम्बन्ध से रहना चाहिए, यह विषय ऐसा नहीं है, जिसका निर्णय करने का पूर्ण अधिकार केवल उस राज्य को ही हो । राज्यों का सर्वसामान्य जीवन एक ऐसा विषय है, जिस पर राज्यों में सर्वमान्य समझौता होना जरूरी है। इंग्लैण्ड को यह फैसला स्वयं नहीं करना चाहिए, कि वह कौन से अस्त्र-षस्त्र रखे, व किन लोगों को बाहर से आकर अपने प्रदेशों में बसने दे। ये मामले ऐसे हैं, जिनका सर्वसामान्य जीवन के साथ सम्बन्ध है, और इनकी व्यवस्था सम्पूर्ण विष्व को संगठित होकर करनी चाहिए ।” निःसंदेह, प्रो. लास्की के कथन में बहुत सच्चाई है । इंग्लैण्ड, फ्रांस, अमेरिका और रूस सदृश्य शक्तिशाली राज्य अपने अस्त्र-षस्त्रों को किस हद तक बढ़ा सकें, परमाणु शक्ति, जहरीली गैस आदि का वे प्रयोग करें या नहीं— ये मामले ऐसे हैं, जिनका सम्बन्ध सारे मानव समाज से है, केवल उन राज्यों से ही नहीं। इसी प्रकार नाजी जर्मनी यहूदियों के प्रति किस नीति का प्रयोग करता है, ऑस्ट्रेलिया विदेशी लोगों के अपने राज्य में प्रवेश के सम्बन्ध में क्या कानून बनाता है, दक्षिणी अफ्रीका में विविध नस्लों के लोगों के साथ क्या व्यवहार किया जाता है— इन बातों का सम्बन्ध सम्पूर्ण मानव समाज से है, क्योंकि इन बातों के सही फैसले पर मानव का हित और कल्याण निर्भर है। देश और काल पर विजय के कारण संसार के विविध राज्य अब एक-दूसरे के जितने समीप आ गये हैं, उसका परिणाम यह हुआ है, कि विष्व के किसी कोने में जो घटना घटती है, वह अपना प्रभाव सर्वत्र डालती है अतः मानव के हित के लिए यह आवश्यक हो गया है, कि विविध राज्यों की नीति व कार्यों पर सकल विष्व के हित कल्याण की दृष्टि से नियंत्रण रखा जाए। इस दशा में राज्यों की सम्पूर्ण सम्पूर्ण – प्रभुत्व-सम्पन्नता के सिद्धान्त पर जोर देना कितना अनुचित व हानिकारक है, इस बात की कल्पना सहज में की जा सकती है।

विवेचन इसमें संदेह नहीं, कि संसार अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर आगे बढ़ रहा है। पर अभी वह समय नहीं आया है जब कि राज्यों की सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्नता नष्ट हो गई हो। 1814 में वीयना की कांग्रेस सम्मेलन में यूरोप के जो राजनीतिज्ञ एकत्र हुए थे, वे यही समझते थे कि उन्होंने यूरोप का एक सुदृढ़ संगठन बनाने में अच्छी सफलता प्राप्त कर ली है। 1914-18 के महायुद्ध के बाद जिस राष्ट्र संघ का निर्माण किया गया था उससे भी संसार को बड़ी-बड़ी आशाएँ थी । पर राष्ट्र संघ के रहते हुए भी केवल 20 वर्षों के बाद ही दूसरा महायुद्ध का आरम्भ हो गया। 1939 से 45 के विष्व संग्राम के बाद जिस संयुक्त राज्य – संघ का संगठन हुआ है, वह कहाँ तक अपने उद्देश्य में सफल होगा, यह बात भी संदिग्ध है। उसके प्रमुख सदस्यों में विरोध और विदेश के चिन्ह अभी से प्रकट होने लग गये हैं । इस कारण अभी वह समय दूर है, जब कि राज्यों की सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्नता नष्ट होकर किसी ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का निर्माण हो जाए जो कि सब राज्यों को अपने आदेश व नियंत्रण में रख सके ।

यह ठीक है कि बेल्जियम, लुकसमबुर्ग सदस्य राज्यों के लिए सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्नता रख सकना अब संभव नहीं रहा है। आत्मरक्षा की दृष्टि से यह आवश्यक है, कि वे परस्पर मिलकर एक संघ बना लें। पर इतिहास में यह प्रक्रिया नयी नहीं है। मगध के साम्राज्यवाद से आत्मरक्षा करने के लिए उत्तरी बिहार में स्थित अनेक गणराज्यों ने मिलकर शक्तिशाली वज्जि – संघ का निर्माण किया था । एथेन्स के नेतृत्व में विविध ग्रीक नगर – राज्य एक प्रबल संगठन में संगठित हो गये थे । यदि रूस की बढ़ती हुई शक्ति से अपनी रक्षा करने के उद्देश्य से पश्चिमी यूरोप के विविध राज्य परस्पर मिलकर एक संगठन बना लें, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं होगी । यदि यह संगठन संयुक्त राज्य अमेरिका के समान सुदृढ़ होगा, तो बेल्जियम, लुकसमबुर्ग आदि छोटे राज्यों की सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्न इन राज्यों में पृथक् रूप से न रहकर इस संघ में निहित हो जायेगी। भारत कभी अनेक

छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त था । पर इतिहास की प्रक्रिया ने उसे अब एक विषाल षक्तिषाली राज्य में परिवर्तित कर दिया है । यह प्रक्रिया संसार के प्रायः सभी क्षेत्रों में होती है । यदि वर्तमान परिस्थितियों में पश्चिमी यूरोप के विविध राज्य अपनी पृथक् सत्ता को खोकर एक नये षक्तिषाली, विषाल, सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्न संघ को बनाने के लिए विवश हों, तो इससे यह नहीं कहा जा सकता, कि सम्पूर्ण – प्रभुत्व-सम्पन्नता राज्य का आवश्यक गुण नहीं है । यह सम्भव है, कि जितने राज्य इस समय संसार में हैं, उनमें से बहुत से धीरे-धीरे अन्य राज्यों में विलीन हो जायें। कोई समय था जब अकेले भारत में ही सैकड़ों हजारों की संख्या में राज्यों की सत्ता थी । अब सारे संसार के राज्यों की संख्या 120 के लगभग है । इस दृष्टि में यदि भविष्य में संसार के राज्यों की संख्या और भी कम रह जाए तो यह सर्वथा उचित ही होगा। पर जब तक राज्यों की सत्ता रहेगी, वे सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्न भी अवश्य ही रहेंगे ।

यदि कभी वह समय आ भी गया, जबकि संसार के सब राज्य एक अर्न्तराष्ट्रीय संगठन में संगठित हो जायें तब भी विविध राज्यों की आभयान्तर प्रभुता तो कायम रहेगी ही । राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों व सर्वमान्य हितों के मामलों के अतिरिक्त अन्य सब विषयों में उनकी अपनी इच्छा सर्वोपरि रहेगी । अन्तराष्ट्रीय सम्बन्ध आदि विषयों में भी प्रत्येक राज्य को अपनी इच्छा अभिव्यक्त करने का पूरा अवसर रहेगा व मनुष्य जब से राज्य संस्था में संगठित हुए हैं, उन्होंने अपनी स्वतंत्र इच्छा का अंत नहीं कर दिया है। इसके विपरीत मनुष्यों की स्वतंत्र सामूहिक इच्छा ही राज्य की इच्छा होती है । इसी प्रकार जब संसार के विविध राज्य किसी एक अंतराष्ट्रीय संगठन में संगठित हो जायेंगे, तब भी विविध राज्यों की स्वतंत्र इच्छा कायम रहेगी, और विविध राज्यों की सामूहिक इच्छा ही मानव समाज के सर्व सामान्य मामलों की व्यवस्था किया करेगी।

(3) विधानसभा की दृष्टि से प्रभुता के सिद्धान्त की आलोचना

राज्य की प्रभुत्व षक्ति का विरोध उन विचारकों द्वारा भी किया जाता है, जो कानून “राज्य का आदेश” नहीं मानते। हम ऊपर लिख चुके हैं, कि कानून केवल राज्य के आदेश को ही नहीं कहते, अपितु विविध जनसमुदायों के जो व्यवहार व चरित्र प्रचलित होते हैं, वे भी कानून के अंग होते हैं ।

साथ ही, मनुष्यों में सत्य, औचित्य, न्याय आदि के सम्बन्ध में जो विचार चले आते हैं, वे भी कानून के आधार होते हैं। यह स्पष्ट है कि राज्य कानून के इन विविध अंगों का निर्माण नहीं करता। ये राज्य से स्वतंत्र होते हैं इनकी सत्ता सम्भवतः राज्य संस्था के विकास से पहले भी विद्यमान थी, और इनकी सत्ता राज्य पर निर्भर नहीं होती । मनुष्य कानून को मानते हैं, उनका पालन करते हैं, इसका कारण यह नहीं है कि उन्हें राज्य ने प्रचलित किया, व उनका उल्लंघन करने पर राज्य सजा दे सकता है। मनुष्य यह अनुभव करते हैं, कि कानून वे सामाजिक नियम हैं, जिनका पालन करने से सबका हित है। कानून के पीछे जो षक्ति है, वह राज्य की राजनीतिक सर्वोपरिता नहीं है, अपितु मनुष्यों में विद्यमान यह भावना है, कि इनके पालन में ही हमारा सामूहिक हित है। जनता कानूनों को स्वयं स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करती है, उनका वह पालन करती है, इस बात की अपेक्षा किये बिना कि उनके पीछे राज – षक्ति विद्यमान है या नहीं। यही कारण है, कि सभी राज्यों में मनुष्य बहुत से ऐसे नियमों का परम्परागत रूप से पालन करते हैं जिनके पीछे कोई राज-षक्ति नहीं होती । भारत की सर्वसाधारण जनता में बिरादरी, धर्म आदि के कितने ही ऐसे नियम हैं जिन्हें सब लोग राजकीय कानून की अपेक्षा भी अधिक निश्ठा के साथ मानते हैं । इसका कारण यह है कि नियम और कानून अपनी सत्ता के लिए राज्य संस्था की अपेक्षा नहीं रखते । जनता उनका पालन करती है, उसका कारण भी यह नहीं होता, कि उसे किसी दण्ड का भय होता है, अपितु जनता यह अनुभव करती है, कि उनके पालन करने में उसका हित व कल्याण है। कानून की सत्ता राज्य की अपेक्षा है। यह कानून है जो राज्य की षक्ति को मर्यादित करता है व राज्य कानून को मर्यादित व नियंत्रित नहीं करता । इन्हीं बातों को दृष्टि में रखकर प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान सार्लेवेनया ने लिखा है,

कि राज्य की प्रभुत्व शक्ति का विचार मूलतः अप्रुद्ध है । इतिहास उसे गलत साबित करता है । सब बातों को दृष्टि में रखकर जब हम उस पर विचार करते हैं, तो वह न केवल व्यर्थ सिद्ध होता है, अपितु खतरनाक भी । सार्लेवेनया के अनुसार, राज्य वह सत्ता नहीं है, जो वैध और अवैध (कानूनी और गैर-कानूनी) में भेद करती है। क्योंकि कानून की सत्ता राज्य की अपेक्षा नहीं करती, अतः राज्य की स्थिति अन्य समुदायों से भिन्न नहीं है, और न उसमें वह शक्ति है, जिसे प्रभुता, सर्वोपरिता व सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्नता कहते हैं ।

विवेचन कानून के जिस स्वरूप का ऊपर प्रतिपादन किया गया है, उसमें बहुत सच्चाई है। यह ठीक है, कि कानून की सत्ता राज्य से स्वतंत्र होती है । पर यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए, कि कानून के दो पहलू हैं, उसका विषय और उसका स्वरूप । कानून का विषय क्या है, यह बात विविध जनसमुदायों, जातियों, कुलों, बिरादरियों और श्रेणियों आदि के चरित्र, व्यवहार और परम्परागत प्रथाओं पर निर्भर है । पर राज्य उसे एक निश्चित स्वरूप प्रदान करता है । अर्वाचीन काल के राज्यों में धर्म, जाति आदि पर आश्रित चरित्र, व्यवहार और परम्परागत प्रथाओं को मूर्तरूप दे दिया गया है। भारत के कानून में वे सब नियम सम्मिलित हैं, जो हिन्दुओं और मुसलमानों में परम्परागत रूप से चले आते हैं । विवाह, विरासत, तलाक आदि के सम्बन्ध में हिन्दुओं और मुसलमानों की प्रथाएँ अलग-अलग थीं। हिन्दुओं में भी सवर्ण और अछूत जातियों की प्रथाओं में भेद था। राज्य ने इन सबको दृष्टि में रखकर हिन्दू कानून और मुस्लिम कानून को अलग-अलग स्वरूप प्रदान किया। यह ठीक है, कि भारतीय सरकार ने हिन्दू कानून व मुस्लिम कानून के “विषय” का निर्माण नहीं किया । वे पहले से विद्यमान थे। पर सरकार ने उन्हें एक निश्चित रूप अवश्य प्रदान किया। जनता जो परम्परागत नियमों का पालन करती है, उसमें राज – शक्ति का भय बड़ा कारण है। भारत के प्राचीन राजशास्त्रियों राज – शक्ति के इस भय को ‘दण्ड’ कहा है। उनका कथन है, कि यह दण्ड ही है जो प्रजा को सन्मार्ग पर कायम रखता है, उसका शासन व नियंत्रण करता है, और उसकी रक्षा करता है। यदि यह दण्ड न हो, तो सर्वत्र अराजकता और मातस्य न्याय छा जायेंगे, किसी की अपनी सम्पत्ति, अपना पारिवारिक जीवन व अपनी सुरक्षित सत्ता तक भी कायम नहीं रह सकेगी। कानून का विषय चाहे राज्य संस्था की अपेक्षा न करता हो, पर उसका स्वरूप व प्रतिपालन राज्य के बिना सम्भव नहीं है । जिसे हम औचित्य, धर्म, सत्य व न्याय कहते हैं, वह अपनी सत्ता के लिए राज्य की अपेक्षा नहीं करता, पर जनता जो उसका प्रतिपालन करती है, उसका कारण राज्य संस्था की सत्ता ही है । यदि राजनीतिक सिद्धान्त स्व-प्रगति की जाँच करें— 1. ध्वजमात्रा पर छोटा नोट

लिखें ।

इकाई- 8 राजनीति विज्ञान राज्य एवं सरकार दोनों का अध्ययन

2. राज्य की प्रभुत्व शक्ति की स्थायित्व विशेषता को समझाएँ ।

3. ऑस्टिन ने प्रभुता – सम्बन्धी जिस सिद्धान्त का प्रति- पादन किया है, उसके किसी दो प्रधान तत्वों का उल्लेख करें ।

‘दण्ड’ या राज – शक्ति न हो, तो जनता कैसे औचित्य व न्याय के नियमों का पालन कर सकेगी? यदि कोई व्यक्ति औचित्य का उल्लंघन करेगा, तो उसे किस प्रकार वैसा करने से रोका जा सकेगा ? अतः यह मानना पड़ेगा, कि राज्य ही एक ऐसी सत्ता है, जो कानून के विषय को निश्चित स्वरूप प्रदान कर जनता को उस पर स्थित रखती है। राज्य की इस शक्ति को प्रभुता कहा जाता है और इसकी सत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता ।

प्राचीन और मध्यकालीन राज्यों में विविध जनसमुदायों के व्यवहार, चरित्र व प्रथाओं को राज्य की कि ओर से निश्चित स्वरूप नहीं दिया जाता था पर फिर भी राज्य अपना यह कर्तव्य समझता था, जनता को इन कानूनों को मानने व इनका प्रतिपालन करने के लिए विवश करे। भारत के प्राचीन राजशास्त्रियों ने इस बात पर बहुत जोर दिया है, कि राजा सबको “सर्वधर्म” में कायम रखे । कुल, जाति, श्रेणी, जनपद आदि के जो धर्म, परम्परागत प्रथा, व्यवहार और चरित्र हों, उनका कोई उल्लंघन न कर सके। राज्य के अतिरिक्त अन्य

कौन-सी शक्ति थी, जो सबको अपने अपने "धर्म" पर स्थिर रहने के लिए विवश कर सकती थी ?

(4) बहु समुदायवादियों द्वारा प्रभुता के सिद्धान्त की आलोचना

राज्य की प्रभुत्व शक्ति पर सबसे प्रबल आक्षेप उन विचारकों द्वारा किये गये हैं जो बहुसमुदायवाद (प्लुरलिज्म) के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं। इस प्रसंग में उन युक्तियों का संक्षेप का उल्लेख करना उपयोगी होगा, जो बहुसमुदायवादी लेखक राज्य की प्रभुत्व शक्ति के विरुद्ध पेश करते हैं (1) मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है वह अकेला न रहकर समुदायों में रहना पसन्द करता है। उसकी यह प्रकृति ही है कि वह समुदायों में संगठित होकर रहे। मनुष्य के समुदाय अनेक प्रकार के होते हैं, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि। मनुष्यों के राजनीतिक दृष्टि से संगठित समुदाय को राज्य कहते हैं। पर राज्य में मनुष्य के सम्पूर्ण सामुदायिक जीवन का समावेश नहीं हो जाता। वह जो धार्मिक, आर्थिक आदि अनेक समुदाय बनाता है, वे राजनीतिक समुदाय (राज्य) के समकक्ष होते हैं, उससे भिन्न नहीं। इसी कारण ऐसे अवसर उपस्थित हो सकते हैं, जबकि मनुष्य अपने धार्मिक व आर्थिक समुदायों को राज्य की अपेक्षा अधिक महत्व दें, और इन समुदायों की खातिर राज्य का विरोध करने के लिए उद्धत हो जायें। जिस प्रकार मनुष्य की राज्य के प्रति भक्ति व निश्ठा होती है, वैसे ही अपने धार्मिक व आर्थिक समुदायों के प्रति भी वह भक्ति व निश्ठा रखता है। अनेक बार वह राज्य के प्रति भक्ति की अपेक्षा अपने सम्प्रदाय, चर्च व आर्थिक संगठन के प्रति भक्ति को अधिक महत्व देता है।

मध्यकाल में चर्च (ईसाई लोगों का धार्मिक समुदाय है) राज्य का प्रतिद्वन्दी था, आजकल श्रमिक संघों के रूप में आर्थिक उत्पादकों ने जो अपने संगठन व समुदाय बनाये हैं, वे अनेक बार राज्य के प्रतिद्वन्दी बन जाते हैं। प्रो. लास्की ने इसके अनेक उदाहरण उपस्थित किये हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के रेलवे यूनियन ने अपने देश की सरकार को इस बात के लिए विवश किया, कि वह मजदूरों के कार्य का समय 8 घंटा प्रतिदिन नियत करे। ऐसा न करने की दशा में उसने सार्वजनिक हड़ताल की धमकी दी। अमेरिका की सरकार अपनी राज-शक्ति का उपयोग कर रेलवे यूनियन को वष में के नहीं ला सकी। उसे मजदूरों के आर्थिक समुदाय के सम्मुख झुकना पड़ा। 1914-18 महायुद्ध के समय भी ग्रेट ब्रिटेन के अन्यतम प्रदेश वेल्स की खानों में काम करने वाले मजदूरों ने ब्रिटिश सरकार को अपनी बात मानने के लिए विवश किया था। सरकार के पास यह कानूनी शक्ति विद्यमान थी, कि वे वेल्स के इन मजदूरों के विरुद्ध कार्यवाही कर सकती थी। पर क्योंकि राज्य की शक्ति सर्वोपरि नहीं है, अतः ब्रिटिश सरकार वेल्स के श्रमिक संघ को अपनी बात मानने के लिए बाधित नहीं कर सकी। ग्रेट ब्रिटेन में अब भी विविध श्रमिकसंघों की शक्ति बहुत अधिक है। वहाँ की कोई भी सरकार षायद ही यह साहस कर सके, कि इन संघों (आर्थिक समुदायों) की इच्छा के विरुद्ध कार्य करें। (2) राज्य के लिए यह उचित नहीं है, कि वह मनुष्यों के सम्पूर्ण सामुदायिक जीवन को नियंत्रित करने का प्रयत्न करे। ऐसा प्रयत्न करने से राज्य का कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत हो जाता है, और वह अपने कार्य को भली भाँति नहीं कर सकता। आर्थिक जीवन, धर्म, शिक्षा, संस्कृति आदि के

क्षेत्र में राज्य को हस्तक्षेप करने की क्या आवश्यकता है? राज्य — रूपी जनसमुदाय ने सम्पूर्ण शक्ति अपने हाथ में रखने का प्रयत्न कर अपने को बहुत बोज़िल बना लिया है। इतने बोज़ को वह नहीं झेल सकता है, क्योंकि इतने कार्य उस अकेले समुदाय की शक्ति से बाहर है। वार्ड ने ठीक ही लिखा है, कि इसके कारण राज्य के केन्द्र में अत्यधिक शक्ति एकत्र हो जाती है, और दूरस्त अंगों में सर्वथा शक्तिहीनता आ जाती है। यदि यह ठीक है, कि राज्य मनुष्यों का एक समुदाय मात्र है, तो उसमें इतनी अधिक शक्ति केन्द्रित कर देने की क्या आवश्यकता है? क्यों न शक्ति का विभक्तिकरण कर दिया जाए? क्योंकि यह मान लिया जाए कि आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक शक्तियाँ अन्य पृथक समुदायों में निहित हों और राज्य — रूपी जनसमुदाय के पास केवल राजनीतिक शक्ति रहे। अन्य समुदायों के साथ

राज्य की समकक्षता हो, उच्चता नहीं। जिसे हम प्रभुत्व शक्ति कहते हैं, वह वस्तुतः मनुष्यों के सामुदायिक जीवन की शक्ति है। क्योंकि मनुष्यों के समुदाय अनेक प्रकार के होते हैं, उनमें बहुत्व रहता है। अतः प्रभुत्व शक्ति भी उन सबमें विभक्त रहनी चाहिए। किसी एक प्रकार के समुदाय को अन्य की अपेक्षा ऊँचा समझना न वांछनीय है, और न ही वास्तविक दशा के अनुसार वस्तु स्थिति को ही सूचित करता है। मध्यकाल के अन्त में जब यूरोप में सर्वत्र आराजकता और अव्यवस्था विद्यमान थी, तब राज – शक्ति ने वहाँ व्यवस्था कायम की। उस समय राज्य की प्रभुत्व शक्ति का सिद्धान्त चाहे ठीक रहा हो, पर आजकल जब प्रायः सर्वत्र शान्ति व व्यवस्था कायम है, और जबकि मनुष्यों के विविध समुदाय उनके धार्मिक, सांस्कृतिक व अन्य हितों की उन्नति में भली-भाँति संलग्न हैं, तब राज्य को अन्य समुदायों का समकक्ष न मानकर उनसे उच्च मानना सर्वथा असंगत है। राज्य को अन्य समुदायों की अपेक्षा उच्च मानने का परिणाम यह होता है, कि मनुष्य धार्मिक, आर्थिक आदि दृष्टियों से अपने सामूहिक जीवन का भली-भाँति विकास नहीं कर पाता।

– (3) इन्हीं बातों को दृष्टि में रखकर अनेक बहु-समुदायवादियों का यह विचार है, कि राज्य के संगठन में प्रतिनिधियों का निर्वाचन प्रादेशिक आधार पर नहीं होना चाहिए। इस समय प्रायः सभी लोकतंत्र राज्यों में यह प्रथा है, कि पार्लियामेंट के लिए प्रतिनिधियों का निर्वाचन करने के प्रयोजन से राज्य को बहुत से प्रादेशिक निर्वाचक मंडलों में विभक्त कर दिया जाता है, ताकि एक निश्चित प्रदेश के निवासी निर्वाचक लोग अपने प्रतिनिधि को चुन सकें। पर बहु-समुदायवादी कहते हैं, कि पार्लियामेंट के सदस्यों का निर्वाचन करना उन विभिन्न व्यापारिक, व्यावसायिक, धार्मिक, सांस्कृतिक व शिक्षा सम्बन्धी समुदायों के हाथ में रहना चाहिए, जिनके रूप में मनुष्यों का सामुदायिक जीवन अभिव्यक्त होता है। ऐसा होने से राज्य की पार्लियामेंट जहाँ सच्चे अर्थों में जनता का प्रतिनिधित्व करेगी, वहाँ साथ ही, मनुष्यों के सम्पूर्ण सामुदायिक हितों की भी भली-भाँति रक्षा हो सकेगी। सर्वसाधारण जनता का राजनीतिक हितों की अपेक्षा, आर्थिक हितों के साथ अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। उसका योगक्षेम आर्थिक जीवन पर ही निर्भर है। राजनीतिक समुदाय या राज्य तो केवल उन परिस्थितियों को उत्पन्न करता है, जिनसे मनुष्य निश्चित होकर अपने योगक्षेम का भली-भाँति साधन कर सके। इस दशा में यह जरूरी हो जाता है, कि राजनीतिक समुदाय (राज्य) के समान ही अन्य जनसमुदायों को भी समुचित रूप से महत्व दिया जाए।

(4) राज्य की शक्ति सर्वोपरि नहीं होती। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार है कि वह राज्य के प्रति निष्ठा व भक्ति न रखे। यदि किसी मनुष्य की अन्तरात्मा यह कहे कि राज्य की व्यवस्था न्याय, सदाचार व औचित्य के सिद्धान्तों के प्रतिकूल है तो उसे अधिकार है कि वह उस राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर सके और उसके आदेशों का पालन करने से इन्कार कर सके। आजाद हिन्द सेना के जिन सैनिकों ने ब्रिटिश राज्य के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया था, उनका कार्य इसीलिए उचित और न्यायसंगत था, क्योंकि वे भारत पर ब्रिटिश शासन को न्यायसंगत मानने के लिए उद्धत नहीं थे। महात्मा गांधी के सत्याग्रह सिद्धान्त के मूल में भी यही भावना काम कर रही थी। महात्मा गांधी कहते थे कि ब्रिटिश सरकार की सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करना सर्वथा उचित है, क्योंकि इस सरकार की सत्ता मनुष्य के आधारभूत अधिकारों के विरुद्ध है।

महायुद्ध के समय पर ब्रिटेन में अनेक व्यक्तियों ने सेना में भर्ती होने से केवल इसलिए इन्कार कर दिया था क्योंकि वे युद्ध को अपनी आत्मा के प्रतिकूल समझते थे। ब्रिटेन में बाधित सैनिक सेवा का कानून विद्यमान था, पर विवश होकर सरकार को उन लोगों को इस कानून से मुक्त करना पड़ा था, जो कि नैतिक कारणों से युद्ध में भाग लेना अनुचित समझते थे। अभिप्राय यह है कि राज्य की शक्ति की अपेक्षा भी एक अधिक उच्च शक्ति है, जो मानवता की यह नैतिकता की शक्ति है। इस दशा में राज्य की सम्पूर्ण – प्रभुत्व – सम्पन्नता अशुद्ध है।

—बहु समुदायवाद में सत्य का अंश बहु—समुदायवाद के प्रतिपादकों के विचारों में सत्य का अंश पर्याप्त है। इस वाद द्वारा निम्नलिखित तथ्यों पर विशेष रूप से प्रकाश पड़ता है

— (क) बहु—समुदायवाद ने अर्वाचीन काल के सामुदायिक जीवन के विभिन्न अंगों के महत्व को प्रकट किया है। यह सही है कि राज्य के अतिरिक्त अन्य भी अनेक जनसमुदाय इस समय विद्यमान हैं जो मनुष्यों के हित व कल्याण के साथ गहरा सम्बन्ध रखते हैं। मानव समाज में इनका महत्व बहुत अधिक है, और किसी भी राज्य के लिए यह उचित नहीं है कि वह इनकी शक्ति व सत्ता की उपेक्षा करे और इन्हें अपने सम्मुख नगण्य समझे।

(ख) यदि राज्य मनुष्य के सामुदायिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हस्तक्षेप करेगा तो उसकी शक्ति बहुत अधिक बढ़ जायेगी। राज्य शक्ति जिन लोगों के हाथों में होगी उनमें अधिनायक व सर्वसर्वा बनने की प्रवृत्ति का विकास होगा और उनके सम्मुख सर्वसाधारण जनता अपने को सर्वथा असहाय अनुभव करेगी। अतः उचित यह है कि राज्य यह अनुभव करे कि वह भी अन्य समुदायों के समान एक जनसमुदाय ही है और इस कारण उसे भी अपने को मर्यादा में रखना चाहिए। विवेचन पर बहु—समुदायवाद में इन सच्चाइयों के होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि राज्य सम्पूर्ण — प्रभुत्व—सम्पन्न होता है और अन्य समुदायों से उसकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि जहाँ अन्य समुदाय प्रभु नहीं हैं वहाँ राज्य प्रभु है। इसके कारण निम्नलिखित हैं

—(1) यदि बहु समुदायवाद को स्वीकार कर लिया जाए तो एक बार फिर अराजकता व मातस्य न्याय की दशा आ जायेगी। यदि कभी दो समुदायों में विरोध उपस्थित हो तो उसका निर्णय कैसे होगा? पूंजीपतियों और श्रमिकों, जमींदारों और किसानों, उत्पादकों और उपभोगताओं के समुदायों में यदि विरोध होगा तो उनमें समन्वय कैसे स्थापित होगा? यदि मनुष्यों के आर्थिक व राजनीतिक हितों में विरोध होगा तो कौन से हित को अधिक महत्व दिया जायेगा? राज्य संस्था का विकास ही इसलिए हुआ था कि विभिन्न व्यक्तियों के परस्पर विरोधी हितों में सामंजस्य कर एक ऐसी व्यवस्था कायम कर दी जाए जिसमें विभिन्न व्यक्ति अपने को एक संगठन के अधीन कर दें। अब यदि यह मान लिया जाए कि विभिन्न व्यक्ति तो राज्य संस्था के अधीन हैं पर उनके आर्थिक — धार्मिक व अन्य समुदाय राज्य के नियंत्रण से मुक्त हैं तो इन विविध समुदायों के पारस्परिक संघर्ष और हित विरोध के कारण पुनः अराजकता हो जायेगी। अतः यदि यह आवश्यक है कि एक ऐसी सत्ता हो जो सब व्यक्तियों के समान जनसमुदायों को भी नियंत्रित व मर्यादित रखने का अधिकार व शक्ति रखती हो। यही सत्ता राज्य है, जो प्रभुत्व — शक्ति — सम्पन्न होती है, अन्य जनसमुदाय जिसकी अपेक्षा न्यून शक्ति रखते हैं और जो सबको नियंत्रण में रखती है।

(2) यह मानना कि प्रभुत्व — शक्ति विभाजनीय है और वह विभिन्न समुदायों में विभक्त रहती है सर्वथा असंगत है। जिस शक्ति का विभाजन हो सकता है वह सर्वोच्च नहीं हो सकती। यह ठीक है कि आर्थिक, धार्मिक व अन्य समुदायों में भी शक्ति होती है पर इन समुदायों की यह शक्ति प्रभुत्व—शक्ति का अंश नहीं है। प्रभुत्व—शक्ति वह है जो सब व्यक्तियों व समुदायों की शक्ति से ऊपर है। यह शक्ति केवल राज्य को प्राप्त है क्योंकि वही सब व्यक्तियों व समुदायों को अपनी—अपनी मर्यादा में स्थिर रखता है। राज्य वह भी देखता है कि कोई समुदाय ऐसे कार्य तो नहीं कर रहा है जो मनुष्य के सार्वजनिक हितों के विरोध में हो। इसीलिए उसे अधिकार होता है कि वह शक्ति, व्यवस्था और जन कल्याण के मार्ग में बाधा डालने वाले जन समुदायों को गैर—कानूनी उद्घोषित कर सके और उन्हें नष्ट कर देने की व्यवस्था करे। इसी अधिकार का प्रयोग कर अनेक राज्यों ने कम्युनिस्ट दल को गैर—कानूनी घोषित किया है। इसी कारण भारत की सरकार ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ आदि अनेक साम्प्रदायिक व जातिगत समुदायों के विरुद्ध कार्यवाही करने का निष्पत्ति किया है। यदि कोई जनसमुदाय धर्म की आड़ लेकर बाल विवाह का प्रचार करने, अछूत प्रथा को जारी रखने व स्त्रियों के सती होने की प्रथा को प्रचार करने का प्रयत्न करेगा तो अवश्य ही राज्य उसके खिलाफ कदम उठायेगा, क्योंकि वह सर्वोपरि सत्ता है और उसका यह कर्तव्य है कि वह सब व्यक्तियों व समुदायों पर नियंत्रण रखे। (3) यह ठीक है कि अन्य

जनसमुदाय भी अपने-अपने क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उन्हें भी यह अवसर मिलना चाहिए कि वे अपने-अपने ढंग से मनुष्यों का हित व कल्याण कर सकें। इसलिए राज्य को उन्हें न केवल सब प्रकार से स्वतंत्रता देनी चाहिए अपितु साथ ही उन्हें उनके लोकोपकारी कार्यों के लिए प्रोत्साहन भी देना चाहिए। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि ये विभिन्न समुदाय राज्य के प्रतिद्वन्दी व प्रतिस्पर्धी हो जाएं और राज्य को इनके कार्यों को मर्यादित व नियंत्रित करने का अधिकार न रहे। यह भी माना जा सकता है कि राज्य की पार्लियामेण्ट में प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते हुए इन विविध समुदायों को अपने प्रतिनिधि भेजने का अवसर मिले, पर ऐसा करने का उद्देश्य केवल यह होगा कि राज्य की पार्लियामेण्ट सच्चे अर्थों में जनता व उसके विविध समुदायों की प्रतिनिधि हो सके। इन विविध समुदायों को प्रतिनिधि भेजने का अधिकार देने का प्रयोजन यही है, कि ये राज्य की नीति व आदेशों पर अपने विचारों का प्रभाव डाल सकें। राज्य की प्रभुत्व शक्ति जनता में निहित होती है, व्यक्तियों के समान विविध समुदाय भी जनता के ही अंग होते हैं। अतः लोकमत या जनता की इच्छा का निर्माण करने में उनका भी हाथ रहता है। अतः यदि वे भी राज्य पर अपने विचारों का प्रभाव डालें, तो सर्वथा उचित होगा। पर उन्हें राज्य का समकक्ष व प्रतिस्पर्धी मानना किसी भी प्रकार युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता।

सारांश प्रो. बाकर ने इस विषय की विवेचना करते हुए लिखा है— “हम देखते हैं कि राज्य को यह कहा जाता है कि वह षिल्पी संघ, राष्ट्रीय समुदाय व चर्च के सम्मुख अपने को पीछे हटा ले। यह समुदाय चाहे किन्हीं भी अधिकारों को प्राप्त कर ले या उन्हें प्राप्त करने का दावा करे पर फिर भी राज्य की स्थिति ऐसी होगी जो इनको नियंत्रित करने की शक्ति रखे साथ ही यह भी सम्भव है कि यदि ये समुदाय उन्नति करेंगे तो राज्य भी उन्नति करेगा समुदायों के उन्नति करने की दृष्टि में राज्य को और भी अधिक गम्भीर और महत्वपूर्ण समस्याओं को हल करने व उनकी व्यवस्था करने की आवश्यकता होगी।”

श्री बाकर के इस कथन में बहुत सच्चाई है। यह ठीक है कि आधुनिक समय में धार्मिक, आर्थिक व अन्य प्रकार के समुदायों की शक्ति निरंतर बढ़ रही है। पर साथ ही यह भी सत्य है कि इस कारण राज्य का महत्व कम नहीं हो रहा है। इस शक्तिशाली समुदायों को मर्यादित रखना और इनके परस्पर विरोधों का समन्वय करना एक ऐसा कार्य है जिसे केवल वही राज्य कर सकता है जो सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न हो। अतः यह आवश्यक है कि राज्य में प्रभुत्व शक्ति विद्यमान रहे और उसकी सत्ता अन्य सब समुदायों की अपेक्षा अधिक उच्च हो।

स्व-प्रगति जाँच के उत्तर (Answers to Check Your Progress)

1. ध्वजमात्र (Titular Sovereignty) दृष्टि से राजनीतिशास्त्र में प्रभुता शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। जिन राज्यों में वैध शासन (ब्रह्मदेवजनजपवदंस ऋषिमतदत्तमदज) हो, उनके नाममात्र व ध्वजमात्र के अधिपति को भी प्रभु (वैधमतमपहद) कहते हैं। ग्रेट ब्रिटेन का राजा ‘प्रभु’ कहलाता है। राज्य के सब आदेश उसके नाम से ही प्रचारित किये जाते हैं। यदि किसी व्यक्ति व समुदाय ने राज्य के विरुद्ध कोई विद्रोह किया हो, या किसी अन्य प्रकार से राज्य का अपकार किया हो, तो उस पर चलाये गये मुकदमों में वादी का स्थान भी राजा को दिया जाता है। यद्यपि ग्रेट ब्रिटेन में प्रभुता जनता के हाथों में है, राजा के हाथों में नहीं तथापि वहाँ राजा को ‘प्रभु’ कहते हैं। राजा को जो इस प्रकार प्रभु कहा जाता है, उसका कारण यह है कि मध्यकाल में ब्रिटेन का राजा वस्तुतः प्रभु था, उस समय राजा की इच्छा ही ब्रिटेन में कानून थी। यद्यपि अब यह दृष्टि नहीं रही है, पर पुराने रिवाज के अनुसार अब भी राजा को ‘प्रभु’ कहा जाता है। इस प्रकार की नाममात्र की प्रभुता को ध्वजमात्र प्रभुता कहा जा सकता है, क्योंकि जिस प्रकार ध्वजा का उद्देश्य एक विषिष्ट विचार, आदर्श व भावना को सूचित करना होता है, वैसे ही ग्रेट ब्रिटेन की प्रभुत्व शक्ति राजा द्वारा सूचित होती है। आचार्य बाकर ने इस प्रकार के राजा को ‘ध्वजमात्र’ कहते हैं, और निःसंदेह यह शब्द ऐसे राजा के लिए सर्वथा उपयुक्त है।

2. स्थायित्व (चमत्तुदबम) जब तक राज्य कायम रहता है, उसमें प्रभुत्व शक्ति भी कायम रहती है। जब राज्यों का शासन स्वेच्छाचारी एकतंत्र राजाओं के हाथ में था, तब राजा की मृत्यु के साथ राज्य की प्रभुत्व शक्ति का अंत नहीं हो जाता। प्रभुता कायम रहती थी। यद्यपि उसका धारण करने वाला, उसका प्रयोग करने वाला बदल जाता था। आजकल केलोकतंत्र राज्यों में सरकार में प्रायः परिवर्तन होते रहते हैं। कभी किसी राजनीतिक दलकी सरकार बनती है, कभी किसी की। पर सरकारों के इन परिवर्तनों द्वारा राज्य की प्रभुत्वशक्ति में बाधा नहीं पड़ती। प्रभुत्व शक्ति अखंड व स्थिर रहती है, यद्यपि उसका प्रयोग करने वाली सरकार बदल जाती है। जब कोई राज्य किसी अन्य राज्य को जीतकर अपने अधीन कर लेता है, तब भी प्रभुत्व शक्ति का स्थायित्व नष्ट नहीं होता। विदित राज्य की प्रभुत्वशक्ति विजेता राज्य के हाथ में चली जाती है, और वह उसका प्रयोग करने लगता है।¹

3. आस्टिन ने प्रभुता – सम्बन्धी जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, उसे प्रधान तत्व निम्नलिखित हैं :—

(1) प्रत्येक राजनीतिक जनसमुदाय व राज्य के लिए प्रभुत्व शक्ति का होना अनिवार्य है, क्योंकि उसके अभाव में कोई कानून नहीं रह सकता, और कानून के अभाव में किसी राजनीतिक समुदाय व राज्य की सत्ता सम्भव नहीं।

(2) प्रभुत्व – शक्ति – सम्पन्न सत्ता निश्चित होती है, चाहे यह सत्ता कोई एक व्यक्ति हो, कोई एक श्रेणी हो या कोई एक जन-समूह हो। इस शक्ति का किसी एक निश्चित सत्ता में केन्द्रित रहना आवश्यक है। इसीलिए आस्टिन के अनुसार राज्य की प्रभुत्व शक्ति सर्वसाधारण जनता में केन्द्रित नहीं हो सकती।

अभ्यास प्रश्न

1. प्रभुता के सिद्धान्त की किन-किन दृष्टिकोणों में आलोचना की जाती है? व्याख्या करें।
2. बहु-समुदायवादियों द्वारा प्रभुता के सिद्धान्त के विरोध में क्या तर्क दिये जाते हैं?



ekM;y & 4 bdkb& 9 ijEijkxr jktuhfr foKku

नागरिकता : अर्थ एवं परिभाषाएं

राजनीतिक सिद्धान्त

अध्याय में प्रस्तुत है :-

परिचय

नागरिकता प्राप्त करने की विधियाँ

नागरिकता का लोप या समाप्ति की विधियाँ

भारत में नागरिकता प्राप्त करने की विधि

आदर्श नागरिकता

आदर्श नागरिकता के तत्व या आदर्श नागरिक के गुण

आदर्श नागरिकता के मार्ग में बाधाएं

आदर्श नागरिकता के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के उपाय

अधिकार

अधिकारों के आवश्यक तत्व

अधिकारों का वर्गीकरण

मूल अधिकार

विधि का शासन

अधिकारों के विभिन्न सिद्धान्त

अधिकार और कर्तव्य में सम्बन्ध

स्वतन्त्रता

स्वतन्त्रता का अर्थ तथा परिभाषाएँ

समानता तथा न्याय

समानता : अर्थ व परिभाषा

समानता के विभिन्न प्रकार

स्वतन्त्रता एवं समानता के बीच सम्बन्ध

न्याय की अवधारणा

भारतीय राजनीतिक चिन्तन में न्याय

न्याय के मूलभूत तत्व

MATs Centre for Distance and Online Education, MATs University

सारांश

स्व-प्रगति जाँच के उत्तर

अभ्यास-प्रश्न

षिक्षण उद्देश्य :

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् आप समझ सकेंगे—

नागरिकता का अर्थ एवं परिभाषाएँ नागरिकता प्राप्त करने की विधियाँ नागरिकता का लोप या समाप्ति की विधियाँ, भारत में नागरिकता प्राप्त करने की विधि, आदर्श नागरिकता के तत्व या आदर्श नागरिक के गुण मूल अधिकार, अधिकारों के विभिन्न सिद्धान्त ।

परिचय :

राजनीति विज्ञान का एक प्रमुख विषय है— नागरिकता । नागरिक ही राज्य का निर्माण करते हैं। प्राचीनकाल में यूनान में केवल प्रशासनिक कार्य में भाग लेने वाले व्यक्तियों को ही नागरिकता प्राप्त होती थी । रोम में भी नागरिकता केवल स्वतंत्र लोगों तक ही सीमित थी । सामन्तवाद में इसका विस्तार हुआ । राज्य राष्ट्रों के विकास के परिणाम स्वरूप नागरिकता की व्यापकता में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ । नागरिक वे होते हैं जिन्हें राज्य की ओर से सभी नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार प्रदान किये गये हों और जो उस राज्य के प्रति विशेष भक्ति रखते हों ।

नागरिकता शब्द अंग्रेजी भाषा के शब्द सिटीजनशिप (बजप्रमदौपच) का हिन्दी रूपान्तर है । सिटीजन का हिन्दी भाषा में अर्थ है दृ नागरिक । नागरिक के गुण तथा स्वभाव को नागरिकता कहा जाता है । विभिन्न विद्वानों ने नागरिकता की विभिन्न परिभाषायें प्रस्तुत की हैं, जो कि निम्नलिखित हैं— (1) प्रो. लास्की के अनुसार, “अपनी प्रशिक्षित बुद्धि को जनकल्याण में लगाना ही नागरिकता है । ” (2) विलियम वॉयड ने “नागरिकता को देशभक्तों का समुचित संगठन” कहा है ।

(3) आषीर्वादम के अनुसार, “नागरिकता केवल राजनीतिक कार्य ही नहीं, अपितु एक सामाजिक और नैतिक कर्तव्य भी है ।”

(4) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार, “नागरिकता का तात्पर्य किसी देश के नागरिक होने से है ।” (5) गैटिल के अनुसार, “नागरिकता किसी व्यक्ति की उस स्थिति को कहते हैं जिसके अनुसार वह अपने राज्य में साधारण और राजनीतिक अधिकारों का भोग करता है तथा अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए तैयार रहता है ।”

इस प्रकार स्पष्ट है कि नागरिकता वह वैज्ञानिक व्यवस्था है जिसके द्वारा नागरिक को राज्य की ओर से सामाजिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त होते हैं तथा उन्हें अपने कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है य अतः नागरिकता एक कानूनी पद है ।

नागरिकता प्राप्त करने की विधियाँ

किसी भी राज्य में नागरिकता दो प्रकार से प्राप्त होती है—

(1) जन्मजात नागरिकता, (2) देशीयकरण द्वारा प्राप्त नागरिकता ।

जन्मजात नागरिकता जन्मजात नागरिकता निम्नलिखित स्थितियों में प्राप्त होती है—

—(1) रक्त या वंश के आधार पर इस सिद्धान्त के अनुसार बच्चा जन्म लेते ही उस देश का नागरिक समझा जाता है जिस देश के उसके माता पिता नागरिक होते हैं, चाहे बच्चे का जन्म उसके माता-पिता के देश में हुआ हो या विदेश में । उदाहरण — जर्मनी, इटली, फ्रांस, आस्ट्रिया आदि अनेक देशों में यही नियम मान्य हैं ।

(2) जन्म स्थान के आधार पर

इस नियम के अनुसार बच्चा उस देश का नागरिक माना जाता है जहाँ उसका जन्म होता है चाहे उसके माता-पिता किसी भी देश के नागरिक हों। उदाहरण— अर्जेंटीना में इस नियम को अपनाया जाता है।

राजनीतिक सिद्धान्त

—(3) मिश्रित नियम इस नियम के अनुसार, यदि किसी देश के नागरिकों की संतान का जन्म विदेश में होता है अथवा विदेश के नागरिकों का जन्म उस देश में होता है तो दोनों ही स्थितियों में वह बच्चा उस देश का नागरिक होता है। इंग्लैण्ड, अमेरिका तथा भारत में इसी नियम को अपनाया गया है।

देशीयकरण द्वारा प्राप्त नागरिकता :

राज्य द्वारा प्रदत्त अथवा देशीयकरण द्वारा अग्रलिखित उपायों से नागरिकता प्राप्त की जा सकती है—

—(1) निवास यदि कोई विदेशी एक निश्चित अवधि तक विदेश में रहता है तो उसका देशीयकरण कर उसे उस देश की नागरिकता प्राप्त हो जाती है। निवास की अवधि विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रखी गई है। यह अवधि अमेरिका में 5 वर्ष, इटली में 4 वर्ष तथा भारत व फ्रांस में 10 वर्ष रखी गई है।

(2) विवाह यदि कोई स्त्री अन्य देश के नागरिक से विवाह कर लेती है तो उसे अपने पति के देश की नागरिकता प्राप्त हो जाती है। अधिकांश देशों में यह विधि प्रचलित है। किन्तु जापान में यह सुविधा पुरुषों को भी प्राप्त है। यदि कोई विदेशी किसी जापानी स्त्री से विवाह करता है तो उसे जापान की नागरिकता प्राप्त हो जाती है।

(3) गोद लेने पर यदि किसी देश का नागरिक किसी अन्य देश में उत्पन्न बालक को गोद ले लेता है तो वह बालक अपने देश की नागरिकता खोकर नये देश की नागरिकता प्राप्त कर लेता है।

(4) सरकारी पद यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य देश में कोई सरकारी पद प्राप्त कर लेता है तो वह उस राज्य की नागरिकता प्राप्त कर सकता है। रूस में यह नियम प्रचलित है।

(5) सम्पत्ति क्रय द्वारा — यदि कोई व्यक्ति किसी देश में अब भूमि आदि अचल सम्पत्ति खरीद लेता है तो उसे उस देश की नागरिकता प्राप्त हो जाती है। मैक्सिको व पेरू में यही प्रचलन है।

(6) विजय द्वारा जब कोई देश युद्ध में अन्य देश पर विजय प्राप्त करके उसे अपने में मिला लेता है तो उस देश के नागरिकों को विजेता देश की नागरिकता प्राप्त हो जाती है।

(7) देश का कोई भाग विदेश को सौंपने पर यदि किसी देश का कोई भाग समझौते द्वारा अन्य किसी देश को सौंप दिया जाता है तो उस सौंपे हुए भाग के नागरिकों को उस विदेशी राज्य की नागरिकता प्राप्त हो जाती है।

(8) वैधता—यदि किसी नागरिक के किसी विदेशी महिला से अवैध सन्तान उत्पन्न हो जाये तो माता-पिता के आपस में नियमानुसार विवाह कर लेने पर सन्तान को पिता के देश की नागरिकता प्राप्त हो जाती है।

(9) योग्यता — कुछ देशों में कुछ प्रमुख विद्वानों को अपने देश की नागरिकता प्रदान कर दी जाती है अथवा उनके लिए निवास की अवधि आदि में रियायत कर दी जाती है जैसे— फ्रांस में अन्य लोगों के लिए निवास अवधि 10 वर्ष है। तो विद्वानों के लिए यह अवधि केवल 1 वर्ष रखी गई है।

नागरिकता का लोप या समाप्ति की विधियाँ एक व्यक्ति की नागरिकता निम्नलिखित स्थितियों में समाप्त हो जाती है ।

(1) विवाह – यदि कोई स्त्री किसी विदेशी पुरुष से विवाह कर लेती है तो उसकी अपने देश की नागरिकता समाप्त हो जाती है ।

(2) स्वेच्छा से परित्याग – कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से अपने देश की नागरिकता का परित्याग कर सकता है ।

(3) विदेशी नौकरी यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे देश में सरकारी पद प्राप्त कर लेता है तो उसकी अपने देश की नागरिकता समाप्त हो जाती है ।

(4) सेना से भागने पर यदि कोई व्यक्ति बिना किसी कारण के सेना की नौकरी छोड़ देता है तो उसकी अपने देश की नागरिकता समाप्त हो जाती है ।

(5) गम्भीर अपराध यदि कोई व्यक्ति युद्धकाल में षत्रुदेश के साथ अवैध संबंध रखता है या गम्भीर अपराध करता है या संविधान का गम्भीर रूप से उल्लंघन करता है तो उसकी नागरिकता छीन ली जाती है ।

(6) अधिक समय तक विदेश में निवास करने पर – जब कोई व्यक्ति निश्चित अवधि से अधिक अवधि तक विदेश में रहता है तो वह अपने देश की नागरिकता से वंचित हो जाता है

(7) न्यायालय द्वारा दंडित जब कोई व्यक्ति न्यायालय द्वारा देश-द्रोह जैसे किसी गम्भीर अपराध के लिए दण्डित किया जाता है तो उसकी नागरिकता समाप्त हो जाती है ।

(8) अन्य देश की नागरिकता ग्रहण करने पर – जब कोई व्यक्ति किसी दूसरे देश की नागरिकता स्वीकार कर लेता है तो उसकी अपने देश की नागरिकता समाप्त हो जाती है

(9) पागलपन जब कोई व्यक्ति पागल हो जाता है तो उसकी नागरिकता समाप्त हो जाती है ।

(10) जब कोई व्यक्ति दूसरों का लिया हुआ धन देने में असमर्थ होते हैं तथा वे अपने को दिवालिया घोषित कर देते हैं तो उनको नागरिकता से वंचित कर दिया जाता है ।

भारत में नागरिकता प्राप्त करने की विधि बनाने भारत में संविधान द्वारा नागरिकता की प्राप्ति या समाप्ति का निर्णय करने के सम्बन्ध में कानून का अधिकार संसद को प्रदान किया गया है । अतः संसद में नागरिकता से सम्बन्धित भारतीय नागरिकता अधिनियम, 1955 पारित किया गया है । इस अधिनियम के अनुसार, निम्नलिखित उपायों द्वारा भारतीय नागरिकता प्राप्त की जा सकती है—

(1) जन्म द्वारा भारतीय नागरिकता अधिनियम, 1955 के अनुसार, 26 जनवरी 1950 के बाद भारत में जन्म लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति को नागरिकता प्राप्त होगी चाहे उसके माता-पिता भारतीय नागरिक हों या ना हों। यह व्यवस्था बहुत उदार थी। इसका फायदा उठाकर असम तथा काश्मीर जैसे सीमान्त राज्यों के विदेशियों ने गैर-कानूनी रूप से प्रवेश कर लिया । अतः भारतीय नागरिकता संशोधन अधिनियम, 1986 द्वारा यह व्यवस्था की गई कि भारत में जन्म लेने वाले बच्चे को भारतीय नागरिकता तभी प्राप्त होगी, जबकि उसके माता या पिता में से कोई एक भारतीय नागरिक होगा ।

(2) विवाह द्वारा

भारतीय नागरिकता अधिनियम, 1955 के द्वारा भारतीय नागरिकों से विवाह करने वाली

विदेशी स्त्रियों को भी नागरिकता प्राप्त होगी ।

(3) वंश द्वारा – संविधान लागू होने के बाद भारतीय नागरिकों की विदेशों में पैदा हुयी संतान को भी भारतीय नागरिकता प्राप्त होगी ।

(4) निवास – भारतीय नागरिकता संशोधन अधिनियम, 1986 के अनुसार किसी विदेशी को नागरिकता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक होगा कि उसने कम से कम 10 वर्ष तक भारत में निवास किया हो ।

(5) भूमि विस्तार द्वारा यदि कोई भू-भाग भारतीय सीमा में सम्मिलित कर लिया जाता है तो उसके निवासियों को भी भारतीय नागरिकता प्राप्त होगी । गोआ, सिक्किम, पॉण्डीचेरी इसके प्रमुख उदाहरण हैं ।

(6) यदि कोई विदेशी नागरिक सचरित्र हो तो उसे भारत की राष्ट्र-भाषा अथवा किसी भारतीय राज्य भाषा का ज्ञान हो, आवेदन करने के पूर्व 10 वर्ष तक भारत में रहा हो और किसी ऐसे देश का नागरिक न हो जहाँ भारतीयों के नागरिकता ग्रहण करने पर रोक लगी हो तो उसे भारतीय नागरिकता प्राप्त हो सकती है ।

(7) पंजीकरण द्वारा विदेशों में रहने वाले भारतीय दूतावास में अलग नाम पंजीकृत कराकर भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकते हैं । भारतीय नागरिकता संशोधन अधिनियम, 1992 के अनुसार विदेश में निवास कर रहे किसी भारतीय दम्पति के यदि कोई बच्चा पैदा होता है तो वह भारतीय नागरिक माना जायेगा । किन्तु शर्त यह है कि दम्पति में से किसी एक को उस समय भारतीय नागरिकता प्राप्त हो ।

आदर्श नागरिकता (Ideal Citizenship)

आदर्श नागरिक वह व्यक्ति होता है जो सार्वजनिक कार्यों में सक्रिय रहता हो, अपने अधिकारों के प्रति सजग तथा कर्तव्य पालन में तत्पर रहता हो । आदर्श नागरिक अपनी बुद्धि एवं सम्पूर्ण शक्तियों का प्रयोग राज्य के हित में करता है तथा अपने राज्य के प्रति भक्ति रखता है । आदर्श नागरिक ही श्रेष्ठ राज्य का निर्माण कर सकते हैं ।

आदर्श नागरिकता के तत्व या आदर्श नागरिक के गुण

आदर्श नागरिक में निम्नलिखित गुण होने आवश्यक हैं

(1) चरित्र – आदर्श नागरिक सिद्धान्तवादी, सच्चा व ईमानदार होता है । उसमें निडरता एवं दृढ़ता होती है ।

(2) स्वविवेकी आदर्श नागरिक स्वविवेकी होता है अर्थात् वह अपनी बुद्धि के अनुसार उचित और अनुचित का निर्णय करने की क्षमता रखता है ।

(3) शिष्टाचार – आदर्श नागरिकता का प्रमुख गुण यह है कि उसमें सामान्य शिष्टाचार होना चाहिए ।

सभी से विनम्र व्यवहार करना चाहिए । यह सभ्यता का प्रतीक है ।

(4) सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति रुचि होना चाहिए ।

(5) अधिकार एवं कर्तव्यों का ज्ञान

आदर्श नागरिक में समाज एवं राज्य की प्रगति में रुचि आदर्श नागरिक को अपने अधिकार तथा कर्तव्यों का पूरा ज्ञान होना चाहिए तथा उसे अपने अधिकार व कर्तव्यों के प्रति जागरूक होना चाहिए । उसे अधिकारों का उचित प्रयोग एवं कर्तव्यों के प्रति निष्ठापूर्वक पालन करना चाहिए ।

(6) जन कल्याण की भावना आदर्श नागरिक को जनता के प्रति सेवा भावना रखनी चाहिए समाज के कमजोर वर्ग की यथाशक्ति सहायता करनी चाहिए ।

(7) आर्थिक सक्षमता वह व्यक्ति जो आर्थिक रूप से अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को पूर्णतः संतुष्ट कर सकता है, आदर्श नागरिक बन सकता है

(8) वैचारिक उदारता आदर्श नागरिक को पारस्परिक व्यवहार हेतु उदार विचारों का होना चाहिए, तभी आवश्यक सामंजस्य स्थापित हो सकता है ।

आदर्श नागरिकता के मार्ग में बाधाएं आदर्श नागरिकता के मार्ग में आने वाली बाधाएँ निम्नलिखित हैं

(1) अज्ञानता अज्ञानता आदर्श नागरिकता के मार्ग की प्रमुख बाधा है। शिक्षित एवं समझदार व्यक्ति सही-गलत का निर्णय कर सकता है, जबकि अशिक्षित एवं अज्ञानी न तो स्वयं के व्यक्तिव का विकास कर सकते हैं और न वे राष्ट्र की प्रगति में सहायक हो सकते हैं।

(2) निर्धनता

जब व्यक्ति अपनी जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते, तब वे समाज – विरोधी कार्य करने लगते हैं। इससे समाज में वर्ग संघर्ष की भावना उत्पन्न हो जाती है, जो आदर्श नागरिकता के मार्ग की प्रमुख बाधा है ।

(3) संकीर्णता

आदर्श नागरिकता के मार्ग की एक प्रमुख बाधा संकीर्ण राजनीति है । व्यक्ति अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए भाषा, धर्म, जाति, सम्प्रदाय, क्षेत्रीयता आदि के आधार पर राजनीतिक दल गठित करते हैं, जो जनता को गुमराह करते हैं।

(4) उग्र राष्ट्रीयता उग्र राष्ट्रीयता की भावना आदर्श नागरिकता के मार्ग में बाधक है । यह नागरिकों की मनोवृत्ति को संकीर्ण बनाती है। इससे सम्पूर्ण मानव जाति को खतरा है । यह बात विष्व युद्धों से सिद्ध हो चुकी है। यह भावना विष्व-बंधुत्व के मार्ग में रोड़ा अटकाती है ।

(5) अकर्मण्यता – अकर्मण्य या आलसी व्यक्ति कोई भी कार्य करना पसंद नहीं करते हैं तथा कर्तव्य पालन से दूर भागते हैं । ऐसे व्यक्ति समाज एवं राज्य के प्रति उदासीन रहते हैं। ऐसे व्यक्तिकभी भी आदर्श नागरिक नहीं बन सकते ।

(6) शासन में भ्रष्टाचार आदर्श नागरिकता के मार्ग की एक प्रमुख बाधा शासन में भ्रष्टाचार है। मंत्री, शासकीय अधिकारियों एवं कर्मचारियों का भ्रष्ट होना, नौकरशाही तथा लालफीताशाही नागरिकों के चरित्र को प्रभावित करते हैं तथा उन्हें आदर्श नागरिक बनने से रोकते हैं । आदर्श नागरिकता के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के उपाय आदर्श नागरिकता के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिए निम्नलिखित उपाय किये जा सकते हैं—

(1) उचित शिक्षा आदर्श नागरिक बनने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें मानवीय मूल्यों पर आधारित सही शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की जाए । उचित शिक्षा से उनके विचारों में परिपक्वता आयेगी एवं उन्हें अधिकारों एवं कर्तव्यों का ज्ञान हो जायेगा ।

(2) आर्थिक समानता – आदर्श नागरिकता के लिए देश में एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था होनी चाहिए जिससे व्यक्तियों की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति सुचारु रूप से हो सके । यथा आर्थिक विषमताओं का अंत स्वतः षनैः-षनैः हो जाए ।

(3) राष्ट्रीय चरित्र का विकास किसी भी राष्ट्र के व्यक्ति तभी आदर्श नागरिक हो सकते हैं जबकि उस राष्ट्र का राष्ट्रीय चरित्र उच्च कोटि का हो। लोग राष्ट्र को अपने स्वार्थों से ऊँचा स्थान दें तथा जाति-पाति, सम्प्रदाय, रिष्वतखोरी, मुनाफाखोरी व पक्षपात आदि की बुराइयों में न फँसें।

(4) लोक कल्याणकारी शासन आदर्श नागरिकता के लिए देश में लोक कल्याणकारी शासन का होना अत्यन्त आवश्यक है, ताकि देश में शासन किसी वर्ग विशेष का ही ध्यान रखकर नहीं वरन् सर्वसाधारण जनता को ध्यान में रखकर हो। इससे देश के सभी लोगों को उन्नति करने के समान अवसर प्राप्त हों।

विष्व बन्धुत्व की भावना आदर्श नागरिकता सदैव “वसुधैव कुटुम्बकम्” एवं “विष्व – बंधुत्व” की भावना को ही स्वीकार करती है। अतः उग्र राष्ट्रवाद एवं साम्राज्यवाद के विशैले विचारों को त्यागकर विष्व बंधुत्व की भावना को ही अपनाना चाहिए।

अधिकार (Right)

मनुष्य को अपने सर्वांगीण विकास के लिए एक उचित वातावरण की आवश्यकता होती है। इस वातावरण के अभाव में वह पूर्ण विकास को प्राप्त नहीं कर सकता। यह वातावरण उसे समाज में मिलता है और राज्य का यह कर्तव्य है कि इस प्रकार के वातावरण को समाज में बनाये रखे। इसके मार्ग में जो बाधाएँ आयें, उसे दूर करे।

प्रत्येक व्यक्ति समाज की एक प्रभावशाली इकाई है, व्यक्ति के विकास से ही समाज का विकास सम्भव है। मानव के अंदर कुछ शक्तियाँ निहित होती हैं। उनके विकास के लिए मनुष्य समाज से कुछ सुविधाओं की मांग करता है। ऐसी सुविधाओं को ही अधिकार कहते हैं। इस प्रकार अधिकार मनुष्य के विकास के लिए अनिवार्य परिस्थिति हैं। वह व्यक्ति की “मांग” है, जिसे समाज राज्य तथा कानून नैतिक मान्यता देते हैं। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य की मांगें, ऐसी हों जिनसे उसके स्वयं के हित-साधन के साथ-साथ समाज का भी हित-साधन हो। समाज इस बात का निर्णायक है कि कौन-सी मांगें या दावें (बसंपडे) सार्वजनिक हित में हैं और कौन-सी अहित में हैं। सार्वजनिक हित वाली मांगों को समाज स्वीकार कर लेता है और राज्य उन्हें प्रदान करने का प्रयत्न करता है। समाज द्वारा स्वीकृत इन मांगों को अधिकार कहा जा सकता है। स्वाभावतः ही अधिकार उन कार्यों की स्वतन्त्रता का बोध कराते हैं, जो मनुष्य और समाज दोनों के लिए उपयोगी हों, साथ ही साथ राज्य के संरक्षण का उपयोग सभी बिना पक्षपात के करेंगे।

परिभाषाएं दृष्ट अधिकार की परिभाषायें भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से दी हैं, किन्तु सबका सार एक है

(1) लॉस्की के अनुसार, “अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियाँ हैं, जिनके बिना सामान्यतः कोई व्यक्ति अपना पूर्ण विकास नहीं कर सकता।”

डॉ. रिची के अनुसार “अधिकार मानव का दूसरे व्यक्तियों पर वह दावा है, जिसको समाज ने स्वीकार कर लिया है। चाहे राज्य ने उसको स्वीकार कर लिया हो या नहीं।” (3) हालैण्ड के अनुसार, “व्यक्ति के द्वारा अन्य व्यक्तियों के कार्यों को स्वयं अपनी शक्ति से नहीं, अपितु समाज के बल पर प्रभावित करने की क्षमता को समाज कहा जाता है।” (4) वाइल्ड के अनुसार, “अधिकार कुछ विशेष कार्यों को करने के लिए स्वतंत्रता की युक्त संगत मार्ग है।

(5) सालमंड के अनुसार, “सत्य (न्याय) के द्वारा रक्षित हित ही अधिकार है । कोई भी व्यक्तिहित जिसका आदर करना कर्तव्य हो एवं जिसका उल्लंघन अनुचित हो अधिकार कहलाता है ।”

(6) टी. एच. ग्रीन के अनुसार, “अधिकार वह शक्ति है जिसका दावा सार्वजनिक हित (बहुउपवद व्यवस्था) के लिए किया जाता है और इसी कारण वह स्वीकृत भी किया जाता है ।”

(7) बोसांके के अनुसार, “ मनुष्य की वह मांग अधिकार है, जिसे समाज स्वीकार करता है और राज्य लागू करता है । ”

अधिकारों के आवश्यक तत्व (Essential Elements or Factors of Rights)

उपयुक्त परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर अधिकारों के निम्नलिखित तत्व स्पष्ट हो जाते हैं— (1) अधिकार एवं दावा – अधिकार एक दावा है जिसको मनुष्य अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु कुछ सुविधाओं का उपयोग करने के लिए करता है। यह दावा समाज और राज्य से कुछ सुविधायें प्राप्त करने के लिए किया जाता है।

(2) अधिकार सामाजिक है – अधिकार समाज में रहकर ही प्रयोग किया जा सकता है। समाज के बाहर अधिकार की कल्पना नहीं की जा सकती, जो मनुष्य अकेला किसी जंगल की कुटिया में निवास करता है, उसके लिए अधिकारों का कोई विशेष महत्व नहीं है। इसके अतिरिक्त समाज द्वारा स्वीकृत मांग या दावा अधिकार का रूप धारण करता है।

(3) अधिकार का आधार सामाजिक कल्याण – यद्यपि अधिकारव्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए समाज द्वारा जुटाई गई सुविधायें, अवसर या परिस्थितियाँ हैं। किन्तु उनका आधार सामाजिक कल्याण है। इसके दो अर्थ हैं प्रथम, कोई भी मनुष्य अपने अधिकारों का इस तरह से प्रयोग करे, जिससे समाज को लाभ हो। द्वितीय, प्रत्येक व्यक्ति समाज की प्रभावशाली इकाई है, उसके व्यक्तित्व के विकास और उसके वास्तविक कल्याण में समाज का हित स्वयं सिद्ध है।

अधिकार सबके लिए समान रूप से होते हैं, क्योंकि अधिकार द्वारा सभी व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास का अवसर प्राप्त होता है। अधिकार देश के सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के प्राप्त होते हैं।

(5) अधिकार का कर्तव्यों से घनिष्ठतः सम्बन्धित हैं – अधिकार और कर्तव्यों का अति-घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व सम्भव नहीं। एक का कर्तव्य दूसरों का अधिकार होता है।

(6) अधिकार नैतिकता पर आधारित हैं – कोई भी अधिकार अनैतिक कार्य करने के लिए प्रदान नहीं किया जा सकता। मनुष्य अपने सम्बन्धित कार्यों में अधिकार का अनैतिक रूप से प्रयोग नहीं कर सकता, क्योंकि मनुष्य जीवन एक सामाजिक विधि है।

संक्षेप में, अधिकारों के पीछे समाज की शक्ति छिपी होती है। यदि किसी मांग को समाज स्वीकार नहीं करेगा तो वह अधिकार नहीं हो सकता। अधिकारों का निर्जन से कोई सम्बन्ध नहीं। रॉबिन्सन क्रूसो को निर्जन टापू में कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे।

अधिकारों का वर्गीकरण

अधिकार देश और काल के अनुसार बदलते हैं। अतः उसकी निश्चित सूची बनाना कठिन कार्य है। मोटे तौर पर से अधिकारों को दो भागों में विभाजित किया जाता है

(1) नैतिक अधिकार – नैतिक अधिकार वे हैं, जो मनुष्य की नैतिकता व अन्तःकरण से सम्बन्धित हैं। उच्च सामाजिक जीवन बिताने के लिए यह आवश्यक है, किन्तु इसका अनुमोदन राज्य द्वारा नहीं होता। अतः इनका उल्लंघन करने वाले को राज्य दण्ड नहीं दे सकता। इनके उल्लंघन का दण्ड तो आत्मधिकार, प्रायश्चित, सामाजिक आलोचना (वर्षा-संस्कार-उद्वेग-पर्व) ही है, पति का पत्नी और पत्नी का पति के ऊपर अधिकार, माँ-बाप का अपने बच्चों के द्वारा आज्ञा पालन का अधिकार आदि इस श्रेणी में सम्मिलित किये जा सकते हैं। यदि पुत्र पिता की आज्ञा का पालन नहीं करता है तो राज्य उसे दण्डित नहीं कर सकता।

(2) वैधानिक अधिकार – वैधानिक अधिकार वे अधिकार हैं, जिनको राज्यका अनुमोदन प्राप्त है, जिनको राज्य स्वयं प्रदान करता है और जिनकी रक्षा का उत्तरदायित्व राज्य पर है। इस प्रकार के अधिकारों के उपभोग में बाधा उत्पन्न करने वालेको अपराधी माना जाता है और राज्य उसे दण्ड देता है।

लीकॉक के शब्दों में, “उन अधिकारों को कानूनी अधिकार कहा जाता है, जो एक नागरिक को अपने साथी नागरिकों के विरुद्ध प्राप्त होता है, जो राज्य की सर्वोच्च शक्ति द्वारा प्रदान किया जाता है और जिसकी रक्षा राज्य करता है।”

वैधानिक अधिकारों का वर्गीकरण वैधानिक अधिकारों को दो भागों में विभाजित किया जाता

(अ) नागरिक अधिकार नागरिक अधिकार वे अधिकार हैं, जिनका उपभोग राज्य में रहने वाले सभी व्यक्ति कर सकते हैं। चाहे वे उस राज्य के नागरिक हों अथवा न हों। इन अधिकारों का उपभोग विदेशी भी कर सकते हैं। यह मनुष्य के श्रेष्ठ जीवन बिताने के लिए आवश्यक है। अधिकतर प्रजातान्त्रिक देश इन अधिकारों को प्रदान करते हैं। यह अधिकार सभी वर्ग के सभी अवस्था वाले स्त्री-पुरुषों को एक समान रूप से प्राप्त होते हैं। कोई व्यक्ति अपनी शक्ति के आधार पर अन्य व्यक्तियों को इन अधिकारों से वंचित नहीं कर सकता है एवं वह स्वयं भी अधिकारों का परित्याग करके सुखी जीवनयापन नहीं कर सकता।

यद्यपि विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों के अनुसार व्यक्तियों के नागरिक अधिकार बदलते रहते हैं, किन्तु आधुनिक उन्नतिशील और प्रजातान्त्रिक राज्यों में सामान्यतः निम्नलिखित नागरिक अधिकार प्रदान किये जाते हैं

जीवन का अधिकार जीवन का अधिकार सबसे मुख्य अधिकार है। कोई भी व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को जीवन के अधिकार से वंचित नहीं कर सकता।

राज्य का यह कर्तव्य है कि वह व्यक्तियों के जीवन की रक्षा करे, क्योंकि व्यक्ति का जीवन समाज की अमूल्य निधि है। किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं होता है कि वह अपने जीवन को समाप्त कर सके। अतः विश्व के सभी देशों में “आत्महत्या” को अपराध माना जाता है। जीवन की रक्षा करने के लिए राज्य ने न्यायालयों की व्यवस्था की है। यदि किसी व्यक्ति को राज्य द्वारा किसी अपराध में बन्दी बनाया जाता है तो न्यायालय द्वारा उसकी पुष्टि के बिना उसे बन्दी नहीं रखा जा सकता। व्यक्ति को स्वयं भी अपने जीवन की रक्षा करने का अधिकार प्राप्त है। विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए अपने विचार व्यक्त करने का अधिकार है। व्यक्ति अपने विचार भाषण देकर, समाचार पत्र में लेख निकलवाकर तथा समाचार पत्र का संचालन कर सकता है। समाचार पत्रों के प्रकाशन के क्षेत्र को पर्याप्त स्वतंत्रता प्रदान की जानी चाहिए। क्योंकि ‘जनमत’ (जनसंघ-व्यपद-पर्व) के निर्माण में समाचार पत्र बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। अतः समाचार-पत्रों को प्रजातान्त्रिक देशों में पर्याप्त

स्वतंत्रता प्रदान की जाती है, क्योंकि ये सरकारी नीतियों की आलोचना, समालोचना द्वारा सरकार की गलतियों को निर्देशित करते हैं और जनता को जागृत चेतन और प्रबुद्ध करते हैं। जे. एस. मिल तो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का बहुत बड़ा पक्षपाती था। उसके अनुसार तो यदि 100 तो यदि 100 में से 99 आदमी एक प्रकार की बात कहें और एक आदमी उनसे भिन्न प्रकार की तो 99 आदमियों को उसे चुप कराने का उसी प्रकार अधिकार प्राप्त नहीं है, जिस प्रकार एक व्यक्ति को यह अधिकार नहीं है कि वह उन 99 व्यक्तियों को चुप करा दे। किन्तु प्रत्येक देश समाचार-पत्रों के प्रकाशन, उनमें छपे समाचारों और भाषण पर सार्वजनिक कानून व व्यवस्था की दृष्टि से प्रतिबंध लगाता है, जिससे कि देश के अस्तित्व को ही खतरा न पैदा हो जाए। विचार अभिव्यक्ति का अभिप्राय यह नहीं कि किसी के चरित्र पर अनावश्यक आक्षेप किया जाए।

इसका अभिप्राय है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म पालन करने, पूजा-पाठ करने, धर्म का प्रचार व प्रसार करने व धार्मिक संस्था स्थापित करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। भारतीय संविधान में यह अधिकार पूर्णतः प्रदान किया गया है। यही कारण है कि हिन्दू और मुसलमान, सिक्ख तथा ईसाई किसी का भी धर्म हमारे देश में संकट में नहीं है। कोई भी उन्नतिशील और प्रजातांत्रिक देश नागरिकों पर अपना कोई विशेष धर्म नहीं लादेगा। यदि ऐसा करेगा तो व्यक्ति का स्वाभाविक विकास रुक जायेगा, किन्तु यदि धर्म के नाम पर अनाचार किया जाता है या अनैतिकता को बढ़ावा दिया जाता है और सामाजिक शान्ति भंग होती है तो राज्य उन पर प्रतिबंध लगा सकता है। धर्म की आड़ में अनाचार व अत्याचार नहीं होना चाहिए।

आने-जाने की स्वतंत्रता का अधिकार (Right to Free Movement)

व्यक्ति के विकास के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने, बसने, रोजगार करने तथा भ्रमण करने के लिए स्वतंत्र हो परन्तु इस अधिकार के दुरुपयोग होने पर भिन्न-भिन्न स्थानों पर जाकर लोगों में बगावत का प्रचार करने पर राज्य इस अधिकार पर प्रतिबंध लगा सकता है। संकट के समय राज्य नागरिकों के इस अधिकार पर कड़ा प्रतिबंध लगा देता है।

(अ) संगठन बनाने की स्वतंत्रता का अधिकार —मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है अकेले उसकी विभिन्न आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो सकती। संगठन बनाना उसके स्वभाव में निहित है। अतः उसे संगठन बनाने का अधिकार मिलना चाहिए। आज हम देखते हैं कितने ही प्रकार के स्वतंत्र संगठन राज्य के अंदर कार्य करते-रहते हैं, वे व्यक्ति की आर्थिक, सामाजिक, कलात्मक, साहित्यिक, सांस्कृतिक आदि आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, जिनसे मनुष्य के व्यक्ति का विकास होता है।

इस अधिकार के साथ सार्वजनिक सभा करने का अधिकार भी महत्वपूर्ण है। विभिन्न राजनीतिक दल सभा करके अपनी नीतियों की व्याख्या जनता के सामने करते हैं और सरकार के नीतियों की आलोचना करते हैं। यदि सभा से सार्वजनिक कानून और शान्तिभंग होने का अंदेश हो तो सरकार उनपर प्रतिबंध लगा सकती है।

सम्पत्ति का अधिकार अरस्तू व जान लॉक व्यक्तिगत सम्पत्ति के पक्के हिमायती थे। उनके अनुसार, धन-संचय करने की मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति इसके बिना व्यक्ति अपने व्यक्ति का पूर्ण विकास नहीं कर सकता। इस अधिकार का यह अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति वैध तरीकों से धन उपार्जन कर सकता है और इच्छानुसार उसका उपयोग कर सकता है। प्रजातांत्रिक देशों में सम्पत्ति के अधिकार पर अत्यधिक जोर दिया जाता है।

समाजवादी और साम्यवादी मत के लोग व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को मान्यता प्रदान नहीं करते हैं। उनके अनुसार, सम्पत्ति समाज के सामूहिक प्रयोजन से पैदा होती है। अतः सारे समाज का उस पर अधिकार होना चाहिए, परन्तु अब समाजवादी और साम्यवादी व्यवस्थाओं में भी व्यक्ति को सीमित मात्रा में व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार दिया जाने लगा है। वहाँ भी यह स्वीकार कर लिया गया है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति ही व्यक्ति को कार्य

करने की प्रेरणा प्रदान करती है । भारत में भी संविधान द्वारा सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकार किया गया है । यद्यपि संविधान में संघोधन कर इसे मूल अधिकारों की सूची से हटा दिया गया है ।

न्याय प्राप्त का अधिकार इसका अभिप्राय है कि कोई व्यक्ति अपने अधिकारों पर कुठाराघात होते हुए पाता है तो उसे न्यायालय से न्याय प्राप्त करने का अधिकार है । यह अधिकार बिना किसी भेदभाव के अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष, रंग-रूप मेंभिन्न सभी जाति के लोगों को मिलना चाहिए । प्रजातंत्र की सबसे प्रमुख विशेषता कानूनका राज्य है, जिसका अर्थ है कि कानून की दृष्टि में सभी व्यक्ति समान हैं । न्याय प्राप्त करने के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि इनमें देर न लगे, क्योंकि “देरकरना न्याय न करना” है । यदि न्यायप्राप्त करने में अधिक व्यय होता है तो भी साधारण जनता को इस व्यवस्था से लाभ नहीं हो सकता है ।

शिक्षा का अधिकार

शिक्षा जीवन में बहुत आवश्यक है । संभव नहीं । इसके अतिरिक्त प्रजातंत्र बिना शिक्षा के मनुष्य का मानसिक, नैतिक विकास की सफलता की पहली शर्त है कि नागरिक शिक्षित हो । अतः आधुनिक युग में प्रत्येक राज्य अपने नागरिक को शिक्षा का अधिकार प्रदान करता है । उन्नतिशील देशों में प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य तथा निःशुल्क है । भारतीय संविधान में भी राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों के अध्याय में वर्णित है कि 14 वर्ष तक की आयु के बालकों के लिए अनिवार्य व निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करना राज्य का कर्तव्य होगा ।

परिवार का अधिकार अरस्तू के अनुसार, परिवार एक नैतिक और प्राकृतिक संस्था है । अतः प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति को विवाह करने और परिवार चलाने का अधिकार होना चाहिए । प्लेटो ने अपनी पुस्तक ‘षासक वर्ग को परिवार के अधिकार से वंचित कर आलोचना ही प्राप्त की । राज्य का यह कर्तव्य है कि वहाँ का अन्यकोई व्यक्ति किसी के पारिवारिक जीवन में हस्तक्षेप न करे । परिवार ही वह पाठशाला होती है जहाँ पर वह अनेक प्रकार के गुण सीखता है, लेकिन मनुष्य को वह अधिकार तभी तक प्राप्त हैं जब तक वह इस अधिकार का प्रयोग समाज के हित में करे ।

(•) अन्य अधिकार उपयुक्त अधिकारों के अतिरिक्त बहुत से राज्य अपने नागरिकों को अन्य अधिकार भी प्रदान करते हैं जैसे- काम पाने या रोजगार

का अधिकार, व्यवसाय करने का अधिकार (भाषा, संस्कृति एवं साहित्य का अधिकार) न्यूनतम आर्थिक स्तर का अधिकार आदि । ये सभी अधिकार व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में सहायता करते हैं । राजनीतिधक अधिकार वे अधिकार हैं, जो कि

(ब) राजनीतिक अधिकार

देश के केवल नागरिकों को प्राप्त होते हैं, इन अधिकारों द्वारा नागरिकों को देश के शासन में भूमिका अदा करने का अवसर प्रदान किया जाता है । विदेशी, पागलों, दिवालियों आदि को ये अधिकार प्रदान नहीं किये जाते । राजनीतिक अधिकारों के अंतर्गत निम्नलिखित अधिकार आते हैं-

मत देने का अधिकार - आधुनिक प्रजातंत्र देश में जनता अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन करती है । जनता के प्रत्येक व्यस्क सदस्य को प्रतिनिधियों के चुनाव हेतु मत देने का अधिकार होना चाहिए । इस सम्बन्ध में धर्म, लिंग, सम्पत्ति, जाति आदि के आधार पर कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए । आजकल अधिकांश देश व्यस्क

मताधिकार की पद्धति अपना चुके हैं, तथापि प्रत्येक देश में अपराधियों, विदेशियों, दिवालियों प्रांगलों को इस अधिकार से वंचित रखा गया है निर्वाचित होने का अधिकार इस अधिकार का तात्पर्य यह है कि कोई भी नागरिक संसद या किसी भी विधान मण्डल का सदस्य निर्वाचित किया जा सकता है, क्योंकि प्रजातंत्र के नागरिकों के सम्बन्ध में यह कथन सत्य ही है कि, “वे शासन करते हैं तथा शासित होते हैं।” प्रजातंत्र में, “सरकार जनता की, जनता के लिए तथा जनता के द्वारा होती है” इसी कारण आवश्यक है कि नागरिकों को व्यवस्थापिका का सदस्य बनने का अधिकार हो। इस अधिकार की प्राप्ति में लिंग, जाति, धर्म, सम्प्रदाय आदि के आधार पर कोई भेद नहीं होना चाहिए।

राजकीय पद पाने का अधिकार इस अधिकार का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति बिना किसी भेदभाव के अपनी योग्यता के अनुसार राज्य का उच्चतम पद प्राप्त कर सकता है।

आवेदन का अधिकार

इस अधिकार का अर्थ है कि नागरिकों को उचित अधिकारियों के सामने शिकायतें करने और अपना दुःख दूर करने के लिए आवेदन करने का अधिकार है। राज्य के अधिकारियों का कर्तव्य है कि जनता के आवेदनों को ध्यानपूर्वक सुनें और उनके कष्टों के निवारण का भरसक प्रयास करें।

इन अधिकारों पर ध्यानपूर्वक दृष्टिपात करने से विदित होता है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए इनको राज्य द्वारा प्रदान करना बहुत आवश्यक है। समाज और राज्य व्यक्ति से बनते हैं। अतः विकसित व्यक्तित्व के व्यक्ति समाज को उत्कर्ष की चोटी पर पहुँचा सकते हैं। जिस सीमा तक कोई राज्य इन अधिकारों को अपने नागरिकों को प्रदान करेगा, उतना ही उस राज्य को उन्नतिशील समझा जायेगा। लॉस्की के शब्दों में, “किसी भी राज्य की पहचान उसके अधिकारों की व्यवस्था से की जा सकती है।”

मूल अधिकार

आज विष्व के अनेक देशों में नागरिकों को लिखित रूप में कुछ ऐसे अधिकार प्रदान किये जाते हैं, जिनसे सरकार भी उन नागरिकों को वंचित नहीं कर सकती। इन अधिकारों का उल्लेख संविधान में रहता है। इन्हें मूल अधिकार कहा जाता है। यदि सरकार कोई ऐसा कानून बनाये जो इन मूल अधिकारों के विपरीत हो तो व्यक्ति न्यायालय की शरण ले सकते हैं। न्यायालय उस कानून को ‘अवैध’ घोषित कर देगा जो नागरिकों के मूल अधिकारों का हनन करे। इसीलिए इन देशों में न्यायालय को ‘संविधान का संरक्षक’ कहा जाता है। भारत तथा अमेरिका के संविधानों में नागरिकों को कुछ मूल अधिकार प्रदान किये गये हैं जैसे— स्वतन्त्रता, समानता, धर्म की स्वतन्त्रता, शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार, न्यायालय की शरण लेने का अधिकार आदि। सोवियत संघ में आराम करने का अधिकार भी दिये गये थे। अमेरिकामें मूल अधिकारों को कहा जाता है

ब्रिटेन में संविधान अलिखित है। वहाँ मूल अधिकारों का कोई वर्णन नहीं है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ब्रिटेन में नागरिकों को मूल अधिकार प्राप्त नहीं हैं। वास्तव में वहाँ नागरिकों को वे समस्त मूल अधिकार प्राप्त हैं जो विष्व के किसी भी प्रजातान्त्रिक देश में

नागरिकों को प्राप्त होते हैं। यह कार्य वहाँ 'विधि का शासन' या 'कानून का राज्य' या के द्वारा किया जाता है ।

विधि के शासन का अर्थ – विधि के शासन का निम्नांकित अर्थ है

राजनीतिक सिद्धान्त

(1) ब्रिटेन में कानून का राज्य है (अर्थात् 'अंधेरगर्दी नहीं है') । कोई व्यक्ति तब तक गिरफ्तार नहीं किया जा सकता, जब तक उसने कोई अपराध न किया हो ।

यदि पुलिस किसी अपराध के सन्देह में किसी व्यक्ति को अपनी हिरासत में लेती है तो उसे 24 घण्टे के अन्दर किसी मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया जायेगा और उसे यह बताया जायेगा कि उसका कसूर क्या है ।

उस पर न्यायालय में मुकदमा चलाया जायेगा । उसे अपने बचाव का पूरा-पूरा मौका दिया जायेगा । उसे जेल केवल तभी भेजा जायेगा जब न्यायालय में उसका अपराध सिद्ध हो जाए और न्यायालय उसे दण्ड दे ।

(2) "कानून का राज्य है" (अर्थात् किसी व्यक्ति का राज्य नहीं है) । कानून के आगे सब नागरिक समान हैं) । यदि प्रधानमंत्री कोई अपराध करे तो उस पर भी उसी प्रकार सामान्य न्यायालयों में मुकदमा चलाया जायेगा जैसे किसी सामान्य नागरिक पर । केवल राजा को किसी न्यायालय प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'राजा कभी कोई गलती नहीं करता' वास्तव में यह परम्परा विधि के शासन के विपरीत है ।

(3) विधि का शासन व्यक्ति के अधिकारों का रक्षक है ।

अधिकारों के विभिन्न सिद्धान्त

अधिकारों के स्वरूप, उनके विकास और उद्देश्यों के विषय में विभिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं । उनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं

(1) प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त—

प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन हैं । इसके अनुसार मनुष्य के अधिकार प्राकृतिक हैं । इन्हें जनम – सिद्ध अधिकार भी कहा जा सकता है । जैसा कि प्रो. आर्षीर्वादम् ने कहा है, " वे उसी प्रकार व्यक्ति की प्रकृति का भाग है, जिस प्रकार उसकी खाल का रंग ।" इस सिद्धान्तके अनुसार मनुष्य कुछ अधिकारों को लेकर पैदा हुआ है । ये उसके 'प्राकृतिक अधिकार' हैं । इन अधिकारों पर समाज का कोई दावा नहीं है । वे समाज या राज्य के निर्माण से पहले ही मनुष्य को प्राप्त थे । ये वे अधिकार हैं, जिनके बिना मनुष्य का स्वाभाविक रूप में विकास नहीं हो सकता । चूँकि ये हर व्यक्ति को प्रकृति द्वारा प्रदत्त हैं अतः उनके उपभाग में समाज या राज्य कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता । अलग-अलग लेखकों ने अलग-अलग प्राकृतिक अधिकार बताये हैं । लॉक ने तीन प्राकृतिक अधिकार बताये हैं— जीवन का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार तथा सम्पत्ति का अधिकार । टॉमस जेफरसन के द्वारा बताये गये अधिकार हैं — जीवन का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार और सुख की तालाश का अधिकार यद्यपि कुछ लोग अन्तःकरण के अधिकार को भी इसमें सम्मिलित करते हैं ।

सिद्धान्त का इतिहास – प्राकृतिक अधिकारों का विचार बहुत प्राचीन है । प्राचीनकाल में यूनानी दार्शनिक और मध्यकाल में रोमन विचारकों ने इसकी चर्चा की । रोमन साम्राज्य में अधिक विस्तृत होने के कारण भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में लोगों के विवादों को श्रम दक्ष जन उ के आधार पर निपटारा किया जाता था, जो प्राकृतिक कानून के ऊपर आधारित होते थे ।

मध्य युग में ईसाई दार्शनिक टॉमस एक्वीनस (जिसे जूनपदों) ने भी प्राकृतिक कानून' (छंजनतंस सू) का जिक्र किया ।

17वीं और 18वीं शताब्दियों में समझौते के सिद्धान्त के विचारकों ने प्राकृतिक अधिकार के सिद्धान्त का सबल समर्थन किया। हॉब्स के अनुसार, व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार वे थे, जिनको मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में उपभोग करता था । उसके शब्दों में, "प्राकृतिक अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति को स्वेच्छानुसार प्रयोग करने की स्वतन्त्रता है ।

लॉक (स्वबाम) के मतानुसार, प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य को कुछ प्राकृतिक अधिकार प्राप्त थे । उसके अनुसार सबसे महत्वपूर्ण तीन अधिकार हैं— जीवन का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार तथा सम्पत्ति का अधिकार लॉक का कथन था कि किसी राज्य को व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों को छीनने का कोई अधिकार नहीं है। यहाँ तक मनुष्यों ने राज्य का निर्माण भी इसीलिए किया कि वह उनके प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा कर सके । यदि राज्य ऐसा नहीं करता है तो जनता को उस सरकार को अपदस्थ करने का अधिकार है। उसके लिए प्राकृतिक अधिकार पवित्र हैं ।

'रूसो भी प्राकृतिक अधिकारों में विश्वास रखता था । उसका प्रसिद्ध वाक्य "मनुष्य जन्म से स्वतंत्र है, किन्तु वह प्रत्येक जगह जंजीरों में जकड़ा हुआ है ।" इस बात को साबित करता है कि वह प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का समर्थक था । हरबर्ट स्पेन्सर के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति इच्छानुसार तब तक सब कुछ करने के लिए स्वतन्त्र होता है, तब तक वह अन्यो की इसी प्रकार की स्वतन्त्रता में बाधक नहीं होता ।

प्राकृतिक अधिकारों को लेकर ही फ्रांस की 1789 की क्रान्ति हुई और अमेरिका का स्वाधीनता के लिए संघर्ष हुआ । फ्रांस की राज्य क्रान्ति ने संसार में स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व की भावनाओं को अमर बताया। इन सबका आधार अधिकारों का प्राकृतिक सिद्धान्त ही था । अमेरिका स्वाधीनता संघर्ष के चैंपियन टॉमस जेफरसन ने प्राकृतिक अधिकारों की विवेचना की । उन्होंने तीन महत्वपूर्ण प्राकृतिक अधिकार बताये — जीवन का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार तथा सुखी होने का अधिकार अमेरिका की स्वतन्त्रता के घोषणा-पत्र में लिखा है, "हम इन सत्यों को स्वयं-सिद्ध मानते हैं कि सब मनुष्य स्वतन्त्र और समान पैदा हुए हैं"

आधुनिक युग में प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को लेकर दासता से जकड़े राज्यों ने स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष किया है। भारत में लोकमान्य तिलक ने स्वतन्त्रता का नारा दिया, "स्वतन्त्रता मेरा जन्म — सिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर ही रहूँगा" । आधुनिक काल में इसी सिद्धान्त के आधार पर भोजन, वस्त्र, निवास तथा आजीविका के अधिकारों को प्राकृतिक मानकर उन्हें आधारभूत माना जाता है ।

प्राकृतिक सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की

(प) प्राकृतिक शब्द अस्पष्ट — प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त में 'प्राकृतिक' शब्द अस्पष्ट है । 'प्राकृतिक' शब्द कई अर्थों में प्रयोग किया जाता है । 'कृत्रिम, 'आध्यात्मिक', 'राजनीतिक' इत्यादि शब्दों का विलोम प्राकृतिक हो सकता है। यही कारण है कि बेन्थम (ठमदजीउ) ने प्राकृतिक अधिकारों को बकवास (छवद-मदेम) बताया है।

(पप) राज्य को एक कृत्रिम संस्था मानना यह सिद्धान्त राज्य को एक संस्था मानता है और प्राकृतिक अधिकारों को समाज या राज्य के निर्माण से पहले की चीज मानता है। राज्य एक लम्बे विकास का परिणाम है और राज्य के परिप्रेक्ष्य में ही अधिकार का महत्व है। समाज से अलग अधिकारों की कल्पना करना व्यर्थ है। राज्य वस्तुतः अधिकारों का अपहरण नहीं करता, वह उनका संरक्षण करता है।

प्राकृतिक अधिकारों की सूची बनाना असम्भव दृष्ट प्राकृतिक अधिकार कौन-कौन से हैं, इस पर मतैक्य नहीं है। भिन्न-भिन्न विद्वान भिन्न-भिन्न अधिकारों को प्राकृतिक मानते हैं

सिद्धान्त का आधारभूत दोष

इस सिद्धान्त के समर्थक प्राकृतिक अधिकारों को अविच्छेद्य मानते हैं। अधिकार कभी अविच्छेद नहीं हो सकते। अधिकार एक 'सामाजिक धारणा' (वैबपंस ब्यदबमचज) है। अतः समाज के हित में यदि इन पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण लगाया जाता है तो बुरा नहीं कहा जा सकता।

(अ) सिद्धान्त घोर व्यक्तिवाद को जन्म देता है

मनुष्य का कल्याण सम्भव नहीं है, तब समाज के हित का ध्यान रखना होगा। यह सिद्धान्त व्यक्तिवाद पर अधिक जोर देता है और समाज या राज्य के प्रति विद्रोह की शिक्षा देता है। निश्कर्ष दृष्ट इन दोषों के होते हुए भी सिद्धान्त में सत्य का अंश भी है। प्रथम, यदि प्राकृतिक अधिकार वे माने जाएँ, जो मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक हैं तो ये सिद्धान्त अवश्य स्वीकार्य हैं। द्वितीय, यह अत्याचारी और निरंकुश राज्य के विरुद्ध सुरक्षा का कार्य करता है। प्राकृतिक अधिकारों का नारा देकर अमेरिका का स्वाधीनता संघर्ष सफल हुआ और फ्रांस की क्रान्ति हुई, जिसने राजनीति दर्शन को ही नहीं, बल्कि व्यावहारिक राजनीति को एक नया मोड़ प्रदान किया। तृतीय, प्राकृतिक अधिकार वे आदर्श या नैतिक अधिकार हैं, जिनसे मनुष्य को वंचित नहीं किया जाना चाहिए। जैसा कि वार्ड ने कहा है, "यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि प्राकृतिक अधिकार मानव संस्था द्वारा दबाए गए हैं, जो व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है।"

(2) अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धान्त (भेजवतपबंस जेमवतल वत्पिहीजे) – इस सिद्धान्त के अनुसार इतिहास ही अधिकारों की सृष्टि करता है। जो परम्पराएँ या रीति-रिवाज समाज में बहुत दिन तक चलते रहते हैं वे कालान्तर में अधिकार बन जाते हैं। उदाहरणार्थ, यदि आप कई साल तक किसी व्यक्ति को उसे जन्म-दिवस पर उपहार देते रहें तो कालान्तर में वह व्यक्ति अपना यह अधिकार मानने लगेगा कि अगले जन्म – दिवस पर भी उसे आप से उपहार प्राप्त हो।

यदि बहुत समय तक किसी भूमि पर आपका कब्जा बना रहे तो फिर उस पर आपका अधिकार हो जाता है। राज्य परम्परा की पवित्रता की दृष्टि से इन अधिकारों को स्वीकार कर लेता है। एक विद्वान का कथन है कि, "अधिकार और कुछ नहीं केवल रीति-रिवाजों की उपज है।" उदाहरण के लिए, हिन्दू कानून और मुसलमानों की दीवानी विधान इन समाजों में प्रचलित रीति-रिवाजों पर आधारित हैं। इस प्रकार अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धान्त यह प्रतिपादित करता है कि अधिकार ऐतिहासिक रीति-रिवाजों के विकसित रूप होते हैं और जिन्हें समाज स्वीकार कर लेता है।

में आलोचना इस सिद्धान्त में पर्याप्त सत्य होते हुए भी यह दोषरहित नहीं है। प्रथम, समाज बहुत—

— सी हानिकारक रीति—रिवाज और परम्पराएँ भी मिलती हैं, उनको अधिकार मान लेना प्रगति की घड़ी की सुई को उल्टा फेरना है। उदाहरणार्थ, दास प्रथा तथा बाल हत्या बहुत समय तक रीति—रिवाज बनी रहीं, लेकिन उनको अधिकार नहीं कहा जा सकता। द्वितीय, यदि अधिकारों को रीति—रिवाज और परम्परा पर ही निर्धारित माना जाये तो नये अधिकारों की सषष्टि कैसे होगी। तृतीय, परम्परा या रीति—रिवाज के आधार पर प्रथा को ठीक मान लेना, उनको अधिकार का रूप दे देना सर्वथा अनुचित है।

महत्व इन दोषों के बावजूद भी इस सिद्धान्त का बहुत महत्व है। अधिकारों पर रीति—रिवाज का स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। ब्रिटेन का सारा संविधान परम्पराओं और रीति—रिवाजों पर आधारित है हाकिंग का कथन सत्य है, “यद्यपि अधिकारों को निर्धारित करते समय इतिहास पर पूरा—पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता, किन्तु उसकी पूर्ण उपेक्षा नहीं की जा सकती

(3) अधिकारों का वैधानिक सिद्धान्त (स्महंस जेमवतल वत्पिहीजे) यह सिद्धान्त प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त के ठीक विपरीत है। इस सिद्धान्त के अनुसार, अधिकार राज्य की देन है। राज्य के बाहर अधिकारों की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अधिकार की राज्य के कानून या विधि द्वारा सषष्टि होती है। अतः अधिकार न तो प्राकृतिक ही हैं और न निरपेक्ष ही, वे देश, समय, परिस्थिति तथा कानून की अपेक्षा रखते हैं। अतः “जो विधि प्रदान करती है, वह अधिकार है, जो विधि प्रदान नहीं करती, वह अधिकार नहीं है।”

इस सिद्धान्त के अनुसार, अधिकार प्राकृतिक नहीं, कृत्रिम हैं। प्राकृतिक अवस्था में अधिकारों की कल्पना करना भ्रमपूर्ण है। इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थन ऑस्टिन (नेजपद) तथा बेन्थम हुए हैं बेन्थम के अनुसार, “अधिकार उचित अर्थ में विधि की कृति है।”

वर्तमान समय में इस सिद्धान्त को यथार्थवादी सिद्धान्त कहा जाता है, क्योंकि इसके अनुसार अधिकारों का आधार नैतिक मापदण्ड नहीं, वरन् उसका आधार राज्य और कानून है।

आलोचना इस सिद्धान्त की निम्नलिखित आधार पर आलोचना की गयी है। प्रथम, अधिकार को पूर्ण रूप से कानून की सषष्टि मान लेना भ्रान्तिपूर्ण है। अधिकार मानवोन्नति के लिए आवश्यक दषाएँ या परिस्थितियाँ हैं। ये दषाएँ हमेशा रहेंगी, चाहे राज्य उनकी सषष्टि करे या न करे। “राज्य हमारे अधिकारों को स्वतः विद्यमान रहते हैं। द्वितीय, विधि ही अधिकारों का स्रोत नहीं, अधिकारों का स्रोत परम्पराएँ, रूढ़ियाँ, सामाजिक रीति—रिवाज आदि भी हैं। तृतीय, अधिकार को विधि या राज्य की ही देन मान लेना निरंकुषता को बढ़ावा देना आज यह मान्यता है कि कुछ विषेश दषाओं में राज्य का विरोध किया जा सकता है। चतुर्थ, वैधानिक सिद्धान्त नैतिक पहलू की अपेक्षा करता है।

सिद्धान्त में उपयुक्त दोष होते हुए भी इनमें पर्याप्त सत्य है। जब तक राज्य की मुहर किसी अधिकार पर नहीं लग जाती, तब तक वह वैधानिक अधिकार स्वीकार नहीं किया जाता है। राज्य मान्यता देने पर ही उसकी रक्षा कर सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी दावे को अधिकार बनने के लिए कानूनी स्वीकृति आवश्यक होती है और यही स्वीकृति प्रदान करना राज्य का कार्य है। (4) सामाजिक कल्याण का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के प्रमुख अनुयायी ब्रिटिश उपयोगितावादी विचारक बेन्थम (टमदजीउ) तथा मिल, अमेरिकन विधिषास्त्री ड्रीम पाउण्ड और चेफी (बिमिम) हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार, सामाजिक कल्याण के लिए अधिकारों की सषष्टि की जाती है। इनके उचित या अनुचित होने की कसौटी सामाजिक कल्याण है। वस्तुतः कानून, रीति—रिवाज और प्राकृतिक अधिकार सभी को सामाजिक कल्याण के सामने रखना चाहिए और उनका उद्देश्य समाज कल्याण होना चाहिए। बेन्थम के अनुसार, सामाजिक कल्याण

से मतलब है, “ अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक सुख” (छतमंजमेज चिचपदमे वजीम हतमंजमेज दनउइमत) । लास्की (सैंप) इस सिद्धान्त के प्रबल समर्थक हैं। उनके अनुसार, मेरे अधिकार मुझे प्रदान की गयी कुछ शक्तियाँ हैं, ताकि मैं दूसरे व्यक्तियों के साथ मिलकर सार्वजनिक हित प्राप्ति का प्रयत्न करूँ । इन सिद्धान्त को मानने वाले अधिकार और कर्तव्य को साथ – साथ जुड़ा मानते हैं।

आलोचना इस सिद्धान्त का प्रथम दोष यह है कि सामाजिक उपयोगिता या ‘लोक – कल्याण’ स्पष्ट धारणाएँ नहीं हैं न इनका कोई मापदण्ड है। यह कहना कठिन है कि कौन-सा अधिकार समाज कल्याण के अनुकूल है और कौन-सा नहीं है। उदाहरणार्थ, विवाह माता-पिता के द्वारा निश्चित किये जायें अथवा बालक-बालिकायें स्वयं ही अपना जीवन-साथी चुनें, कौन-सा अधिकार समाज- कल्याण के अनुकूल होगा

यह कहना अत्यन्त कठिन है ।

‘सुख’ की धारणा व्यक्तिगत है। यदि सुख की व्यवस्था बहुसंख्यकों के आधार पर की जायेगी तो अल्पसंख्यकों को हानि होगी। दूसरी, यह व्यक्तिगत हित की अपेक्षा करता है और समाज को व्यक्ति से अधिक महत्वपूर्ण बना देता है ।

(5) अधिकार का आदर्शवादी सिद्धान्त – इससिद्धान्त के अनुसार, अधिकार मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है। अधिकारवे दशाएँ या परिस्थितियाँ हैं, जो मनुष्य के भौतिक, बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नतिके लिये आवश्यक हैं। ग्रीन के शब्दों में, “अधिकार का तात्पर्य उन शक्तियों से है, जो नैतिकप्राणी के रूप में अपना पूर्णत्व प्राप्त करने के लिए आवश्यक है।

यह सिद्धान्त अधिकारों के प्रति नैतिक या आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाता है। इसके अनुसार, ‘व्यक्तिगत और सामाजिक हित में कोई संघर्ष नहीं है । व्यक्ति को अधिकार इसलिए दिये जाते हैं, जिससे वह अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर समाज का अधिक-से-अधिक हित कर सके । अतः इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्तित्व का विकास करना पूर्ण अधिकार है।

यह सिद्धान्त सभी सिद्धान्तों से श्रेष्ठ है (1) यह नैतिकता और व्यक्तित्व के विकास को अधिकारों का मापदण्ड मानता है । (2) यह व्यक्तिगत – हित और सामाजिक हित आदि दोनों पर जोर देता है । (3) यह अधिकार और कर्तव्य में सम्बन्ध मानता है । (4) यह व्यक्तित्व के विकास के आधार के अतिरिक्त सभी अधिकारों को सामाजिक – हित के द्वारा सीमित मानता है । (5) यह राज्य के नैतिक स्वरूप पर बल देता है और स्वतन्त्रता सत्ता के बीच के सम्बन्ध का सर्वश्रेष्ठ निर्धारण करता है ।

आलोचना उपर्युक्त अच्छाईयों के होते हुए भी इस सिद्धान्त की आलोचना की जाती है— (1) यह सिद्धान्त व्यावहारिक नहीं है । इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों ने आदर्श की ओर विशेषध्यान दिया है । (2) यह सिद्धान्त केवल बाह्य परिस्थितियों की ही व्यवस्था कर सकता है। (3) यह सिद्धान्त सामाजिक-हित और व्यक्तित्व के विकास का उचित मापदण्ड प्रस्तुत नहीं करता ।

निष्कर्ष – अधिकारों का पूर्ण सिद्धान्त यह होगा कि हमें वे सब अधिकार प्राप्त होने चाहिए, जो हमारे व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक हैं तथा जिनसे समाज का कल्याण हो । राज्य को चाहिए कि इस प्रकार के अधिकारों को मान्यता प्रदान करे ।

अधिकार और कर्तव्य में सम्बन्ध

कर्तव्यों की पूर्ति का दायित्व भी डालते हैं। व्यक्ति के समाज व राज्य के हित के लिये जो कुछ भी करने के दायित्व होते हैं, वे उसके कर्तव्य कहलाते हैं। इस प्रकार जहाँ अधिकारों से व्यक्ति को कुछ प्राप्त होता है, वहीं कर्तव्यों के द्वारा उस पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानों अधिकार और कर्तव्य एक-दूसरे के विरोधी हों, परन्तु यह सत्य नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि ये दोनों एक-दूसरे पूरक हैं। इनका अस्तित्व एक-दूसरे पर निर्भर है। अधिकार के अभाव में अधिकारों की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यही कारण है कि वाइल्ड (पसकम) की मान्यता है कि कर्तव्यों के अभाव में यह जगत अधूरा है, क्योंकि व्यक्ति के अधिकार उसे अपने कर्तव्यों के पालन के योग्य बनाते हैं तो दूसरी ओर वह अपने कर्तव्यों का पालन कर दूसरों के अधिकार प्राप्ति को सुनिश्चित करता है। इन दोनों के घनिष्ठ सम्बन्धों का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है—

(1) एक व्यक्ति का अधिकार दूसरे व्यक्तियों का कर्तव्य होता है समाज में किसी व्यक्ति के अधिकार की प्राप्ति केवल तब हो सकती है, जबकि समाज के अन्य व्यक्ति अपने कर्तव्यों पूरा करें। उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति को अपनी जीवन-रक्षा का अधिकार केवल तब प्राप्त हो सकता है जब समाज के अन्य सदस्य किसी के जीवन को न छीनने के अपने कर्तव्य करें। यदि समाज के अन्य व्यक्ति किसी के अधिकारों का हनन करता है तो उसे स्वतन्त्रता को पूरा का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। इस प्रकार किसी व्यक्ति को अधिकार केवल तब प्राप्त हो सकते हैं, जब दूसरे व्यक्ति भी अपने कर्तव्यों को पूरा करें।

(2) व्यक्ति का अधिकार समाज और राज्य का कर्तव्य होता है — व्यक्ति को अधिकार समाज की स्वीकृति से प्राप्त होते हैं तथा वह उनका उपभोग राज्य द्वारा संरक्षण प्रदान कि जाने पर ही कर पाता है। इस स्वीकृति और संरक्षण के अभाव में व्यक्ति के अधिकार अर्थहीन हो जाते हैं। अतः व्यक्ति को अधिकार प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि समाज और राज्य उसके अधिकारों को मान्यता और संरक्षण देने के अपने कर्तव्य को पूरा करें।

(3) एक व्यक्ति का अधिकार स्वयं उसका कर्तव्य होता है समाज के प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार स्वयं उन्हीं के कर्तव्य होते हैं। यदि व्यक्ति अधिकार प्राप्त करना चाहता है तो यह जरूरी है कि समाज के अन्य सदस्य उसके प्रति अपने कर्तव्यों को पूरा करें। यह तभी सम्भव है जबकि वह दूसरों के प्रति अपने कर्तव्यों को पूरा करे। उदाहरणार्थ, यदि व्यक्ति विचार — अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार चाहता है तो उसे अपने इस कर्तव्य का पालन करना होगा कि वह दूसरों के इसी अधिकार के प्रयोग में बाधा न डालें, अन्यथा दूसरे व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करेंगे। अतः अधिकार प्राप्त करने के लिए व्यक्ति का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह दूसरों के अधिकारों को मान्यता दे और उनके मार्ग में बाधक न बने। इस प्रकार एक व्यक्ति का अधिकार उसका स्वयं का ही कर्तव्य बन जाता है।

(4) व्यक्ति के अधिकारों से राज्य के प्रति उसके कर्तव्य निर्धारण होते हैं व्यक्ति को अपने अधिकार राज्य से प्राप्त होते हैं। राज्य व्यक्ति को अनेक प्रकार के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक अधिकार प्रदान करता है, जिससे व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके। बदले में राज्य की व्यक्ति से कुछ आकांक्षाएँ होती हैं जैसे— राज्य के प्रति भक्ति-भाव रखना, राज्य के कानूनों का पालन करना, राज्य द्वारा लगाये गये करों का समय पर भुगतान करना, संकट के समय राज्य की सहायता करना आदि। ये आकांक्षाएँ ही व्यक्ति के राज्य के प्रति कर्तव्य हैं। राज्य नागरिकों को उनके अधिकतम विकास के लिए अधिकतम सुविधाएँ और अधिकार केवल तभी प्रदान कर पाता है, जब नागरिक अपने राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों को पूरा (5) अधिकार प्राप्त होने पर ही कर्तव्य पालन सम्भव राजनीतिक विचारक मानते हैं कि व्यक्ति के राज्य के प्रति केवल कर्तव्य होने चाहिए, उसे अधिकारों की आवश्यकता नहीं, परन्तु यह विचार स्वीकार्य नहीं है क्योंकि यह व्यक्ति को राज्य की दया पर निर्भर बना देता है। ऐसा होने पर कर्तव्य पालन से बचने की कोशिश करता रहेगा और यदि कर्तव्य पालन करेगा भी तो केवल दण्ड के भय से। अतः व्यक्ति

राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन खुशी और स्वेच्छा से करे, इसके लिए यह जरूरी है कि उसे राज्य से अधिकार प्राप्त हों।

निश्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि अधिकार और कर्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सामाजिक जीवन को सुव्यस्थित रूप प्रदान करने के लिए अधिकार तथा कर्तव्य दोनों की ही आवश्यकता होती है। प्रो. लास्की के अनुसार इनमें चार सम्बन्ध हैं – प्रथम, “मेरा अधिकार तुम्हारा कर्तव्य” द्वितीय, “मेरे अधिकार में यह कर्तव्य निहित है कि मैं तुम्हारे समान अधिकार को स्वीकार करूँ।” तृतीय, “मुझे अपने अधिकारों का प्रयोग सामाजिक हित में वर्धित करने की दृष्टि से करना चाहिए।” चतुर्थ, “क्योंकि राज्य मेरे अधिकारों को सुरक्षित रखता है तथा उनकी व्यवस्था करता है। अतः राज्य की सहायता करना मेरा कर्तव्य है।” महात्मा गाँधी के शब्दों में, “कर्तव्य पालन कीजिए और अधिकार स्वतः ही आपको मिल जायेंगे।” प्रो. गोल्ड के शब्दों में कहा जा सकता है कि, “हमारा एक अधिकार अपने कर्तव्यों का पालन है।” इस प्रकार स्पष्ट है कि अधिकार तथा कर्तव्य दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

इकाई – 10 राजनीति विज्ञान मानव क्रियाओं का अध्ययन है

स्वतन्त्रता

“जीवन के अधिकार के बाद साधारणतः स्वतन्त्रता के अधिकार का नाम लिया जाता है और व्यक्तियों के लिए यह प्राथमिक और सबसे अधिक तथा आवश्यक अधिकार है।”

यह कहा गया है कि विषय का इतिहास स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष के सिवाय कुछ नहीं है। अमेरिकी स्वतन्त्रता घोषणा-पत्र में लिखा है कि, “सब मनुष्य स्वतन्त्र और समान उत्पन्न हुए हैं।” वास्तव में स्वतन्त्रता मानव-जीवन के लिए अमूल्य है। बिना स्वतन्त्रता के मानव व्यक्तित्व का समुचित विकास सम्भव नहीं है। राजनीतिक दर्शन के इतिहास में भी षायद ही कोई ऐसा विचारक हो, जिसने यह स्वीकारा न हो कि स्वतन्त्रता के बिना न तो मानव की उन्नति सम्भव है और राष्ट्र की।

स्वतन्त्रता का अर्थ तथा परिभाषाएँ

स्वतन्त्रता अंग्रेजी भाषा के लिबर्टी शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। लिबर्टी शब्द स्वतन्त्रता का अर्थ लैटिन भाषा के लिवर शब्द में निकला है, जिसका अर्थ है – बन्धनों का अभाव। अतः स्वतन्त्रता की के समर्थकों के नकारात्मक धारणा के अनुसार बन्धनों का न होना ही स्वतन्त्रता है। इस मत समर्थकों के अनुसार, हो कानून और राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर बन्धन हैं। अतः आदर्श स्थिति वह है, जहाँ न कानून और न राज्य। समझौता सिद्धान्त के समर्थक हॉब्स तथा रूसो के अनुसार, “प्राकृतिक अवस्था में इस प्रकार की स्वतन्त्रता थी।” जे. एस. मिल नकारात्मक स्वतन्त्रता को ही अधिक महत्व देते हैं। उसके अनुसार, “कोई व्यक्ति अपने आचरण के केवल उसी अंश के लिए समाज के प्रति उत्तरदायी ठहराया जा सकता है, जिसका दूसरों से सम्बन्ध हो, जिस अंशका सम्बन्ध उसके अपने जीवन से है। उसमें उसकी स्वतन्त्रता अधिकांशतः निरपेक्ष है। मनुष्य अपने शरीर तथा मस्तिष्क के ऊपर प्रभु होता है।

स्वतन्त्रता की नकारात्मक धारणा भ्रान्तिपूर्ण है – (1) कानून की अनुपस्थिति में स्वतन्त्रता का नहीं, स्वेच्छाचारिता का बोलबाला होगा। बलवान लोग स्वतन्त्रता का उपभोग करेंगे और निर्बल लोग दास होकर रहेंगे। समाज में जंगल का नियम लागू होगा। निष्चय ही किसी व्यक्ति को स्वच्छन्द रूप से शराब पीने, जुआ खेलने तथा हत्या करने की छूट स्वतन्त्रता नहीं देती। (2) प्राकृतिक अवस्था की स्वतन्त्रता कल्पना मात्र है क्योंकि प्राकृतिक अवस्था ही कल्पना की वस्तु है। मानवीय इतिहास में इसका कहीं जिक्र नहीं है। (3) स्वतन्त्रता का वास्तविक आनन्द केवल तभी प्राप्त होता है, जब स्वतन्त्रता के साथ-साथ हमें कुछ अधिकार भी प्राप्त हों। यही कारण है कि मिल को ‘खोखली स्वतन्त्रता का उपदेशक’ (व्हाट्सचीमज व मिडचजल स्पिडमतजल) कहा गया है।

स्वतन्त्रता की दूसरी धारणा के अनुसार, स्वतन्त्रता व्यक्ति के विकास के लिए समुचित अवसर या परिस्थितियों को जुटाना है। स्वतन्त्रता बन्धनों का न होना नहीं है, बल्कि हमें वे परिस्थितियाँ प्राप्त होनी चाहिए, जिनमें हम अपने व्यक्ति के पूर्ण विकास कर सकें।

(1) मैं केन्जी के अनुसार, “स्वतन्त्रता सब प्रकार के प्रतिबन्ध का अभाव नहीं है, बल्कि विवेक रहित प्रतिबन्धों के स्थान पर विवेकयुक्त प्रतिबन्धों की स्थापना है।”

(2) स्पेन्सर ने नकारात्मक और सकारात्मक अर्थ के लगभग बीच का मार्ग अपनाया है। उसके अनुसार, “प्रत्येक मनुष्य को वह करने की स्वतन्त्रता है, जो वह करना चाहता है, बर्ते कि वह किसी अन्य मनुष्य की समान स्वतन्त्रता का अतिक्रमण न करे।”

ग्रीन के अनुसार “स्वतन्त्रता उन कार्यों को करने अथवा उन वस्तुओं का उपभोग करने की शक्ति है, जो करने तथा उपभोग करने योग्य है।”

(4) महात्मा गाँधी के अनुसार, “स्वतन्त्रता का अर्थ नियन्त्रण का अभाव नहीं, बल्कि व्यक्ति के विकास की अवस्थाओं की प्राप्ति है।”

(5) सीले के अनुसार, “स्वतन्त्रता अति शासन की विरोधी है।”

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रतिबन्धों का अभाव स्वतन्त्रता नहीं है। सच्ची स्वतन्त्रता का अर्थ उन अवसरों का होना है, जिनसे मनुष्य अपने व्यक्ति के अधिक से अधिक सामाजिक हित में योगदान कर सके। स्वतन्त्रता को ‘आत्म-विकास का अवसर भी कहा गया है। स्वतन्त्रता को अपने कर्तव्यों कापालन करने के लिए यथोचित अवसर भी कहा गया

है। ये अवसर राज्य में रहकर प्राप्त हो सकते हैं। स्वतन्त्रता व्यक्तिगत धारणा कम और ‘सामाजिक धारणा’ अधिक है। कोई व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का उसीसीमा तक उपभोग कर सकता है, जहाँ तक अन्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण नहो। अतः स्वतन्त्रता सीमित होती है, न कि असीमित।

स्वतन्त्रता के विभिन्न प्रकार

स्वतन्त्रता के मुख्य भेद निम्नलिखित हैं।

(1) प्राकृतिक स्वतन्त्रता – प्राकृतिक स्वतन्त्रता के दो अर्थ हैं। प्राकृतिक अवस्था में जिस स्वतन्त्रता का उपभोग मनुष्य करता था, वह प्राकृतिक स्वतन्त्रता थी। उस समय न राज्य था, न राज्य के कानून थे। मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार कुछभी करने को स्वतन्त्र था। सामाजिक समझौते के परिणामस्वरूप राज्य का निर्माण हो जानेपर और प्राकृतिक अवस्था के अन्त हो जाने पर प्राकृतिक स्वतन्त्रता का लोप हो गया और वह समाज तथा राज्य द्वारा बनाये हुये कानूनों में जकड़ गया। यह दृष्टिकोण सामाजिक समझौते के समर्थक विचारकों हॉब्स, लॉक तथा रूसो (त्वनेमन) का है। रूसो का कहना था कि, “मनुष्य स्वतन्त्र जन्मा है, लेकिन वह हर जगह बन्धनों में बँधा है।” परन्तु स्वतन्त्रता की यह धारणा गलत है। राज्य के बाहर और कानूनों की अनुपस्थिति में स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं है। जहाँ जंगल का नियम प्रबल होता हो, वहाँ स्वतन्त्रता का अस्तित्व रह ही नहीं सकता।

दूसरे अर्थ में, प्राकृतिक स्वतन्त्रता से तात्पर्य है कि मनुष्य के अन्दर स्वतन्त्र होने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। स्वतन्त्रता इसलिए ‘प्राकृतिक’ है कि मनुष्य के व्यक्ति के विकास

के लिये यह आवश्यक है। इसके बिना व्यक्ति अपने पूर्णत्व को प्राप्त नहीं कर सकता। ग्रीन, लॉस्की तथा रिची ने प्राकृतिक स्वतन्त्रता का इसी अर्थ में समर्थन किया है।

(2) नागरिक स्वतन्त्रता

राजनीतिक सिद्धान्त

समाज या राज्य द्वारा प्रदत्त स्वतन्त्रता को नागरिक स्वतन्त्रता कहते हैं। गैटिल के शब्दों में, “नागरिक स्वतन्त्रता के अन्दर वे अधिकार और विशेषाधिकार आते हैं, जिनका राज्य सृजन करता है और जनता के लिए उनकी रक्षा करता है।” नागरिक स्वतन्त्रता में जीवन की सुरक्षा, सम्पत्ति का अधिकार विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, देश में आने-जाने की स्वतन्त्रता, न्याय पाने की स्वतन्त्रता, आदि पाये जाते हैं। में स्वतन्त्रता सीमित होती है, क्योंकि प्रत्येक नागरिक को समानता के आधार पर प्रदान की जाती है। राजनीतिक स्वतन्त्रता – राजनीतिक स्वतन्त्रता से अभिप्राय उन अधिकारों से है, जिनके द्वारा नागरिकों को अपने देश के शासन में भाग लेने का अवसर मिलता है। इसके अन्दर मत देने का अधिकार, राजकीय पद पाने का अधिकार, आवेदन का अधिकार तथा सरकार की आलोचना करने का अधिकार आदि आते हैं। गिलक्राइस्ट के अनुसार, राजनीतिक स्वतन्त्रता जनतन्त्र का ही दूसरा नाम है। बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता के प्रजातन्त्र के कोई मायने नहीं हैं। लीकॉक राजनीतिक स्वतन्त्रता को ‘वैधानिक स्वतन्त्रता’ के नाम से पुकारता है। लेकिन राजनीतिक स्वतन्त्रता का निर्वाह केवल लोकतंत्रीय राज्यों में ही सम्भव है, क्योंकि इसी शासन में जनता को सक्रिय रूप से भाग लेने का अवसर मिलता है।

(4) आर्थिक स्वतन्त्रता – आर्थिक स्वतन्त्रता से तात्पर्य आर्थिक सुरक्षा से है। इसमें रोजगार पाने का अधिकार, सम्पत्ति निर्माण करने का अधिकार, व्यापार करने का अधिकार, देश के साधनों में समान अधिकार, एक से कार्य के लिये एकसे वेतन का अधिकार आदि आते हैं। बिना आर्थिक स्वतन्त्रता के सब स्वतन्त्रताएँ बेकार हैं। कॉल (ळ.व. ५. ब्सम) के शब्दों में, “आर्थिक स्वतन्त्रता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता कोरी कल्पना है।” (5) धार्मिक स्वतन्त्रता – इसका अभिप्राय है कि एक व्यक्ति को कोई भी धर्म स्वीकार करने, उसके प्रचार करने आदि का अधिकार है। इसके अन्दर आर्थिक संस्थाएँ, स्कूल, स्व-प्रगति की जाँच करें— 1. जन्मजाति नागरिकता किन-किन स्थितियों में प्राप्त होती है ?

2. एक व्यक्ति की नागरिकता किन-किन स्थितियों में समाप्त हो जाती है? किन्हीं पाँच का उल्लेख करें।

कॉलेज आदि खोलने का अधिकार है। राज्य धर्म के मामले में तटस्थ रहे और धर्म के नाम पर किसी भी वर्ग का पक्ष न ले। राज्य को धर्म-निरपेक्ष रहना चाहिए। भारत भी एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है। राज्य के समस्त कर्मचारियों को धर्म सम्बन्धी पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है।

(6) नैतिक स्वतन्त्रता – नैतिक स्वतन्त्रता का अर्थ अन्तःकरण के अनुसार आचरण करना है। नैतिक स्वतन्त्रता की धारणा का प्रवर्तन काण्ट ने किया है। काण्ट का कथन था कि, “इस प्रकार आचरण करो कि तुम्हारी इच्छा से समस्त संसार के लिए नियम बनाये जा सकें।” नैतिक स्वतन्त्रता से तात्पर्य यह है कि हम वही कार्य करें, जो हमारी आत्मा के अनुकूल हों और वह कार्य न करें जो हमारी आत्मा के प्रतिकूल हों। महात्मा गाँधी इसी को महत्व देते थे। प्लेटो, हीगल, ग्रीन, बोसांके आदि ने भी नैतिक स्वतन्त्रता का समर्थन किया है।

(7) राष्ट्रीय स्वतन्त्रता – राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का अर्थ है – देश की स्वाधीनता । जब कोई भी देश आन्तरिक रूप से बाह्य मामलों में स्वतन्त्र हो तो उसे स्वतन्त्र कहेंगे । राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का दूसरा नाम सम्प्रभुता है । स्पष्ट है कि इसका सम्बन्ध व्यक्तियों से नहीं, राष्ट्र से होता है

स्वतन्त्रता के संरक्षण – स्वतन्त्रता के संरक्षण अथवा गारण्टी का तात्पर्य उन उपायों से है, जिनके द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा की जा सकती है । ये उपाय हैं

(1) लोकतन्त्र की स्थापना, (2) संविधान की सर्वोच्चता, (3) नागरिकों के मूल अधिकार, (4) स्वतन्त्र न्यायपालिका, (5) शक्तियों का विकेन्द्रीयकरण, (6) आर्थिक समानता और (7) नागरिकों की सजग जागरूकता ।

समानता तथा न्याय के समानता के सिद्धान्त का ऐतिहासिक पर्यवेक्षण – आधुनिक काल में ‘समानता’ और ‘स्वतन्त्रता’ शब्द अति लोकप्रिय शब्द बन गये हैं। ये लोकतन्त्र और स्वाधीनता के मूल तत्व हैं। इनको लेकर फ्रांस की क्रांति हुई और आधुनिक काल में जन-आन्दोलन चले एवं चल रहे हैं। समानता का सिद्धान्त कोई नया सिद्धान्त नहीं है। अरिस्टोटल ने समानता पर बड़ा जोर दिया। उनके अनुसार, क्रान्तियों बहुत से कारणों में से एक कारण असमानता भी है।

रोमन दार्शनिक सिसरो ने भी समानता के विषय में विचार व्यक्त किये। ईसाई विचारकों ने व्यक्ति की गरिमा की कल्पना की।

हॉब्स के अनुसार, “सब मनुष्य प्राकृतिक रूप से समान हैं।” लॉक (Locke) ने जो कि व्यक्तिवाद और प्रजातंत्र का पैगम्बर कहा जाता है, समानता पर बल दिया है। रूसो (त्वेनेमन) भी समानता के सिद्धान्त का पुजारी था । उसकी विचारधारा ने फ्रांस की 1789 ई. की क्रांति के तीन नारों – स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व को जन्म दिया। फ्रांस की राष्ट्रीय सभा सन् 1789 में ‘मनुष्य के अधिकारों के घोषणा-पत्र’ (में कहा गया है कि, “मनुष्य स्वतन्त्र और समान पैदा हुए हैं और वे अपने अधिकारों के विषय में भी स्वतन्त्र और समान रहते हैं ।” इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका के ‘स्वतन्त्रता सम्बन्धी घोषणा-पत्र (क्वबसंतंजपवद वण्डिकमचमदकमदबम) में लिखा है, “हम इसे एक स्वयं – सिद्ध सत्य मानते हैं कि सभी मनुष्य स्वतन्त्र और समान उत्पन्न हुए हैं।” आधुनिक युग में जब से समाजवाद की धारणा ने जोर पकड़ा, समानता सबसे अधिक महत्वपूर्ण आदर्श बन गयी है । आज विष्व के विभिन्न देशों में समानता के प्रश्न को लेकर जन-आन्दोलन चल रहे हैं। स्पष्ट है कि समानता का सिद्धान्त राजनीतिशास्त्र के इतिहास में अपना एक विशेष स्थान रखता है ।

समानता : अर्थ व परिभाषा

समानता लोकतन्त्र का प्रमुख आधार स्तम्भ है । व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए समानता परम आवश्यक। सामान्य रूप से समानता का अर्थ यह लगाया जाता है कि सभी मनुष्य प्राकृतिक रूप से समान हैं और सभी के अन्दर शारीरिक व बौद्धिक योग्यता समान है। इसलिए सभी को एक – समान कार्य करने चाहिए और सभी की आय भी बराबर होनी चाहिए । अतः समाज और राज्य सबके बीच पूर्ण समानता स्थापित करता है, किन्तु यह विचार नितान्त भ्रमपूर्ण है । वास्तविकता यह है कि सभी व्यक्ति जन्मतः अथवा प्राकृतिक रूप से समान नहीं होते । शारीरिक बल, बुद्धि, रूप, रंग आदि दृष्टिकोण से कोई भी दो मनुष्य समान नहीं होते । चाहे कितनी भी कोषिष की जाये। किसी कक्षा के सभी विद्यार्थी पढ़ने में एक बराबर तेज नहीं हो सकते, क्योंकि सभी बुद्धि में समान नहीं होते । अतः ‘पूर्ण समानता’ (इवसनजम मुंसपजल) की बात करना नितान्त भूल है ।

समानता का वास्तविक अर्थ यह है कि सभी लोगों को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए समान अवसर प्रदान किये जायें। जन्म, जाति, रंग, भाषा, धर्म, लिंग के आधार पर कोई भेदभाव न हो। इस मत के समर्थक 'व्यक्ति की प्रतिष्ठा' में विष्वास रखते हैं और प्रत्येक व्यक्ति को समाज की एक प्रभावशाली इकाई मानते हैं। उनके अनुसार, प्राकृतिक कारणों से असमानता हो सकती है, किन्तु राज्य को यह देखना चाहिए कि धर्म, वर्ण, भाषा, जन्म, जाति आदि के आधार पर असमानता न हो। इस प्रकार राजनीति विज्ञान की धारणा के रूप में समानता का तात्पर्य सामाजिक वैशम्यद्वारा उत्पन्न इस असमानता के अन्त से है। इस प्रकार समानता वह स्थिति है, जो व्यक्तिको उसके व्यक्तित्व का विकास करने के लिए समान अवसर उपलब्ध कराती है। समानता के अन्तर्गत देश के सभी नागरिक कानून की दृष्टि से समान होने चाहिए। एक ही प्रकार के कानून सब पर लागू होना चाहिए। इसके अतिरिक्त समाज में कोई 'विशेषाधिकारयुक्त वर्ग' नहीं होने चाहिए। सार्वजनिक पद, शिक्षा आदि किसी भी मामले में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं होना चाहिए। समानता में न्याय निहित है। देश के साधनों का न्यायोचित वितरण होना चाहिए। अन्त में, राज्य का यह कर्तव्य होना चाहिए कि समाज के किसी भी वर्ग को सामाजिक अथवा राजनीतिक सुविधाओं से वंचित न रखे और सबको अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने हेतु अवसर प्रदान करें। लास्की के अनुसार, "समानता मूल रूप में समानीकरण की एक प्रक्रिया है। इसलिए प्रथमतः समानता का आशय विशेषाधिकारों के अभाव से है। द्वितीय रूप में इसका आशय यह है कि सभी व्यक्तियों को विकास हेतु पर्याप्त अवसर प्राप्त होने चाहिए।" अतः राजनीति शास्त्र में समानता का अर्थ ऐसी परिस्थितियाँ हैं, जिनके कारण सब व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास के समान अवसर प्राप्त हो सकें और इस प्रकार उस असमानता का अन्तर हो जाये, जिसका मूल सामाजिक वैमनस्य हो।

इस प्रकार वास्तविक समानता के लिए यह जरूरी है कि उसमें निम्नलिखित तीन तत्व आवश्यक रूप से उपस्थित हों—

(1) विशेषाधिकारों का अभाव, (2) न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति, (3) सभी को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए समान अवसरों की प्राप्ति।

समानता के विभिन्न प्रकार

समानता के मुख्य भेद निम्नांकित हैं —

(1) प्राकृतिक समानता

इसका एक अर्थ यह है कि सभी व्यक्तियों को

प्रकृति ने समान पैदा किया है और उनके अन्दर बुद्धि, बल, समानता व योग्यता समान रहती है, किन्तु यह विचार स्वीकार्य नहीं है। जिस प्रकार किसी भी व्यक्तियों की पाँचों अँगुलियाँ बराबर नहीं होतीं, उसी प्रकार किन्हीं भी दो व्यक्तियों को प्रकृति ने एक—सा पैदा नहीं किया। विचार, भावनाएँ, बुद्धि, बल सबमें अलग—अलग होते हैं। प्राकृतिक समानता का वास्तविक अर्थ यह कि प्रत्येक व्यक्ति को समान समझा जाना चाहिए तथा किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व को अन्य किसी व्यक्ति के साधन के रूप में प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।

(2) सामाजिक समानता — सामाजिक दृष्टि से सबको समान समझना सामाजिक समानता है। वर्ण, रंग, सम्पत्ति, कुल पद के आधार पर मनुष्यों के बीच कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए। सार्वजनिक पूजा के स्थान पर जाना, सार्वजनिक शिक्षा संस्थाओं, मनोरंजन भवनों, भोजनालय आदि में प्रवेश करने का अधिकार सभी को समान रूप से प्राप्त होना चाहिए। हमारे संविधान में अनुसूचित जातियों, परिगणित जातियों आदि के प्रति सामाजिक समानता के आधार पर समानता को प्राप्त करने के लिए दस डीपी प्रावधान किये गये हैं।

(3) राजनीतिक समानता राजनीतिक समानता का अर्थ है किसभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों। सभी को सरकारीपद पाने, विधानमण्डलों के लिए प्रतिनिधियों को वोट देने तथा स्वयं निर्वाचित होने के लिए समान अवसर उपलब्ध हों, किन्तु अयोग्यताओं, अपराधों, दिवालियापन, पागलपन आदि के आधार पर कुछ व्यक्तियों को राजनीतिक अधिकारों से वंचित किया जा सकता है। राजनीतिक समानता प्रजातंत्र का मुख्य तत्व है।

(4) नागरिक समानता – नागरिक समानता से अभिप्राय है कि सभी नागरिकों को समान रूप से नागरिक अधिकार प्रदान किये जाएँ। सबको अभिव्यक्ति, पूजाकरने, शिक्षा ग्रहण करने, व्यक्तिगत सम्पत्ति निर्माण करने आदि के लिए समान अवसर मिलने चाहिए। जाति, धर्म, लिंग, वर्ण, वर्ग आदि के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं होना चाहिए। विधि की दृष्टि में सभी नागरिक समान माने जाने चाहिए।

(5) आर्थिक समानता आर्थिक समानता के विषय में दो प्रकार के मत हैं। एक मत यह है कि सभी व्यक्ति आर्थिक रूप से समान हों। राष्ट्रीय सम्पत्ति का समान वितरण हो। न कोई धनी हो और न कोई निर्धन हो

आर्थिक समानता का उपयुक्त अर्थ भ्रमपूर्ण है, क्योंकि जब यह मान लिया जाये कि व्यक्तियों में योग्यता, बुद्धि, क्षमता अलग-अलग मात्रा में है तो फिर सबको धन का बँटवारा एक – सा किस प्रकार हो सकता है। आर्थिक समानता का सही अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए। प्रत्येक को अपने-अपने परिश्रम का न्यायोचित फल मिलना चाहिए। धनी वर्ग के द्वारा निर्धन वर्ग का शोषण समाप्त हो, पूँजीवाद का अन्त हो, जिससे की राष्ट्रीय धन कुछ लोगों के हाथों में केन्द्रित न होने पाये। लास्की के शब्दों में, “मुझे केक खाने का कोई अधिकार नहीं है यदि मेरे अधिकार के फलस्वरूप मेरे पड़ोसी को बिना रोटी के गुजारा करना पड़ता है।”

आर्थिक समानता का बहुत महत्त्व है। बिना आर्थिक समानता के राजनीतिक समानता खोखली है। आवश्यकताओं की पूर्ति किये बिना मनुष्य अपने जीवन को नहीं चला सकता। धन का अभाव व्यक्ति को चिन्ताओं से ग्रस्त रखता है, जिसके कारण उसे देश के शासन में रुचि नहीं होती। आर्थिक शक्ति के कारण लोगों को राजनीतिक शक्ति प्राप्त होती है। एक ऐसा व्यक्ति जिसके पास पेट भरने को भोजन नहीं है, अपना वोट देने से सन्तुष्ट कैसे हो सकता है। अतः यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि बिना आर्थिक समानता के राजनीतिक समानता कभी वास्तविक नहीं हो सकती।

—नैतिक समानता का अर्थ यह है कि सभी व्यक्ति (6) नैतिक समानता

आध्यात्मिक रूप से समान हैं। सबके अन्दर चेतना है और एक आत्मा है। सबके अन्दर ईश्वरीय जीव है। अतः सभी एक ही खुदा के बन्दे हैं और इसलिए भाई हैं। नैतिकता व न्याय इसमें है कि सभी को अपने-अपने विकास के लिए अवसर मिले। समाज में जैसे व्यक्ति होंगे, वैसा ही समाज होगा। चरित्रहीन व्यक्तियों से समाज का पतन और चरित्रवान व्यक्तियों से समाज उन्नति की ओर अग्रसर होता है। अतः नैतिक समानता परम आवश्यकता है।

स्वतन्त्रता एवं समानता के बीच सम्बन्ध समानता और स्वतन्त्रता एक-दूसरे के विरोधी हैं। दूसरे के अनुसार, ये एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों विचारधाराएँ निम्नवत् हैं

—समानता व स्वतन्त्रता विरोधी हैं इसमत का समर्थन लॉर्ड एक्टन (स्वतक। बजवद) और डि-टाकविल ने किया है। इनके अनुसार, समानता स्वतन्त्रता की विरोधी है, ईश्वर ने सबको एक-सा पैदानहीं किया है, इसलिए स्वतन्त्रता मिलने पर अधिक बल सम्पन्न और बुद्धिमान व्यक्ति समाजमें आगे बढ़ जाते हैं, किन्तु यदि राज्य कृत्रिम रूप में सबको समान बना दे तो जो आगे बढ़सकते हैं, उनका आगे बढ़ना रुक जायेगा और उनका स्वतन्त्र विकास नहीं हो पायेगा।

लॉर्ड एक्टन का कथन है, “समानता की उत्कट अभिलाशा के कारण स्वतन्त्रता की आषा ही व्यर्थ हो गई है ।” इसके अतिरिक्त जब व्यक्ति के ऊपर किसी भी प्रकार का बन्धन न हो तभी व्यक्ति पूर्णस्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है लेकिन समाज में समानता स्थापित करने के लिए बन्धनों का होना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसी स्थिति में स्वतन्त्रता और समानता में से किसी एक को ही प्राप्त किया जा सकता है ।

अतः स्वतन्त्रता व समानता एक-दूसरे के विरोधी हैं। समानता और स्वतन्त्रता एक-दूसरे के पूरक हैं यदि समानता और स्वतन्त्रता का सही अर्थ में प्रयोग किया जाये और दोनों को सीमित कर दिया जाये तो ये एक-दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हैं। आर्थिक समानता के अभाव में स्वतन्त्रता खोखली है । यदि कुछ लोगों के प्रति समाज में भेदभाव का व्यवहार किया जाता है और निर्धन होने के कारण उनका पोषण किया जाता है तो केवल वोट देने के अधिकार से वे अपना पेट नहीं भर लेंगे । इसीलिए प्रो. जोड कहते हैं कि, “आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल एक भ्रम है।” अतः आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति ही स्वतन्त्रता का सही उपभोग कर सकता है। पं. नेहरू का यह कथन सत्य है कि, “भूखे व्यक्ति के लिए मत का कोई मूल्य नहीं है ।” अतः प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से अपने व्यक्तिव का विकास कर सकें, इसके लिए प्रत्येक को नागरिक, सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक तथा आर्थिक समानता की आवश्यकता है। लास्की (सैंप) का यह कथन है कि, “स्वतन्त्रता और समानता एक-दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हैं” सर्वथा सत्य है । आर. एच. टॉनी ठीक कहते हैं, “समानता की प्रचुर मात्रा स्वतन्त्रता की विरोधी नहीं है, वरन् उसके लिए आवश्यकता है ।” प्रो. पोलाद्ध के शब्दों में, “स्वतन्त्रता की समस्या का केवल एक ही समाधान है। यह समाधान है ,समानता ।”

जब कुछ लोग बहुत अमीर और कुछ लोग बहुत गरीब होते हैं तो केवल अमीरों को स्वतन्त्रता प्राप्त रह जाती है। गरीबों को तो केवल एक ही स्वतन्त्रता होती है – भूखों मरने की स्वतन्त्रता ।

गरीब लोग अमीरों के मुकाबे में चुनाव नहीं लड़ सकते। अमीर लोग अपने धन के बूते पर गरीबों के वोट खरीद लेते हैं और गरीब लोग अपने पापी पेट की ज्वाला को शान्त करने के लिए अपने वोट बेच देते हैं । इस प्रकार स्वतन्त्रता का उपहास होता है।

दूसरी ओर, समानता का उपभोग करने के लिए स्वतन्त्रता आवश्यक है । समानता का वास्तविक अर्थ है कि किसी को विशेषाधिकार प्राप्त न हो और विधि की दृष्टि से सब समान हों ।

प्रत्येक को अपनी योग्यता के अनुसार, अपने व्यक्तिव का पूर्ण विकास करने का अवसर प्राप्त हो । स्वतन्त्रता व समानता का लोकहितकारी राज्य के लिए भी विशेष महत्व है। लोकहित के आदर्शों को प्राप्त करने के लिए धनी और निर्धन के बीच की खाई को कम करना राज्य का कर्तव्य है । दूसरी ओर लोक-हितकारी राज्य को व्यक्ति के विकास के अवसर देने के लिए स्वतन्त्रता भी देनी पड़ती है। अतः यह स्पष्ट है कि समानता के उपभोग के लिए स्वतन्त्रता आवश्यक है।

न्याय की अवधारणा “न्याय सामाजिक जीवन की वह व्यवस्था है, जिसमें व्यक्ति के आचरण का समाज के कल्याण के साथ समन्वय स्थापित किया करते हैं । ”

व्यक्ति स्वभाव से स्वार्थी होता है । वह सदैव अपने हित को अग्रसर करना चाहता है। यदि उसका आचरण, समाज के व्यापक हितों के अनुकूल हों, तब तो उसके आचरण को न्यायोचित माना जाता है,

किन्तु यदि व्यक्ति स्वार्थ के वशीभूत होकर समाज के विपरीत आचरण करने लगता है तो उसके कार्यों को न्यायोचित नहीं कहा जाता है। ऐसी स्थिति में समाज यह चेष्टा करता है कि व्यक्ति का आचरण समाज के व्यापक हित के अनुकूल बन जाये। समाज के इसी प्रयत्न को 'न्याय' कहा जाता है।

—न्याय के प्रत्यय का इतिहास अत्यन्त प्राचीन काल से भारत, यूनान तथा चीन के विचारक न्याय की अवधारणा तथा न्याय के महत्व पर चिन्तन करते रहे हैं। आचार्य कौटिल्य के अनुसार, "जिस राज्य में न्याय नहीं होता, वह राज्य बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता है।"

यूनानी विचारकों के मत यूनान में न्याय के विषय में निम्नलिखित सिद्धान्त प्रचलित थे (सत्य बोलना और दूसरों के ऋण को चुका देना ही न्याय है)।

अर्थात् दण्ड के भय के कारण ही लोग कानूनों का पालन करते हैं। अतः न्याय शक्तिशाली का हित नहीं अपितु निर्बल का सहारा है।

(5) प्लेटो के अनुसार, "विवेक षौर्य तथा इन्द्रिय तृष्णा का उचित समन्वय ही न्याय है। षौर्य तथा तृष्णा पर विवेक का आधिपत्य होना चाहिए (6) अरिस्टोटल में उसका के अनुसार, "प्रत्येक व्यक्ति को समाज के सदस्य के रूप उचित भाग प्रदान करना ही न्याय है।"

(7) ऑर्गेस्टाइन के अनुसार, "न्याय एक व्यवस्थित और अनुशासित जीवन व्यतीत करने तथा उनके कर्तव्यों का पालन करने में है, जिनकी कि व्यवस्था माँग करती है।"

(8) एक्वीनास के अनुसार, "प्रत्येक व्यक्ति को उसके अपने अधिकार देने की निश्चित और पुरातन इच्छा है।"

आधुनिक विचारक — आधुनिक विचारकों के अनुसार कानूनों के अनुसार आचरण करना ही न्याय है। जब व्यक्ति कानूनों का उल्लंघन करने लगता है तो समाज का सन्तुलन बिगड़ जाता है। समाज के इस सन्तुलन को बनाये रखने के लिए उसे दण्ड दिया जाता है।

(1) बाकर के अनुसार, "न्याय का अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति द्वारा उस कर्तव्य का पालन, जो उनके प्राकृतिक गुणों और सामाजिक स्थिति के अनुकूल है। नागरिक की अपने धर्म की चेतना तथा सार्वजनिक जीवन में उसकी अभिव्यंजना ही राज्य का न्याय है।" प्लेटो ने अपने न्याय सिद्धान्त का प्रतिपादन कानूनी नहीं नैतिक रूप में किया है।

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में न्याय को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। मनु, कौटिल्य, बृहस्पति, शुक्र, सोमदेव, भारद्वाज आदि सभी विद्वानों ने राज्य व्यवस्था में न्याय को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। भारतीय राजनीतिक चिन्तकों विशेषकर मनु तथा कौटिल्य की यह विशेषता रही है कि उन्होंने प्राचीनकाल में भी न्याय की उस कानूनी धारणा को अपना लिया था जिसे पश्चिम के राजनीतिक चिन्तक आधुनिक युग में ही अपना सके।

मनु ने प्राचीन युग में भी विवादों की दो श्रेणियाँ बताई थीं जिन्हें आज दिवानी तथा फौजदारी कहा जाता है। मनु ने न्याय की सत्यता और निष्पक्षता पर बहुत अधिक बल दिया है।

मनु ने मनुस्मृति में लिखा है कि “जिस सभा न्यायालय में सत्य असत्य से पीड़ित होता है उनके सदस्य ही पाप से नष्ट हो जाते हैं।”

कौटिल्य भी न्याय प्रणाली को राज्य का प्राण बताता है। उसके मत हैं कि न्याय का उद्देश्य प्रजा के जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा करना तथा असामाजिक तत्वों एवं अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करना है। कौटिल्य कहता है कि, “जिस राज्य में न्याय नहीं होता, वह षीघ्र नष्ट हो जाता है।” कौटिल्य ने भी अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में दो प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख किया है

(1) धर्मस्थलीय (2) कण्टक षोधन । इन्हें आधुनिक युग का दीवानी तथा फौजदारी के समान कहा जा सकता है।

न्याय के प्रकार —न्याय के प्रमुख रूप निम्नलिखित हैं

(1) प्राकृतिक न्याय इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को कुछ अधिकार प्रकृति से प्राप्त होते हैं। उन अधिकारों से उसे वंचित नहीं किया जाना चाहिए। यही प्राकृतिक न्याय है।

इंग्लैण्ड के महान् विद्वान लॉक ने तीन प्राकृतिक अधिकार माने हैं— जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति। ये अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होने चाहिए।

अमेरिका के स्वतन्त्रता के घोषणा-पत्र में लिखा है, (हम इनसत्यों को स्वयं सिद्ध मानते हैं कि सब मनुष्य स्वतन्त्र और समान पैदा हुए हैं, उन्हें उनके रचयिता ने कुछ अधिकार प्रदान किये हैं जो अदेय हैं। इन अधिकारों में है स्वतन्त्रता, समानता तथा सुख प्राप्त करने का प्रयास)।

(2) कानूनी न्याय आजकल ‘कानून न्याय’ को ही ‘न्याय’ माना जाता है। कानूनी भाषा में ‘कानून की व्यवस्था’ को ही ‘न्याय की व्यवस्था’ कहा जाता है अर्थात् ‘कानून’ और ‘न्याय’ एक-दूसरे के पर्यायवाची हो गये हैं।

कानूनी न्याय के दो रूप हैं

(i) सरकार द्वारा बनाये हुये कानून न्यायोचित होने चाहिए। वे अन्यायपूर्ण न हों अर्थात् उनके कारण व्यक्तियों पर अत्याचार न हों।

(ii) वे सब नागरिकों पर समान रूप से लागू किये जायें। कोई व्यक्ति कानून के ऊपर न हो अर्थात् जो कोई कानून तोड़े उसे उचित दण्ड दिया जाये। किसी के साथ पक्षपात न किया जाये।

(3) राजनैतिक न्याय — राजनैतिक न्याय से तात्पर्य यह है कि सभी नागरिकों को उन्नति के लिए समान अवसर प्राप्त हों समान काम के लिए समान वेतन मिले नागरिकों को वाणी, भाषण तथा लेख की स्वतन्त्रता प्राप्त हो, वे अपने संघ या समुदाय बना सकें तथा प्रत्येक नागरिकों को सरकारी पद प्राप्त करने का अधिकार हो। समाज में कोई विषिष्ट या अभिजात्य वर्ग नहीं होना चाहिए।

(4) सामाजिक न्याय —सामाजिक न्याय से तात्पर्य यह है कि जाति, वंश,

नस्ल, धर्म आदि के आधार पर किसी के साथ भेदभाव न किया जाये । स्त्री-पुरुषों को समान अधिकार प्राप्त हों और समाज को ऊँच-नीच का भेदभाव न हो । वर्तमान युग में सामाजिक न्याय का विचार बहुत ही लोकप्रिय है ।

(5) आर्थिक न्याय आर्थिक न्याय से तात्पर्य यह है कि समाज में यह नहीं होना चाहिए कि कुछ लोग बहुत अधिक अमीर हों और कुछ लोग बहुत अधिक गरीब । जीवन की चरम आवश्यकताएँ सभी नागरिकों को समान रूप से प्राप्त होनी चाहिए

न्याय के मूलभूत तत्त्व न्याय के मूलभूत सिद्धान्त निम्नलिखित हैं

(1) निष्पक्षता – न्यायाधीश को राग-द्वेष होकर सभी नागरिकों को समान दृष्टि से देखना चाहिए । किसी के साथ पक्षपात नहीं करना चाहिए ।

(2) कानून के समक्ष समानता कानून सबके लिए एक से होने चाहिए । कोई व्यक्ति कानून के परे न माना जाये । बड़े से बड़ा व्यक्ति भी यदि कानून का उल्लंघन करे तो उसे उसी प्रकार दण्डित किया जाना चाहिए जैसे किसी सामान्य नागरिक को किया जायेगा ।

(3) नागरिक स्वतन्त्रता – किसी व्यक्ति को तब तक दण्डित न किया जाये, जब तक सरकार द्वारा स्थापित न्यायालय में यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित न हो जाये कि उसने कोई अपराध किया है । अभियुक्त को अपने बचाव का पूरा-पूरा अवसर दिया जाना चाहिए । न्यायाधीश को यह मानकर चलना चाहिए कि व्यक्ति निरपराध है, जब तक कि सत्यता प्रमाणित न हो जाये ।

यदि किसी अभियुक्त के विषय में यह स्पष्ट न हो सके कि उसने अपराध किया है अथवा नहीं तो ऐसी स्थिति में “ सन्देह का लाभ अभियुक्त को जाता है ” ।

(4) त्वरित

न्याय के वितरण में देर नहीं होनी चाहिए । यदि न्याय प्राप्त करने में देर होती है तो न्याय का महत्व समाप्त हो जाता है

(5) सस्ता न्याय यदि न्याय प्राप्त करना अत्यधिक व्यय –साध्य हो जायेगा तो सामान्य नागरिक न्याय से वंचित रहने लगेंगे । अत्यधिक व्यय की आशंका से वे न्यायालय की शरण में नहीं जायेंगे और चुपचाप अन्याय, अत्याचार तथा उत्पीड़न सहते रहेंगे ।

(6) वस्तुनिष्ठ न्याय – न्यायाधीश को नीर-क्षीर विवेककारी होना चाहिए । उसमें वह क्षमता होनी चाहिए कि वह पूर्ण सत्य का पता लगा ले और वस्तुनिष्ठ तथ्यों के आधार पर ही अपना निर्णय दे । वह पूर्वाग्रहों से ग्रसित न हो ।

(7) अपराध के अनुपात में दण्ड – दण्ड, अपराध के अनुपात में ही होना चाहिए न बहुत अधिक न बहुत कम । उदाहरणार्थ, यदि एक भूखा व्यक्ति रोटी चुरा ले तो उसे मृत्यु – दण्ड देना न्याय – भावना के विपरीत होगा । “न्याय केवल किया ही न जाये बल्कि यह स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर भी होना चाहिए कि वास्तव में न्याय किया गया है

सारांश

जिस देश में नागरिकों अपने-आपको अन्यायग्रस्त अनुभव करने लगते हैं, उस देश में शान्ति और सुव्यवस्था चिर – स्थायी नहीं रह सकती । अत्याचार सहने की एक सीमा होती है और अत्याचार सीमा से अधिक बढ़ जाते हैं तो विद्रोह और क्रांति ही इस परिस्थिति की परिणति होती है। अतः देश और समाज को क्रांति से बचाने का एकमात्र उपाय वहाँ न्याय की स्थापना करना स्व-प्रगति जाँच के उत्तर

1. जन्मजाति नागरिकता जन्मजाति नागरिकता निम्नलिखित स्थितियों में प्राप्त होती है—

(1) रक्त या वंश के आधार पर इस सिद्धान्त के अनुसार बच्चा जन्म लेते ही उस देश का नागरिक समझा जाता है जिस देश के उसके माता पिता नागरिक होते हैं, चाहे बच्चे का जन्म उसके माता पिता के देश में हुआ हो या विदेश में। उदाहरण— जर्मनी, इटली, फ्रांस, आस्ट्रिया आदि अनेक देशों में यही नियम मान्य हैं ।

(2) जन्म स्थान के आधार पर

इस नियम के अनुसार बच्चा उस देश का नागरिक माना जाता है जहाँ उसका जन्म होता है चाहे उसके माता पिता किसी भी देश के नागरिक हों। उदाहरण – अर्जेंटीना में इस नियम को अपनाया जाता है ।

(3) मिश्रित नियम इस नियम के अनुसार, यदि किसी देश के नागरिकों की संतान का जन्म विदेश में होता है अथवा विदेश के नागरिकों का जन्म उस देश में होता है तो दोनों ही स्थितियों में वह बच्चा उस देश का नागरिक होता है । इंग्लैण्ड, अमेरिका तथा भारत में इसी नियम को अपनाया गया है।

2. एक व्यक्ति की नागरिकता निम्नलिखित स्थितियों में समाप्त हो जाती है

(1) विवाह – यदि कोई स्त्री किसी विदेशी पुरुष से विवाह कर लेती है तो उसकी अपने देश की नागरिकता समाप्त हो जाती है ।

(2) स्वेच्छा से परित्याग – कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से अपने देश की नागरिकता का परित्याग कर सकता है।

(3) विदेशी नौकरी – यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे देश में सरकारी पद प्राप्त कर लेता है तो उसकी अपने देश की नागरिकता समाप्त हो जाती है।

(4) सेना से भागने पर – यदि कोई व्यक्ति बिना किसी कारण के सेना की नौकरी छोड़ देता है तो उसकी अपने देश की नागरिकता समाप्त हो जाती है।

(5) गम्भीर अपराध

यदि कोई व्यक्ति युद्धकाल में षत्रुदेश के साथ अवैध संबंध रखता है या गम्भीर अपराध करता है या संविधान का गम्भीर रूप से उल्लंघन करता है तो उसकी नागरिकता छीन ली जाती है ।

3. मूल अधिकार

आज विष्व के अनेक देशों में नागरिकों को लिखित रूप में कुछ ऐसे अधिकार प्रदान किये जाते हैं, जिनसे सरकार भी उन नागरिकों को वंचित नहीं कर सकती। इन अधिकारों का उल्लेख संविधान में रहता है। इन्हें मूल अधिकार कहा जाता है। यदि सरकार कोई ऐसा कानून बनाये जो इन मूल अधिकारों के विपरीत हो तो व्यक्ति न्यायालय की शरण ले सकते हैं। न्यायालय उस कानून को 'अवैध' घोषित कर देगा जो नागरिकों के उन मूल अधिकारों का हनन करे। इसीलिए इन देशों में न्यायालय को 'संविधान का संरक्षक' कहा जाता है। भारत तथा अमेरिका के संविधानों में नागरिकों को कुछ मूल अधिकार प्रदान किये गये हैं जैसे— स्वतन्त्रता, समानता, धर्म की स्वतन्त्रता, शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार, न्यायालय की शरण लेने का अधिकार आदि। सोवियत संघ में काम करने का अधिकार भी दिये गये थे। अमेरिका में मूल अधिकारों को "उपसस वॉल्टिपीजी" कहा जाता है।

4. अधिकारों का वैधानिक सिद्धान्त (स्महंस जेमवतल वॉल्टिपीजी) दृष्ट यह सिद्धान्त प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त के ठीक विपरीत है। इस सिद्धान्त के अनुसार, अधिकतर राज्य की देन स्व-प्रगति की जाँच करें— 3. मूल अधिकार से आप क्या समझते हैं?

4. अधिकारों के वैधानिक सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं?

राज्य के बाहर अधिकारों की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अधिकार की राज्य कानून या विधि द्वारा सृष्टि होती है। अतः अधिकार न तो प्राकृतिक ही हैं और न निरपेक्ष ही, वे देश, समय, परिस्थिति तथा कानून की अपेक्षा रखते हैं। अतः "जो विधि प्रदान करती है, वह अधिकार है, जो विधि प्रदान नहीं करती, वह अधिकार नहीं है।"

इस सिद्धान्त के अनुसार, अधिकार प्राकृतिक नहीं, कृत्रिम हैं। प्राकृतिक अवस्था में अधिकारों की कल्पना करना भ्रमपूर्ण है। इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थन ऑस्टिन तथा बेन्थम हुए हैं। बेन्थम के अनुसार, "अधिकार उचित अर्थ में विधि की कृति है।"

वर्तमान समय में इस सिद्धान्त को यथार्थवादी सिद्धान्त कहा जाता है, क्योंकि इसके अनुसार अधिकारों का आधार नैतिक मापदण्ड नहीं, बल्कि उसका आधार राज्य और कानून है।

अभ्यास — प्रश्न

1. नागरिकता का अर्थ स्पष्ट करते हुए नागरिकता प्राप्त करने की विधियाँ समझाएँ।
2. आदर्श नागरिकता से आप क्या समझते हैं?
3. अधिकार का अर्थ स्पष्ट करते हुए अधिकारों का वर्गीकरण करें।
4. अधिकार और कर्तव्य में क्या सम्बन्ध है?
5. समानता के प्रकारों का वर्णन करें।

बदल & 11 जक्तुह्र फोकु“क़ा दक व/; ;u

लोकतंत्र शासन

अध्याय में प्रस्तुत है :-

राजनीतिक सिद्धान्त

परिचय

लोकतन्त्र – शासन के गुण और दोष

लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें

सारांश

स्व-प्रगति जाँच के उत्तर

अभ्यास-प्रश्न

शिक्षण उद्देश्य :

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् आप समझ सकेंगे—

लोकतन्त्र – शासन से आशय, लोकतन्त्र – शासन के गुण और दोषय लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें ।

परिचय :

आधुनिक समय में लोकतन्त्र – शासन अधिक प्रचलित शासन-पद्धति है । संसार के प्रायः सभी उन्नत व सभ्य देश इसी का अनुसरण कर रहे हैं। प्राचीन ग्रीक विद्वानों के अनुसार लोकतन्त्र शासन वे होते हैं, जिनमें 'बहुतों का शासन हो । प्रोफेसर सीले के अनुसार 'लोकतंत्र शासन वे हैं, जिनमें प्रत्येक व्यक्ति हाथ बँटाता हो ।' यदि प्रो. सीले द्वारा किये गये लक्षण को स्वीकार किया जाये, तो शायद कोई भी राज्य (प्राचीन व अर्वाचीन) ऐसा नहीं मिलेगा, जिसके शासन को लोकतन्त्र कहा जा सके। डेयसी के अनुसार लोकतन्त्र शासन उसे कहते हैं, जिसमें राज – शक्ति सम्पूर्ण जनता के आपेक्षिक दृष्टि से बड़े भाग के हाथों में हो। लॉर्ड ब्राइस के अनुसार 'हीरोडोटस के समय से शुरू कर आज तक लोकतन्त्र शासन शब्द का प्रयोग उस शासन-पद्धति के लिए किया जाता रहा है, जिसमें राज्य की शासन – शक्ति किसी विषिष्ट श्रेणी या श्रेणियों में निहित न रहकर सम्पूर्ण जन समाज के सदस्यों में निहित होती है। अपने अभिप्राय को अधिक स्पष्ट करते हुए लॉर्ड ब्राइस ने लिखा है— 'राज-शक्ति उस जन-समाज में निहित होती है, जो वोट द्वारा उसका प्रयोग करता है । शासन बहुसंख्या के अनुसार होता है, क्योंकि जब किसी बात पर सब लोग एकमत न हों, तो शान्तिपूर्वक और वैधानिक रीति से यह निर्णय करने का कि जन-समाज की इच्छा क्या समझी जानी चाहिए, बहुसंख्या के अतिरिक्त अन्य कोई तरीका नहीं है। लॉर्ड ब्राइस के अनुसार लोकतन्त्र शासन वे हैं, जिनमें जनशक्ति बहुसंख्या के हाथों में हो। पर इस लक्षण के अनुसार क्या वे शासन लोकतन्त्र कहला सकेंगे, जिनमें स्त्रियों को वोट का अधिकार नहीं दिया गया है, या जिनमें पुरुषों को भी वोट का अधिकार देने के लिए शिक्षा, सम्पत्ति आदि की शर्तें लगायी जाती हैं। अनेक राज्यों में वोट का अधिकार सम्पूर्ण स्त्री-पुरुषों (बालक-बालिकाओं के अतिरिक्त) को न देकर उसे इस प्रकार मर्यादित कर दिया जाता है कि वह जनता की बहुसंख्या को प्राप्त नहीं होता। उसके शासन लॉर्ड ब्राइस की परिभाषा के अनुसार लोकतन्त्र नहीं कहा जा सकेगा। इसी प्रकार, ऐसे राज्यों में जहाँ वोट का अधिकार तो मनुष्य मात्र को प्राप्त है, पर शिक्षा व राजनीतिक चेतना के अभाव के कारण उसका प्रयोग बहुत कम लोग करते हैं, उनमें भी वस्तुतः लोकतन्त्र शासन का अभाव मानना चाहिए । अतः सम्भवतः उचित यह होगा कि हम लोकतन्त्र के लिए जनता की बहुसंख्या की शर्त न रखकर यह मानें, कि जिन शासनों में राज – शक्ति जनता के बड़े भाग के हाथ में होती

है, वे ही लोकतन्त्र हैं। इसी दृष्टि से जैलीनेक ने श्रेणीतन्त्र और लोकतन्त्र को दो पृथक वर्ग मानने की आवश्यकता नहीं समझी थी।

इस प्रकार हम लोकतन्त्र उस शासन को कह सकते हैं, जिसमें प्रत्येक नागरिक राज शक्ति के प्रयोग में हाथ बँटाता हो, या हाथ बँटाने का अधिकार रखता हो। अब्राहम लिंकन ने लोकतन्त्र – शासन का जो लक्षण दिया था, वह बहुत प्रसिद्ध है – ‘लोकतन्त्र शासन वे होते हैं, जिनमें जनता का शासन हो, जो जनता के लिये हो, जो जनता द्वारा हो।’

लोकतन्त्र शासन के भेद – राजनीतिशास्त्र के विद्वान लोकतन्त्र – शासन के दो भेद करते हैं— (1) शुद्ध या प्रत्यक्ष और (2) प्रतिनिधि सत्तात्मक या परोक्ष प्रत्यक्ष लोकतन्त्र शासन वे होते हैं, जिनमें सम्पूर्ण जनता एक राज – सभा में एकत्र होकर अपनी इच्छा को प्रकट करे, स्वयं कानूनों का निर्माण करे, और स्वयं उन लोगों को नियुक्त करे, जिन्हें शासन का संचालन करना है। इस प्रकार का प्रत्यक्ष लोकतन्त्र – शासन उन्हीं राज्यों में सम्भव है, जिनका आकार बहुत छोटा हो, और जिनकी जनता के लिए यह मुमकिन हो कि वह एक राज – सभामें एकत्र हो सके। अनेक प्राचीन ग्रीक नगर – राज्यों में जनता इसी प्रकार से प्रत्यक्ष होकर स्वयं अपने शासन का संचालन किया करती थी। भारत में वज्जि – संघ में इसीप्रकार के प्रत्यक्ष लोकतन्त्र – शासन की सत्ता थी। महात्मा बुद्ध ने बौद्ध संघ का निर्माण करते हुए वज्जियों के लोकतन्त्र – शासन को सम्मुख रखा था। वज्जि – संघ के अन्तर्गत लिच्छवि गण में 7707 ‘राजा’ या नागरिक थे, जो राज – सभा में एकत्र होकर स्वयं सब बातों का निर्णय किया करते थे। वर्तमान समय में विषालकाय राज्यों का विकास हो जाने से यह सम्भव नहीं रहा है कि फ्रांस, अमेरिका या भारत जैसे राज्यों की सम्पूर्ण जनता एक स्थान पर एकत्र होकर अपनी इच्छा को प्रकट कर सके। पर स्विट्जरलैण्ड के अनेक छोटे कैंटनों में अब तक भी प्रत्यक्ष लोकतन्त्र शासन विद्यमान हैं अपने जेल, ऊरी, उन्टक बाल्डन और ग्लारस ये चार स्विस् कैंटन अब तक भी ऐसे हैं, जिनके सब नागरिक राज – सभा में एकत्र होकर अपनी इच्छा को प्रकट करते हैं। 1848 तक अन्य भी अनेक स्विस् कैंटनों में यही पद्धति विद्यमान थी। पर जनसंख्या में वृद्धि होने के कारण उनमें इस पद्धति का त्याग कर दिया गया, और प्रतिनिधि सत्तात्मक – शासन को अपनाया गया। सम्भव है कि कालान्तर में अपने जेल आदि चार कैंटनों में भी परिस्थितियों के बदल जाने से प्रत्यक्ष लोकतन्त्र – शासन का परित्याग कर दिया जाये। कुछ राज्यों में यदि नागरिक चाहें, तो अपने हस्ताक्षरों द्वारा एक आवेदन पत्र भेज सकते हैं, जिसमें कोई नया कानून या नई शासन – नीति प्रस्तावित की गई हो। यदि इस प्रकार के आवेदन – पत्र पर पर्याप्त लोगों के हस्ताक्षर हों, तो सरकार का यह कर्तव्य होता है कि वह उस पर लोकमत ले। यदि नागरिकों की बहुसंख्या उसके पक्ष में हो, तो उसे स्वीकृत समझा जाता है। इस पद्धति का परिणाम यह होता है, कि जनता अपनी इच्छा को अभिव्यक्त करने के लिये अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों पर ही निर्भर नहीं रहती। यदि वह चाहे, तो अपनी इच्छा को प्रत्यक्ष रूप से भी अभिव्यक्त कर सकती है। इस प्रकार वर्तमान युग के विषालकाय राज्यों में भी ऐसे उपायों का प्रयोग किया गया है, जिनके कारण जनता प्रत्यक्ष लोकतन्त्र शासन के अनेक लाभों को प्राप्त कर सकती है। इन उपायों को रेफरेन्डम और इनिशिएटिव कहते हैं। पर अभी इनका प्रयोग बहुत कम राज्यों में किया गया है।

प्रतिनिधि सत्तात्मक (रिप्रेजेंटेटिव) लोकतन्त्र – प्राचीन काल के प्रायः सभी लोकतन्त्र शासन प्रत्यक्ष थे। उस समय प्रतिनिधि निर्वाचित करने की प्रथा नहीं थी। तब इसकी आवश्यकता भी नहीं होती थी, क्योंकि राज्यों के आकार बहुत छोटे होते थे, उनका स्वरूप नगर – राज्यों का होता था। पर वर्तमान काल के विषालकाय राज्यों में लोकतन्त्र शासन के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वे प्रतिनिधि सत्तात्मक हों। प्रतिनिधि सत्तात्मक लोकतन्त्र शासनों में जनता अपने उन प्रतिनिधियों को निर्वाचित करती है, जिनके हाथों मेवह अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति व राज – शक्ति का प्रयोग करने का अधिकार सुपुर्ण कर देती है। शासन जनता का होता है, पर निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा। जनता में वोट का अधिकार

आकार कितने लोगों को प्राप्त है, और लोग अपने वोट को प्रयोग किस प्रकार करते हैं, इसी पर निर्भर रहता है कि निर्वाचित प्रतिनिधि सच्चे अर्थों में जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं या नहीं। वास्तविक प्रतिनिधि सत्तात्मक लोकतन्त्र वह होगा, जिसमें सम्पूर्ण स्त्री-पुरुषों (बालकों व बालिकाओं के अतिरिक्त) को वोट का अधिकार हो, और ये वोट अपने वोट के अधिकार का भली-भांति उपयोग कर ऐसे व्यक्तियों को अपना प्रतिनिधि निर्वाचित करें जो जनता के साथ अपने सम्पर्क को खो न दें, अपितु अपना यह कर्तव्य समझे कि वास्तविक लोकमत को पार्लियामेंट में प्रकट करे, और किसी प्रलोभन व भय के वशीभूत न होकर शासन – विभाग के उन व्यक्तियों पर पूरी तरह नियन्त्रण रखने का प्रयत्न करे, जिनके हाथों में राज – शक्ति के प्रयोग करने का अधिकार है। यदि इस मापदण्ड से वर्तमान युग के प्रतिनिधि सत्तात्मक शासनों को नापा जाय, तो वे पूर्णतया सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होंगे। पर मनुष्य लोकतन्त्र शासन की ओर धीरे-धीरे कदम बढ़ा रहा है। यदि उसने इस विषय में पूर्णता अभी प्राप्त न की हो, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?

आजकल के लोकतन्त्र शासकों में प्रतिनिधि सत्तात्मक सिद्धान्त प्रायः व्यवस्थापिका सभाओं के सम्बन्ध में ही प्रयुक्त किया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका सदृश राज्यों में राष्ट्रपति की नियुक्ति भी निर्वाचन द्वारा होने की व्यवस्था है। क्योंकि राष्ट्रपति शासन विभाग का प्रधान अधिकारी होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि इन राज्यों में प्रधान शासक भी जनता का ही प्रतिनिधि होता है। पर ऐसे लोकतन्त्र संख्या में बहुत कम हैं, जिनमें राष्ट्रपति को छोड़कर शासन विभाग के जो अन्य सैकड़ों, हजारों राजपदाधिकारी व कर्मचारी होते हैं, उन्हें किसी भी दृष्टि से जनता का प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता। पुराने युग के प्रत्यक्ष लोकतन्त्र राज्यों में नागरिक लोग स्वयं राजसभा में एकत्र होकर न केवल अपनी इच्छा को ही अभिव्यक्त करते थे, अपितु उन पदाधिकारियों का भी निर्वाचन करते थे, जिनके हाथ में शासन व न्याय का कार्य सुपुत्र होता था। एथेन्स जैसे ग्रीक नगर – राज्यों में जहाँ एंग्लीजिया राज्य वास्तविक अर्थों में लोकतन्त्र होते थे। पर वर्तमान युग के प्रतिनिधि सत्तात्मक लोकतन्त्र – शासनों में जनता केवल पार्लियामेंट के सदस्यों को ही निर्वाचित करती है। अनेक राज्यों की पार्लियामेंट में कतिपय सदस्य ऐसे भी होते हैं, जो निर्वाचित नहीं होते। ग्रेट

ब्रिटेन की पार्लियामेंट के हाउस ऑफ लॉर्ड्स के सब सदस्य (सरकार द्वारा नियत किये गये लॉर्डों के अतिरिक्त) वंशक्रमानुगत होते हैं। भारत के संविधान के अनुसार पार्लियामेंट की अन्यतम सभा में कतिपय सदस्यों के मनोनीत होने की व्यवस्था की गई है, जिनकी नियुक्ति उनकी शिक्षा, विद्या आदि के क्षेत्र में विशेष योग्यता के आधार पर की जाती है। इस दृष्टि से ब्रिटेन, भारत आदि राज्यों के शासन में श्रेणीतन्त्र शासन के तत्व को स्वीकार करना होगा। क्योंकि वास्तविक नियुक्ति में जनता का कोई भी हाथ नहीं होता, जो किसी भी प्रकार से जनता के प्रतिनिधि नहीं होते, अतः अनेक राजशास्त्रियों की दृष्टि में वर्तमान युग के लोकतन्त्र राज्य भी वस्तुतः श्रेणीतन्त्र ही हैं, जिनमें राज – शक्ति एक ऐसी श्रेणी के हाथ में रहती है, जिसका निर्माण विविध परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने व खुले मुकाबले में अपनी योग्यता सिद्ध करने के कारण होता है। इस बात में बहुत कुछ सच्चाई है। पर साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिये, कि आजकल के लोकतन्त्र शासनों में राज – शक्ति का प्रयोग जहाँ राजकर्मचारियों द्वारा होता है, वहाँ ये राजकर्मचारी राज-शक्ति का प्रयोग करते हुए जनता की उस इच्छा के अनुसार कार्य करते हैं, जिसकी अभिव्यक्ति जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा की जाती है। अतः अन्तोगत्वा वर्तमान समय के प्रतिनिधि सत्तात्मक शासन लोकतन्त्र ही सिद्ध होते हैं। इन राज्यों में जनता न केवल अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा अपनी इच्छा को अभिव्यक्त करती है, अपितु सार्वजनिक सभाओं और समाचार-पत्रों द्वारा भी अपने मत को प्रकट करती है। इस प्रकार प्रकट हुए लोकमत की उपेक्षा कर सकना किसी भी सरकार के लिए सम्भव नहीं होता। वस्तुतः, आजकल की लोकतन्त्र सरकारों का यही प्रयत्न रहता है कि वे विभिन्न साधनों से अभिव्यक्त हुई जनता की इच्छा के अनुसार ही राज-शक्ति का प्रयोग करें।

लोकतन्त्र – शासन के गुण और दोष

लोकतन्त्र – शासन के गुण :

(1) जिन उद्देश्यों व प्रयोजनों से राज्य – संस्था का निर्माण हुआ है, उनकी पूर्ति के लिये लोकतन्त्र – शासन अधिक उपयुक्त है । यही एकमात्र ऐसी शासन-पद्धति है, जिससे मनुष्यों के सामूहिक हितों की रक्षा व अभिवृद्धि हो सकती है। राज्य संस्था की उत्पत्ति इसलिये हुई थी कि मनुष्य परस्पर एक साथ मिलकर जहां बाह्य और आभ्यन्तर भयों से अपनी रक्षा कर सकें, वहां साथ ही परस्पर मिलकर अपनी सामूहिक उन्नति भी कर सकें। यह कार्य कोई एक व्यक्ति या एक श्रेणी कैसे कर सकती है? जब तक सब मनुष्य इस महान कार्य के लिए योगदान न दें, यह सम्पन्न नहीं हो सकता । सब मनुष्यों का सहयोग लोकतन्त्र – शासन में ही सम्भव है, एकतन्त्र व श्रेणीतन्त्र में नहीं ।

(2) लोकतन्त्र ही एक ऐसी शासन-पद्धति है, जिसमें इस बात की गारण्टी दी जा सकती है, कि शासन जनता की इच्छा के अनुसार किया जायेगा, शासन कार्य में किसी भी नागरिक की उपेक्षा नहीं होगी । इसका यह अभिप्राय नहीं कि राज्य कार्य प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा सम्मति के अनुसार होगा, पर लोकमत के निर्माण में प्रत्येक व्यक्ति को हाथ बँटाने का अवसर तथा अधिकार होगा, और लोकमत ही एक ऐसी शक्ति है जिसके अनुसार लोकतन्त्र राज्यों में शासन का संचालन किया जाता है व चाहे कोई मनुष्य निर्धन हो चाहे धनी, चाहे कोई निर्बल हो चाहे शक्तिशाली – सबको लोकतन्त्र शासन में समान अधिकार रहते हैं । इस कारण सब लोग राज शक्ति के प्रयोग पर समान रूप से नियन्त्रण रख सकते हैं । इस स्थिति का परिणाम यह होता है कि राज्य के सब नागरिक अनुभव करते हैं कि राज्य उनका अपना है। उनमें अपने राज्य के प्रति एक ऐसी भक्ति, प्रेम व निष्ठा का भाव उत्पन्न हो जाता है, जिससे वे उसके लिये बड़ी-बड़ी कुर्बानी करने के लिये उद्धृत हो जाते हैं। राज्य के प्रति उनके क्या कर्तव्य हैं, इस बात का भी उन्हें लोकतन्त्र – शासन में ज्ञान हो जाता है, और इनकी वे उपेक्षा नहीं करते। एक फ्रेंच लेखक ने लिखा था कि फ्रेंच लोगों के हृदयों में फ्रांस के प्रति तब तक कोई प्रेम नहीं था, जब तक कि राज्य – क्रान्ति ने राज-शक्ति को उनके अपने हाथों में नहीं दे दिया, और वे यह अनुभव नहीं करने लगे कि फ्रांस हमारा अपना राज्य है और उसके शासन में हमारा अपना हाथ भी है ।

(3) किसी भी शासन की सफलता के लिए केवल यही बात पर्याप्त नहीं है कि शासक लोग अपने कार्य में दक्ष व निपुण हों। शासन की सफलता के लिये यह भी आवश्यक है कि जिन लोगों के हाथ में राज-शक्ति का प्रयोग दिया गया है, उन्हें यह मालूम हो कि जनता की इच्छा क्या है, उनके कार्यों को जनता किस दृष्टि से देखती है, और जनता अपना हित व कल्याण किस बात में समझती है । यह सब जाने बिना अच्छे-से-अच्छा और दक्ष-से-दक्ष शासक भी अपने कार्य में सफल नहीं हो सकता । लोकतन्त्र – शासन ही ऐसा है, जिसमें इस बात की व्यवस्था की गयी है कि जनता अपनी इच्छा को अभिव्यक्त कर सके, शासकों के कार्य पर अपना मत प्रकट कर सके, और जनता की दृष्टि में जिन बातों से सबका हित व कल्याण हो सकता है उन्हें कानून का रूप दिया जा सके।

(4) कोई भी व्यक्ति अपने अधिकारों व हितों की रक्षा तभी भली-भाँति कर सकता है, जब वह स्वयं इसके लिए प्रयत्नशील हो । यदि हम अपने धन की रक्षा का भार किसी अन्य व्यक्ति पर छोड़कर स्वयं निष्चित हो जायें, तो सम्भवतः हम कभी भी अपनी सम्पत्ति की रक्षा नहीं कर सकेंगे। इसी प्रकार, यदि राज्य के नागरिक अपने हित – सम्पादन कार्य किसी राजा या किसी श्रेणी के हाथ में सौंप कर स्वयं उस ओर से विमुख हो जायें, या इस कार्य के प्रति उपेक्षावर्षित धारण कर लें, तो वे कभी भी अपना हित – सम्पादन सुचारु रूप से नहीं कर सकेंगे । लोकतन्त्र शासन में प्रत्येक व्यक्ति व नागरिक स्वयं इस बात का प्रयत्न करता है कि वह अपने हित-सम्पादन की चिन्ता करे

(5) सार्वजनिक हित व कल्याण के लिये जितने भी लोग लिखसपी लेंगे, उतनी ही उसमें अभिवृद्धि होगी। यदि सम्पूर्ण जनता अपने सामूहिक हितों की चिन्ता करेगी, उनके लिए प्रयत्न करेगी, तो अवश्य ही सबका अधिकतम हित सम्पादित हो सकेगा।

(6) लोकतन्त्र शासन द्वारा मनुष्यों की उन्नति में सहायता मिलती है। 'कोउ नृप होय हमें का हानी, चेरि छाँड़ि नहिं होउब रानी यह भावना एकतन्त्र व श्रेणीतन्त्र शासनों में सर्वसाधारण जनता में उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण न वे अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर सकते हैं, और न ही अपने कर्तव्यों को जान पाते हैं। इन शासनों में मनुष्य अपने को हीन व दीन अनुभव करता है, और शासकों की उचित व अनुचित सब प्रकार की आज्ञाओं का पालन करने में ही अपनी भलाई समझता है। मनुष्य अपनी मनुष्यता खोकर एक प्रकार की दास – वृत्ति को अपना लेता है, और सदा दबा हुआ सा अनुभव करता है। इसके विपरीत लोकतन्त्र शासन में प्रत्येक मनुष्य को यह अनुभव करने का अवसर मिलता है कि उसकी भी संसार में कोई स्थिति है, वह भी राज-शक्ति के प्रयोग में हाथ बँटा सकता है। वह शासकों को अपनी इच्छा का अनुवर्ती होने के लिए विवश कर सकता है। अपने अधिकारों के ज्ञान के साथ-साथ मनुष्यों को अपने कर्तव्यों का भी बोध होता है, और लोकतन्त्र राज्यों के नागरिकों में यह प्रवृत्ति विकसित होती है कि वे कर्तव्य – परायण, उच्च, सच्चरित्र और सत्यनिष्ठ बनें। अपने अधिकारों के लिए लड़ने की भावना, शासकों पर अपनी इच्छा का प्रभाव डालने की अभिलाशा और राज-शक्ति के प्रयोग में हाथ बँटाने की आकांक्षा मनुष्य को आत्मोन्नति करने में अवश्य ही सहायता पहुँचाती है।

(7) लोकतन्त्र शासन में जनता को नागरिकता की शिक्षा मिलती है। जनता राजनीतिक दृष्टि से जागृत हो जाती है, और अपने विचारों को स्वतन्त्रता तथा स्पष्टता के साथ प्रकट करने लगती है। सब लोग सामयिक प्रश्नों पर विचार करने के लिये प्रवृत्ति होते हैं, और भाषण तथा लेखनी द्वारा अपने मनोभावों को प्रकट करते हैं। इससे जनता की मानसिक शक्तियों का विकास होता है, और उसमें जिस राजनीतिक शिक्षा का प्रसार होता है, वह उसकी उन्नति के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध होती है

(8) शासन की क्षमता की दृष्टि से भी लोकतन्त्र शासन-पद्धति सर्वश्रेष्ठ है। इस पद्धति में शासन – सूत्र उन लोगों के हाथ में रहता है, जिन्हें जनता या उसके द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों का विष्वास प्राप्त हो। यदि मन्त्री व अन्य शासक लोग देश का ठीक तरह से शासन करें, अपने कर्तव्यों के प्रति उपेक्षावृत्ति रखें, तो जनता उन्हें उनके पद से हटा सकती है। इसके विपरीत, एकतन्त्र व श्रेणीतन्त्र शासनों में शासकों को अपने पदों से हटाया नहीं जा सकता। यदि वे अपने कार्य में दक्ष हैं, अपने कर्तव्यों का भली-भाँति पालन करते हैं, तो राज्य का सौभाग्य है। पर यदि वे अपने कार्य में दक्ष नहीं हैं, या सार्वजनिक हित की अपेक्षा स्वार्थ को अधिक महत्व देते हैं, तो राज्य का दुर्भाग्य है। पर लोकतन्त्र शासन में इस बात की व्यवस्था रहती है कि राज – शक्ति को प्रयुक्त करने का अधिकार केवल उन्हीं लोगों में रहे, जो न केवल अपने कार्य में दक्ष हों अपितु अपनी शक्ति का प्रयोग सार्वजनिक हित की दृष्टि से ही करें।

लोकतन्त्र – शासन के दोष :

(1) सब मनुष्य बराबर हैं, शिक्षित व अशिक्षित, सच्चरित्र व दुराचारी – सब एक समान हैं, यह सिद्धान्त कदापि मान्य नहीं समझा जा सकता। लोकतन्त्र – शासन में संख्या को महत्व दिया जाता है, गुण को नहीं। हो सकता है कि लाखों मूर्ख लोगों के मुकाबले में एक बुद्धिमान जो बात कहे, वह ठीक हो, उससे मनुष्यों का सामूहिक हित अधिक अच्छी तरह सम्पादित होता हो। परनिर्वाचन के समय में तो केवल वोटों की गिनती की जाती है। यह नहीं देखा जाता कि वोट देने वाला शिक्षित और सदाचारी है, या मूर्ख और चरित्रहीन है। लोकतन्त्र शासन में महात्मा गांधी जैसे महापुरुष और चार बाजार द्वारा धन कमाने वाले व्यक्ति का एक समान स्थान होता है। बहुसंख्यक वोटर ऐसे होते हैं, जिनके वोटों को धन द्वारा खरीदा जा सकता

(3) लोकतन्त्र – शासन प्रायः क्षमता से धूँय होते हैं। प्रसिद्ध लेखक ट्रीट्स्के ने एक आलंकारिक चित्र का उल्लेख किया है, जिसमें कि लोकतन्त्र शासन को एक ऐसे व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है, जो चीखते-चिल्लाती भीड़ से घिरा हुआ है। जब राज – शक्ति अपिक्षित और गैर-जिम्मेदार लोगों के हाथ में दे दी जाती है, तो उसमें क्षमता आ ही कैसे सकती है। जैसे एक कुशल गड़रिया सैकड़ों भेड़ों को अपनी इच्छा के अनुसार चलाता है, वैसे ही लोकतन्त्र राज्यों में कतिपय राजनीतिक नेता जनता के अपनी इच्छा के अनुसार हांकने में समर्थ हो जाते हैं। पार्लियामेंट और विधान-सभाओं में जो सदस्य निर्वाचित होते हैं, न केवल वे ही अपने कार्य के लिये अयोग्य होते हैं, अपितु जिन लोगों के हाथ में शासन का कार्य होता है, वे भी अपना काम भली-भांति नहीं कर सकते। उन्हें सदा यह भय बना रहता है, कि राजनीतिक नेता उनकी किसी बात से संतुष्ट न हो जायें। जिन शक्तिशाली राजनीतिक दलों के हाथ में मंत्रिमंडल की बागडोर होती है, उनकी शाखायें जिले को विवश करते हैं। विभिन्न राज – पदाधिकारी व राज – कर्मचारी यह जानते हैं कि इस राजनीतिक नेताओं को नाराज करना उनके लिये खतरे से खाली नहीं है। परिणाम यह होता है कि वे अपने कार्य को न्याय व कर्तव्य बुद्धि से नहीं कर पाते। इसके विपरीत, एकतन्त्र व श्रेणीतन्त्र शासनों में शासक वर्ग जनता व उसके राजनीतिक नेताओं के प्रभाव से मुक्त रहने के कारण अपने कार्य को भली-भांति कर सकता है।

(4) लोकतन्त्र – शासन में जनता राज-शक्ति के प्रयोग में हाथ बँटाती है, यह बात भी सही नहीं है। सर्वधारण जनता को इतनी फुर्सत ही नहीं होती कि वह अपने आर्थिक संघर्ष से ही अवकाश पा सके। उसकी सारी शक्ति व समय रोटी कमाने में ही व्यतीत हो जाते हैं। राजनीतिक बातों का जो थोड़ा-बहुत परिचय उसे मिलता है, उसका एकमात्र आधार वह दैनिक समाचार-पत्र होता है, जो किसी राजनीतिक दल के साथ सम्बन्ध रखता है। इस समाचार-पत्र में सब बातें एक खास रंग में रंगकर पेश की जाती हैं। सर्वसाधारण व्यक्तियों को तो इतना भी अवकाश नहीं होता कि वे अपने अखबार को भी भली-भांति पढ़ सकें। इसके मोटे-मोटे शीर्षक ही से वे सार्वजनिक बातों का परिचय पाकर संतुष्ट हो जाते हैं। जब निर्वाचन का समय आता है, तो विविध राजनीतिक दल अपने उम्मीदवार के समर्थन में सभायें करते हैं, जुलूस निकालते हैं, व अन्य प्रकार से अपना प्रचार करते हैं। सर्वसाधारण वोटर इनके असर में आ जाता है। वोट प्राप्त करने के लिए विविध राजनीतिक दल रूपयें को पानी की तरह बहाते हैं। अपिक्षित वोटरों को अपने पक्ष में करने के केवल दो या तीन विकल्प रहते हैं। उसका लोकतन्त्रवाद केवल इस बात तक सीमित होता है, कि वह दो या तीन उम्मीदवारों में से किसी एक के लिये चार या पांच वशों में एक बार वोट डाल दे। सम्भव है कि ये सब उम्मीदवार स्वार्थी हों, उनमें अपने कार्य की कोई भी योग्यता न हो, उनका एकमात्र गुण यह हो कि वे अधिक शोर मचा सकते हैं, दाँव-पेंच द्वारा कुछ प्रभावशाली लोगों को अपने पक्ष में कर सकते हैं। प्रायः ये उम्मीदवार ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो किसी भी व्यापार, व्यवसाय, शिल्प या पेशे द्वारा ईमानदारी के साथ कमाई नहीं करते। राजनीति ही इनका पेशा होता है। ऐसे दो या तीन व्यक्तियों में से किसी एक के लिए कुछ वशों में एक बार वोट डाल देने का नाम ही यदि राज-शक्ति के प्रयोग में हाथ बँटाना है, तो उससे किसी विशेष लाभ की आशा नहीं की जा सकती।

स्व-प्रगति की जाँच करें- 1. लोकतन्त्रा – शासन के किसी एक गुण का वर्णन करें।

2. लार्ड ब्राइस के अनुसार ऐसे कौन-से खतरे हैं, जो लोकतन्त्रा शासन के लिए बहुत अधिक हानिकारक व भयावह हैं?

(5) लोकतन्त्र – शासन सांस्कृतिक जीवन के विकास के बाधक होते हैं। साहित्य, कला, विज्ञान आदि की उन्नति में सहायता मिलने के बजाय लोकतन्त्रवाद से उनमें बाधा पहुंचती है। एकतन्त्र शासन में राजाओं का आश्रय पाकर साहित्यिक, कलाकार और विद्वान लोगों को आश्रय मिलता था। पर लोकतन्त्र शासन में सांस्कृतिक स्थिति एक बराबर होती है। वहां

साहित्य, कला, विज्ञान आदि को कोई विशेष महत्व होता ही नहीं। लोकतन्त्र शासन में सबसे अधिक महत्व राजनीतिक नेताओं का होता है। यदि वैज्ञानिकों की कोई सभा हो, तो वहां भी यही नेता प्राप्त करते हैं। सर्वत्र इन्हीं की तूती बोलती है। उस दशा में विद्वानों के समुचित आदर न मिलने से उन्हें अपने कार्य के लिये प्रोत्साहन नहीं मिलता और सब लोगों में यही प्रवृत्ति होती है कि वे राजनीति में भाग लें। लोकतन्त्र शासन में राजनीतिक दौड़-पेंच सबसे अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं।

प्रमुख स्थान

(6) लोकतन्त्र – शासन क्रियात्मक दृष्टि से असम्भव है। कोई ऐसा शासन हो ही नहीं सकता, जिसमें राज-शक्ति का प्रयोग वस्तुतः जनता के हाथों में रहे। सर्वत्र यह प्रवृत्ति होती है कि राज – शक्ति। राज-शक्ति उ कुछ थोड़े-से लोगों के हाथों में केन्द्रित हो जाये। ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस आदि जिन राज्यों के शासन को लोकतन्त्र कहा जाता है, वस्तुतः उनमें भी राज-शक्ति उन थोड़े से लोगों के हाथ में केन्द्रित रहती है, जो मन्त्रिमण्डल के सदस्य होते हैं। ये मन्त्री ही शासन नीति का निर्माण करते हैं, उन कानूनों का मसविदा तैयार करते हैं, जिन्हें वे पार्लियामेंट द्वारा स्वीकृत कराना चाहते हैं, राज्य के वैदेशिक सम्बन्धों को तय करते हैं, और राज्य सम्बन्धी अन्य बातों का फैसला करते हैं। क्योंकि ये मन्त्री एक शक्तिशाली दल के नेता होते हैं, अतः उस राजनीतिक दल के सब साधनों का प्रयोग कर ये लोकमत को अपने पक्ष में करने में समर्थ हो जाते हैं। जनता की इच्छा के अनुसार ये नहीं चलते, अपितु ये जनता को अपनी इच्छा के पीछे चलाते हैं। समाचार-पत्र, रेडियो और सभाओं आदि द्वारा ये ऐसा वातावरण उत्पन्न कर देते हैं, जिससे जनता इनकी नीति को सही समझने लगती है। क्योंकि इनके हाथों में राज्य – शक्ति का प्रयोग भी होता है, ये निग्रह और अनुग्रह द्वारा लोगों को अपने वश में रखने की शक्ति रखते हैं, अतः इनके लिये यह सर्वथा सम्भव होता है कि ये लोगों को अपनी इच्छा का अनुवर्ती बना सकें। इस दशा में जिन्हें लोकतन्त्र शासन कहा जाता है, वस्तुतः उनमें भी कतिपय व्यक्तियों के हाथों में ही शक्ति रहती है, जनता के हाथों में नहीं।

(7) लोकतन्त्र शासनों में समय और धन का बहुत अपव्यय होता है। जो कानून कुछ दिनों में स्वीकृत किया जा सकता है, उसे स्वीकार करने में कई वर्ष लग जाते हैं। उत्तर प्रदेश में जमींदारी बिल पर कई सालों तक विचार होता रहा, तब कहीं वह अपने अन्तिम रूप में आया। हिन्दू कानून सुधार करने के लिये भी कई सालों तक विचार चलता रहा है। इसके विपरीत, जब कोई एकतन्त्र राजा यह इरादा बना लेता है, कि कोई नया कानून बनाना चाहिए या किसी विद्यमान कानून में सुधार होना चाहिए, तो वह बात – की बात में उसे सम्पन्न कर लेता है। लोकतन्त्र शासनों में इसी कमी व दोष का यह परिणाम होता है, कि राष्ट्रपति को बार-बार विशेष आदेश (आर्डिनेंस) जारी करने की आवश्यकता पड़ती है। इसी तरह निर्वाचन के अवसर पर धन का बहुत अपव्यय होता है। वोटों की लिस्ट तैयार करने, जनता से वोट लेने आदि में जहां सरकार को अत्यधिक धन खर्चना पड़ता है, वहां उम्मीदवार व राजनीतिक दल तो अपार धन इस कार्य में व्यय करते हैं। अमेरिका में राष्ट्रपति के निर्वाचन में करोड़ों रुपया विविध दल खर्च करते हैं। पार्लियामेंट व विविध विधानसभाओं के सदस्य अधिक रुपया खर्च करने के बाद जब कोई व्यक्ति अपने अभीष्ट स्थान को प्राप्त करता है, तो उसमें यह प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से होती है कि वह अपने खर्च किये रुपये को उचित – अनुचित उपायों द्वारा प्राप्त करे। राज्य के अतिरिक्त मनुष्यों के अन्य भी कितने ही समुदाय हैं। पर उनके संगठन के लिए इस प्रकार जनता के वोट लेने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। चर्च, व्यावसायिक संगठन आदि कितने ही अन्य जन समुदाय हैं, जो सुचारु रूप से अपना कार्य चला रहे हैं। इस दशा में राज्य के लिये क्यों यह आवश्यक समझा जाये, कि वह लोकतन्त्रवाद के प्रपंच द्वारा समय और धन का इस प्रकार अपव्यय करे।



(8) लोकतन्त्र शासन के जो गुण कहे जाते हैं, वस्तुतः उनकी भी कहीं सत्ता दृष्टिगोचर नहीं होती । यह कहना ठीक नहीं है कि लोकतन्त्र शासन में जनता के सामने राजनीतिक समस्याओं को अत्यन्त विकृत रूप से पेश किया जाता है । राजनीतिक दलों की यह कोषिष रहती है, कि वे प्रत्येक बात को एक विशेष रंग में रंगकर पेश करें और ऐसे उपायों का अवलम्बन करें जिनसे वोटर्स को धोखा देकर, बढ़-चढ़ कर बातें बनाकर, झूठी प्रतिज्ञायें करके व फुसलाकर उनसे वोट प्राप्त कर लें । यही नहीं, अनेक उम्मीदवार वोटर्स को रिष्वत तक देते हैं, जात-बिरादरी आदि की भावना को उदबुद्ध करते हैं और यह समझते हैं कि जैसे युद्ध के समय विजय के लिये सब प्रकार के उपायों का प्रयोग करना जायज है, वैसे ही निर्वाचन के समय सच व झूठ में तमीज न करना, एक-दूसरे पर अनुचित आपेक्ष करना और हर प्रकार से वोटर्स को धोखा देना सर्वथा उचित है । इससे नागरिक शिक्षित नहीं होते, बल्कि ऐसी बातें सीखते हैं जो सार्वजनिक जीवन के लिये बहुत ही हानिकारक हैं ।

लॉर्ड ब्राइस की लोकतन्त्र शासन पर सम्मति दृष्टि राजनीति शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान लॉर्ड ब्राइस ने छः प्रमुख लोकतन्त्र राज्यों की शासन-पद्धतियों का क्रियात्मक दृष्टि से अध्ययन करके उनमें निम्नलिखित दोषों की सत्ता को स्वीकार किया है

—(1) लोकतन्त्र राज्यों में धन का प्रभुत्व — लोकतन्त्र राज्यों में धन का प्रभुत्व बहुत अधिक है । धनी लोग अपने अपार धन का प्रयोग कर न केवल पार्लियामेंट व विधानसभाओं को अपने प्रभाव में ले आते हैं, अपितु शासन और न्याय विभागों पर भी उनका बहुत असर होता है । न्याय विभाग के सम्बन्ध में तो यह आषा की जानी चाहिये, कि वह किसी बाह्य सत्ता के प्रभाव में न हो । पर लोकतन्त्र शासनों में न्यायाधीश तक धन के प्रभाव से मुक्त नहीं रह पाते ।

(2) लोकतन्त्र राज्यों में यह प्रवृत्ति होती है, कि राजनीति कुछ लोगों का पेशा हो जाये

(3) शासन बहुत अधिक खर्चीला हो जाता है ।

(4) समानता के सिद्धान्त का बहुत अधिक दुरुपयोग होता है । शासन के लिये दक्षता व निपुणता की भी आवश्यकता होती है, इस तथ्य की सर्वथा उपेक्षा कर दी जाती है ।

(5) राजनीतिक दलों की शक्ति अनुचित रूप से बढ़ जाती है ।

(6) विधान सभाओं के सदस्यों में यह प्रवृत्ति होती है, कि वे वोट प्राप्त करने के लिए सौदे करें । साथ ही, राजपदाधिकारियों और राजकर्मचारियों में भी यह प्रवृत्ति होती है कि वे कानून की अवज्ञा को सहन कर लें । लॉर्ड ब्राइस ने यह भी लिखा है कि राजनीतिक दलों में यह प्रवृत्ति भी है कि वे सार्वजनिक हित की अपेक्षा अपने दल के स्वार्थ को अधिक महत्व दें और क्योंकि इन राजनीतिक दलों का संगठन कुछ ऐसे व्यक्तियों के हाथ में होता है जिनका पेशा ही राजनीति है, अतः ये थोड़े-से राजनीतिक नेता धीरे-धीरे एक ऐसी श्रेणी का रूप धारण कर लेते हैं, जो केवल अपने स्वार्थ को दृष्टि में रखकर राज-शक्ति का प्रयोग करती है । लॉर्ड ब्राइस लोकतन्त्रवाद के प्रति बहुत सहानुभूति रखते थे । उन्होंने उसकी आलोचना में जो ये बातें लिखी हैं, उनमें सत्य का अंश बहुत अधिक है ।

लॉर्ड ब्राइस के अनुसार दो ऐसे खतरे हैं, जो लोकतन्त्र शासन के लिये बहुत अधिक हानिकारक व भयावह हैं

(1) राज-शक्ति का प्रयोग जिन लोगों के हाथ में हो, उनमें स्वार्थ भावना की सत्ता,

प्रवृत्ति कि वे राज — शक्ति का दुरुपयोग करें ।

और यह (2) जनता व निर्वाचकों के सम्मुख असत्य व अर्धसत्य बातों को पेश करने की प्रवृत्ति, जो कि राजनीतिक नेताओं में विद्यमान होती है, और जिसके कारण वे सभाओं व समाचार पत्रों द्वारा यह प्रयत्न करते हैं कि जनता को जिस तरह भी हो सके, अपने पीछे

लगा लें। लोकतन्त्र शासन के अन्य आलोचक लॉर्ड ब्राइस के समान राजनीति शास्त्र के अन्य अनेक विद्वानों ने भी लोकतन्त्र की आलोचना करते हुए उसके अनेक दोशों को प्रदर्शित किया है। अंग्रेज ऐतिहासिक लेखक सर हेनरी मेन के अनुसार, 'लोकतन्त्र शासन बौद्धिक विकास के लिये अनुकूल नहीं होते। वैज्ञानिक उन्नति भी उसमें सम्भव नहीं होती, उनमें स्थिरता का अभाव होता है, और अज्ञानी तथा बुद्धिभून् व्यक्तिओं का उनमें शासन होता है।' एक अन्य अंग्रेज ऐतिहासिक लेखक लेकी की सम्मति में 'लोकतन्त्र राज्यों में उन लोगों के शासन का सदा भय बना रहता है जो सबसे अधिक गरीब हों, सबसे अधिक अज्ञानी हों, और सबसे अधिक अयोग्य हों, क्योंकि ऐसे लोग जनता से सबसे अधिक संख्या में होते हैं।' एक अन्य स्थान पर लेकी ने लिखा है— 'मानवीय कार्यों के प्रत्येक क्षेत्र में, जीवन के सब अंगों में, एक अदृश्य प्राकृतिक नियम के अनुसार यह होता है कि बहुसंख्यक लोगों की उत्कृष्टता न होकर कतिपय लोगों की उत्कृष्टता होती है और सफलता की प्राप्ति के लिए यह उपयोगी होता है, कि मार्ग—प्रदर्शन और नियन्त्रण की शक्ति प्रधानतया इन कतिपय लोगों के हाथों में दे दी जाये।' जर्मन विद्वान ट्रीट्स्के के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका और फ्रांस के लोकतन्त्र राज्यों में वस्तुतः धनियों की प्रभुता है। फ्रांस में कुछ बड़े—बड़े महाजनों व बैंकरों के हाथ में सब शक्ति है, जो लोकतन्त्र शासन के जाबते को पूरा कर राज—शक्ति का उपयोग अपने स्वार्थ के लिये करते हैं।

विवेचना दृष्टि से इसमें सन्देह नहीं, कि लोकतन्त्र शासन में जो विविध दोश ऊपर प्रदर्शित किये गये हैं उनमें बहुत सच्चाई है। पर ये दोश मनुष्यों की निर्बलता के परिणाम हैं, ये शासन—पद्धति के दोश नहीं हैं। यह सिद्धान्त सर्वथा सत्य है, कि मनुष्य अपने हितों की रक्षा तभी कर सकता है, जब वह स्वयं उसके लिए सजग हो। किसी एक व्यक्ति या कतिपय मनुष्यों के हाथों में अपने सामूहिक हितों को देकर स्वयं निष्चिन्त होकर बैठ जाने से कभी जनता अपन भला नहीं कर सकती। लोकतन्त्र शासन के पक्ष में यह एक ऐसी युक्ति है, जिसे अकाट्य समझा जा सकता है। मनुष्य जब एक बार स्वतन्त्रता, अधिकार और आत्म—महत्त्व का अनुभव कर लेते हैं, तो उसे वे सुगमता से नहीं छोड़ सकते। पिछली डेढ़ सदी में लोकतन्त्रवाद का जिस प्रकार विकास हुआ है, उससे मानव समाज जागृत व उबुद्ध हो गया है। मनुष्यों में यह अनुभूति उत्पन्न हो गई है कि राज्य उनका अपना समुदाय है, जिसे सामूहिक हित के लिए संगठित किया गया है। उसकी रक्षा व उन्नति उनका अपना कर्तव्य व अधिकार है। वे अब लोकतन्त्रवाद को छोड़कर फिर किसी एक राजा या एक श्रेणी की अधीनता स्वीकार कर लेंगे, यह आशा करना व्यर्थ है।

लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें

लोकतन्त्रवाद की जिन कमियों व दोशों का ऊपर प्रदर्शन किया गया है, उनका कारण मुख्यतया मनुष्यों की वे निर्बलताएँ हैं, जो अभी जनता में विद्यमान हैं। अतः लोकतन्त्रवाद की सफलता के लिये निम्नलिखित बातों का होना उपयोगी व आवश्यक समझा जाता है

1) नागरिकों को नैतिक दृष्टि से ऊँचा होना चाहिये, और उन्हें ईमानदार होना चाहिए व प्रलोभनों से ऊपर रहना चाहिए। यदि किसी राज्य के नागरिक कुछ रुपयों के लिये या किसी प्रकार के प्रभाव में आकर अपने वोट को बेच देने के लिये सुगमता से तैयार हो जाएँ, या जो सदस्य पार्लियामेंट व अन्य विधान—सभाओं में निर्वाचित हों, वे अपने कर्तव्यों को भूलकर सुगमता से रुपये के वष में आ जाएँ, तो यह निश्चित है कि लोकतन्त्र शासन कभी सफल नहीं हो सकेगा। लोकतन्त्र राज्यों में खुषामद, रिषत आदि की प्रवृत्तियाँ बहुत सुगमता से पैदा हो सकती हैं, अतः इनसे बचने के लिये जनता का नैतिक स्तर अधिक ऊँचा होना आवश्यक है। एकतन्त्र व श्रेणीतन्त्र शासनों में भी शासनों का नैतिक स्तर यदि ऊँचा हो, तो सफल हो सकते हैं। यह भी शायद अधिक सुगम है, कि सब लोगों के नैतिक स्तर को ऊँचा करने की अपेक्षा एक या कतिपय व्यक्ति ऐसे ढूँढ़ लिये जाएँ, जो नैतिक दृष्टि से ऊँचे हों, और उनके हाथों में राज—शक्ति सुपुद्र कर दी जाये। पर किस सिद्धान्त के अनुसार इस प्रकार के एक व्यक्ति या कतिपय व्यक्तियों को ढूँढ़ा जाये, यह निश्चित क

सकना सुगम नहीं है। इसका षायद सबसे अधिक उत्तम और क्रियात्मक उपाय यही है, कि जनता अपने राष्ट्रपति, मन्त्री व अन्य षासनाधिकारियों का स्वयं निर्वाचन करे और जिन्हें सबसे अधिक योग्य समझे, उन्हें षासन — कार्य प्रदान कर दे। इसी का नाम लोकतन्त्र षासन है। पर निर्वाचन के अधिकार का प्रयोग करते हुए भी जनता की नैतिक दृष्टि उत्पन्न होना आवश्यक है। इसके लिये सब मनुष्यों को पूर्ण सदाचारी, इन्द्रियजयी व

धार्मिक होने की जरूरत नहीं। उनका केवल इस अंश तक नैतिक होना उपयोगी है कि वे जाति-बिरादरी के संकीर्ण विचारों से ऊपर उठ सकें, थोड़े-से रुपयों के लाभ से अपने वोट को बेच देने के लिये उद्यत न हो जाएँ और किसी राजनीतिक दल के अनुयायी होने से पहले यह विचार लें कि उस दल के सिद्धान्त क्या हैं, और कौन-से राजनीतिक मन्तव्य उनकी दृष्टि में राज्य के लिये अधिक हितकारी हैं। इस प्रकार की योग्यता प्राप्त कर लेना सर्वसाधारण मनुष्यों के लिये कठिन नहीं समझा जा सकता। ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस आदि लोकतन्त्र राज्यों के नागरिक यह योग्यता प्राप्त कर चुके हैं, यह बात भरोसे के साथ कही जा सकती है।

(2) लोकतन्त्र षासन में जनता में नागरिकता की भावना अवष्य विकसित होनी चाहिये। प्रत्येक नागरिक को यह समझना चाहिये, कि उसके क्या अधिकार और क्या कर्तव्य हैं। लोकतन्त्र षासन की सफलता की मुख्य षर्त यही है कि नागरिकों का सहयोग उसे प्राप्त रहे। कानून का पालन करना, टैक्सों को ईमानदारी के साथ प्रदान करना, अपराधियों की गिरफ्तारी में सरकार के साथ सहयोग करना और रिष्वत आदि लेकर अपने स्वार्थ को सिद्ध करने का प्रयत्न न करना, ये ऐसी बातें हैं जो लोकतन्त्र षासन की सफलता के लिये नागरिकों में अवष्य होनी चाहियें। एकतन्त्र व श्रेणीतन्त्र षासनों में जनता के न कोई अधिकार होते हैं, और न कोई कर्तव्य। अतः यदि उन षासनों में वे अपने हित व कल्याणकी बात की ओर कोई ध्यान न दें, तो यह स्वाभाविक ही है। पर लोकतन्त्र षासन में षासकलोग अपनी सफलता के लिये जनता के सहयोग पर आश्रित होते हैं, और यह सहयोगजनता तभी दे सकती है जब कि उसे अपने अधिकारों के साथ-साथ अपने कर्तव्यों का भी भली-भाँति ज्ञान हो, और कर्तव्यपालन की इच्छा भी उनमें पूरी तरह से उबुद्ध हो गई हो।

(3) लोकतन्त्र षासन में जनता को राजनीतिक दृष्टि से भली प्रकार षिक्षित होना चाहिये उनका सच्चा नेता कौन है, कौन-से राजनीतिक दल के सिद्धान्त सामूहिक हित की दृष्टि से अधिक उपयोगी हैं इन बातों का फैसला कर सकने की क्षमता जनता में अवष्य होनी चाहिये ! राज-षक्ति के प्रयोग के लिये कौन-से व्यक्ति योग्यतम हैं, इसका निर्णय सर्वसाधारण नागरिकों के ही हाथों में रहता है। अतः उन पर यह भारी उत्तरदायिता आ जाती है, कि वे योग्यतम व्यक्तियों का चुनाव कर सकने की योग्यता रखते हों। इसलिये उन्हें इतना षिक्षित अवष्य होना चाहिये, कि वे सच्चे व झूठे नेता की पहचान कर सकें। षिक्षा का अभिप्राय यही नहीं है कि मनुष्य पढ़ने-लिखने में प्रवीण हो, गणित और विज्ञान के सिद्धान्तों से परिचित हों। पर जनता में ऐसी सहज बुद्धि अवष्य होनी चाहिए कि वह भले और बुरे में विवेक कर सकें, और यह समझ सकें कि कौन-से राजनीतिक दल के सिद्धान्त उनके लिये उपयोगी हैं और कौन-से नेता व नेताओं के हाथ में राज-षक्ति के प्रयोग का अधिकार देना सबके हित में सहायक होगा।

(4) लोकतन्त्र षासन की सफलता के लिये यह भी आवश्यक है कि जनता में एकता की भावना विद्यमान हो। जिस राज्य की जनता जातिगत, साम्प्रदायिक और प्रान्तीय भेदों को बहुत अधिक महत्व देती है, उसमें लोकतन्त्र षासन सफल नहीं हो सकता। ऐसा राज्य षायद ही कोई हो, जिसकी जनता अनेक जातियों में विभक्त न हो, या जिसमें अनेक सम्प्रदाय न हों, या जिसके विविध प्रान्तों में अपनी पृथक् विषेशताएँ व विभिन्नताएँ न हों। पर मनुष्यों को यह समझना चाहिये, कि इन भेदों का राजकीय षासन के लिये कोई महत्व नहीं है। राज्यसंस्था का विकास एक निष्चित भूमिखण्ड पर बसे हुए मनुष्यों के सामूहिक हितों के लिये हुआ है। मनुष्यों को यह अधिकार है, कि वे अपनी जाति या बिरादरी के

रीति-रिवाजों व परम्परागत प्रथाओं का स्वतन्त्रता के साथ अनुसरण कर सकें, अपने सम्प्रदाय के अनुसार धार्मिक विष्वासों को रख सकें, विविध प्रान्तों में भाषा आदि के जो भेद हैं उन्हें कायम रख सकें । पर जाति, सम्प्रदाय व प्रांत के कारण उत्पन्न हुए भेदों को इतना महत्व देना कि वे राज्य के सामूहिक हित में बाधक होने लगें, किसी भी प्रकार अभीष्ट नहीं समझा जा सकता ।

(5) लोकतन्त्र शासन की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है, कि मनुष्यों को अपनी सम्मति को स्वतन्त्रता के साथ प्रकट करने का अधिकार हो । जब तक राज्य के विविध नागरिक यह नहीं जानेंगे, कि अन्य लोगों के क्या विचार हैं, वे कभी अपनी सम्मति ठीक प्रकार से नहीं बना सकेंगे । इसी कारण लोकतन्त्र शासनों में यह जरूरी हो जाता है कि समाचार-पत्रों को अपने विचार प्रकट करने की पूरी स्वतन्त्रता हो, और विविध विचारों के लोग अपने पृथक्-पृथक् संगठन बना सकें, तथा सभाओं और समाचार-पत्रों द्वारा अपने विचार को स्वतन्त्रता के साथ प्रचार कर सकें । ऐसी स्वतन्त्रता के अभाव में लोकमत का समुचित रीति से विकसित होना सम्भव नहीं रहता । लोकतन्त्र शासन में लोकमत ही ऐसी शक्ति होती है, जो शासक वर्ग को मर्यादा और नियन्त्रण में रख सकती है । अतः लोकमत का स्वतन्त्रतापूर्वक विकसित हो सकना एक ऐसी बात है, जो लोकतन्त्र राज्यों के लिये परमावश्यक है ।

(6) लोकतन्त्र शासन की सफलता के लिये यह भी आवश्यक है कि सब नागरिक सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से भी एक समान हों । जिन राज्यों की जनता में कुछ व्यक्ति बहुत अधिक धनी होते हैं और शेष जनता गरीब होती है, उनमें लोकतन्त्र शासन सफल नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसे राज्यों में धन की शक्ति के कारण राज – शक्ति भी धनियों के हाथों में आ सकती है । गरीब लोग किसान व मजदूर के रूप में अपनी आमदनी के लिये इन धनी लोगों के वशवर्ती होते हैं, और निर्वाचन में धनियों के खिलाफ नहीं जा सकते । शासन वर्ग भी धनियों के प्रभाव में रहते हैं, और धनी लोग अपने धन द्वारा जो चाहें वह करा लेते हैं । यही कारण है कि पिछली एक सदी में अनेक समाजवादी विचारकों ने इस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है, कि राजनीतिक क्षेत्र में लोकतन्त्रवाद तभी सफल हो सकता है, जबकि आर्थिक क्षेत्र में भी लोकतन्त्रवाद का अनुसरण किया जाये । इसी तरह जिस राज्य में कुछ लोग जन्म के कारण ऊँचे माने जाते हैं और कुछ नीचे, उसमें लोकतन्त्र शासन सफल नहीं हो सकता । सामाजिक दृष्टि से ऊँचे समझे जाने वाले लोगों के लिए यह सम्भव होता है कि वे राजनीतिक क्षेत्र का नेतृत्व भी अपने हाथों में कर लें । जिस राज्य की जनता सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से भी समान होगी, वही राजनीतिक क्षेत्र में भी समानता के सिद्धान्त पर आश्रित लोकतन्त्रवाद को सफल बना सकेगी ।

सारांश

महान समाजवादी, विचारक और राजनेता स्व० राम मनोहर लोहिया और आचार्य नरेन्द्रदेव ने सत्य ही कहा था कि लोकतंत्र की सफलता के लिए तथा इसकी मजबूती के लिए आम जनता, नागरिक और इसके निवासियों में लोकतांत्रिक सोच होना बड़ा ही जरूरी है । आम जनता जब तक अपनी सोच को लोकतांत्रिक नहीं बनायेंगे जब तक लोकतंत्र की जड़ें कभी मजबूत नहीं हो सकेंगी । इसी तरह राष्ट्रीय जीवन में सामाजिक, आर्थिक स्वतंत्रता के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता का कोई मायने नहीं होता है । आम जनता को जब तक उसकी मूलभूत जरूरतों की पूर्ति नहीं होगी, तब तक लोकतंत्र न तो स्वस्थ होगा और न ही सुदृढ़ व हम कितना भी सुधार के ऐलान करें, ग्रास रूट पर लोकतंत्र की सफलता के लिए लोकमत में लोक सोच के प्रति आस्था और प्रगाढ़ता होनी ही चाहिए ।

अभ्यास-प्रश्न

1. लोकतंत्र की विभिन्न परिभाषायें देते हुए इसके अर्थ की व्याख्या करें ।



2. लोकतंत्र के गुण-दोशों की विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत करें।
3. लॉर्ड ब्राइस ने लोकतंत्र शासन के संदर्भ में क्या मत व्यक्त किये हैं?
4. लोकतंत्र की सफलता के लिये आवश्यक शर्तें कौन-कौन सी हैं? व्याख्या करें।

राजनीतिक सिद्धान्त

bdkb & 12 jktuhfr“kkL= d {k=

प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त

अध्याय में प्रस्तुत है :—

परिचय

लोकतन्त्र — शासन के गुण और दोष

लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें

सारांश

स्व-प्रगति जाँच के उत्तर

अभ्यास-प्रश्न

शिक्षण उद्देश्य :

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् आप समझ सकेंगे—

लोकतन्त्र — शासन से आशय, लोकतन्त्र — शासन के गुण और दोष

लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें ।

अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की समस्या — सिद्धान्त रूप में लोकतंत्र सम्पूर्ण जनता का शासन है, किसी बहुसंख्यक वर्ग अथवा अल्पसंख्यक वर्ग का शासन नहीं । अतः प्रतिनिधि

। लोकतंत्र के अन्तर्गत एक व्यवस्थापिका में राष्ट्र की जनसंख्या के सभी वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए । लेकिन व्यवहार में यह देखने में आता है कि एक लोकतांत्रिक व्यवस्था में बहुसंख्यक वर्ग को पर्याप्त स्थान मिल जाते हैं, किन्तु अल्पसंख्यक वर्ग को बहुत कम स्थान प्राप्त होते हैं । इससे प्रतिनिधि लोकतंत्र बहुमत या बहुसंख्यक वर्ग का शासन बन जाता है और अल्पसंख्यक वर्ग इसे 'बहुमत का अत्याचार' मानने लगते हैं । वास्तव में लोकतंत्र को सम्पूर्ण जनता का शासन बनाने के लिए आवश्यक है कि राष्ट्रीय व्यवस्थापिका में राष्ट्र के सभी वर्गों को उनकी संख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व मिले क्योंकि आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली अल्पसंख्यकों के वर्गों को उनके मतों की संख्या के अनुपात में प्रतिनिधि त्व प्रदान कर अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की समस्या का अच्छा समाधान प्रस्तुत करती है ।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली से आशय आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति के अन्तर्गत सभी वर्गों को उनकी मतदान शक्ति के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जाता है । आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व का सबसे अच्छा समाधान है क्योंकि अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने में अन्य प्रणालियाँ उनकी मतदान शक्ति के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्रदान नहीं कर पाती हैं, वहाँ आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली अल्पसंख्यकों को उनकी मतदान शक्ति के अनुपात के आधार पर प्रतिनिधित्व प्रदान करती है ।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के दो प्रमुख लक्षण हैं

MATS Centre for Distance and Online Education, MATS University

(प) इसमें बहु — सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होते हैं अर्थात् निर्वाचन क्षेत्र से अनेक सदस्य चुने जाते हैं । (पप) इसमें निर्वाचित होने के लिए किसी उम्मीदवार को बहुमत की जरूरत नहीं



होती है, अपितु एक निश्चित संख्या में मतदान करने की जरूरत होती है। मतों की इस निश्चित संख्या को 'चुनाव कोटा' कहा जाता है।

डूप प्रणाली के अनुसार 'चुनाव कोटा' निकालने का सूत्र इस प्रकार है: चुनाव कोटा = डाले गए वैध मतों की संख्या / निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या

1- भागफल. 1 अनुपातिक प्रतिनिधित्व के रूप अनुपातिक प्रतिनिधित्व मत प्रणाली की खोज का श्रेय विद्वान टॉमस हेयर को दिया जाता है। अतः अनेक बार इसे 'हेयर प्रणाली' भी कहा जाता है। अनुपातिक प्रतिनिधित्व की हेयर प्रणाली को कार्यरूप में हैं परिणत करने के लिए विचारकों ने अनेक पद्धतियों का प्रतिपादन किया है जिनके दो रूप प्रमुख (1) एकल संक्रमणीय मत प्रणाली और (2) सूची प्रणाली। इनका विवरण निम्नलिखित है

1. एकल संक्रमणीय मत प्रणाली इस प्रणाली का उद्देश्य प्रत्येक नागरिक में इतनी योग्यता पैदा करना है कि जहाँ तक सम्भव हो, वे पूर्णरूप से और स्वेच्छा से अपने प्रतिनिधियों का चयन कर सकें। इस प्रणाली की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं

बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र — इस प्रणाली के लिए बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र आवश्यक है और प्रत्येक मतदाता को केवल एक मत देने का अधिकार होता है।

पसन्दगी के अनुसार मतदान मत — पत्र पर सभी उम्मीदवारों के नाम लिखे हुए होते हैं, जिनके नाम के आगे मतदाता अपनी पहली, दूसरी आदि पसन्दगी लिख देता है। इस प्रकार इस प्रणाली में मतदाता को पसन्दगी के क्रम में मत देने का अधिकार होता है। मतों के हस्तांतरण की व्यवस्था जब एक उम्मीदवार अपनी निश्चित संख्या से अधिक मत प्राप्त कर लेता है तो अतिरिक्त मतों को मतदाता की दूसरी पसन्द के उम्मीदवार को हस्तान्तरित कर दिया जाता है।

इस प्रकार यदि किसी उम्मीदवार को इतने कम मत प्राप्त हों कि उसके जीतने की कोई सम्भावना न हो तो मतदाताओं की पसन्द के अनुसार इन मतों को दूसरी पसन्द वाले उम्मीदवारों को हस्तान्तरित कर दिया जाता है। इस प्रकार इस पद्धति में प्रत्येक मतदाता के मत का उपयोग करने का प्रयत्न किया जाता है।

निश्चित मत संख्या — इस पद्धति में विजय या सफलता इस पद्धति में विजय या सफलता के लिए मतों की एक निश्चित संख्या तय की जाती है। निश्चित मत संख्या निकालने के लिए प्रयुक्त किये गये मतों की कुल संख्या को, निर्वाचित होने वाले सदस्यों की संख्या के एक से अधिक संख्या का भाग दे दिया जाता है और परिणाम में एक जोड़ा जाता है। इस पद्धति के अनुसार यदि 7 सदस्यों वाले निर्वाचन क्षेत्र में 7,000 मतों का प्रयोग किया गया तो, निश्चित मत संख्या होगी। इस प्रकार वे उम्मीदवार जो पहली पसन्द के अथवा मतों के हस्तान्तरण का लाभ उठाकर 876 मत प्राप्त कर लेते हैं,

(अ) मतगणना

चुनाव कोटा निकालने के बाद सब मत पहली पसन्द के अनुसार छांट लिये जाते हैं और

नहीं होती है तो सफल उम्मीदवारों के अतिरिक्त मत अन्य उम्मीदवारों को हस्तान्तरित करके उनके द्वारा अंकित दूसरी पसन्द के अनुसार बाँट दिये जाते हैं।

यदि तब भी सब स्थानों की पूर्ति नहीं हो पाती तो सफल उम्मीदवारों की तीसरी, चौथी और पाँचवीं पसन्द भी इस प्रकार हस्तान्तरित कर दी जाती है और यदि इसके बाद भी कुछ स्थान रिक्त रह जाते हैं जो जिन उम्मीदवारों को सबसे कम मत प्राप्त हुए हैं, वे बारी-बारी से पराजित घोषित कर दिये जाते हैं और उनके मत दूसरी, तीसरी और चौथी आदि पसन्दों के अनुसार हस्तान्तरित कर दिये जाते हैं। यह प्रक्रिया उस समय तक जारी रहती है, जब तक सभी स्थानों की पूर्ति नहीं हो जाती है

2. सूची प्रणाली इस प्रणाली में उम्मीदवारों की सूची उनके राजनीतिक दलों के आधार पर निकाली जाती है। प्रत्येक दल उतने ही या उससे कम नामों की सूची प्रस्तुत कर सकता है जितने कि स्थान होते हैं। मतदाता किसी उम्मीदवार को नहीं बल्कि किसी दल की विषिष्ट सूची के सम्बन्ध में अपनी पसन्दगी का क्रम प्रकट करता है

इस प्रणाली में भी निश्चित मत संख्या अपनी उसी तरह निर्धारित की जाती है, जिस प्रकार एकल संक्रमणीय मत प्रणाली में की जाती है, जिस अनुपात में दलों ने मतों के अनुपात को प्राप्त किया होता है, उसी अनुपात में उन्हें स्थानों का अनुपात प्राप्त होता है। इस पद्धति में सभी दलों को उनकी शक्ति के अनुपात के अनुसार प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है।

उदाहरण मान लीजिए किसी चार सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र से भारतीय जनता पार्टी, कांग्रेस और साम्यवादी दल ने अपने उम्मीदवार खड़े किये हैं और विविध उम्मीदवारों को प्राप्त मतों की संख्या अनुसार के अनुसार उन दलों को निम्नलिखित मत प्राप्त होते हैं

—राजनीतिक सिद्धान्त के भारतीय जनता पार्टी 2,200 काँग्रेस 1,500 साम्यवादी दल 1,300

योग 5,000 5,000 इस प्रकार कुल 5,000 मतों का प्रयोग किया गया, निर्वाचन के लिए निश्चित मत संख्या हुई।

1,001 इस निश्चित मत संख्या के अनुसार निर्वाचन का परिणाम यह होगा — भारतीय जनता पार्टी के 2, कांग्रेस का 1 और साम्यवादी दल का 1 उम्मीदवार निर्वाचित समझा जाएगा।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के गुण —

1. सभी वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व दृष्टि आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली से समाज के सभी वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व मिल जाता है। इस पद्धति के अन्तर्गत अल्पसंख्यकों को भी उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है। जब व्यवस्थापिका में प्रत्येक वर्ग को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है तो प्रत्येक वर्ग अपने विचार व्यक्त करने का अवसर प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार संसद राष्ट्रीय विचारों का द्रव्य बन जाती है और प्रजातन्त्र अपने पूर्ण वास्तविक रूप में प्रकट होता है।

2. नागरिकों की राजनीतिक चेतना में वृद्धि — सभी वर्गों को व्यवस्थापिका में उचित प्रतिनिधित्व मिल जाने से लोग सार्वजनिक मामलों में अधिक रुचि लेने लगते हैं और उनकी राजनीतिक चेतना में भी वृद्धि होती है। इस प्रकार यह पद्धति राजनीतिक शिक्षा प्रदान करती है और नागरिकों की राजनीतिक क्षेत्र के प्रति उदासीनता व उपेक्षा को दूर करती है।

3. मतदाताओं की व्यापक पसन्दगी यह पद्धति मतदाताओं की पसन्दगी को व्यापक क्षेत्र प्रदान करती है जैसाकि पुल्ल ने कहा है, “एकल संक्रमणीय मतदान प्रणाली निर्वाचकों को अपनी पसन्द के उम्मीदवार चुनने में सबसे अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करती है।” इससे चुनावों के समय का भ्रष्टाचार भी समाप्त हो जाता है।

4. चुनाव जुआ नहीं रहते — साधारण बहुमत पद्धति के अन्तर्गत चुनाव एक प्रकार से

जुआ होता है, परन्तु आनुपातिक प्रतिनिधित्व में प्रत्येक वर्ग अपनी संख्या के आधार पर प्रतिनिधि प्राप्त कर सकता है और अपने प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में निश्चित रहता है ।

5. गैरीमैण्डरिंग आदि दोशों की समाप्ति इस प्रणाली में गैरीमैण्डरिंग का दोश दूर हो जाता है जिसके अन्तर्गत षासक दल के द्वारा अपने लाभ की दृष्टि से निर्वाचन क्षेत्र में मनमाने ढंग से अनुचित परिवर्तन कर दिये जाते हैं। गैरीमैण्डरिंग एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में ही अपनाया जा सकता है, आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होने के कारण इसको प्रयुक्त नहीं किया जा सकता ।

6. सर्वथा प्रजातन्त्रवादी व्यवस्था प्रजातन्त्र जनता का, जनता के द्वारा और जनता के लिए शासन होता है । आधुनिक समय में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र में प्रत्येक वर्ग के लोगों को राष्ट्रीय व्यवस्थापिका में प्रतिनिधित्व देने का एकमात्र साधन है दृ आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली इस सम्बन्ध में लॉर्ड एक्टन ने ठीक ही कहा है, “यह प्रणाली अति प्रजातन्त्रवादी है, क्योंकि उससे उन सहस्रों व्यक्तियों को शासन में भाग लेने का अवसर मिलता है जिनकी वैसे कोई सुनवाई नहीं होती । यह समानता के सिद्धान्त के अनुकूल है, क्योंकि इसमें किसी भी मत का अपव्यय नहीं किया जाता है और प्रत्येक मतदाता का प्रतिनिधि व्यवस्थापिका में सदस्य होता है । ”

7. अल्पसंख्यकों में सुरक्षा की भावना का विकास – आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व प्रदान कर बहुसंख्या की तानाशाही को रोकती है और अल्पसंख्यकों में सुरक्षा भावना उत्पन्न करती है ।

8. भ्रष्टाचार का अन्त दृ आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के पक्ष में एक अन्य तर्क यह दिया जाता है कि इसके अन्तर्गत राजनीतिक भ्रष्टाचार पर भी अंकुष लगता है क्योंकि इस पद्धति को अपनाने से प्रायः व्यवस्थापिका में किसी एक राजनीतिक दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं हो पाता और इस कारण कोई भी राजनीतिक दल अपने समर्थकों को अनुचित रूप से लाभ नहीं पहुँचा सकता ।

9. न्याय पर आधारित व्यवस्था – आनुपातिक प्रतिनिधित्व को न्याय पर आधारित पद्धति भी कहा जा सकता है क्योंकि इसके अन्तर्गत सभी वर्गों को उनकी संख्या के अनुपात में उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है –

10. अन्य गुण यह पद्धति विधान – मण्डल का स्तर बहुत उच्च कर देती है और उसमें पारित किये गये कानून के प्रति भक्ति अधिक होती है जिससे उन्हें लागू करना सरल हो जाता है। इस पद्धति में मन्त्रिमण्डल के निरंकुष बनने और बहुमत के अत्याचारी होने की सम्भावना नहीं होती, क्योंकि विधान मण्डल में किसी भी दल को पूर्ण बहुमत नहीं मिलता है जिससे मन्त्रिमण्डल संयुक्त होते हैं।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के दोष – आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में भी अनेक दोष व्याप्त हैं। इसके कुछ प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं— 1. दलों और गुटों की संख्या में वर्षद्वि प्रो. हेराल्ड लास्की के अनुसार, “इस प्रणाली के अन्तर्गत अनेक राजनीतिक दलों और गुटों का जन्म हो जाता है।” इस पद्धति में जब प्रत्येक वर्ग या हितों को अपने प्रतिनिधित्व का आश्वासन प्राप्त हो जाता है तो वे अपने-अपने राजनीतिक दल और गुट बना लेते हैं। इससे संकीर्ण, केन्द्र विमुखी एवं विघटनकारी प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिलता है जो अन्तः राष्ट्र के लिए हानिकारक होती हैं।

2. अस्थिर सरकारें इस प्रणाली के अन्तर्गत अधिक राजनीतिक दल होने के कारण साधारणतः किसी दल को बहुमत प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में मिले-जुले मन्त्रिमण्डलों का निर्माण होता है जो अस्थिर और अल्पकालीन होते हैं। इससे प्रशासन की एकता और उसका उत्तरदायित्व नष्ट हो जाते हैं। डॉ. हरमन फाइनर के अनुसार, “सामूहिक विभाजनों और पथक्करण को प्रोत्साहित करके यह (प्रणाली) कार्यपालिका के दायित्व को धक्का पहुँचाती

है।” 3. संकीर्ण प्रवर्षति को प्रोत्साहन – यह पद्धति राष्ट्रीय एकता का साधन न होकर विभिन्न क्षेत्रीय और वर्गीय प्रवर्षतियों को जन्म देती है। इसमें सभी प्रज्ञों पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाने के बजाय संकुचित वर्गीय दृष्टिकोण अपनाया जाता है। सिजविक के शब्दों में, “वर्गीय प्रतिनिधित्व आवश्यक रूप से दूषित वर्गीय व्यवस्थापन को प्रोत्साहित करता है।”

4. निर्वाचकों और निर्वाचितों में सम्पर्क का अभाव – आनुपातिक प्रतिनिधियों की सब विधियों के अन्तर्गत बहुसदस्यी निर्वाचन क्षेत्र आवश्यक होते हैं, जिसके परिणामस्वरूप निर्वाचकों और उनके प्रतिनिधित्व में प्रत्यक्ष व निजी सम्पर्क नहीं रहता। प्रतिनिधि मतदाताओं की अपेक्षा अपने दल को अधिक महत्व देते हैं। व्यक्तिगत सम्पर्क के अभाव में अवांछनीय उम्मीदवार भी निर्वाचित हो सकते हैं। डॉ. फाइनर ने ठीक ही कहा है, “इस प्रणाली को अपनाने पर प्रतिनिधि द्वारा अपने क्षेत्र की देखभाल करने की जिम्मेदारी प्रायः समाप्त हो जाती है।”

5. अत्यधिक जटिल प्रणाली

—यह पद्धति अत्यन्त जटिल है। साधारण व्यक्ति इसे समझने में असमर्थ रहता है। मतों की गणना का कार्य तो और भी अधिक जटिल होता है और अनेक बार निश्चित संख्या में उम्मीदवार न चुने जाने पर दुबारा निर्वाचन करवाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त सूची पद्धति से भ्रष्ट साधनों के प्रयोग की सम्भावना रहती है।

6. श्रेष्ठ विधि निर्माण सम्भव नहीं – इस प्रणाली को अपनाने के कारण विधान – मण्डल विभिन्न प्रकार के परस्पर विरोध का रणक्षेत्र बन जाता है, जिसके फलस्वरूप निम्न स्तर के कानूनों का निर्माण होता है। वे कानून विवेकहीन होते हैं, जिनमें सन्तुलित दृष्टिकोण नहीं अपनाया जाता है। या तो ये कानून प्रतिक्रियावादी होते हैं या प्रगतिशीलता के अनावश्यक और दिखावटी झोंके से भरे हुए।

7. शासन के कार्यों का मूल्यांकन नहीं – आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली अनेक छोटे-छोटे गुटों को जन्म देती है, जिनके फलस्वरूप मिले-जुले मन्त्रिमण्डल बनाने पड़ते हैं, ऐसे मन्त्रिमण्डलों के साझेदार त्रुटियों और असफलता का भार एक-दूसरे पर डालते हैं। ऐसी स्थिति में निर्वाचक यह पता नहीं लगा सकते कि मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित किस दल का दोष है, ताकि वे आगामी चुनाव में सोच-विचार कर वोट दें।

8. उप-चुनावों की व्यवस्था नहीं दृष्ट आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का एक बड़ा दोष यह है कि इसमें उपचुनावों की कोई व्यवस्था नहीं है, जो लोकतन्त्र में जनमत जानने के अच्छे साधन होते हैं। डॉ. फाइनर के अनुसार, “उप-चुनावों से यह ज्ञात होता है कि हवा किस ओर बह रही है, किन्तु इस प्रकार के चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति में सम्भव नहीं हैं।” 9. राष्ट्रीय एकता के लिए घातक यह पद्धति समाज को ऐसे छोटे-छोटे संकीर्ण दृष्टिकोण वाले व स्वार्थी गुटों में विभाजित कर देती है, जिनके पास राष्ट्रीय स्तर का राजनीतिक और आर्थिक कार्यक्रम नहीं होता। इससे समाज का वातावरण दूषित हो जाता है और राष्ट्रीयता की भावना का “ह्रास होता है, जो अनिवार्य रूप से सामाजिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।”

निष्कर्ष दृष्ट आनुपातिक प्रतिनिधित्व व्यवस्था के गुण-दोषों का उपर्युक्त विवेचन यह सिद्ध करता है कि उसमें गुणों की अपेक्षा दोष अधिक हैं। प्रो. एस्मिन ने इस पद्धति की आलोचना करते हुए कहा है कि इस पद्धति को अपनाने का परिणाम व्यवस्थापिका की शक्ति में अनावश्यक वृद्धि होगी, मन्त्रिमण्डल अस्थायी होंगे, उनमें एकता का अभाव होगा और संसदात्मक शासन सम्भव नहीं हो सकेगा।

वास्तव में आधुनिक राज्यों की राजनीतिक समस्याएँ निर्वाचन पद्धति के संशोधन से नहीं सुलझायी जा सकतीं। इसका समाधान सामान्य जनता के बौद्धिक स्तर को ऊँचा करने के अनुसार मतदान देने से हो सकता है।

प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त

प्रतिनिधित्व एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से कोई बड़ा नागरिक समूह अपने में निहित प्रभुसत्ता का प्रयोग करता है। प्रतिनिधियों का निर्वाचन बहुमत के आधार पर होता है और वे व्यवस्थापिका बहुमत के आधार पर ही निर्णय लेते हैं।

राजनीतिक सिद्धान्त

प्रतिनिधित्व के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं

(1) निर्देशित प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त – इस सिद्धान्त के अनुसार प्रतिनिधि सदैव अपने निर्वाचन के अधीन होता है और वह मात्र उनकी इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार प्रतिनिधि को अपने निर्वाचकों से प्राप्त निर्देश के अनुसार ही व्यवस्थापिका में अपने कार्य करने चाहिए। यदि कोई प्रतिनिधि व्यवस्थापिका में अपने निर्वाचकों के निर्देश की उपेक्षा करता है या उसके विपरीत आचरण करता है तो निर्वाचक उसे वापस बुलाने की मांग कर सकते हैं। अतीत में रूसो ने इस विचार का समर्थन किया है और आधुनिक युग में स्विट्जरलैंड के कुछ राज्यों में प्रत्यावर्तन के सिद्धान्त को स्वीकारा गया है।

वर्तमान काल में राजनीतिक दल प्रणाली के उदय तथा अप्रत्यक्ष लोकतंत्र की सकारात्मक विचारधारा के विकास के साथ-साथ यह सिद्धान्त प्रभावहीन हो गया है। आधुनिक युग में इसे अनावश्यक, असंगत और अवैधानिक माना जाता है।

(2) अनिर्देशित प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त

अनिर्देशित प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त की मान्यता है कि प्रतिनिधि निर्वाचकों के मात्र अधिवक्ता या अभिकर्ता नहीं होते, अपितु वे इससे अधिक होते हैं। वे निर्वाचकों के हितों के संरक्षक होते हैं और इस रूप में वे स्व-विवेक के अनुसार निर्णय लेने व कार्य करने में स्वतंत्र होते हैं। एक निर्वाचित प्रतिनिधि को तीन प्रकार के हितों की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहना पड़ता है। प्रथम निर्वाचकों के सामान्य हितों की पूर्ति करना अर्थात् स्थानीय हितों की पूर्ति करना, दूसरे-अपने राजनीतिक दल की नीतियों एवं कार्यक्रमों की सफलता के लिए सक्रिय होना और तीसरे राष्ट्रीय हितों की रक्षा एवं वर्ध्द में सहयोग देना। वह इस दृष्टि से इन तीनों प्रकार के हितों में तालमेल स्थापित करता है, किन्तु इन हितों में विरोध होने पर वह स्थानीय हितों पर दलील हितों की और दलीय हितों पर राष्ट्रीय हितों की प्रधानता को स्वीकारता है।

(3) प्रतिनिधित्व का उदार लोकतंत्रवादी सिद्धान्त

एलेन बाल ने आधुनिक काल में प्रचलित प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को उनकी प्रकृति और लक्षणों के आधार पर दो वर्गों में बांटा है दृ (1) उदार लोकतंत्रवादी सिद्धान्त और (2) समष्टिवादी सिद्धान्त। यथा प्रतिनिधित्व का उदार लोकतंत्रवादी सिद्धान्त राजनीतिक विचारधारा पर आधारित है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

प) यह सिद्धान्त व्यक्ति के अधिकारों को अनुलंघीय मानता है, विशेषकर निजी सम्पत्ति के अधिकारों को।

यह सिद्धान्त 'सीमित शासन के सिद्धान्त' अर्थात् उदार संविधानवाद में विष्वास रखता है। पपप) यह सिद्धान्त प्रतिनिधियों के निर्वाचन के लिए प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र की व्यवस्था को स्वीकार करता है।

पअ) यह सिद्धान्त मानता है कि सभी व्यक्तियों को मताधिकार प्राप्त होना चाहिए तथा प्रत्येक व्यक्ति के मत की कीमत समान होनी चाहिए।

अ) यह सिद्धान्त मानता है कि प्रभुसत्ता का निवास शासक वर्ग में नहीं, अपितु शासित वर्ग में होता है। इसलिए यह वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त तथा निर्वाचित प्रतिनिधियों को अन्तिम दृष्टि से सम्पूर्ण जनता के प्रति उत्तरदायी मानता है।

यह चुनाव क्षेत्रों के आकार की समानता तथा गुप्त एवं स्वतंत्र मतदान की प्रक्रिया की विशेषताओं पर बल देता है।

यह प्रतिनिधि को स्व-विवेक के अनुसार राष्ट्रीय हित में कार्य करने की स्वतंत्रता पर बल देता है।

यह सिद्धान्त राजनीतिक दलों को निर्वाचन का आवश्यक अंग मानता है और जनादेश के सिद्धान्त में विष्वास करता है।

यह सिद्धान्त बहुमत के सिद्धान्त में विष्वास करता है।

(4) प्रतिनिधित्व का समष्टिवादी सिद्धान्त – प्रतिनिधित्व के इस सिद्धान्त को आधुनिक युग में साम्यवादी देशों द्वारा अपनाया गया है। यह सिद्धान्त सर्वहारा वर्ग की प्रभुसत्ता तथा सर्वहारा वर्ग की इच्छा पर बल देता है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

यह सिद्धान्त उदारवादी लोकतंत्र की तुलना में आर्थिक लोकतंत्र की श्रेष्ठता पर बल देता है। यह सिद्धान्त मानता है कि लोकतंत्र का आधार केवल सर्वहारा वर्ग ही हो सकता है, न कि व्यक्ति और उसकी राजनीतिक स्वतंत्रता व निजी सम्पत्ति का अधिकार।

समष्टिवादी समाज में मात्र एक दल – साम्यवादी दल – का ही अस्तित्व होता है। समाज में बहुसंख्यक वर्ग सर्वहारा होता है अतः व्यवस्थापिका को मात्र इसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करना चाहिए। अतः अपनी शासन व्यवस्था को 'सर्वहारा का अधिनायकतंत्र' कहता है

(अ) यह सिद्धान्त लोकतंत्र का संचालन 'लोकतांत्रिक केन्द्रवाद' के सिद्धान्त के अनुसार करता है। प्रतिनिधित्व का समष्टिवादी सिद्धान्त वास्तव में लोकतांत्रिक सिद्धान्त नहीं है। सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोप में साम्यवादी राजनीतिक व्यवस्था की असफलता ने इसकी श्रेष्ठता के दावे को भी समाप्त कर दिया है। इन सभी भूतपूर्व साम्यवादी राज्यों ने प्रतिनिधित्व के उदारवादी सिद्धान्त को अपनाया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि व्यावहारिक दृष्टि से प्रतिनिधित्व का उदारवादी सिद्धान्त ही श्रेष्ठ एवं मान्य सिद्धान्त है।

अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की प्रणालियाँ.

अल्पसंख्यकों के उचित प्रतिनिधित्व की आवश्यकता

प्रत्येक देश में कुछ समुदाय ऐसे होते हैं जो वहाँ के अधिकांश नागरिकों से भाषा, रंग, धर्म, जाति या संस्कृति आदि की दृष्टि से कम या अधिक भिन्न होते हैं। साधारण रीति के चुनावों में ऐसे समुदाय के उम्मीदवार, जो देश में कम संख्या राजनीतिक सिद्धान्त स्व-प्रगति की जाँच करें— 1. आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के प्रमुख लक्षण कौन-से हैं ?

2. आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के दो गुणों का वर्णन करें।

3. निर्देष्टित प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं?

हैं और बिखरे हुए हैं, विजयी नहीं होते या संख्या के अनुपात में बहुत कम विजयी होते हैं। इसलिए सामाजिक न्याय की दृष्टि से यह नितान्त आवश्यक है कि अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व मिले, नहीं तो प्रजातन्त्र वास्तविक प्रजातन्त्र नहीं रहेगा।

अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व को जान स्टुअर्ट मिल प्रजातन्त्र का आवश्यक अंग मानता है । उसके अनुसार, “किसी भी सच्चे समान प्रजातन्त्र में प्रत्येक समुदाय का आनुपातिक प्रतिनिधित्व होना चाहिए । निर्वाचक मण्डल के बहुमत को सर्वदा अधिक प्रतिनिधित्व मिलेंगे, और निर्वाचकों के अल्पमत के प्रतिनिधि प्राप्त होना चाहिए जिनका कि बहुमत वालों को प्राप्त होता है और जब ऐसा नहीं होता है तो वह समान शासन नहीं होगा तथा वह विशेषाधिकार प्राप्त समुदाय का शासन होगा। यह बात न्यायपूर्ण शासन के सिद्धान्त के विरुद्ध है और इससे भी अधिक प्रजातन्त्र के सिद्धान्त के प्रतिकूल है, जिसका आधार ही समानता है । ”

अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की विभिन्न प्रणालियाँ

अल्पसंख्यकों को पर्याप्त व उचित प्रतिनिधित्व देने की अग्रलिखित प्रणालियाँ या विधियाँ हैं—

1. आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली — नोट — इनका विवेचन पूर्व प्रश्न के उत्तर में किया जा चुका है। 2. द्वितीय मत प्रणाली) — इस प्रणाली में निर्वाचनक्षेत्र एक सदस्यीय होता है, किन्तु उम्मीदवार को निर्वाचित होने के लिए मतदान में पड़े हुएकुल मतों का स्पष्ट बहुमत (50 प्रतिशत से एक अधिक) प्राप्त करना अनिवार्य होता है। यदिनिर्वाचन में किसी उम्मीदवार को पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं होता तो उस निर्वाचन क्षेत्र का चुनावरद्द कर दुबारा चुनाव किया जाता है। किन्तु इस दुबारा चुनाव में केवल वे ही दो उम्मीदवारखड़े हो सकते हैं जिन्हें अन्य उम्मीदवारों से अधिक मत प्राप्त हुए हों। इस प्रकार दुबाराचुनाव में सफल उम्मीदवारों को पूर्ण बहुमत प्राप्त हो जाता है।

गुण— द्वितीय मत प्रणाली में अल्पसंख्यकों को अपने प्रतिनिधित्व का अवसर प्राप्त हो जाता है । जब केवल दो उम्मीदवार रह जाते हैं तो वे दोनों अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न करते हैं । ऐसी स्थिति में अल्पसंख्यक किसी एक से राजनीतिक सौदेबाजी कर अपने हितों की रक्षा करते हैं। इस प्रणाली से तीन, चार या इससे अधिक उम्मीदवारों के संघर्ष में अल्पसंख्यकों के उम्मीदवार भी चुनाव में निर्वाचित हो जाते हैं । अल्पसंख्यकों के प्रत्याषी के निर्वाचित होने से अल्पसंख्यकों के प्रति हो रहे अन्याय समाप्त हो जाते हैं।

दोष — इस प्रणाली का मुख्य दोष यह है कि इसमें धन और समय का बहुत अपव्यय होता है। दूसरे, यह भी आवश्यक नहीं कि अल्पसंख्यकों को इस प्रणाली से प्रतिनिधित्व मिल ही जाये । मतदान के समय अल्पसंख्यक मतदाता तटस्थ भी रह सकते हैं, यदि उन्हें कोई भी उम्मीदवार उनके हितों की रक्षा करने वाला न दिखे। तीसरे, यह राजनीतिक सौदेबाजी, भ्रष्टाचार और कभी-कभी हिंसा को भी जन्म देती है । 3. वैकल्पिक मत प्रणाली (।सजमतदंजम टवजम'लेजमउ) इस प्रणाली को अधिमानिक या प्रासांगिक मत प्रणाली भी कहा जाता है । इस प्रणाली में द्वितीय मत प्रणाली के दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया गया है।

वैकल्पिक मत प्रणाली में मतदाता को एक ही मत देना होता है, किन्तु यह अपनी पसन्दगी को वरीयता में अभिव्यक्त कर सकता है। यदि प्रथम वरीयता के किसी उम्मीदवार को बहुमत प्राप्त होता है तो वह निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है, परन्तु यदि किसी उम्मीदवार को स्पष्ट बहुमत नहीं मिलता, तो जिस उम्मीदवार को सबसे कम मत मिले हों उसे निष्कासित कर उसके मतों को दूसरी वरीयता के अनुसार दूसरे उम्मीदवारों को हस्तान्तरित कर दिया जाता है । निष्कासन और हस्तान्तरण की यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि किसी उम्मीदवार को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो जाये ।

गुण—दोष — वैकल्पिक मत प्रणाली द्वितीय मत प्रणाली के कुछ दोषों को दूर तो करती है, इससे दुबारा निर्वाचन के झंझट से छुटकारा मिल जाता है और अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व प्राप्त करने

MATs Centre for Distance and Online Education, MATs University

का अधिक अवसर प्राप्त हो जाता है, परन्तु निर्वाचन से पूर्व विभिन्न दलों में जो दलीय सौदेबाजी होती है, उसके कारण भ्रष्टाचार की सम्भावना बनी रहती है।

4. सीमित मत प्रणाली (स्पउपजम टवजम^१लेजमउ) इस प्रणाली में बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होते हैं। मतदाता को स्थानों की कुल संख्या से कम मत प्राप्त होते हैं, यदि कुल 5 स्थान होते हैं, तो एक मतदाता को 4 ही मत प्राप्त होंगे। इसको सीमित मत प्रणाली इसलिए कहते हैं कि इसमें मतदाता को कुल सदस्यों से कम सदस्यों को मत देने का अधिकार प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए यदि किसी क्षेत्र से 5 प्रतिनिधि चुने जाने हैं प्रत्येक मतदाता को केवल 4 मत प्राप्त होते हैं। उसे किन्हीं भी चार उम्मीदवारों को 1-1 मत देना होता है। वह किसी भी उम्मीदवार को एक से अधिक मत नहीं दे सकता।

गुण-दोष दृष्टि सीमित मत प्रणाली का यह गुण है कि अल्पसंख्यकों की 5 में से कम से कम एक स्थान तो प्राप्त होने की सम्भावना रहती ही है। परन्तु इस प्रणाली का दोष यह है कि इसमें अल्पसंख्यकों को अनुपात के अनुसार प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं होता। यदि किसी निर्वाचित क्षेत्र में अल्पसंख्यकों की संख्या बहुत कम होती है तो वे प्रभावहीन और सौदेबाजी करने में असमर्थ रहते हैं। इसके अतिरिक्त एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में इसे लागू नहीं किया जा सकता और बहुदलीय प्रणाली में यह वयावहारिक नहीं है।

5. एकल संक्रमणीय मत प्रणाली — इस प्रणाली

में निर्वाचन क्षेत्र बहुदलीय होते हैं, किन्तु प्रत्येक मतदाता को एक ही मत प्रदान किया जाता है। उम्मीदवारों का निर्वाचन बहुमत के आधार पर होता है।

गुण-दोष एकल संक्रमणीय प्रणाली में अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व मिलने की अधिक सम्भावना रहती है। अल्पसंख्यक समुदाय के सभी सदस्य अपने उम्मीदवार को मत दे सकते हैं, जबकि बहुमत सदस्यों के मतों के भिन्न-भिन्न उम्मीदवारों में विभक्त होने की सम्भावना रहती है। इस प्रणाली का यह दोष है कि यह दलीय भावनाओं और प्रभाव में बहुत वृद्धि कर देती है। इसके अतिरिक्त यह प्रणाली वैधानिक दृष्टि से उचित नहीं ठहरायी जा सकती है।

6. संचयी मत प्रणाली इस प्रणाली में बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होते हैं और प्रत्येक मतदाता के पास उतने ही मत होते हैं जितने कि निर्वाचनक्षेत्र में स्थान। मतदाता चाहे तो अपने सभी मत उम्मीदवार को दे सकता है या उन्हें विभिन्न उम्मीदवारों में बाँट सकता है। इस प्रकार अल्पसंख्यक उम्मीदवार के निर्वाचित होने की सम्भावना बढ़ जाती है, क्योंकि अल्पसंख्यक लोग अपने सभी मत अपने वर्ग के उम्मीदवारको दे सकते हैं।

दोष इस प्रणाली का मुख्य दोष यह है कि इसमें अल्पसंख्यकों को आनुपातिक प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता और ऐसी भी सम्भावना रहती है कि उन्हें उनके अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाए। इस प्रणाली में मतों के व्यर्थ चले जाने की सम्भावना अधिक रहती है। इसके अतिरिक्त यह प्रणाली दलबन्दी की उग्र भावनायें जागृत कर देती है।

7. पथक् या साम्प्रदायिक मत प्रणाली (मचंतजम वत बउउनदंस टवजम^१लेजमउ) — इस प्रणाली को भारत में मार्ले मिन्टो सुधार (1909) के अन्तर्गत लागू किया गया था। इस प्रणाली में निम्नलिखित विधियाँ अपनायी जा सकती हैं

(प) सम्प्रदाय के आधार पर निर्वाचन — इसमें निर्वाचन क्षेत्रों को भौगोलिक आधार पर बाँटने के बजाय धर्म, जाति, सम्प्रदाय के आधार पर बाँटा जाता है और मतदाता अपने धर्म या सम्प्रदाय के उम्मीदवार को ही मत दे सकता है। उदाहरणार्थ भारत में 1947 के पूर्व, मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्र से केवल मुसलमान ही मत दे सकते थे, सिक्ख निर्वाचन क्षेत्रों में केवल सिक्ख ही मत दे सकते थे।

(पप) सुरक्षित स्थान इसके अन्तर्गत निर्वाचन के संयुक्त प्रणाली बना रहती है, परन्तु जाति या धर्म के आधार पर स्थान सुरक्षित रख दिये जाते हैं। उदाहरणार्थ ब्रिटिश भारत में



अनुसूचित जातियों के लिए स्थानों को सुरक्षित रखा जाता था, यद्यपि अन्य हिन्दू जातियाँ भी उन्हें मत देती थीं ।

उपयुक्त दोनों विधियों में गुरुभार पद्धति को भी अपनाया जाता है । गुरुभार पद्धति इसका अर्थ यह है कि अल्पसंख्यक समुदायों को उनकी जनसंख्या के अनुपात से अधिकस्थान सुरक्षित रखे जायें। भारत में 1947 के पूर्व मुसलमानों को, जिन प्रान्तों में वे अल्पसंख्यक थे, इस प्रकार का गुरुभार दिया गया था ।

दोष पद्धति मत प्रणाली साम्राज्यवादियों की 'फ्रूट डालो और षासन करो की नीति पर आधारित थी । यह प्रणाली प्रजातन्त्र और प्रतिनिधित्व सिद्धान्तों के विरुद्ध है । यह राष्ट्रीय हितों को बहुत हानि पहुँचाती है और इसके कारण घण्टा, कटुता, अविश्वास, वैमनस्य और संघर्ष का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। भारत के विभाजन का प्रमुख कारण यही भयंकर प्रणाली थी । वर्तमान काल में पद्धति निर्वाचन प्रणाली को उदारवादी लोकतंत्र के लिए उचित नहीं माना जाता है ।

संरक्षण 8. संरक्षण एवं नामांकन प्रणाली

प्रणाली के अन्तर्गत निर्वाचन संयुक्त एवं एक-सदस्यीय होते हैं, परन्तु कुछ स्थान अल्पसंख्यक जातियों के लिए उनकी जनसंख्या के आधार पर सुरक्षित रहते हैं ।

व्यवस्थापिका में अल्पसंख्यकों के जितने स्थान आरक्षित किये जाते हैं, उतने ही उनके निर्वाचन क्षेत्र बनाए जाते हैं। इन निर्वाचन क्षेत्रों में केवल अल्पसंख्यक उम्मीदवार ही चुनाव लड़ते हैं, किन्तु मतदान सभी वर्गों के मतदाता करते हैं । इस प्रकार इसमें निर्वाचन तो केवल अल्पसंख्यक उम्मीदवार का ही होता है, किन्तु वह सभी वर्गों का विश्वासपात्र होता है। भारत में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए इस प्रकार की व्यवस्था की गई है।

नामांकन प्रणाली का प्रयोग वहाँ किया जाता है जहाँ अल्पसंख्यक वर्ग की संख्या बहुत कम हो और वह संसद या विधानमण्डल में कोई स्थान प्राप्त करने की स्थिति में न हो । भारत का राष्ट्रपति एंग्लो-इण्डियन समुदाय के दो सदस्यों को लोकसभा में निर्वाचित कर सकता है बशर्ते कि उसके कोई सदस्य निर्वाचित न हो सके हों ।

गुण-दोष

अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व देने की संरक्षण एवं नामांकन प्रणाली राष्ट्रीय एकता और सामाजिक न्याय के लिए लाभदायक प्रणाली है। इसके द्वारा बिखरे हुए, पिछड़े और अति अल्पसंख्या में होने वाले समुदायों को न्यायपूर्ण प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है। लेकिन यदि इस प्रणाली को अल्पसंख्यकों के अनावश्यक व स्वार्थपूर्ण तुष्टीकरण के लिए प्रयुक्त किया जाए तो यह राष्ट्रीय व सामाजिक एकता और प्रगति के लिए घातक होगी। यदि अल्पसंख्यक इस प्रणाली का दुरुपयोग करें और सौदेबाजी में राष्ट्रीय हितों की अवहेलना करें तो भी यह प्रणाली बहुत हानिकारक होगी। अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व अवश्य मिलना चाहिए, लेकिन उनको बहुसंख्यकों से अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए ।

सारांश

अल्पसंख्यकों को उचित और न्यायपूर्ण प्रतिनिधित्व देने की उपयुक्त प्रणालियों का वर्णन करने के बाद यह कहना अनुचित न होगा कि अन्तः ये सब कम या अधिक मात्रा में प्रजातन्त्रवाद के विपरीत हैं । अल्पसंख्यकों को चाहिए कि जिस देश के वे नागरिक हैं, उसकी राष्ट्रिय धारा में अपने को प्रवाहित करें। दूसरी ओर, बहुसंख्यकों का यह कर्तव्य है कि वे अल्पसंख्यकों का विश्वास अपने उदार आचरण से प्राप्त करें। भारत में सिक्ख और पारसी बहुत कम संख्या में हैं, लेकिन उन्होंने

निर्वाचन की माँग कभी नहीं की, फिर भी वे प्रगति के पथ पर अग्रसर हैं । इंग्लैण्ड, अमेरिका आदि देशों में भी इस प्रकार की प्रणालियों का प्रयोग नहीं होता है ।

अभ्यास—प्रश्न

1. आनुपातिक प्रणाली के गुण—दोशों की समीक्षा करें ।
2. प्रतिनिधित्व के प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन करें।
3. अल्पसंख्यकों की प्रतिनिधित्व प्रणालियों का वर्णन करें ।



इकाई – 13 राजनीतिशास्त्र के दार्शनिक सिद्धांत-परिचय

लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा

लोक-हितकारी राज्य की विशेषताएँ या लक्षण

राज्य के उद्देश्य एवं कार्य

राज्य के कार्य

राजनीतिक विकास

राजनीतिक विकास : अर्थ एवं परिभाषाएँ

राजनीतिक विकास की विशेषताएँ अथवा लक्षण

राजनीतिक विकास के विभिन्न चरण या अवस्थाएँ

राजनीतिक विकास के साधन

राजनीतिक विकास की समस्याएँ

सारांश

स्व-प्रगति जाँच के उत्तर

अभ्यास-प्रश्न

षिक्षण उद्देश्य :

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् आप समझ सकेंगे—

लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा, लोकहितकारी राज्य की विशेषताएँ

या लक्षणय

राज्य के उद्देश्य एवं कार्यय

राजनीतिक विकास का अर्थ एवं परिभाषाएँय

राजनीतिक विकास की विशेषताएँ अथवा लक्षणय

राजनीतिक विकास के विभिन्न चरण या अवस्थाएँ ।

परिचय :

लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा

लोक-कल्याणकारी राज्य उस राज्य को कहते हैं जिसमें राज्य की शक्ति का प्रयोग एक वर्ग विशेष के हित में न होकर सब लोगों के हित में होता है। ब्रिटैनिका विष्वकोष में

लोकहितकारी राज्य की परिभाषा इस प्रकार दी गई है, 'लोक – हितकारी राज्य का तात्पर्य एक ऐसे राज्य से है जो अपने सभी नागरिकों को न्यूनतम जीवन स्तर प्रदान करता है ।'

केण्ट के अनुसार, “यह वह राज्य है जो अपने नागरिकों के लिए व्यापक समाज सेवाओं की व्यवस्था करता है।”

अब्राहम लिंकन के अनुसार, “कल्याणकारी राज्य वह है जो अपनी आर्थिक व्यवस्था का संचालन आय के अधिकाधिक समान वितरण के उद्देश्य से करता है।” जवाहरलाल नेहरू के अनुसार, “सबके लिए समान अवसर प्रदान करना, अमीरों और गरीबों के बीच अन्तर मिटाना और जीवन स्तर को ऊपर उठाना लोकहितकारी राज्य के आधारभूत तत्व हैं।”

उपयुक्त सभी परिभाषाएँ यह दर्शाती हैं कि लोक-कल्याण में सबसे महत्व की बात आर्थिक हित है। श्री छागला ने एक बार कहा था कि लोक-हितकारी राज्य को एक ऐसे पुल का काम करना चाहिए जो गरीबी और अमीरी के बीच खाई को कम करें। लेकिन लोक-हितकारी राज्य का काम आर्थिक लाभ तक ही खत्म नहीं हो जाता। इसे अपने नागरिकों का सर्वांगीण विकास करना चाहिए।

लोक-हितकारी राज्य की विशेषताएँ या लक्षण

(1) आर्थिक सुरक्षा – लोक-हितकारी राज्य को सर्वप्रथम अपने नागरिकों को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करनी चाहिए। इस दृष्टि से उसे सभी लोगों को उनकी योग्यता और क्षमता के अनुसार कार्य देना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनतम आवश्यक वेतन देना चाहिए। बुजुर्गों को जीवनयापन के लिए पेंशन, बेरोजगारों को बीमे की सुविधा और अपाहिजों को मुआवजे की व्यवस्था करनी चाहिए। इस तरह से लोक-हितकारी राज्य को आर्थिक समानता की स्थापना करनी चाहिए। इसे आर्थिक शोषण का अन्त करना चाहिए। इन कार्यों को करने के लिए राज्य को औद्योगिक विकास करना पड़ेगा और कृषि का आधुनिकीकरण भी करना होगा।

(2) राजनीतिक सुरक्षा – लोक-हितकारी राज्य को अपने नागरिकों को राजनीतिक सुरक्षा प्रदान करनी चाहिए। यह विधि के सामने समानता स्थापित करके और कानून के शासन द्वारा होना चाहिए। लोगों को अपनी पसन्द की सरकार चुनने और उसे अपदस्थ करने का अधिकार होना चाहिए। राज्य को अपनी जनता को राजनीतिक व नागरिक अधिकार प्रदान करने चाहिए।

(3) सामाजिक सुरक्षा – राज्य का यह कर्तव्य है कि वह सामाजिक समानता की स्थापना करे। सामाजिक वर्ग-भेद, छुआछूत, ऊँच-नीच के भेद खत्म होने चाहिए। बेनी प्रसाद ने लिखा है कि, “सामाजिक समानता का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति के सुख का महत्व हो सकता है तथा किसी को भी अन्य किसी के सुख का साधन मात्र नहीं समझा जा सकता है।”

(4) राज्य के कार्य – क्षेत्र में वृद्धि – लोक-हितकारी राज्य का कार्यक्षेत्र विस्तृत होता है क्योंकि इससे सभी तरह के जनहित के कार्यों के किये जाने की अपेक्षा की जाती है। कोई भी कार्य ऐसा नहीं होता, जो यह राज्य न करता हो।

(5) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग – अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना को बढ़ाना भी लोक-हितकारी राज्य का काम है। इस नाते इसका स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय है। वैसे भी आजकल वैज्ञानिक तरक्कीने देशों की दूरी को खत्म कर दिया है। लोक-हितकारी राज्य ‘सम्पूर्ण विषय मेरा कुटुम्ब’ हैं।

लोक-कल्याणकारी राज्य के कार्य इस कारण लोकहितकारी राज्य अनेक कार्य करता है जैसे – (1) आन्तरिक सुव्यवस्था और विदेशी हमलों से रक्षा, (2) राज्य व व्यक्ति के सम्बन्धों की व्यवस्था, (3) कृषि उद्योग व व्यापार की तरक्की, (4) लोगों के जीवन स्तर को उठाना, (5) शिक्षा का प्रसार करना, (6) अस्पताल और स्वास्थ्य सेवाएँ बढ़ाना, (7) यातायात के साधनों का विकास, (8) लोगों को रोटी, कपड़ा और मकान सुलभ कराना, (9) समाज सुधार, (10) आमोद-प्रमोद की सुविधाएँ, (11) वैयक्तिक अधिकारों की व्यवस्था, (12) विष्व षान्ति के लिए काम करना ।

वर्तमान समय में सभी लोकतन्त्रवादी राज्यों ने लोक-हितकारी राज्य का संकल्प लिया है। यह बात अलग है कि वह लोकहित के कितने कार्य कर रहे हैं।

भारत में लोक-कल्याणकारी राज्य भारत के संविधान में लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर संविधान में नीति निर्देशक त्वों को सम्मिलित किया गया है। संविधान की प्रस्तावना में भारत के सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्रदान करने का संकल्प लिया गया है। भारत में लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए निम्नलिखित कार्य किये जा रहे हैं

(1) आर्थिक सुरक्षा के कार्य

सुरक्षा के कार्य किये गये हैं जैसे-भारत में लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना हेतु अनेक आर्थिक पुराने ऋण माफ करना, बन्धुआ मजदूरी प्रथा समाप्त करना, गरीब लोगों को मकान बनाने के लिए भूमि देना, स्त्री-पुरुषों को समान वेतन श्रमिकों के शोषण से मुक्ति दिलाना आदि

(2) शिक्षा के क्षेत्र में कार्य –

भारत सरकार प्रयत्न कर रही है कि देश का प्रत्येक व्यक्ति शिक्षित हो जाय। प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क व अनिवार्य बना दी गई है। प्रौढ़ शिक्षा पर ध्यान दिया जा रहा है।

(3) सामाजिक सुरक्षा के कार्य संविधान द्वारा छुआछूत का अन्त कर दिया गया है। बुढ़ापा, बीमारी अंगहानि की अवस्था में सरकार अनेक प्रकार से व्यक्ति की सहायता करती है।

(4) राजनीतिक क्षेत्र में कार्य

राजनीतिक क्षेत्र में लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना हेतु पंचायती राज्य की स्थापना की गई है। स्थानीय संस्थाओं द्वारा नागरिकों में चेतना जागृत करने का प्रयास किया गया है भारत सरकार ने भी लोक-हितकारी राज्य की स्थापना का आदर्श चुना है। स्व० श्रीमतीइन्दिरा गाँधी द्वारा आरम्भ किया गया 20 सूत्रीय कार्यक्रम लोक-कल्याणकारी राज्यस्थापना में एक ठोस कदम है।

राज्य के उद्देश्य एवं कार्य प्राचीनकाल से अब तक राजनीतिक चिन्तक राज्य के कार्य-क्षेत्र व उसके उद्देश्यों की चर्चा करते आ रहे हैं, लेकिन यह आज भी विवाद का विषय बना हुआ है। प्लेटो, अरस्तू हीगल, काण्ट, फासीवादी, नाजीवादी आदि सर्वसत्ताधारी राज्य के समर्थक राज्य को स्वयं में साध्य (जंजम पे द मदक पद पज-मसी) मानते हैं। कुछ लोग जैसे पिल्पी – संघवादी व अराजकतवादी तो राज्य के अस्तित्व को ही नष्ट करना चाहते हैं।

—

राज्य को क्या कार्य करने चाहिए क्या नहीं, यह भी विवाद का विषय है। लॉक के अनुसार, राज्य को सम्पत्ति की रक्षा और सामाजिक कल्याण का काम करना चाहिए। एडम स्मिथ के अनुसार, राज्य का काम (1) विदेशी आक्रमण से रक्षा करना, (2) व्यक्तियों को अव्यवस्था और अत्याचार से बचाना, (3) जनहित के काम करना। बर्गस ने राज्य का प्रारम्भिक कार्य षान्ति व व्यवस्था, दूसरा कार्य राष्ट्रीय शक्ति में वृद्धि और तीसरा कार्य सम्पूर्ण मानव समाज का विकास बताया है। विलोबी और गार्नर ने भी वर्गस से दृष्टिकोण का समर्थन किया है।

राज्य के कार्य अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए राज्य के कार्यों को दो हिस्सों में रखा जा सकता है – (1) अनिवार्य कार्य, (2) ऐच्छिक कार्य।

(1) अनिवार्य कार्य (प) विदेशी हमलों से रक्षा करना इसके लिए राष्ट्र की शक्ति को बढ़ाना, फौज की व्यवस्था करना, व्यक्ति व राज्य के सम्बन्ध को स्थिर करना पुलिस, न्यायालय, प्रशासन, षान्ति व्यवस्था आदि का इन्तजाम करना, (पपप) लोगों से कर वसूलकरना ताकि लोकहित में अनिवार्य कार्य हो सकें।

(2) ऐच्छिक कार्य (प) सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्था करना, () सार्वजनिक स्वास्थ्य – अस्पताल खुलवाना, पोषक भोजन की व्यवस्था करना, लोगों के स्वास्थ्य स्तर को उठाना आदि, (पपप) कृषि की उन्नति करना। उसके विकास के लिए नई तकनीकों का प्रयोग करना, () औद्योगिक विकास करना, () लोगों के जीवन – स्तर को ऊँचा उठाना, () संचार के तेज गति के साधनों को विकसित करना, (अपप) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विष्व षान्ति व विष्व की प्रगति के लिए कार्य करना, () अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को पूरा करना, सन्धियों व समझौतों का पालन करना और अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आदर करना।

राजनीतिक विकास

द्वितीय विष्व युद्ध के उपरान्त एषिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका में अनेक स्वतन्त्र राज्यों का उदय हुआ, जिन्हें सामूहिक रूप से तृतीय विष्व युद्ध की संज्ञा दी गयी। इन देशों में राजनीतिक संस्थाओं एवं राजनीतिक प्रक्रियाओं के अध्ययन की आवश्यकता ने राजनीतिक विकास की अवधारणा का सूत्रपात किया। ल्यूसियन पाई, आमण्ड, कोलमैन, रिग्स और माइरन वीनर आदि विद्वानों का इस उपागम को विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान रहा।

राजनीतिक विकास : अर्थ एवं परिभाषाएँ

राजनीतिक विकास के अर्थ को लेकर विचारकों में अभी भी मतभेद हैं जिसका प्रमुख कारण यह है कि राजनीतिक विकास की व्याख्याएँ तथा उसके विभिन्न अर्थ विचारक के दृष्टिकोण विशेष पर निर्भर करते हैं। ल्यूसियन पाई, जो कि राजनीति शास्त्र में राजनीतिक विकास का सर्वप्रथम व्याख्याकार है, ने अपनी पुस्तक 'में इसके दस पक्षों का विवेचन किया है तथा यह स्पष्ट किया है कि किस तरह इन सब राजनीतिक विकास का भ्रमात्मक अर्थ में प्रयोग

(1) आर्थिक विकास की राजनीतिक पूर्व शर्त के रूप में राजनीतिक विकास राजनीतिक की

ऐसी स्थिति को कहा गया है, जो आर्थिक उन्नति, प्रगति और समृद्धि में सहायक हो।



(2) औद्योगिक समाजों की विशेष राजनीति के रूप में राजनीतिक विकास आर्थिक विकास के साथ जुड़ा हुआ है। इसके अन्तर्गत औद्योगिक जीवन से जुड़े अनेक पहलुओं का विकास एक औद्योगिक समाज की विशेष राजनीति के रूप में हुआ है।

(3) राजनीतिक आधुनिकीकरण के रूप में राजनीतिक विकास राजनीतिक आधुनिकीकरण का ही एक रूप है। इसमें इन दोनों को समानार्थी मानकर राजनीतिक विकास की व्याख्या की गयी है।

(4) राष्ट्रीय राज्य के प्रचालक के रूप में राजनीतिक विकास राष्ट्रीयता की भावना तथा एक राष्ट्रीय राज्य के निर्माण से जोड़ दिया जाता है। राष्ट्र राज्य के प्रचालन के लिए राष्ट्रीयता की भावना का होना आवश्यक है और राष्ट्रीयता की भावना ही राजनीतिक विकास का मापदण्ड बन जाती है।

(5) प्रशासकीय और वैधानिक विकास के रूप में राजनीतिक विकास में राजनीतिक संरचनाओं का विभेदीकरण और विशेषीकरण तथा सर्वव्यापी कानूनों के माध्यम से विधि के शासन की स्थापना को समझा जाता है।

(6) जन – संचारण और सहभागिता (राजनीतिक चेतना) के रूप में राजनीतिक विकास में जन-संचारण और लोगों की सहभागिता में वृद्धि को सम्मिलित किया जाता है। नागरिकों की राजनीतिक व्यवस्था के प्रति निश्ठा तथा उसके संचालन में सक्रिय भागीदारी को ही राजनीतिक विकास कहा जाता है।

(7) लोकतन्त्र के निर्माण के रूप में राजनीतिक विकास राजनीतिक संरचनाओं तथा प्रक्रियाओं को प्रतियोगी, स्वतन्त्र तथा जन – सहभागिता के लक्षणों से युक्त करने की प्रक्रिया है।

(8) स्थायित्व और व्यवस्थित परिवर्तन के रूप में राजनीतिक विकास राजनीतिक व्यवस्था की उस अवस्था को कहा जाता है जिसमें परिवर्तन की सुनिश्चित और व्यवस्थित प्रविधियाँ प्रचलित रहती हैं जहाँ अनावश्यक राजनीतिक उथल-पुथल नहीं होती।

(9) शक्ति संचारक के रूप में राजनीतिक विकास में यह देखा जाता है कि राजनीतिक व्यवस्था विकास के लिए कितनी शक्ति समाज से जुटा पाती है।

(10) समाजिक परिवर्तन की बहुआयामी प्रक्रिया के एक पहलू के रूप में राजनीतिक विकास को मुख्यतः सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं के साथ जोड़ा गया है ल्यूसियन पाई ने उक्त सभी व्याख्याओं को एकपक्षीय या अपूर्ण मानकर अस्वीकार किया है और स्वयं अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है।

ल्यूसियन पाई ने राजनीतिक विकास को राजनीतिक व्यवस्था के तीन भिन्न-भिन्न स्तरों पर होने वाले परिवर्तनों से सम्बन्धित माना है। वह राजनीतिक विकास को राजनीतिक व्यवस्था के इन तीन पहलुओं में होने वाले विकासों का समुच्चय मानता है। ये तीन पहलू इस प्रकार हैं

(1) सम्पूर्ण जनसंख्या के सन्दर्भ में – राजनीतिक विकास का अर्थ है कि जनता की राजनीतिक

प्रवृत्ति में कोई मौलिक परिवर्तन हुए हैं या नहीं।

(2) शासकीय और सामान्य व्यवस्थाई निष्पादन के स्तर पर

MATS Centre for Distance and Online Education, MATS University

राजनीतिक विकास का अर्थ

राजनीतिक व्यवस्था की उस क्षमता से लिया जाता है जिससे वह सार्वजनिक मामलों को अधिकाधिक और अच्छी तरह से निष्पादित करने लगती है ।

(3) राजनीति के संघटक के रूप में राजनीतिक विकास वाली राजनीतिक व्यवस्थाओं में तीन लक्षण आ जाते हैं – संरचनात्मक विभिन्नीकरण बढ़ जाती है, संरचनाओं में बहुत अधिक प्रकार्यात्मक विशेषीकरण हो जाता है तथा सहभागी संस्थाओं एवं संगठनों में काफी समन्वय स्थापित हो जाता है ।

ल्यूसियन पाई के अनुसार, “राजनीतिक विकास की इस त्रिस्तरीय व्याख्या के आधार पर स्तम्भ समानता, क्षमता और विभिन्नीकरण हैं। वह उन्हीं राजनीतिक व्यवस्थाओं को राजनीतिक विकास के मार्ग पर अग्रसर मानता है जिनमें समानता का सिद्धान्त लागू हो, राजनीतिक व्यवस्था और सरकार आने वाली माँगों, विवादों और राजनीतिक मामलों का निष्पादन करने में समर्थ हो और इनमें सम्बन्धित संरचनाएँ अलग-अलग और विशेषीकृत होते हुए भी पारस्परिकता व तालमेल रखती हों।

आमण्ड और पॉवेल के अनुसार, “राजनीतिक विकास राजनीतिक संरचनाओं की अभिवृद्धि, विभिन्नीकरण एवं राजनीतिक संस्कृतिक का बढ़ा हुआ लौकिकीकरण है । ”

जाग्वाराइब के अनुसार, का समन्वय है ।”

“ राजनीतिक विकास राजनीतिक आधुनिकीकरण और राजनीतिक संस्थापन

आर्गेन्सकी के अनुसार, “राजनीतिक विकास राष्ट्रीय लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए राष्ट्र के मानवीय एवं भौतिक स्रोतों का उपयोग करते हुए शासन की कार्य-कुशलता एवं दक्षता बढ़ाने का नाम है । ” अल्फ्रेड डायमण्ड के अनुसार, “राजनीतिक विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें नवीन सामाजिक लक्ष्यों के नये प्रकारों को पूरा करने, उन्हें सफलतापूर्वक क्रियान्वित करने एवं नये प्रकार के संगठनों का निर्माण करने की क्षमता रहती है ।”

राजनीतिक विकास की विशेषताएँ अथवा लक्षण ल्यूसियन पाई के अनुसार राजनीतिक विकास की तीन प्रमुख विशेषताएँ होती हैं

(प) समानता पाई के अनुसार, राजनीतिक विकास की प्रमुख विशेषता राजनीतिक व्यवस्था के व्यक्तियों में समानता के प्रति सामान्य भावना का उत्पन्न होना है। पाई की दृष्टि में समानता उसी अवस्था में आयी हुई मानी जाएगी जब राजनीतिक गतिविधियों में सभी लोगों को भाग लेने के समान अवसर प्राप्त हो और राजनीतिक सहभागिता में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं हो ।

(पप) दक्षता – राजनीतिक विकास की दूसरी विशेषता का सम्बन्ध राजनीतिक व्यवस्था की ऐसी संरचनात्मक शक्ति से है, जो माँगों का समुचित रूप में समाधान कर सके, विवादों को तत्क्रसंगत आधार पर सुलझा सके और शासन की प्रभावकारिता में वृद्धि कर सके, जिससे कि प्रशासकीय निपुणता और कार्यकुशलता में वृद्धि हो सके ।

(पपप) विभिन्नीकरण – विभिन्नीकरण राजनीतिक विकास की तीसरी विशेषता है । पाई के अनुसार राजनीतिक व्यवस्थाओं एवं संरचनाओं के भिन्न-भिन्न होने के बावजूद भी राजनीतिक कार्यों में निरन्तर सुनिश्चितता एवं विभाजन पाया जाता है तथा संरचनाओं व प्रक्रियाओं में एकीकरण व समन्वय स्थापित रहता है जिसे हम राजनीतिक विकास के रूप में देखते हैं। आमण्ड तथा पॉवेल ने राजनीतिक विकास की विशेषताओं को भिन्न शब्दावली में प्रस्तुत किया है। इनके अनुसार राजनीतिक विकास की तीन प्रमुख विशेषताएँ हैं

राजनीतिक सिद्धान्त

(1) भूमिका विभिन्नीकरण – आमण्ड तथा पॉवेल भूमिका विभिन्नीकरण को राजनीतिक विकास की प्रमुख विशेषता मानते हैं। उनका मानना है कि राजनीतिक विकास भिन्न-भिन्न राजनीतिक संस्थाओं की भूमिका पर निर्भर करता है कि राजनीतिक व्यवस्था में उक्त संस्थाओं की भूमिका कैसी है?

(2) उप-व्यवस्था स्वायत्तता – उप-व्यवस्था स्वायत्तता राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता के साथ जुड़ी हुई है। आमण्ड तथा पॉवेल के अनुसार राजनीतिक विकास तब तक सम्भव नहीं हो सकता, जब तक राजनीतिक व्यवस्था की उप-व्यवस्थाओं को अपनी क्षमता तथा शक्ति प्रयोग के सम्बन्ध में स्वायत्तता प्राप्त नहीं हो

(3) लौकिकीकरण – आमण्ड तथा पॉवेल ने राजनीतिक विकास की तीसरी विशेषता लौकिकीकरण की बताई है। राजनीतिक विकास लौकिकीकरण के नियमों पर आधारित होता है। जब इसमें समाज परम्परागत मूल्यों को बढ़ावा देता है तब राजनीतिक विकास की अभिवृद्धि होती है।

आमण्ड तथा पॉवेल के अनुसार राजनीतिक व्यवस्थाओं में राजनीतिक विकास की तीनों विशेषताओं का अनिवार्यतः एक साथ पाया जाना आवश्यक होता है। अतः राजनीतिक विकास, भूमिका विभिन्नीकरण उप-व्यवस्था स्वायत्तता और संस्कृति का लौकिकीकरण है, जिनको ल्यूसियन पाई समानता, क्षमता और विभिन्नीकरण की संज्ञा देता है।

राजनीतिक विकास के विभिन्न चरण या अवस्थाएँ

राजनीतिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं के अध्ययन की प्रेरणा प्रसिद्ध अर्थशास्त्री रस्टोव से मिली, जिन्होंने आर्थिक विकास के विभिन्न चरणों का उल्लेख अपनी पुस्तक में किया है। उसी से प्रेरित होकर राजनीति वैज्ञानिकों ने राजनीतिक विकास के विभिन्न चरणों के विषय पर चिन्तन किया। इस क्रम में विभिन्न राजनीतिक विचारों का अध्ययन निम्नानुसार किया गया है

(1) इंटिग्रेटन ने अपनी पुस्तक 'में राजनीतिक विकास की तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया है प्रथम सत्ता की बुद्धिसंगतता का स्तर है जिसमें अनेक स्थानीय सत्ताओं के स्थान पर एककेन्द्रीय सत्ता का प्रादुर्भाव होता है। द्वितीय नये राजनीतिक कार्यों का विभिन्नीकरण और उनके लिए विषिष्ट संरचनाओं का विकास।

तृतीय – अभिवृद्ध सहभागिता, जो सामाजिक समूहों और समाज के भागों को धीरे-धीरे केन्द्रीय सत्ता में सम्मिलित कर लेता है।"

(2) आमण्ड ने अपनी पुस्तक में राजनीतिक विकास के चार स्तरों की विवेचना की है प्रथम राज्य निर्माण का स्तर – इसमें केन्द्रीय सत्ता के निर्माण, इस सत्ता के राजनीति में प्रवेशन और विभिन्न समूहों का केन्द्रीय सत्ता के अधिकार क्षेत्र में एकीकरण होना सम्मिलित होता है।

द्वितीय – राष्ट्र निर्माण का स्तर – इसके अन्तर्गत राजनीतिक व्यवस्था के प्रति विपदाओं और प्रतिबद्धताओं का विकास होता है तथा निवेष्टों को जनसमर्थन प्राप्त होता है।

तृतीय – राजनीतिक प्रक्रिया का स्तर – इसमें राजनीतिक प्रक्रिया में सक्रिय रूप से सम्मिलित समूहों तथा समाज के संस्तरों को अभिवृद्ध और व्यापक बनाना सम्मिलित होता है। चतुर्थ – वितरण का स्तर – इसमें सामाजिक जीवन के लिए लाभों को पुनः निर्धारित करके अनेक विधियों द्वारा जनसाधारण तक पहुँचाया जाता है।

(3) केनेथ ऑरगेन्स्की ने अपनी रचना 'राजनीतिक विकास की अवस्थाएँ' में राजनीतिक विकास सम्बन्धी चार अवस्थाओं का विवेचन किया है

(प) राजनीतिक एकीकरण — इस अवस्था में राष्ट्रीय सरकारें अपनी जनसंख्या पर प्रभावशाली राजनीतिक एवं प्रशासनिक नियन्त्रण स्थापित करती हैं। इस अवस्था में राज्य के चारों तत्व जनसंख्या, निश्चित भू-भाग, सरकार और सम्प्रभुता विद्यमान होते हैं

औद्योगीकरण — राजनीतिक विकास का यह चरण है जिसमें औद्योगीकरण की प्रक्रिया में परिवर्तन से नये वर्ग अस्तित्व में आते हैं। राजनीतिक सहभागिता का विस्तार होता है तथा राष्ट्रीय एकीकरण होता है। इसमें पूँजीपति वर्ग बहुसंख्यक श्रमिक वर्ग से अपने-अपने आर्थिक हितों की सुरक्षा के लिए राज्य पर नियन्त्रण स्थापित करके उसी के माध्यम से श्रमिकों का शोषण करते हैं और पूँजी से पूँजी कमाते हैं।

स्व-प्रगति की जाँच करें— 1. लोक — कल्याणकारी राज्य के क्या कार्य हैं ?

2. राज्य के ऐच्छिक कार्य कौन-से हैं ?

3. हंटिंगन ने अपनी पुस्तक

राजनीतिक विकास की किन अवस्थाओं का उल्लेख किया है?

राष्ट्रीय लोक-कल्याण इस अवस्था में शोषणयुक्त पूँजीवादी अवस्था को परिवर्तित कर जनता को पूँजी द्वारा शोषण से मुक्त रखा जाता है और व्यापक पैमाने पर बढ़े हुए पूँजी साधनों को जनता में वितरित कर जन — सहभागिता को सम्भव बनाया जाता है। (पअ) समृद्धि अथवा बहुलता— इसमें वैज्ञानिक प्रविधियों और परिष्कृत उपकरणों द्वारा अत्यधिक उत्पादन होता है। इसमें आर्थिक हितों के साथ राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हितों पर जोर दिया जाता है। इसमें सहभागिता, एकीकरण और वितरण एक साथ चलते हैं। इसमें श्रमिकों की संगठन शक्ति अत्यधिक बढ़ जाती है तथा नियोजन की आवश्यकता बढ़ जाती है तथा समाज समाजवाद की ओर बढ़ने लगता है।

(4) एडवर्ड शिल्प ने अपनी रचना 'नये राज्यों में राजनीतिक विकास' में राजनीतिक विकास की पाँच अवस्थाओं का वर्णन किया है

राजनीतिक प्रजातन्त्र इसमें व्यवस्थापिका की स्थिति श्रेष्ठ होती है। इसकी कुछ पूर्व शर्तें हैं — स्थायित्व, शासक-अभिजन सम्बद्धता, प्रभावशीलता, वैधता एवं विरोधी दल का सत्ता प्रयोग की व्यापक संरचनाएँ, प्रभावशाली जनमत, सम्मान। इसकी विशेषताएँ हैं

नागरिक सर्वोच्चता आदि।

संरक्षण अथवा निर्देष्टित प्रजातन्त्र — इसमें राजनीतिक प्रजातन्त्र की सभी संस्थाएँ विद्यमान होती हैं, परन्तु कार्यपालिका की स्थिति अन्य संस्थाओं की तुलना में सुदृढ़ होती है। इसमें अभिजन स्थायी, सम्बद्ध और प्रभावशाली होता है।

आधुनिक अल्पतन्त्र इसमें एक अत्यधिक अल्पतन्त्र वर्ग राजनीतिक व्यवस्था को लाने

की जिम्मेदारी लेता है। इसमें शासक वर्ग एक सुसंगठित समूह होता है। इसमें राजनीतिक संस्थाओं की स्थिति एक परामर्शदाता की होती है। इसमें सेवी वर्ग और गुप्तचर विभाग प्रभावशाली होते हैं। इसमें विरोधियों को देशद्रोहियों की संज्ञा दी जाती है।

(पअ) सर्वाधिकारवादी अल्पतन्त्र – इसमें वास्तविक शक्ति पूर्णाधिकार सम्पन्न अल्पतन्त्र में निहित होती है। यह प्रायः एक पुलिस राज्य होता है, जो दमनात्मक उपायों द्वारा व्यवस्था बनाये रखता है। यह मात्र एक सर्वाधिकारवादी निरंकुश शासन होता है।

(अ) परम्परागत अल्पतन्त्र यह वंश पर आधारित रूढ़िगत शासन होता है। राजनीतिक विकास के साधन राजनीतिक विकास में भाग लेने के साधन निम्नलिखित हैं

(1) राजनीतिक दल

राजनीतिक दल राजनीतिक विकास के प्रमुख साधन हैं। दलों के माध्यम से राजनीतिक नेतृत्व विकसित होता है। लोकतान्त्रिक पद्धति में राजनीतिक दल मतदान का विस्तार कर राजनीतिक सहभागिता को बढ़ावा देते हैं जबकि साम्यवादी व्यवस्था में साम्यवादी दल जनता में साम्यवादी विचारधारा को प्रतिष्ठित करते हैं।

(2) सेना – जब विषिष्ट वर्ग और राजनीतिक दल राजनीतिक विकास को नेतृत्व देने में सफल नहीं हो पाते हैं तो विकासशील देशों के समक्ष केवल यही विकल्प रह जाता है कि सेना समस्त शक्तियों को अपने हाथ में ले ले। सेना के हस्तक्षेप से राजनीतिक विकास की प्रक्रिया तेज हो जाती है क्योंकि सेना राजनीतिक तन्त्र को काफी कार्यकुशलता और योग्य बना देती है।

(3) क्रान्तिकारी नेता में उत्पन्न किसी संकट के कारण क्रान्तिकारी नेता सत्ता में आते हैं।

राष्ट्र लेकिन सत्ता में आते ही उन्हें अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। उनसे निपटने के लिए नेताओं को दृढ़ कदम और स्थायी नीतियाँ अपनानी पड़ती हैं। ये नेता अपने विषिष्ट गुणों के कारण राष्ट्रीय एकता स्थापित करने का प्रयास करते हैं।

(4) आधुनिक नौकरशाही आधुनिक नौकरशाही भी राजनीतिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है क्योंकि यह नीतियों को निर्धारित करने और नीतियों को लागू करने में सहयोग देती है। नौकरशाही शासन को स्थिरता प्रदान करती है, परम्परागत समाज को आधुनिक परिवेश में लाने का प्रयत्न करती है।

(5) राष्ट्रीयता की भावना – राष्ट्रीयता की भावना की राजनीतिक विकास को प्रभावित करती है। यह भावना व्यक्ति में व्यक्तिगत हित के स्थान पर राष्ट्रीय हित को प्रधानता देना सिखाती है। इससे राष्ट्र शक्तिशाली होकर विकासोन्मुख होता है।

(6) जन – राजनीतिक सहभागिता – राजनीतिक सहभागिता के विस्तार से भी राजनीतिक विकास होता है। जितनी अधिक जनसंख्या और जितनी अधिक सीमा तक जनता राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेती है, उतना ही अधिक किसी राष्ट्र का राजनीतिक विकास होता है।

राजनीतिक विकास की समस्याएँ

राजनीतिक विकास की समस्याएँ केवल राजनीतिक व्यवस्था से ही सम्बन्धित नहीं हैं। वास्तव में, इन समस्याओं का सम्बन्ध उस पर्यावरण से अधिक है जिससे राजनीतिक व्यवस्था घिरी रहती है तथा जिसमें राजनीतिक विकास का क्रम चलता है। राजनीतिक विकास की समस्याएँ अनेक विषयों से सम्बन्धित हैं। इनमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं

(प) राष्ट्र निर्माण की समस्या।

(पपप) समानता लाने की समस्या ।

सहभागिता सम्भव बनाने की समस्या ।

वैधता प्राप्त करने की समस्या ।

आधुनिकीकरण की समस्या

सारांश

समस्याओं का समाधान राजनीतिक विकास के साथ गठबन्धित है। ज्यों-ज्यों राजनीतिक विकास का स्तर बढ़ता जाता है, इन समस्याओं का समाधान होने में सहायता मिलती जाती है। किन्तु विकाषशील राज्यों में राजनीतिक विकास की समस्याएँ इससे कुछ भिन्नताएँ रखती हैं। इनमें से कुछ प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं

(प) राजनीतिक विकास के मॉडल के चयन की समस्या ।

(पप) राजनीतिक स्थायित्व की समस्या

(पपप) संरचनात्मक व्यवस्थाओं की सुस्थिर स्थापना की समस्या ।

(पअ) राजनीतिक विकास के अभिकरण – राजनीतिक दल, हित और दबाव समूहों के समुचित रूप से संगठित और विकसित होने की समस्या, और

(अ) हिंसात्मक राजनीति की समस्या

विकासशील देशों की इन समस्याओं के समाधान में जटिलताएँ राजनीतिक विकास को प्रभावित ही नहीं करती हैं, अपितु राजनीतिक पतन की ओर ले जाने की स्थिति उत्पन्न कर देती हैं ।

इस संदर्भ में विषय में घट रही राजनीतिक घटनाओं का अगर अध्ययन किया जाए तो स्पष्ट होने लगेगा कि ज्यादातर विकासशील राष्ट्रों की राजनीतिक समस्याएँ किस तरह राजनीतिक विकास से गठबन्धित हैं। आप चाहें तो उत्तर – दक्षिण कोरिया की तनातनी पर गौर करें या चीन का जापान के अधिकार क्षेत्र के सामुद्रिक भू-भाग पर आँखें तरेरना और अपनी सैन्य शक्ति का प्रदर्शन करना, उधर पाकिस्तान का अफगानिस्तान में अमेरिकी सुरक्षाबलों के साथ सहयोग न करना और इधर श्रीलंका का मानव अधिकार हनन पर हठ करना – यह सब राजनीतिक समस्याओं के ही भाव हैं जो इन राज्यों में राजनीतिक विकास के क्रम की गतिविधियाँ ही हैं ।

अभ्यास – प्रश्न

1. लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा स्पष्ट करें ।
2. राज्य के उद्देश्य एवं कार्यों पर प्रकाश डालें ।
3. राजनीतिक विकास का अर्थ समझाइए एवं इसकी प्रकृति और विषय क्षेत्र को स्पष्ट करें ।
4. राजनीतिक विकास के साधनों पर प्रकाश डालें ।

राजनीतिक सिद्धान्त

विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका

राजनीतिक सिद्धान्त

परिचय :

लोकतांत्रिक सरकार के तीन प्रमुख अंग हैं। विधायिका विधा, नियम कानून रीति-नीति और लोकमत को व्यक्त करने वाली जनता को सबसे बड़ी अदालत या महासभा है। इस महासभा में समूचे देश की निर्दिष्ट क्षेत्रों में बसने वाली जनता और वास्तविक नागरिक अपने बीच से अपने प्रतिनिधियों को वयस्क मताधिकारों के माफ़त निर्वाचित करते हैं और एक सीमित सभा में उन्हें इस विधान – निर्माण करने वाली संस्था का माननीय सदस्य घोषित करते हुए अपने लिए सर्वसम्मत कानून और विधान का शासन स्थापित करने के वास्ते अपने राजनीतिक अधिकार चुने हुए प्रतिनिधियों को कोशते हैं। ये ही निर्वाचित और कुछ मनोनीत सदस्य लोकतांत्रिक रीतियों से सर्वसम्मत विधान बनाने की प्रक्रिया में योगदान करते हैं। और कानून का शासन स्थापित करने में अहम भूमिका निभाते हैं। दरअसल व्यवस्थापिका ही सरकार का वह अंग है जो शासन को दिशा और दशा प्रदान करती है। किसी भी राष्ट्र के विकास के लिए विधानमण्डल का राज्यों की जनता के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को महत्व देता है। तब तक विधानमण्डल इस प्रतिबद्धता को महत्व देता है। तब तक विधानमण्डल की गरिमा रहती है।

(1) विधायिका

सरकार की शक्ति व कार्यों का विभाग अनेक प्रकार से किया जाता है। प्रचलित रीति यह है कि इन्हें तीन भागों में विभक्त किया जाये – (1) व्यवस्थापन – विभाग, जो राज्य या जनता की इच्छा को कानून, विधान व नीति के रूप में अभिव्यक्त करता है। (2) शासन – विभाग, जो राज्य या जनता की अभिव्यक्त हुई इच्छा को क्रिया में परिणत कराता है। (3) न्याय-विभाग, जो कानून का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देता है और कानूनों की व्याख्या करके उनके अभिप्राय को स्पष्ट करता है।

सरकार में व्यवस्थापन विभाग का स्थान बहुत विधायिका का महत्व महत्वपूर्ण है। एक दृष्टि से इस विभाग को शासन और न्याय विभागों की अपेक्षा अधिक ऊँचा माना जा सकता है, कारण यह कि व्यवस्थापन – विभाग ही उन कानूनों का निर्माण करता है जिनके अनुसार शासन विभाग शासन करता है, और न्याय विभाग न्याय करता है। यदि कानून न हो, तो उनको प्रयुक्त करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। व्यवस्थापन विभाग जहाँ राज्य के हित के लिए नये कानून बनाता है, वहाँ साथ ही जनता में विद्यमान व्यवहार और चरित्र को नियमित कानून का रूप भी प्रदान करता है। व्यवस्थापन विभाग केवल कानून बनाने का कार्य ही नहीं करता, अपितु उस नीति का भी निर्धारण करता है, जिसका मन्त्री लोग अनुसरण करते हैं। वह राज्य के लिए टैक्स निर्धारित करता है, उनकी वसूली के लिए नियम बनाता है, सरकारी खर्च की व्यवस्था करता है, राज कर्मचारियों के लिए नियम बनाता है, और शासन विभाग पर नियंत्रण रखता है। यदि मंत्री और सरकारी कर्मचारी अपना कार्य सुचारु रूप से न कर रहे हों, वे अपनी नीति व कार्य में कोई भूल करते हों, तो व्यवस्थापन विभाग उनकी आलोचना करता है, और अनेक बार उन पर अविश्वास का प्रस्ताव भी स्वीकार करता है। जिन राज्यों में शासन मन्त्रि-परिषद के अधीन होता है, उनमें तो व्यवस्थापन विभाग शासन विभाग पर प्रत्यक्ष रूप से अपना नियंत्रण रखता है।

संविधान के अधीन सब प्रकार के कानून बनाना और उनके प्रयोग के लिए समुचित व्यवस्था करना व्यवस्थापन विभाग का कार्य होता है। ग्रेट ब्रिटेन सभा जिन राज्यों में संवैधानिक

मन्त्रि-परिषद पर अविश्वास का प्रस्ताव भी पेश होता है। बजट पर बहस के अवसर पर शासन के विविध अंगों के लिए रूपया स्वीकृत करते हुए विधानसभा के सदस्यों को यह अवसर मिलता है कि वे शासन की आलोचना कर सकें।

(4) न्याय – सम्बन्धी कार्य अनेक राज्यों में व्यवस्थापन विभाग को न्याय सम्बन्धी कार्य भी करने होते हैं। फ्रांस में राष्ट्रपति पर जब कोई महाभियोग चलाया जाये तो उसके निर्णय के लिए कौंसिल न्यायालय का कार्य करती है। ऐसे ही यदि किसी मंत्री पर किसी गम्भीर अपराध का आरोप किया जाये, तो उसका निर्णय भी कौंसिल द्वारा ही किया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में भी राष्ट्रपति पर महाभियोग का आरोप होने पर सीनेट उसका निर्णय करती है। भारतीय गणराज्य के संविधान के अनुसार भी राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने की दशा में उसका निर्णय संसद द्वारा होने की व्यवस्था की गई है। ब्रिटेन में हाउस ऑफ लॉर्ड्स को न्याय सम्बन्धी और भी अधिक अधिकार प्राप्त हैं।

(5) निर्वाचन सम्बन्धी कार्य – बहुत से राज्यों में व्यवस्थापन विभाग अनेक निर्वाचन सम्बन्धी कार्य भी करता है। भारत में राष्ट्रपति का निर्वाचन करने के लिए जो राष्ट्रीय सभा संगठित करने की व्यवस्था की गई है, उसके सदस्य निम्नलिखित होते हैं— (क) संघ की संसद के दोनों सदनों के वे सदस्य, जो निर्वाचन द्वारा सदस्य बने हों। (ख) राज्य की विधानसभाओं के वे सदस्य, जो निर्वाचन द्वारा सदस्य बने हों। फ्रांस में भी राष्ट्रपति के चुनाव में वहां की पार्लियामेंट के दोनों सदनों के सदस्य (कतिपय अन्य प्रकार के निर्वाचित सदस्यों के साथ मिलकर) भाग लेते हैं। 1914-18 के महायुद्ध के बाद यूरोप में जो अनेक नये लोकतंत्र राज्य (आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड आदि) कायम हुए थे, उनमें भी राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए यही व्यवस्था रखी गई थी। स्विट्जरलैण्ड में वहाँ की मन्त्रि-परिषद (या कार्य समिति) और न्यायाधीशों का निर्वाचन भी पार्लियामेंट द्वारा होता है। स्विट्जरलैण्ड में प्रधान सेनापति तक की नियुक्ति चुनाव द्वारा होती है, और ये चुनाव वहाँ की पार्लियामेंट ही करती है।

(6) लोकमत को प्रकट करना –

लोकतंत्र राज्यों में व्यवस्थापन विभाग का यह भी कार्य है कि वह लोकमत को प्रकट करे, जनता को शासन से जो शिकायतें हों, उन्हें विधानसभा या संसद सम्मुख उपस्थित करे, और शासन विभाग के पथ-प्रदर्शन के लिए लोकमत के अनुसार विविध प्रस्तावों को स्वीकृत करें।

(2) विधायिका का संगठन

व्यवस्थापन – विभाग का संगठन दो प्रकार से होता है, या तो उसमें एक सदन (हाउस व चौम्बर) रहता है या दो। अठारहवीं सदी में जब लोकतंत्र शासन का सूत्रपात हुआ, तो विचारकों का मत व्यवस्थापन – विभाग में एक सदन रखने के पक्ष में था। जब अमेरिका के ब्रिटिश उपनिवेशों ने ब्रिटेन की अधीनता से मुक्त होकर पहले-पहल लोकतंत्र शासन को स्थापित किया, तो उन्होंने ऐसे व्यवस्थापन विभागों का निर्माण किया, जिसमें केवल एक ही सदन होता था। अमेरिका का प्रसिद्ध नेता बेन्जामिन फ्रांक्लिन एक सदन वाले व्यवस्थापन विभाग का प्रबल पक्षपोशक था। उसका कथन था कि व्यवस्थापन – विभाग में दो सदनों का रहना ठीक वैसे ही है, जैसे कि किसी गाड़ी में दोनों ओर घोड़े जोत दिए जाएं, आगे भी और पीछे भी। दोनों ओर के घोड़े अपनी-अपनी तरफ गाड़ी को खींचेंगे, तो वह किसी भी तरफ आगे नहीं बढ़ सकेगी। ऐसे ही जब व्यवस्थापन – विभाग में दो सदन रहेंगे, तो दोनों परस्पर विरोधी कानून बनाएंगे, और किसी बात का समुचित निर्णय हो सकना सम्भव नहीं होगा। फ्रांस में राज्य क्रान्ति के बाद जब नया संविधान (1711) बनाया गया, तो उसमें एक सदन रखने की व्यवस्था की गई। 1795 के फ्रेंच संविधान में व्यवस्थापन विभाग में दो सदन बनाए गये। पर 1848 की राज्य – क्रान्ति की नई लहर के बाद जब पुनः फ्रेंच रिपब्लिक स्थापित हुई तो एक बार फिर वहाँ के व्यवस्थापन विभाग में एक ही सदन रखा गया। पर यह व्यवस्था देर तक कायम नहीं रह सकी, और कुछ समय बाद ही फ्रांस में पुनः दो सदनों का निर्माण कर दिया गया। छ ग्रेट ब्रिटेन में भी राज्य क्रान्ति के बाद जब

कुछ समय के लिए गणतंत्र शासन (कॉमनवेल्थ) की स्थापना हुई थी, तो उसकी पार्लियामेंट में भी केवल एक सदन रखा गया था। पर इस समय प्रायः सभी महत्वपूर्ण लोकतंत्र राज्यों के व्यवस्थापन विभागों में दो सदन विद्यमान हैं। ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस, भारतीय गणराज्य, रूस आदि सब बड़े राज्यों में दो सदनों को स्थापित किया गया है। मध्य अमेरिका के कतिपय राज्य ही अब ऐसे बचे हैं, जिनके व्यवस्थापन – विभाग में एक-एक सदन रखे गए हैं। पर ये सब राज्य छोटे-छोटे हैं महत्वपूर्ण राज्यों में केवल टर्की ही ऐसा है, जिसके व्यवस्थापन विभाग में दो सदन न होकर केवल एक सदन है। भारतीय गणराज्य के अन्तर्गत अनेक राज्यों में भी केवल एक सदन रखा गया है। व्यवस्थापन – विभाग में एक सदन रहना चाहिये या दो, यह विषय बहुत विवादग्रस्त है। राजनीति शास्त्र के विद्वान इस सम्बन्ध में बहुत मतभेद रखते हैं। अतः यह आवश्यक है कि इन दोनों पद्धतियों के गुण-दोषों पर विशद् रूप से विचार किया जाये।

एक – सदनात्मक पद्धति – व्यवस्थापन विभाग में एक सदन होना चाहिए, इस पक्ष में निम्नलिखित युक्तियाँ दी जाती हैं :-

(1) इस पद्धति द्वारा व्यवस्थापन – विभाग में एकता व एकरूपता स्थापित रहती है। फ्रांस के क्रान्तिकारी विचारक इस युक्ति पर बहुत जोर देते थे। उनका कथन था कि कानून जनता की इच्छा का मूर्तरूप होता है। यह सम्भव ही नहीं है कि जनता की एक विषय पर एक समय में दो विभिन्न इच्छाएँ हो सकें। अतः वह विधानसभा जो जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती हो, एक ही हो सकती है। यदि दो सदन होंगे, तो यह अवश्यम्भावी है कि उनमें मतभेद और परस्पर विरोध हो। इस दशा में जनता की इच्छा के लिए सुचारु रूप से अभिव्यक्त हो सकना सम्भव नहीं रहेगा। इसी तथ्य को लॉर्ड ब्राइस ने इस ढंग से स्पष्ट किया है – यदि दूसरा सदन भी वही बात कहै जो पहला सदन कहता है, तो उसकी सत्ता निरर्थक है। यदि दूसरा सदन पहले सदन का विरोध करे, तो उसका परिणाम अहितकर होगा। ब्राइस की सम्मति में यह बात ठीक वैसी ही है, जैसा कि खलीफा उमर ने सिकन्दरिया के विषाल पुस्तकालय में संग्रहीत पुस्तकों के सम्बन्ध में कहा था – “यदि ये पुस्तकें कुरान के अनुकूल हैं, तो इनकी कोई आवश्यकता नहीं है। यदि ये कुरान के खिलाफ हैं, तो इन्हें नष्ट किया ही जाना चाहिए।” व्यवस्थापन – विभाग में एकरूपता आवश्यक है, इस युक्ति को फ्रांस और अमेरिका के राजनीतिक विचारकों ने बहुत महत्व दिया था। व्यवस्थापन का उद्देश्य यही होता है कि जनता की इच्छा को अभिव्यक्त किया जाये और उसे मूर्तरूप दिया जाये। जनता की इच्छा द्विविध नहीं हो सकती, अतः उस इच्छा को अभिव्यक्त करने व मूर्तरूप देने के लिए व्यवस्थापन – विभाग में एक सदन ही होना चाहिए

यदि व्यवस्थापन – विभाग में दो सदन होंगे, तो उसका परिणाम यही होगा कि उनमें निरन्तर विरोध रहेगा। इसी बात को फ्रांकलिन ने इस प्रकार प्रकट किया था, कि दो सदन रखना ठीक ऐसा है, जैसे कि गाड़ी के दोनों तरफ घोड़े जोत दिये जाएं, और वे विरोधी दिशाओं में जाने का प्रयत्न करें। संसद या विधानसभा का निर्माण जनता का प्रतिनिधित्व करने के लिए होता है। यह प्रतिनिधित्व एक सदन द्वारा ही सम्भव है, दो सदनों से नहीं लोकतंत्र शासनों में एक सदनात्मक पद्धति का जो विशेष रूप से अनुसरण नहीं किया गया, इसके कारण निम्नलिखित हैं- (1) जिन जागीरदारों या कुलीन श्रेणी के लोगों के हाथ से राजषक्ति को छीनकर लोकतंत्र शासन की स्थापना की गई, उनकी सर्वथा उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं था। व्यवस्थापन – विभाग के दूसरे सदन में स्थान देकर उन्हें संतुष्ट रखने का प्रयत्न किया गया। ग्रेट ब्रिटेन की पार्लियामेंट का दूसरा सदन (हाउस ऑफ लॉर्ड्स) इन्हीं जागीरदारों या कुलीन श्रेणी के लोगों द्वारा निर्मित है। (2) जिन राज्यों का स्वरूप संघात्मक या संवर्गात्मक (फिडरल) है, उनमें दूसरे सदन का यह उपयोग समझा गया कि उनमें संघ या संवर्ग के अन्तर्गत विविध राज्यों को पृथक् रूप से प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका, भारत आदि संवर्गात्मक राज्यों में दूसरे सदन का उपयोग विशेष रूप से इसी दृष्टि से है। प्रथम सदन में जहाँ सम्पूर्ण संवर्ग राज्य की एकता प्रतिबिम्बित होती है, वहाँ दूसरे सदन में संवर्ग की विविध इकाइयों को पृथक् रूप से प्रतिनिधित्व दिया

जाता है । (3) बहुत से विचारकों की दृष्टि में दूसरे सदन का रहना स्वतः भी उपयोगी है द्वि सदनात्मक पद्धति (टपबंडुमतंसैलेजमउ) व्यवस्थापन – विभाग में दो सदन होने चाहिए, इस पक्ष में निम्नलिखित युक्तियाँ पेश की जाती हैं—

राजनीतिक सिद्धान्त

(1) यदि केवल एक सदन हो, तो जल्दबाजी में ऐसे कानून स्वीकृत हो सकते हैं, जो अनुचित हों। संसद या विधानसभाओं में प्रायः राजनीतिक विषयों पर बहुत मतभेद रहता है। उनके सदस्य बहुधा आवेष में आकर कोई ऐसी व्यवस्था करने के लिए उद्यत हो जाते हैं, जो पुनः विचार द्वारा अनुचित सिद्ध होती है। दो सदन होने पर प्रत्येक विषय दूसरे सदन में भी पेश होता है। इसमें समय लगता है। सामयिक आवेष के कारण जल्दी में जो बात एक सदन स्वीकृत करता है, उस पर पुनः विचार करने, उसे दोहराने और उसमें संशोधन करने का दूसरे सदन को अवसर मिलता है। एक की राय की अपेक्षा दो की राय सदा हितकर होती है। ब्लुंस्ली ने ठीक कहा था— दो आँखों की अपेक्षा चार आँखें हमेशा अधिक अच्छा देखती हैं। विशेषतया, जब किसी प्रश्न पर अनेक पहलुओं से विचार करने की आवश्यकता हो, तो दो सदनों में उस पर अधिक अच्छी तरह से विचार किया जा सकता है।

(2) राजपक्ष एक ऐसी शक्ति है, जो मनुष्यों में मद और अहंकार उत्पन्न करती है। राजपक्ष मनुष्य अहम्मन्य और महत्वाकांक्षी हो जाते हैं। यह बात सर्वथा स्वाभाविक है। विधानसभा के सदस्य चाहे जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि ही क्यों न हों, जब वे एक बार किसी निश्चित समय के लिए निर्वाचित हो जाते हैं, तो स्वाभाविक रूप से उनमें अपने को सर्वोत्कृष्ट समझने और निरंकुष व स्वेच्छाचारी हो जाने की प्रवृत्ति विकसित हो जाती है। इस दशा में यदि दो सदन रहें, तो वे एक दूसरे पर अंकुष रख सकते हैं। एक सदन जो कोई बात स्वीकृत करता है, दूसरा सदन उस पर विचार करता है। यदि पहले सदन ने कोई बात आवेष में आकर व जल्दबाजी में स्वीकृत कर दी हो, तो दूसरा सदन उसे अस्वीकृत कर सकता है, या उसमें संशोधन कर सकता है। जब किसी एक सदन में कोई विषय पहली बार पेश होता है, तो उसके सदस्यों को मालूम होता है कि उनका निर्णय अभी दूसरे सदन में भी पेश होना है। अतः वे भी उस पर अधिक गम्भीरता से विचार करते हैं। यदि व्यवस्थापन – विभाग में केवल एक सदन हों, और उसके सदस्यों में यह भावना विद्यमान हो कि उनका अपना निर्णय ही अन्तिम माना जायेगा, तो उनमें स्वेच्छाचार की प्रवृत्ति उत्पन्न होगी, और वे गम्भीरता से समस्या पर विचार करने के लिये प्रवृत्त नहीं होंगे। वे आवेष में आकर जो निर्णय कर लेंगे, उसे बदलने व संशोधित करने की कोई गुंजाइश नहीं रहेगी।

(3) कानून बनाने का कार्य सुचारु रूप से सम्पादित करने के लिए यह उपयोगी है कि कोई काम जल्दबाजी में न हो। समाज एक जीवित— जागृत चेतन सत्ता है उसका स्वरूप एक भारीर के समान है, जिसमें कोई परिवर्तन अकस्मात् नहीं किया जा सकता। अतः यह भी आवश्यक है कि कानूनों में भी अकस्मात् परिवर्तन करने का यत्न न किया जाये। लोकतंत्र राज्यों में जहाँ शासन सूत्र का संचालन सर्वसाधारण जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के हाथ में रहता है, यह बात बहुत सम्भव है कि ये प्रतिनिधि अपने निर्वाचकों को खुष करने के लिए अक्रियात्मक कानूनों के निर्माण में प्रवृत्त हों। पर प्रत्येक राज्य में ऐसे मनुष्यों की भी सत्ता होती है, जो स्वभाव से ही शीघ्र परिवर्तन के विरोधी होते हैं, जो सनातन मर्यादा की रक्षा करने के लिए उत्सुक रहते हैं। यदि व्यवस्थापन – विभाग के दूसरे सदन में राज्य के इस सनातन तत्व का प्रतिनिधित्व रखा जाये, जैसा कि ग्रेट ब्रिटेन में है, तो इस बात की आशंका नहीं रहेगी कि कोई कानून आवेष में या जल्दी में बनाये जाए, या ऐसी नीति का अवलम्बन किया जाये जो बाद में अहितकर सिद्ध हो।

(4) प्रत्येक राज्य की जनता में अनेक प्रकार के तत्व होते हैं— सर्वसाधारण जनता किसान या मजदूर होती है, और अल्पसंख्यक लोग जागीरदार व पूँजीपति होते हैं। इनके हितों में प्रायः विरोध रहता है। यदि राज्य के व्यवस्थापन – विभाग में केवल एक ही सदन हो, तो पूँजी या संपत्ति के प्रतिनिधियों को निर्वाचित होने का समुचित अवसर नहीं मिलेगा। दूसरे सदन का एक महत्वपूर्ण उपयोग यह है कि उसमें इन अल्पसंख्यक श्रेणियों को प्रतिनिधित्व का अवसर मिलता है। ऑस्ट्रेलिया के संघ राज्य के अन्तर्गत अन्यतम राज्य

विक्टोरिया में दूसरे सदन का निर्माण इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर किया गया है। वहां इस दूसरे सदन के लिए सम्पत्ति की भी र्षत रखी गई है। साथ ही, यह भी व्यवस्था की गई है कि इस दूसरे सदन की सदस्यता के जो व्यक्ति उम्मीदवार हों, वे सम्पत्तिषाली हों, और उन्हें अपने कार्य के लिये कोई भत्ता, पारिश्रमिक या वेतन न दिया जाये। इस व्यवस्था का परिणाम यह होता है, कि विक्टोरिया के दूसरे सदन में केवल धनी या पूंजीपति लोग ही सदस्य बन सकते हैं। कतिपय राज्यों में यह प्रयत्न भी किया जाता है, कि दूसरे सदन के सदस्य विद्या, ज्ञान, अनुभव आदि की दृष्टियों से अधिक योग्य हों।

(5) संवर्गात्मक राज्यों के लिए तो दूसरे सदन का और भी अधिक उपयोग है, क्योंकि इससे संवर्ग के अन्तर्गत विविध राज्यों को पृथक् रूप से प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। प्रायः यह व्यवस्था की जाती है कि दूसरे सदन में संवर्ग के अन्तर्गत सब राज्यों को एक बराबर प्रतिनिधित्व दिया जाये और उनकी जनसंख्या व क्षेत्रफल के भेद को दृष्टि में न रखकर दूसरे सदन के लिए उन सब की हैसियत एक बराबर मानी जाये।

द्वि-सदनात्मक पद्धति का विरोध — इसमें सन्देह नहीं कि व्यवस्थापन विभाग में दो सदन रखने के पक्ष में इन विविध युक्तियों में बहुत सच्चाई है। पर इनके विरोध में जो युक्तियाँ दी जाती हैं वे भी कम महत्व की नहीं हैं।

(1) द्वि-सदनात्मक पद्धति लोकतंत्र के विरुद्ध है। यदि दूसरे सदन का उपयोग इसलिए है, कि उसमें जागीरदारों, कुलीन श्रेणी या पूंजीपतियों के प्रतिनिधि रखे जाएं, तो वह बात लोकतंत्रवाद के स्पष्टतया विरुद्ध है। लोकमत एक ही हो सकता है, अतः जनता के मत की अभिव्यक्ति के लिए दो सदन रखना सर्वथा निरर्थक है। दूसरे सदन का यही उपयोग हो सकता है, कि जनता की इच्छा को क्रिया में परिणत होने देने में बाधा उत्पन्न की जाये, जो बात किसी भी प्रकार अभीष्ट नहीं मानी जा सकती।

(2) आवेष्ट में होने वाले कार्यों या जल्दबाजी को रोकने के लिये दूसरे सदन की कोई भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि एक सदन के होने पर भी कोई कानून एक दिन में या थोड़े से समय में स्वीकृत नहीं होता। प्रायः सर्वत्र यह व्यवस्था है कि प्रस्तावित कानून के मसविदे को तीन बार पेश किया जाये और उस पर भली-भाँति वाद-विवाद किया जाय। विधानसभा में अनेक राजनीतिक दल होते हैं, और इन दलों के सदस्य प्रत्येक विषय के पक्ष-विपक्ष में बहस करते हैं। बहुधा प्रस्तावित कानून को प्रवर समिति के भी सुपुर्द किया जाता है ताकि उस पर विशेषज्ञ लोग सब पहलुओं से विचार कर सकें। अनेक बार प्रस्तावित कानून को जनता की सम्मति के लिये भी भेज दिया जाता है। इस दृष्टि में यह कैसे सम्भव है कि एक सदन वाला व्यवस्थापन — विभाग किसी कानून को आवेष्ट में या जल्दी में पास कर सके।

(3) दूसरे सदन को पहले सदन से किस प्रकार भिन्न ढंग से निर्मित किया जाये, यह निर्धारित करना भी सुगम नहीं है। यदि दूसरे सदन में जागीरदारों या पूंजीपतियों को प्रतिनिधित्व दिया जाये, तो यह बात लोकतंत्रवाद के विरुद्ध होगी। यदि दूसरे सदन में भी सर्वसाधारण नजता के प्रतिनिधि रहें, तो वह उसी मत को अभिव्यक्त करेगा जिसे कि पहला सदन करता है।

(4) दो सदन रखने से खर्च में व्यर्थ वृद्धि होती है। इन्हीं बातों को दृष्टि में रखकर आजकल अनेक राज्यों में एक सदनात्मक पद्धति का अवलंबन किया गया है। संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्तर्गत अनेक राज्यों के व्यवस्थापन — विभागों में जहां पहले दो सदन होते थे, बाद में एक सदन कर दिया गया। यही बात ऑस्ट्रेलिया के अनेक राज्यों में हुई। 1909 में जब दक्षिणी अफ्रीका के नये संघ-राज्य की स्थापना हुई, तो उसके अन्तर्गत विविध राज्यों में द्वितीय सदन तोड़ दिए गये। 1914-18 के महायुद्ध के बाद जो अनेक नये राज्य यूरोप में कायम हुए, उनमें से बहुतों (यूगोस्लाविया, फिनलैण्ड, लैटविया, एस्थोनिया आदि) में एक सदनात्मक पद्धति का अनुसरण किया गया। 1931 एक स्पेन के व्यवस्थापन विभाग में दो

सदन थे । पर 1931 में वहाँ भी एक सदनात्मक पद्धति को अपनाया गया । इस समय प्रवृत्ति यही है कि व्यवस्थापन विभाग में केवल एक ही सदन रखा जाये । संवर्ग राज्यों और विषालकाय राज्यों के लिये तो अभी द्वि-सदनात्मक पद्धति को ही उपयोगी माना जाता है, पर अन्य राज्यों में उसके उपयोग को स्वीकृत नहीं किया जाता ।

राजनीतिक सिद्धान्त

जिन राज्यों में पुरानी परम्परा के कारण या राज्य का स्वरूप संवर्गात्मक होने के कारण दो सदन विद्यमान हैं, उनमें भी प्रवृत्ति यह है कि दूसरे (उपरी सदन की शक्ति को निरन्तर कम किया जाये। ब्रिटेन में 1911 के पार्लियामेंट एक्ट द्वारा दूसरे सदन (हाउस ऑफ लॉर्ड्स) की शक्ति को बहुत मर्यादित कर दिया गया है। इस कानून के अनुसार, यदि आय – व्यय सम्बन्धी कोई प्रस्ताव हाउस ऑफ कॉमन्स स्वीकृत करके हाउस ऑफ लॉर्ड्स के पास उसके अधिवेशन की समाप्ति के एक मास पूर्व भेज दे तो उसे स्वीकृत समझ लिया जायेगा, चाहे हाउस ऑफ लॉर्ड्स उसे स्वीकृत न भी करे । आय – व्यय सम्बन्धी प्रस्तावों के अतिरिक्त अन्य प्रस्तावों के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई है कि यदि हाउस ऑफ कॉमन्स किसी प्रस्ताव को एक के बाद एक होने वाले अपने तीन अधिवेशनों में पास कर दे, तो वह स्वीकृत समझा जायेगा, चाहे हाउस ऑफ लॉर्ड्स ने उसे स्वीकृत न भी किया हो। इसका परिणाम यह हुआ है, कि अब लॉर्ड लोगों की शक्ति बहुत कम रह गई है और हाउस ऑफ कॉमन्स ही वास्तविक अर्थों में पार्लियामेंट बन गया है। ग्रेट ब्रिटेन में दूसरे सदन (हाउस ऑफ लॉर्ड्स) की सत्ता पुरानी परम्परा पर ही आश्रित है, पर लोकतंत्रवाद के विकास के साथ-साथ उसका महत्व अब कम होता जा रहा है। जिन राज्यों में द्वितीय सदन का निर्माण जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा होता है, उनमें भी प्रायः यह व्यवस्था की जाती है कि यदि किसी विषय पर दोनों सदनों में मतभेद हो, बार-बार के संशोधनों द्वारा भी दोनों सदन उस विषय पर एकमत न हो सकें, तो अन्त में प्रथम सदन की इच्छा के अनुसार कार्य हो, बशर्ते कि उस सदन के सदस्यों की एक बड़ी संख्या (केवल बहुसंख्या ही नहीं) उस विषय के पक्ष में हो। 1914-18 के महायुद्ध के बाद यूरोप के अनेक राज्यों (जर्मनी, पोलैण्ड, आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया आदि) के संविधानों में इसी प्रकार की व्यवस्थाएँ की गई थीं। भारतीय गणराज्य के नये संविधान के अनुसार आय-व्यय सम्बन्धी मामलों में प्रथम सदन (लोकसभा) को जो अधिकार है, वे दूसरे सदन (राज्य सभा) को नहीं हैं । अनेक परिस्थितियों में धन (आय – व्यय) सम्बन्धी बिल राज्य सभा की स्वीकृति के बिना भी पास हो सकते हैं। धन सम्बन्धी बिलों के अतिरिक्त अन्य बिलों या प्रस्तावों के विषय में यदि दोनों सदनों में मतभेद रहे, तो उसका निर्णय दोनों सदनों की सम्मिलित बैठक द्वारा करने की व्यवस्था की गई है। क्योंकि इस सम्मिलित बैठक में बहुसंख्या लोकसभा के सदस्यों की होगी । अतः यह आशा की जा सकती है कि सदनों में विरोध की दशा में प्रथम सदन की सम्मति ही अन्तोगत्वा स्वीकृत होगी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आधुनिक समय की प्रवृत्ति एक – सदनात्मक पद्धति की ओर है अग्रसर और यह बात लोकतंत्रवाद के अधिक अनुकूल है।

(3) द्वितीय सदन की रचना

संसार के वर्तमान लोकतंत्र राज्यों में द्वितीय सदन (सेकण्ड चौम्बर) की रचना जिस प्रकार या जिन सिद्धान्तों के अनुसार की गई है, उनका संक्षिप्त रूप से उल्लेख करना बहुत उपयोगी है

सिद्धान्त (1) वंशक्रमानुगत रूप से ग्रेट ब्रिटेन का द्वितीय सदन हाउस ऑफ लॉर्ड्स इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। इसके सदस्य प्रायः वंशक्रमानुगत होते हैं। ब्रिटेन में जो लॉर्ड वंशक्रम से चले आते हैं, वे अपने अधिकार से इस सदन के सदस्य होते हैं। ब्रिटिश क्राउन को भी यह अधिकार है कि वह नये लॉर्ड बना सके। 1926 से पूर्व हंगरी के द्वितीय सदन के सदस्य वंशक्रमानुगत ही होते थे । यही व्यवस्था पुराने आस्ट्रिया, जर्मनी और उसके अन्तर्गत विविध राज्यों में भी थी। 1914-18 महायुद्ध के बाद जब इन देशों में नये लोकतंत्र संविधानों की स्थापना हुई, तो इस व्यवस्था को हटाया गया ।

(2) नियुक्ति द्वारा अनेक राज्यों में यह व्यवस्था है कि द्वितीय सदन के सदस्य सर्वांश या प्रधान रूप से सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। जिन देशों में कैबिनेट सिस्टम प्रचलित हैं, उनमें ये नियुक्तियाँ मन्त्रि-परिषद् द्वारा की जाती हैं। जहाँ किसी वंशक्रमानुगत राजा का शासन है, वहाँ राजा ही (स्वेच्छापूर्वक या मन्त्रियों के परामर्श से) द्वितीय सदन के सदस्यों को मनोनीत करता है। जापान, इटली, कनाडा आदि अनेक राज्यों में यह प्रथा विद्यमान रह चुकी है।

(3) निर्वाचन द्वारा — संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्राजील, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, स्वीडन, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि अनेक राज्यों में यह व्यवस्था है कि द्वितीय सदन के सदस्यों की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा की जाये। इन राज्यों में व्यवस्थापन विभाग के दोनों सदन निर्वाचित होते हैं।

(4) निर्वाचन और नामनिर्देशन द्वारा भारतीय गणराज्य के नये संविधान के अनुसार द्वितीय सदन (राज्यसभा) की रचना के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई है कि उसके बहुसंख्यक सदस्य निर्वाचन (परोक्ष) द्वारा नियुक्त होंगे, पर बारह सदस्यों को राष्ट्रपति नामनिर्देशन (नामिनेशन) द्वारा मनोनीत करेंगे। जो व्यक्ति साहित्य, विज्ञान, कला व समाजसेवा का विशेष ज्ञान व क्रियात्मक अनुभव रखते हों, ऐसे बारह व्यक्तियों को राष्ट्रपति निर्वाचन के बिना ही राज्यसभा के सदस्य रूप से मनोनीत करता है। भारतीय संघ के अन्तर्गत जिन अनेक राज्यों के व्यवस्थापन — विभागों में दो सदनों की व्यवस्था की गई है, उनमें भी कुछ सदस्यों की नियुक्ति इसी प्रकार नाम — निर्देशन द्वारा की जाती है।

(5) परोक्ष निर्वाचन द्वारा कुछ राज्यों में द्वितीय सदन के सदस्यों का निर्वाचन वोटर लोग प्रत्यक्ष रूप से न करके परोक्ष (इनडायरेक्ट) रूप से करते हैं। फ्रांस और डेनमार्क इसके उदाहरण हैं। फ्रांस में द्वितीय सदन के सदस्यों का चुनाव विविध नगरों व जिलों की स्थानीय कौंसिलों द्वारा होता है।

अनेक राज्य ऐसे भी हैं, जिनमें ये विविध पद्धतियाँ संयुक्त रूप से प्रयोग में आती हैं। उदाहरणार्थ, दक्षिणी अफ्रीका के द्वितीय सदन के आठ सदस्य गर्वनर जनरल द्वारा मनोनीत किये जाते हैं और आठ की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा होती है। बेल्जियम की सीनेट में तीन प्रकार के सदस्य होते हैं जनता द्वारा निर्वाचित, प्रादेशिक कौंसिलों द्वारा निर्वाचित और सीनेट द्वारा मनोनीत।

विविध पद्धतियों के गुण-दोष — व्यवस्थापन — विभाग के द्वितीय सदन की रचना के लिये वंशक्रमानुगत सिद्धान्त को किसी भी प्रकार स्वीकार्य नहीं समझा जा सकता। यह सिद्धान्त लोकतंत्रवाद के सर्वथा विरुद्ध है। इसीलिये ग्रेट ब्रिटेन के अतिरिक्त अन्य प्रायः सब राज्यों ने इसका परित्याग कर दिया है। ब्रिटेन के लोग पुरानी परम्परा के बहत प्रेमी हैं, इसीलिए वहाँ यह पद्धति अभी तक विद्यमान है। पर ब्रिटेन में भी वंशक्रमानुगत हाउस ऑफ लॉर्ड्स के विरुद्ध भावना विद्यमान है और इसीलिये वहाँ इस सदन को सर्वथा पंगु और भाक्तिहीन बना दिया गया है। नाम — निर्देशन द्वारा मनोनीत करके द्वितीय सदन का निर्माण करना भी लोकतंत्रवाद के सर्वथा विरुद्ध है। क्योंकि इस प्रकार के सदस्यों की नियुक्ति सरकार (राजा या मन्त्रि-परिषद्) द्वारा की जाती है। अतः इन सदनों में ऐसे ही सदस्य नियुक्त किये जाते हैं, जो सरकार के पक्षपाती हों, और उसकी हॉ में हॉ मिलाने वाले हों। जनता इन सदस्यों को अविश्वास और सन्देह की दृष्टि से देखती है और इन्हें लोकमत के मार्ग में बाधक समझती है। भारत के नये संविधान में जिस प्रकार द्वितीय सदन के कुछ सदस्यों को मनोनीत करने की व्यवस्था की गई है, उसे दोषपूर्ण नहीं समझा जा सकता, क्योंकि बहुत से विद्वान,

साहित्यिक, कलाकार व समाजसेवी व्यक्ति जनता से वोट प्राप्त करने के झंझट में नहीं पड़ना चाहते। इस कारण उन्हें यह अवसर नहीं मिलता कि वे संसद के सदस्य बनकर अपने ज्ञान व अनुभव का लाभ देश को पहुँचा सकें। पर भारत में इन मनोनीत सदस्यों की संख्या

बहुत कम रखी गई है। भारतीय गणराज्य की राज्यसभा में कुल सदस्य 232 होते हैं, जिनमें से 12 की नियुक्ति यदि नाम— निर्देशन द्वारा हो, तो यह बात लोकतंत्रवाद के विपरीत नहीं जाती, विशेषतया उस दशा में जबकि इन सदस्यों की नियुक्ति भी जन्म भर के लिए न होकर अन्य निर्वाचित सदस्यों के समान कुछ वर्षों के लिए ही होती है।

राजनीतिक सिद्धान्त

द्वितीय सदन के सदस्यों की नियुक्ति यदि सर्वसाधारण वोटर्स द्वारा निर्वाचित होने पर की जाये, तो उसके सदस्यों और प्रथम सदन के सदस्यों के स्वरूप में कोई विशेष भेद नहीं रहेगा। निःसन्देह, यह पद्धति लोकतंत्रवाद के अनुकूल है। यही इसका मुख्य गुण है, पर इस दशा में द्वितीय सदन का कोई विशेष लाभ नहीं रहता। लीवर ने ठीक लिखा है कि यदि दोनों सदनों के लिए सदस्यों का निर्वाचन एक समान अवधि के लिए एक ही निर्वाचकों द्वारा किया जाये, तो दोनों सदनों का स्वरूप एक सदन की दो उप-समितियों के सदृश हो जायेगा। दो सदन रखने का लाभ तभी है, जब उन दोनों की रचना में कोई मौलिक भेद हो, एक सदन में यदि सर्वसाधारण जनता के प्रतिनिधि हों, तो दूसरे सदन में ऐसे व्यक्ति हों जो ज्ञान, आयु, अनुभव, उत्तरदायिता आदि की दृष्टियों से अधिक उत्कृष्ट हों। द्वितीय सदन के सदस्य सर्वसाधारण जनता के प्रतिनिधि न होकर यदि किन्हीं विषिष्ट हितों व श्रेणियों के प्रतिनिधि हों, तो उसका उपयोग समझ में आ सकता है। पर यदि वे भी प्रथम सदन के सदस्यों के समान सर्वसाधारण जनता के ही प्रतिनिधि हों, तो द्वितीय सदन का कोई विशेष उपयोग नहीं है।

यही कारण है कि अनेक राज्यों में द्वितीय सदन के सदस्यों के निर्वाचन के लिए भिन्न पद्धति का अनुसरण किया जाता है। फ्रांस में उनका निर्वाचन जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से न होकर परोक्ष रूप से होता है और उन्हें विविध प्रदेशों की स्थानीय कौन्सिलें चुनती हैं। संवर्ग—राज्यों में द्वितीय सदन के सदस्यों का चुनाव संवर्ग के अन्तर्गत विविध राज्यों की पथक सत्ता का प्रतिनिधित्व करने के लिए किया जाता है। अनेक राज्यों में यह भी व्यवस्था की गई है कि द्वितीय सदन के सदस्यों की आयु अधिक हो, और ज्ञान व सम्पत्ति की दृष्टि से भी वे विशेष योग्यता रखते हों।

जिन राज्यों में द्वितीय सदन के सदस्य वंशक्रमानुगत रूप से या नाम — निर्देशन द्वारा नियुक्त होते हैं, उनकी शक्ति निरन्तर कम हो रही है। ब्रिटेन में हाउस ऑफ लॉर्डस अब केवल भोभा की वस्तु रह गया है। ऐसे सदन किसी कानून के अस्वीकृत होने में कुछ विलम्ब अवश्य करा सकते हैं, पर वे जनता की इच्छा के क्रिया में परिणत होने में बाधा उपस्थित नहीं कर सकते। जहाँ द्वितीय सदन के सदस्य निर्वाचित होते हैं, वहाँ भी उनकी शक्ति प्रथम सदन की अपेक्षाकृत रहती है। लोकतंत्र राज्यों के लिए यह बात सर्वथा उचित और स्वाभाविक है, क्योंकि प्रथम सदन ही वस्तुतः लोकमत को अभिव्यक्त करता है।

(4) जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से व्यवस्थापन

वर्तमान युग के विषालकाय राज्यों में यह सम्भव नहीं है कि जनता प्रत्यक्ष रूप से व्यवस्थापन का कार्य कर सके। प्राचीन युग के नगर — राज्यों में नागरिक लोग सभा में एकत्र होकर अपनी इच्छा को स्वयं अभिव्यक्त करते थे, यह हम पहले लिख चुके हैं। पर अब भी अनेक राज्यों में ऐसी व्यवस्था विद्यमान है, जिसके अनुसार नागरिक लोग प्रत्यक्ष रूप से कानूनों का निर्माण कर सकते हैं इस व्यवस्था के दो रूप हैं, जिन्हें रिफरेण्डम और इनीशिएटिव कहते हैं। इन दोनों पर संक्षेप से प्रकाश डालना उपयोगी है।

रिफरेण्डम— इस पद्धति के अनुसार यह आवश्यक है कि विधानसभा जो कानून स्वीकार करे, उन्हें तभी अन्तिम रूप से स्वीकृत समझा जाये, जबकि राज्य के निर्वाचकों द्वारा उनके पक्ष में वोट ले लिए जाएँ। विधानसभा जिन कानूनों को पास करती है, उन पर अपना मत प्रकट करने का

MATS Centre for Distance and Online Education, MATS University

सर्वसाधारण वोटर्स को भी अवसर दिया जाता है। वे उनके पक्ष या विपक्ष में अपना वोट देते हैं और जब निर्वाचकों या वोटर्स की बहुसंख्या का मत उनके पक्ष में होता है, तभी वे

स्वीकृत माने जाते हैं। इनीषिएटिव दृष्टि इसका अभिप्राय यह है कि यदि वोटर लोग किसी कानून को उपयोगी समझें, तो वे उसका मसविदा तैयार करके और उस पर कुछ निष्चित संख्या में वोटरों के हस्ताक्षर कराके अपने प्रस्तावित बिल को राज्य के व्यवस्थापन विभाग के सम्मुख उपस्थित कर सकते हैं। इस दृष्टि में विधानसभा के लिए यह आवश्यक होता है कि वह उस मसविदे पर उसी ढंग से विचार करे जैसे कि सरकारी बिलों पर या विधानसभा के किसी सदस्य द्वारा प्रस्तुत बिल पर किया जाता है। इनीषिएटिव की प्रथा के कारण नागरिकों को यह आवश्यकता नहीं रहती कि वे अपने अभीष्ट कानूनों के लिए सरकार या विधानसभा के सदस्यों पर निर्भर रहें। यदि वे किसी कानून व नीति को राज्य के लिए उपयोगी समझें, तो वे स्वयं भी उसके निर्माण के लिये कदम उठा सकते हैं। जिन राज्यों में यह पद्धति नहीं है, उनमें सर्वसाधारण जनता को अपने अभीष्ट कानूनों के निर्माण के लिए अपने प्रतिनिधियों पर आश्रित रहना पड़ता है और अनेक बार उनको यह कठिन प्रतीत होता है कि वे किसी प्रतिनिधि को अपनी बात विधानसभा में उपस्थित करने के लिए प्रेरित कर सकें।

प्रत्यक्ष व्यवस्थापन के गुण दृष्टि रिफरेण्डम और इनीषिएटिव की पद्धतियों के अनेक हैं

गुण (1) इन पद्धतियों द्वारा लोकतंत्रवाद को पूर्ण और वास्तविक रूप धारण करने का अवसर मिलता है। सर्वसाधारण जनता राजनीतिक विषयों में स्वयं भाग ले सकती है और अपने लिये कानूनों का निर्माण स्वयं करती है। जनता जिन कानूनों को स्वयं बनाती है, उनका महत्व उसकी दृष्टि में अधिक होता है। वह उनका सवेच्छापूर्वक पालन करती है और कानूनों को किसी भिन्न सत्ता का आदेश मात्र नहीं समझती। लोकतंत्रवाद का एक बड़ा लाभ यह है कि उससे जनता में राजनीतिक चेतना उत्पन्न होती है। पर प्रतिनिधिसत्तात्मक राज्यों में जनता का कार्य केवल इतना ही रहता है कि तीन या पांच वर्षों में एक बार प्रतिनिधियों का चुनाव कर दे। इससे जनता को राज्य के कानूनों के पक्ष या विपक्ष में विचार करने का अवसर नहीं प्राप्त होता। पर जब राज्य के नागरिक अपने अभीष्ट कानूनों को स्वयं प्रस्तुत कर सकते हैं या विधानसभा द्वारा स्वीकृत कानूनों के पक्ष या विपक्ष में अपना मत प्रकट कर सकते हैं, तभी उन्हें सच्चे अर्थों में राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होती है। (2) विधानसभाओं में दलबन्दी का जोर होता है। राजनीतिक दलों के नेता जहां अपने दल के सदस्यों को किसी पक्ष में वोट देने के लिए विवश कर सकते हैं, वहां साथ ही देश के पूंजीपति या अन्य प्रभावशाली लोग इन राजनीतिक नेताओं पर अनेक प्रकार से अनुचित असर भी डाल सकते हैं। यह बात तब असम्भव हो जाती है जबकि जनता प्रत्यक्ष रूप से स्वयं अपने कानूनों का निर्माण करें। कुछ थोड़े से व्यक्तियों को तो रिष्वत या अन्य अनुचित प्रकार से अपने प्रभाव में लाया जा सकता है पर सारे निर्वाचकों को रिष्वत दे सकना या अन्य प्रकार से अपने असर में लाना सम्भव नहीं होता। विधानसभा के सदस्यों को यह चिन्ता रहती है कि वे दुबारा फिर भी निर्वाचित हों। इसके लिए वे अपने दल के नेताओं को खुष रखने का प्रयत्न करते हैं, उनकी हॉ में हॉ मिलाते हैं, और उनके आदेशानुसार वोट देते हैं। पर सर्वसाधारण निर्वाचक इस प्रकार के विचारों को कोई महत्व नहीं देता। (3) रिफरेण्डम और इनीषिएटिव के कारण विधानसभा के सदस्य भी अपना कार्य अधिक गम्भीरता के साथ करते हैं। वे जानते हैं कि जिन कानूनों को वे स्वीकृत करेंगे, वे बाद में लोकमत के लिये सर्वसाधारण निर्वाचकों के सम्मुख भी उपस्थित किये जायेंगे व उन्हें यह बात सदा स्मरण रहती है कि राज्य की वास्तविक शक्ति उनमें निहित न होकर जनता में निहित है और वे अपने सब कार्यों के लिए इस प्रभुत्व — शक्ति सम्पन्न जनता के प्रति उत्तरदायी हैं।

पर इन सब गुणों के होते हुए भी प्रत्यक्ष व्यवस्थापन की पद्धति में अनेक दोष भी हैं, और इसी कारण वर्तमान समय के बहुत कम राज्यों में इसे अपनाया गया है। (1) प्रत्येक कार्य के लिये विशेष योग्यता की आवश्यकता होती है। व्यवस्थापन का कार्य ऐसा नहीं है जिसके लिये प्रत्येक व्यक्ति योग्यता रखता हो। यह सर्वसाधारण है कि प्रत्येक वोटर कानून बनाने या उसके सम्बन्ध में सही-सही सम्मति देने की योग्यता नहीं रखता। राज्य के व्यवस्थापन सम्बन्धी बहुत से मामले

अत्यन्त जटिल और गम्भीर होते हैं। मुद्रा-पद्धति, विदेशी विनिमय आदि विशयों को समझ सकना सब नागरिकों के लिये कभी भी सम्भव नहीं होता। इस दशा में राज्य के व्यवस्थापन कार्य को जनता के हाथों में प्रत्यक्ष रूप से दे देना कदापि युक्ति-संगत नहीं माना जा सकता। (2) क्योंकि सर्वसाधारण वोटर इस योग्य नहीं होते कि वे कानून के औचित्य पर गम्भीरता से विचार कर सकें, अतः जब कोई बिल उनके सम्मुख लोकमत के लिये पेश किया जाता है तो वे किसी राजनीतिक नारे से प्रभावित होकर या आवेष में आकर ही उस पर अपना मत प्रकट करते हैं। यदि अछूतोद्धार सम्बन्धी सरकारी नीति को भारत में लोकमत के लिये पेश किया जाता, या भारतीय गणराज्य को धर्मनिरपेक्ष (सिक्युलर) बनाने के विशय पर लोकमत लिया जाता, तो बहुत-से साम्प्रदायिक नेता 'हिन्दू धर्म खतरे में है इस नारे से जनता के वोट इनके विरुद्ध प्राप्त करने का प्रयत्न करते। (3) सर्वसाधारण जनता रिफरेण्डम या इनीषिएटिव में विशेष दिलचस्पी नहीं लेती। यही कारण है कि इनमें बहुत कम वोटर हिस्सा लेते हैं। जब कानून बार-बार लोकमत के लिये लोगों के सामने पेश होते हैं तो इससे वे एक प्रकार की परेषानी अनुभव करते हैं। (4) इनीषिएटिव की पद्धति का एक दोष यह है कि उसमें बिलों के मसविदे को प्रायः ऐसे लोग तैयार करते हैं, जो इस कार्य में निपुण नहीं होते। बिल का मसविदा बहुत अपरिपक्व होता है, और इस पद्धति से जो कानून बनते हैं, उनमें अनेक दोष रह जाते हैं। (5) इन पद्धतियों से व्यवस्थापन कर सकना केवल छोटे राज्यों में ही सम्भव है।

सदस्यों को वेतन देना – विधानसभाओं के सदस्यों को वेतन दिया जाये या नहीं, यह प्रश्न बहुत विवादग्रस्त रहा है। यूरोपियन राज्यों में पहले यह विचार विद्यमान था कि व्यवस्थापकों को अपना कार्य अवैतनिक रूप से ही करना चाहिए। पर जब से मजदूर दल व समाजवादी दल का जोर हुआ है और इन दलों के उम्मीदवार भी विधानसभाओं में निर्वाचित होने लगे हैं, व्यवस्थापकों को वेतन, भत्ता या खर्च देने का विचार अधिक प्रबल हो गया है। सर्वसाधारण लोग अपनी आजीविका के लिये अपने श्रम पर निर्भर करते हैं। उनके पास इतना धन और अवकाश नहीं होता कि वे सुदीर्घ समय तक अपने कार्य से अनुपस्थित होकर व्यवस्थापन कार्य को निष्पिन्ता के साथ कर सकें। पर इस प्रथा का एक भारी दोष यह है कि इसके कारण व्यवस्थापन भी एक पेशा बन जाता है। बहुत से लोग राजनीति में हिस्सा लेकर विधानसभाओं की सदस्यता के लिए इस उद्देश्य से भी प्रयत्न करते हैं कि इस पेशे में उन्हें अच्छी आमदनी दिखाई देती है।

विधानसभाओं की अवधि विधानसभाओं का निर्वाचन निश्चित अवधि के लिए होता है। यह अवधि नियत की जाये, यह प्रश्न भी विवादग्रस्त है। विधानसभाओं की अवधि को बहुत लम्बा रखना लोकतंत्रवाद के प्रतिकूल है, क्योंकि प्रतिनिधियों को जनता का विष्वास पात्र होना चाहिये, और उन्हें जनता की इच्छा को ही अभिव्यक्त करना चाहिये। यदि विधानसभा की अवधि लम्बी हो, तो उसके सदस्यों में यह भावना नष्ट हो जायेगी कि वे जनता के प्रतिनिधि हैं और उसी के प्रति उत्तरदायी हैं। अनेक विचारकों के मत में विधानसभाओं का निर्वाचन प्रतिवर्ष होना चाहिये। पर वार्षिक निर्वाचन में जहां खर्च बहुत बैठता है, वहां प्रतिनिधियों को इस बात का भी अवसर नहीं मिलता, कि कुछ समय तक भरोसे के साथ अपने विचारों व नीति को क्रिया में परिणत कर सकें। इसलिये यह उचित माना जाता है कि विधानसभाओं का चुनाव तीन, चार, या पांच वर्षों के लिए किया जाये। यह पद्धति उपयुक्त भी है।

(5) कार्यपालिका

षासन विभाग के विविध अंग— सरकार का दूसरा प्रमुख अंग षासन – विभाग (समबनजपअम) है जो व्यवस्थापन विभाग के समान ही अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पुराने जमाने के एकतंत्र राज्यों में षासन विभाग की महत्ता और भी अधिक थी, क्योंकि उस समय कानून का निर्माण करने के लिये या षासन नीति को निर्धारित करने के लिए कोई पृथक विभाग नहीं होता था। उस युग में राजा या षासकवर्ग की इच्छा ही कानून मानी जाती थी और उसकी षक्ति को नियंत्रित व मर्यादित करने के लिए किसी अन्य विभाग की सत्ता नहीं होती थी। आधुनिक

काल के लोकतंत्र राज्यों में भी शासन विभाग का महत्व कम नहीं होता । कारण यह कि विधानसभाएं जो कानून बनाती हैं, उनको बहुधा मन्त्रि-परिषद ही प्रस्तावित करती है । मंत्री लोग या उनके कर्मचारी ही बजट तैयार करते हैं, नये टैक्सों का प्रस्ताव करते हैं, राजकीय खर्च के ढंग को निश्चित करते हैं, सरकार की नीति का निर्धारण करते हैं, और राज्य के लिए उपयोगी कानूनों का मसविदा तैयार करते हैं । व्यवस्थापन विभाग का कार्य प्रायः इसी बात तक सीमित रहता है कि वह मन्त्रियों द्वारा प्रस्तावित कानून, बजट या सरकारी नीति की आलोचना करे, उस पर विचार और वाद-विवाद करे, और उस पर अपना मत प्रकट कर उसे स्वीकृत या अस्वीकृत करे । विधानसभाओं या ससंद के गैर-सरकारी सदस्य जो बिल या प्रस्ताव उपस्थित करते हैं, उनकी संख्या बहुत कम होती है । शासन विभाग की इसी महत्ता के कारण साधारण भाषा में इसी विभाग को सरकार कहा जाता है ।

शासन विभाग के स्वरूप को भलीभांति समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसके निम्नलिखित अंगों को दृष्टि में रखें

(1) ध्वजमात्र शासन अनेक राज्यों में सरकार का प्रमुख कोई वंशक्रमानुगत राजा या निर्वाचित राष्ट्रपति होता है, जिसके नाम पर शासन सम्बन्धी सब कार्य किया जाता है । पर इसके हाथ में वास्तविक शासन शक्ति नहीं होती । यह केवल ध्वजमात्र (टिटुलर या नाममात्र) होता है ।

(2) राजनीति शासक शासन विभाग का यह अंग शासन सम्बन्धी नीति का निर्धारण करता है शासन कार्य की देख-रेख करता है, पर प्रत्यक्ष रूप से शासन नहीं करता । ग्रेट ब्रिटेन, भारत आदि राज्यों में जहाँ कैबिनेट सिस्टम विद्यमान है, मन्त्रि-परिषद की यही स्थिति है ।

(3) वास्तविक या स्थायी शासक लोगों के हाथों में रहता है जो स्थायी रूप से राज्य की नौकरी में रहते हैं । इनका पेशा ही शासन सम्बन्धी कार्य करना होता है और इन्हें अपने कार्य के लिए निश्चित वेतन मिलता है । शासन कार्य के लिए नियुक्त इन राज्य कर्मचारियों में विविध । राजकीय विभागों के डायरेक्टरों और सचिवों से लगाकर छोटे से छोटे चौकीदार तक को अन्तर्गत समझा जा सकता है ।

सभी राज्यों में वास्तविक रूप से शासन का कार्य उन शासन विभाग के इन विविध अंगों पर हम क्रमशः विचार करेंगे ।

ध्वजमात्र शासक ध्वजमात्र शासक दो प्रकार के हो सकते हैं, वंशक्रमानुगत और निर्वाचित । ग्रेट ब्रिटेन, जापान, नेपाल आदि के राजा वंशक्रमानुगत हैं, पर वास्तविक शासन शक्ति उनके हाथ में नहीं है । ग्रेट ब्रिटेन का राजा 'ध्वजमात्र' होता है, वहाँ के शासन की वास्तविक शक्ति मन्त्रि-परिषद के हाथ में रहती है । जापान के लोग अपने राजा के प्रति असाधारण श्रद्धा रखते हैं, वे उसे दैवी तक मानते हैं पर शासन का कार्य वहाँ भी मन्त्रियों द्वारा किया जाता है । नेपाल में वास्तविक राजशक्ति पहले प्रधानमंत्री के हाथ में रहती थी, राजा नाम को ही होता था, यद्यपि नेपाली लोग उसे अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखते थे । अब इस दशा में परिवर्तन आ गया है और नेपाल में राजा की शक्ति समाप्त हो गई है ।

चतुर्थ फ्रेंच रिपब्लिक का राष्ट्रपति निर्वाचित ध्वजमात्र शासक का उत्तम उदाहरण है । उसका निर्वाचन फ्रेंच पार्लियामेंट के दोनों सदनों की सम्मिलित बैठक द्वारा किया जाता था, पर फ्रांस में राजशक्ति का वास्तविक प्रयोग मन्त्रि-परिषद के हाथ में था । फ्रांस का राष्ट्रपति तब ब्रिटेन के राजा के समान ध्वजमात्र ही था । वंशक्रमानुगत होने के कारण ब्रिटेन के राजा की जो शासन है, वह निर्वाचित फ्रेंच राष्ट्रपति की नहीं थी । वह न शासन करता था, और न राजशक्ति की शान से ही विभूषित होता था । भारतीय गणराज्य में राष्ट्रपति की स्थिति ब्रिटेन के राजा व चतुर्थ फ्रेंच रिपब्लिक के राष्ट्रपति की अपेक्षा अधिक रखी गई है, पर अमेरिका के राष्ट्रपति के समान वास्तविक शासन शक्ति उनके हाथों में नहीं है । फ्रांस में भी कैबिनेट सिस्टम का अनुसरण किया गया है और ब्रिटेन के समान यहाँ भी वास्तुतः शासन शक्ति मन्त्रि-परिषद के पास रहती है । पर भारत के राष्ट्रपति को अनेक ऐसे अधि

कार व शक्तियाँ दी गई हैं, जो कैबिनेट सिस्टम या पार्लियामेन्टरी एग्जीक्यूटिव के राज्यों में साधारणतया राष्ट्रपति को नहीं दी जाती। वह विशेष परिस्थितियों में अध्यादेश (ऑर्डिनेन्स) जारी कर सकता है, जिनकी स्थिति वही होगी, जो कि पार्लियामेंट द्वारा स्वीकृत कानूनों

वह संकट की होती है। यद्यपि ये अध्यादेश बाद में पार्लियामेन्ट के सम्मुख स्वीकृति के लिये पेश किए जायेंगे, पर सामयिक रूप से किसी भी अध्यादेश को जारी करने का अधिकार राष्ट्रपति को दिया गया है। भारत के राष्ट्रपति को यह भी अधिकार है कि जब वह अनुभव करे कि बाहरी आक्रमण, युद्ध, आन्तरिक विद्रोह या किसी अन्य कारण से सम्पूर्ण भारत, किसी राज्य या उसके किसी खण्ड में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई है, जिससे कि संविधान के अनुसार कार्य कर सकना सम्भव नहीं रहा, तो की दशा (एमर्जेन्सी) की घोषणा कर सके और उस दशा में शासन की विशेष रूप से व्यवस्था कर सके। यद्यपि इस प्रकार संकट की दशा को उद्घोषित करने की बात को भी बाद में संघ की पार्लियामेंट के सम्मुख रखना आवश्यक होगा, पर सामयिक रूप से शासनसूत्र को जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के हाथ से लेने व उनकी शक्ति को मर्यादित व नियंत्रित करने की की असाधारण शक्ति राष्ट्रपति को दी गई है। राष्ट्रपति अपने इन अधिकारों का प्रयोग भी प्रधानमंत्री व मन्त्रि-परिषद के परामर्श के अनुसार ही करेगा। पर चतुर्थ फ्रेंच रिपब्लिक के समान भारत में यह आवश्यक नहीं, कि राष्ट्रपति चतुर्थ फ्रेंच रिपब्लिक के राष्ट्रपति की अपेक्षा बहुत अधिक शक्तिशाली है। संविधान की परम्पराएं धीरे-धीरे विकसित होती है। भारत का राष्ट्रपति पूरी तरह अपने मन्त्रियों के परामर्श के अनुसार कार्य करेगा, या विशेष परिस्थितियों में, संकट की दशा में वह मन्त्रियों के परामर्श के परामर्श की उपेक्षा कर स्वयं अपनी इच्छा से कार्य करेगा, यह समय ही बतायेगा। पर इसमें सन्देह नहीं कि भारत में जो संवैधानिक परम्पराएं विकसित हो रही हैं, उनका परिणाम यही होगा कि यहाँ का राष्ट्रपति भी ध्वजमात्र ही रहेगा।

जिन राज्यों में प्रेशिडेन्शियल सिस्टम विद्यमान है, वहाँ ध्वजमात्र शासक कोई नहीं होता। संयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रपति ध्वज मात्र न होकर शासन विभाग का वास्तविक संचालक होता है।

राजनीतिक शासक — राजनीतिक शासक का क्या अभिप्राय है, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। राज्य की सरकार का केन्द्र स्थान यह राजनीतिक शासक ही होता है। प्रेशिडेन्शियल — सिस्टम वाले राज्यों में यह पद राष्ट्रपति का होता है और कैबिनेट — सिस्टम वाले राज्यों में मन्त्रि-परिषद व प्रधानमंत्री का। शासन-विभाग के साथ सम्बन्ध रखने वाले जिन कार्यों का संचालन राजनीतिक शासक द्वारा होता है वे निम्नलिखित हैं :-

(1) राजनय (डिप्लोमेसी) सम्बन्धी कार्य — अन्य राज्यों के साथ जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध होते हैं, विभिन्न राज्यों का जो परस्पर व्यवहार होता है, उसे राजनय या डिप्लोमेसी कहते हैं। राज्य अन्य राज्यों के साथ सन्धियाँ करता है, व्यापारिक समझौते करता है, राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करता है, अपने राजदूत अन्य राज्यों में भेजता है, और अन्य राज्यों के राजदूत व अन्य प्रतिनिधि अपने यहां रखता है। ये सब कार्य राजनय कहते हैं। इन सबको वही शासक (कार्यपालिका या एग्जीक्यूटिव) करते हैं, जिन्हें हमने यहाँ राजनीतिक शासक कहा है। राष्ट्रपति के अधीन शासन वाले राज्यों में ये सब कार्य राष्ट्रपति करता है। मन्त्रि-परिषद के अधीन शासन वाले राज्यों में ये कार्य पर — राष्ट्रमंत्री के अधीन होते हैं, जो मन्त्रि-परिषद का एक महत्वपूर्ण सदस्य होता है। बहुधा विदेशों से सन्धि — विग्रह करना, राजदूतों को नियुक्त करना आदि कार्य इन राज्यों में भी राष्ट्रपति के नाम पर होते हैं, पर क्योंकि राष्ट्रपति ध्वजमात्र होता है, अतः वास्तविक रूप से ये सब कार्य मन्त्रि-परिषद ही करती है। अनेक राज्यों में यह व्यवस्था की जाती है। कि विदेशों के साथ किये जाने वाले सन्धि — विग्रह आदि को संसद (या उसके अन्यतम सदन) के सम्मुख स्वीकृति के लिये उपस्थित किया जाये। उदाहरणार्थ, अमेरिका में सीनेट के सम्मुख अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विषयों की पेश किया जाता है। राष्ट्रपति विल्सन राष्ट्रसंघ (लीग ऑफ नेशन्स) के प्रमुख निर्माता थे। उनकी इच्छा थी कि संयुक्त राज्य अमेरिका राष्ट्रसंघ में सदस्य रूप से सम्मिलित हो। पर सीनेट के विरोध के कारण यह सम्भव नहीं हो सका। ग्रेट ब्रिटेन

में पहले यह प्रथा थी कि अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों व सम्बन्धों पर पार्लियामेंट का कोई भी नियंत्रण न हो । राजनय सम्बन्धी सब कार्य मन्त्रि-परिशद ही करती थी । पर जब ब्रिटेन में मजदूर दल की शक्ति बढ़ने लगी, तो उसने इस बात के लिए आन्दोलन पुरु किया कि अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों व सम्बन्धों पर पार्लियामेंट का कोई भी नियंत्रण न हो । राजनय सम्बन्धी सब कार्य मन्त्रि-परिशद ही करती थी । पर जब ब्रिटेन में मजदूर दल की शक्ति बढ़ने लगी, तो उसने इस बात के लिए आन्दोलन पुरु किया कि अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों को पार्लियामेंट के सम्मुख उपस्थित करना चाहिए और जनता के प्रतिनिधियों को इस बात का अवसर देना चाहिए कि वे इन विशयों पर अपना मत प्रकट कर सकें । कन्जर्वेटिव दल इसके विरुद्ध था । पर लोकतन्त्रवाद के विकास के साथ-साथ अब वह समय आ चुका है जबकि ब्रिटेन में राजनय (डिप्लोमेसी) पर भी पार्लियामेंट का आषिक रूप से नियंत्रण होने लगा है । अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं व विशयों पर विचार करने के लिये ब्रिटिश पार्लियामेंट के सदस्यों को अवसर दिया जाता है, पर ऐसे अवसरों पर पार्लियामेंट का अधिवेशन गुप्त रूप से (सार्वजनिक रूप से नहीं किया जाता है) । फ्रांस में वे सब अन्तर्राष्ट्रीय मामले, जिनका सम्बन्ध राज्य के किसी प्रदेश व आय - व्यय (वित्त या फाइनेन्स) के साथ हो, पार्लियामेंट के दोनों सदनों के सम्मुख पेश किए जाते हैं और इन मामलों के साथ सम्बन्ध रखने वाली सन्धियों व समझौतों का पार्लियामेंट द्वारा स्वीकृत होना आवश्यक माना जाता है । राजनय सम्बन्धी विशयों पर व्यवस्थापन - विभाग के नियंत्रण की व्यवस्था आजकल प्रायः सभी लोकतन्त्र राज्यों में किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं पर इसमें सन्देह नहीं, कि इन विशयों का संचालन शासन - विभाग का वही अंग करता है, जिसे हमने यहां राजनीतिक शासक कहा है ।

(2) प्रशासन (एडमिनिस्ट्रेशन) सम्बन्धी कार्य - राज्य के आन्तरिक शासन में शासन - विभाग का प्रधान कार्य यह है कि राज्य के कानूनों को क्रिया में परिणत करने की समुचित व्यवस्था की जाये । यह कार्य राज्य के राजनीतिक शासक के ही सुपुर्द होता है । प्रेशिडेन्शियल सिस्टम वाले राज्यों में राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों की नियुक्ति स्वयं करता है । ये मन्त्री अपने अधिकाशनों (महकमों) के अध्यक्ष होते हैं । इन्हें अपने पद पर नियुक्त करना या अपने पद से पृथक करना राष्ट्रपति के ही अधीन होता है । अमेरिका में राष्ट्रपति केवल अपने मन्त्रियों की ही नियुक्ति नहीं करता, अपितु साथ ही राज्य के सब प्रमुख पदाधिकारियों को भी नियुक्त करता है । सेना के मुख्य सेनापति, उच्च न्यायालयों के न्यायाधिवक्ता बड़े प्रशासनाधिकारी (एडमिनिस्ट्रेटर) सब राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किये जाते हैं, यद्यपि इन नियुक्तियों के लिये सीनेट की स्वीकृति आवश्यक मानी जाती है । पर राष्ट्रपति इन उच्च पदाधिकारियों को सीनेट की स्वीकृति के बिना ही उनके पद से पृथक कर सकता है । मन्त्रि-परिशद के अधीन शासन वाले राज्यों में उच्च राजकीय पदाधिकारियों की नियुक्ति मन्त्रियों द्वारा की जाती है, यद्यपि ऐसी कुछ नियुक्तियाँ में राष्ट्रपति के नाम से होती हैं । केवल बड़े पदाधिकारी ही नहीं, अपितु छोटे राजकर्मचारियों की नियुक्ति भी मन्त्रियों के अधीन होती है और उन्हें नियुक्त करते हुए या अपने पदों से करते पृथक हुए मन्त्रियों की स्वीकृति लेनी पड़ती है । राज्य का वास्तविक शासनकार्य जिन स्थायी राजकर्मचारियों के हाथों में रहता है, उन्हें नियत करने या अपने पद से पृथक करने के लिये कुछ निश्चित नियम प्रत्येक राज्य में होते हैं । पर इनका प्रयोग मन्त्री लोग ही करते हैं, और इसीलिए अन्तोगत्वा राजकर्मचारियों की अपने पदों पर स्थिति मन्त्रियों पर ही निर्भर करती है । राजकर्मचारियों की नियुक्ति एक ऐसा कार्य है, जिसके द्वारा राष्ट्रपति या मन्त्रि-परिशद (राजनीतिक शासक) राज्य के शासन पर बहुत अधिक नियंत्रण रखने में समर्थ होते हैं ।

राष्ट्रपति या मन्त्री लोग अपने अधीनस्थ राजपदाधिकारियों या कर्मचारियों को शासन सम्बन्धी निदेश देने का भी अधिकार रखते हैं । कर्मचारियों को निर्देश देने का अधिकार भिन्न-भिन्न राज्यों में विभिन्न प्रकार से है संयुक्त राज्य अमेरिका में राजकीय कर वसूल करने व उसे खर्च करने का विभाग प्रायः स्वतंत्र है, जो वहां की विधान सभा (कांग्रेस) के आदेशानुसार, उस द्वारा स्वीकृत बजट के अनुसार अपना कार्य करता है । राष्ट्रपति को यह अधिकार नहीं है कि वह उसमें हस्तक्षेप कर सके । यह विभाग प्रधानतया कांग्रेस के आदेशानुसार ही कार्य

करता है। पर चतुर्थ फ्रेंच रिपब्लिक में राजकीय आय – व्यय के विषय में भी मन्त्रि-परिशद को अधिकार प्राप्त थे। इसमें सन्देह नहीं कि सब लोकतंत्र राज्यों में राजकर्मचारियों की स्थिति, शक्ति व अधिकार वाकायदा बने हुए नियमों द्वारा निश्चित होते हैं राजकर्मचारी इन नियमों के अन्दर रहते हुए बहुत कुछ अधिकार व शक्ति रखते हैं। मंत्री लोग भी सुगमता से उनका उल्लंघन नहीं कर सकते। पर साथ ही, मंत्री या राष्ट्रपति इन कर्मचारियों को निर्देश दे सकते हैं, इन्हें अपनी नीति का अनुसरण करने के लिए विवश कर सकते हैं और क्योंकि इन कर्मचारियों की अपने पदों पर स्थिति इन राजनीतिक शासकों पर अनेकांश में निर्भर करती है, अतः ये उनके दबाव में भी रहते हैं।

(3) व्यवस्थापन (लेजिस्लेषन) सम्बन्धी कार्य – मन्त्रि-परिशद के अधीन शासन वाले राज्यों में मन्त्रि-परिशद (राजनीतिक शासक), बहुत से व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्य भी करती है। पार्लियामेंट का अधिवेशन बुलाना, उसका अन्त करना (सत्रावसान करना) व पार्लियामेंट को बर्खास्त कर नये चुनाव की व्यवस्था करना मन्त्रि-परिशद के ही हाथ में होता है। यही परिशद नये कानूनों के मसविदे तैयार कराती है, नये कानूनों को पेश करती है और राजकीय आय – व्यय सम्बन्धी प्रस्तावों का निर्माण करती है। इसमें सन्देह नहीं कि व्यवस्थापन कार्य में मन्त्रि-परिशद बहुत महत्वपूर्ण भाग लेती है। राष्ट्रपति के अधीन शासन वाले राज्यों में राजनीतिक शासक (राष्ट्रपति) का व्यवस्थापन – विभाग से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता, वह व्यवस्थापन का नेतृत्व नहीं करता। पर ऐसे राज्यों में राष्ट्रपति को वीटो सम्बन्धी जो अनेक अधिकार प्राप्त हुए हैं, उनके कारण वह राज्य के व्यवस्थापन कार्य में भी हस्तक्षेप कर सकता है।

राजनीतिक शासक को एक अन्य रूप में भी व्यवस्थापन सम्बन्धी अनेक अधिकार प्राप्त होते हैं। ये अधिकार ऑर्डिनेन्स जारी करने के रूप में होते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस, भारत आदि विविध लोकतंत्र राज्यों में राष्ट्रपति को (यदि वह ध्वजमात्र हो, तो उसके नाम पर कार्य करने वाले मन्त्रियों को) अध्यादेश जारी करने के अनेक अधिकार दिये गये हैं। अध्यादेश अनेक प्रकार के होते हैं। जर्मन विधान शास्त्रियों के अनुसार अध्यादेश दो प्रकार के कहे जा सकते हैं – (1) वैधानिक अध्यादेश (लॉऑर्डिनेन्स), जिनके द्वारा किसी नये कानून की रचना की जाती है, या विद्यमान कानून में संशोधन किया जाता है। इन कानूनों का पालन करना प्रत्येक नागरिक के लिये वैसे ही आवश्यक होता है, जैसे कि विधानसभा द्वारा निर्मित कानूनों का। (2) प्रशासनीय अध्यादेश (एडमिनिस्ट्रेटिव आर्डिनेन्स), ये अध्यादेश राजपदाधिकारियों या राजकीय कर्मचारियों को आदेश के रूप में होते हैं, और इनका राज्य के नागरिकों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता।

चतुर्थ फ्रेंच रिपब्लिक को दृष्टि में रखकर अध्यादेश को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है— (1) राष्ट्रपति द्वारा जारी किये गये कानून – फ्रांस में राष्ट्रपति को यह अधिकार था कि वह फ्रेंच उपनिवेशों के शासन के लिये कानून बना सके। फ्रांस के साम्राज्य के औपनिवेशिक शासन के लिये कानूनों का निर्माण फ्रेंच पार्लियामेंट नहीं करती थी। यह कार्य राष्ट्रपति के सुपुर्द था जो उपनिवेश मंत्री के परामर्श के अनुसार इन कानूनों को अध्यादेश के रूप में जारी करता था। (2) फ्रांस में यह भी प्रथा है कि वहां की पार्लियामेंट अनेक विषयों के सम्बन्ध में कानून जारी करने का अधिकार राष्ट्रपति को प्रदान कर देती है। उदाहरणार्थ, न्यायाधीशों की नियुक्ति और राजकीय कर सम्बन्धी किसी कानून को स्थगित कर देने का अधिकार राष्ट्रपति को दे दिया जाता है। (3) फ्रांस में पार्लियामेंट कानून को विशद रूप से न बनाकर संक्षिप्त रूप से बनाती है। फ्रेंच पार्लियामेंट द्वारा स्वीकृत कानून सूत्ररूप में होते हैं, जो एक सिद्धान्त या नीति को निर्धारित कर देते हैं। प्रायः प्रत्येक कानून के अन्त में एक धारा यह रख दी जाती है कि इस कानून को सुचारु रूप से क्रिया में परिणत करने के लिये आवश्यक नियमों की घोषणा अध्यादेश द्वारा की जायेगी। इस प्रकार के अध्यादेश राष्ट्रपति के नाम से प्रकाशित किए जाते हैं, यद्यपि उनका निर्माण मंत्री लोग ही करते हैं।

भारत के संविधान में राष्ट्रपति को अध्यादेश जारी करने के लिये जो अधिकार दिये गये हैं, उनका उल्लेख हम इसी अध्याय में पहले कर चुके हैं। ब्रिटेन में राजनीतिक शासक (राजा के नाम पर मन्त्रि-परिशद) को अध्यादेश द्वारा किसी नये कानूनों को जारी करने का अधिकार अब नहीं रहा है, पर वह भी अनेक ऐसे नियमों व आदेशों को जारी करता है, जो राज्य के विद्यमान कानून को सुचारु रूप से कार्य में परिणत करने के लिये उपयोगी समझे जाते हैं।

(4) न्याय सम्बन्धी कार्य – प्रायः प्रत्येक राज्य में राजनीतिक शासक को न्याय सम्बन्धी भी अनेक अधिकार प्राप्त होते हैं। उनका रूप न्यायालय द्वारा दण्डित किसी व्यक्ति के प्रति दया प्रदर्शित करके उसके दण्ड को कम कर देना या क्षमा कर देना होता है। न्यायालयों में जिस विधि का अनुसरण कर किसी व्यक्ति को दण्ड दिया जाता है, वह पूर्ण व दोषरहित नहीं होती। न्यायाधीश भी ऐसे पूर्ण व्यक्ति नहीं होते, जिनसे कभी कोई भूल न हो सके। अनेक बार न्यायालयों द्वारा ऐसे व्यक्तियों को भी दण्ड मिल जाता है, जो वस्तुतः दण्डनीय नहीं होते। अतः इस बात की गुंजाइश रखनी चाहिये कि ऐसे व्यक्तियों को क्षमा किया जा सके, या उनके प्रति दया प्रदर्शित की जा सके। इसका अधिकार प्रायः राजा या राष्ट्रपति को दिया जाता है, पर कैबिनेट सिस्टम वाले राज्यों में इस अधिकार के प्रयोग के लिये राष्ट्रपति मन्त्रियों के परामर्श पर निर्भर करता है। दया या क्षमा के लिये जिन अभियुक्तों की ओर से प्रार्थना पत्र आते हैं, उन पर एक परामर्श समिति विचार करती है, जो इस बात की सिफारिश करती है कि अभियुक्त के प्रति दया प्रदर्शित की जाये या नहीं। राजनीतिक शासक प्रायः इस परामर्श समिति की उपेक्षा नहीं करता और इसी की सलाह के अनुसार कार्य करता है।

राजनीतिक शासक को यह भी अधिकार होता है कि वह किन्हीं विशेष अवसरों पर अभियुक्तों को सर्वक्षमा (अमनेस्टी) भी प्रदान कर सके। सर्वक्षमा के कारण बहुत से कैदियों को एक साथ जेल मुक्त कर दिया जाता है। मानवता की दृष्टि से ये अधिकार बहुत उपयोगी हैं।

से 48 क (5) सेना सम्बन्धी कार्य – सेनाओं का संगठन, अस्त्र-षस्त्र का संचय, सेनापतियों की नियुक्ति और सैन्यशक्ति का प्रयोग – ये सब विषय ऐसे हैं, जो राज्यों में राजनीतिक शासक के अधीन रहते हैं। किसी अन्य राज्य के विरुद्ध युद्ध की घोशणा का अधिकार प्रायः राष्ट्रपति या मन्त्रि-परिशद के हाथ में नहीं होता। पर ये राजनय (डिप्लोमेसी) के प्रयोग से ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देते जिनके कारण व्यवस्थापन विभाग के लिये युद्ध की घोशणा कर देना अनिवार्य हो जाता है। फ्रांस में युद्ध की घोशणा के लिये यह आवश्यक है कि पार्लियामेंट के दोनों सदनों की सहमति प्राप्त कर के ली जाये। संयुक्त राज्य अमेरिका में कांग्रेस ही युद्ध शुरू करने का फैसला कर सकती है। युद्ध लिये पार्लियामेंट या विधानसभा की स्वीकृति लेना इसलिये भी आवश्यक होता है, क्योंकि युद्ध को चलाने के लिये आवश्यक खर्च की व्यवस्था यही कर सकती है। पर जब एक बार व्यवस्थापन विभाग की स्वीकृति द्वारा युद्ध का प्रारम्भ कर दिया जाता है, तो शासन विभाग की शक्ति असाधारण रूप से बढ़ जाती है। वह सामयिक रूप से संवैधानिक कानून और नागरिकता के अधिकारों को भी स्थगित कर सकता है। युद्ध के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है कि शासन विभाग सब राजशक्ति को अपने हाथ में ले ले, या फौजी कानून (मार्शल ला) को जारी कर दे।

(6) विविध कार्य – राजनीतिक शासक अन्य भी अनेक कार्य करता है, जिनका संक्षिप्त रूप से उल्लेख करना उपयोगी है। वह लोगों को उपाधि या सम्मान प्रदान कर सकता है। ब्रिटिश शासन के समय में भारत में सर, राजा, रायबहादुर, महामहोपाध्याय आदि उपाधियाँ देने की प्रथा थी। भारतीय गणराज्य में इस प्रथा का अन्त कर दिया गया है, पर विषिष्ट वीरता या योग्यता प्रदर्शित करने पर अब भी परमवीर चक्र व पद्मश्री आदि द्वारा सम्मानित करने की प्रथा विद्यमान है। ग्रेट ब्रिटेन में सर आदि की उपाधियाँ अब भी प्रदान की जाती हैं। अनेक राज्यों में शासक वर्ग को यह भी अधिकार है कि कुछ व्यक्तियों को उनकी विषिष्ट सेवा के बदले में पेंशन आदि दे सके या अन्य प्रकार से उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान कर सके।

राज्य के राजनीतिक शासक का या शासन विभाग का संगठन शासन विभाग का संगठन किस प्रकार होना चाहिये, यह विषय बहुत विवादग्रस्त है। इस प्रश्न पर विचार करते हुए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि शासन विभाग का प्रधान प्रयोजन यह है कि वह राज्य की उस इच्छा को जो व्यवस्थापन विभाग द्वारा अभिव्यक्त होती है, क्रिया में परिणत करे। इस प्रयोजन की पूर्ति के लिये यह आवश्यक है कि शासन विभाग सब मामलों पर अविलम्ब रूप से निर्णय कर सके, वह दुविधा में न रहे, और जो समस्या उसके सम्मुख उपस्थित हो, उसका वह तुरन्त हल कर सकने की क्षमता और शक्ति रखता हो। यदि शासन की उत्तरदायिता बहुत से लोगों के हाथों में रहे, तो ये बातें सम्भव नहीं हो सकेंगी। बहुत

से लोग मिलकर किसी प्रश्न पर विचार या विवाद तो अच्छी तरह कर सकते हैं, पर जब विचार द्वारा निर्णीत विषय को क्रिया में परिणत करने का समय आता है, तो एक व्यक्ति उसके लिये अधिक समर्थ व योग्य होता है। नैपोलियन कहा करता था कि दो अच्छे सेनापतियों के हाथ में शक्ति रहने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा है, कि एक बुरे या अयोग्य सेनापति के हाथ में सब शक्ति रहे। इसमें सन्देह नहीं कि शासन कार्य के लिये शासन की उत्तरदायिता एक व्यक्ति के हाथ में ही रहनी चाहिये। जब तक शासन में मतभेद रहेंगे एकता या एकरूपता का अभाव रहेगा, तब तक वह कभी सफल नहीं हो सकेगा। व्यवस्थापन का कार्य तो बहुत से लोगों के हाथों में रहना चाहिये, पर शासन के कार्य की अन्तिम उत्तरदायिता केवल एक व्यक्ति के हाथ में रहना ही उचित है। शासन के लिए जो शक्ति, क्षमता और उत्तरदायिता आवश्यक है, वह इस कार्य को एक व्यक्ति के सुपुर्द करने से ही संभव हो सकती है। शासन का कार्य यदि बहुत से लोगों के हाथ से लोगों के हाथ में रहेगा, तो कोई भी अपने को जिम्मेदार नहीं समझेगा, कभी अविलम्बनिर्णय नहीं हो सकेगा और कभी कार्य में शक्ति या क्षमता नहीं आने पायेगी। यह ठीक है, कि कोई शासक अकेला अपने कार्य को नहीं कर सकता। शासन कार्य इतना विस्तृत और विषाल है, कि वह एक व्यक्ति द्वारा सम्भव ही नहीं है। आचार्य चाणक्य ने ठीक लिखा है कि “राज्यत्व सहायसाध्य होता है, उसे अकेले कोई नहीं कर सकता।” अतः यह तो आवश्यक है, कि शासक के सहायक रहें जो उसे परामर्श दें, और उसके कार्य में हाथ बँटाएँ। पर शासन – कार्य की अन्तिम उत्तरदायिता एक व्यक्ति पर रहना ही उचित है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति के हाथ में जो शासन-शक्ति रहती है, उसका आधार यही सिद्धान्त है। वहाँ के शासन की सम्पूर्ण उत्तरदायिता राष्ट्रपति पर होती है, जो अपने मन्त्री स्वयं नियुक्त करता है, और ये मन्त्री उसी के प्रति उत्तरदायी होते हैं राष्ट्रपति उन्हें अपनी इच्छा से पदच्युत भी कर सकता है। जिन राज्यों में शासन का कार्य मन्त्रि-परिषद के पास होता है, उनमें शासन – शक्ति एक व्यक्ति के हाथ में न रहकर एक परिषद के हाथ में रहती है, जो सामूहिक रूप से शासन के लिये उत्तरदायी होती है। पर परिस्थितियों से विषय होकर मन्त्रि-परिषदों में भी शासन की अन्तिम उत्तरदायिता अब एक व्यक्ति के ही हाथ में आ गई है, जिसे प्रधानमंत्री कहते हैं। यह प्रधानमंत्री ही अपनी मन्त्रि-परिषद के सदस्यों को चुनता है, उन्हें विविध पद देता है, उनमें परिवर्तन करता है, और आवश्यकता पड़ने पर अपनी परिषद का पुन निर्माण भी करता है। शासनशक्ति की उत्तरदायिता अन्तोगत्वा एक व्यक्ति के हाथ में ही रहनी चाहिये, यह सिद्धान्त इतना सही और उपयोगी है कि कैबिनेट सिस्टम में भी अन्तिम रूप से शासनशक्ति एक व्यक्ति (प्रधानमंत्री) के हाथ में ही रहती है। यही कारण है कि वर्तमान समय में प्रायः सभी लोकतंत्र राज्यों में शासन शक्ति की एकता व एकरूपता को बहुत अधिक महत्व दिया जाता है, और इस बात की आवश्यकता को स्वीकार किया जाता है, कि शासन के सम्बन्ध में अन्तिम उत्तरदायिता एक व्यक्ति की ही होनी चाहिये। शासनकार्य की सुविधा के लिये उसे अनेक विभागों में अवश्य विभक्त किया जाता है, और इन विभागों को पृथक-पृथक मन्त्रियों के भी अधीन कर दिया जाता है। पर इन सब विभागों के शासन में एकता और नीति की एकरूपता को बहुत महत्व दिया जाता है, और यह कार्य

प्रधानमंत्री द्वारा ही किया जाता

शासक वर्ग के कार्य काल की अवधि – राज्य में जो राजनीतिक शासक होते हैं, उनके कार्य काल की अवधि को निश्चित करने के दो प्रकार हैं— (1) कैबिनेट सिस्टम में प्रधानमंत्री या

मन्त्रि-परिशद (राजनीतिक शासक) तब तक अपने पद पर रहते हैं, जब तक पार्लियामेंट का विष्वास उन्हें प्राप्त रहै। क्योंकि पार्लियामेंट लोकमत का प्रतिनिधित्व करती है, अतः दूसरे षब्दों में यह कहा जा सकता है, कि जब तक जतना का विष्वास मन्त्रि-परिशद को प्राप्त हरे, वह शासनकार्य करती रह सकती है। उसकी कोई निष्चित अवधि नहीं होती। उसकी अवधि जनता के विष्वास या अविष्वास पर ही निर्भर करती है। (2) प्रेशिडेन्श्ल सिस्टम में शासक (राष्ट्रपति) व्यवस्थापन विभाग से पूर्णतया स्वतंत्र होता है। उसका चुनाव एक निष्चित अवधि के लिये होता है, और इस अवधि के पूर्ण होने से पूर्व उसे अपने पद से पृथक नहीं किया जा सकता। संयुक्त राज्य अमेरिका में यही प्रथा विद्यमान है।

कैबिनेट सिस्टम और प्रेशिडेन्श्ल सिस्टम के गुण-दोशों पर हम पहले विचार कर चुके हैं, उन्हें यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं पर यहां इस बात का निर्देश कर देना उपयोगी है, कि जिन राज्यों में शासनसूत्र का संचालन राष्ट्रपति के हाथ में हो, वहां उसकी नियुक्ति इतनी अवधि के लिये अवश्य होनी चाहिये, कि उसे अपने विचारों व नीति को क्रिया में परिणत करने के लिये पर्याप्त समय मिल जाये। अनेक विचारक इस पक्ष में रहे हैं, कि राष्ट्रपति का निर्वाचन प्रतिवर्ष होना चाहिये। पर यह उचित नहीं है, क्योंकि एक साल का समय किसी भी योजना को पूरा करने के लिए बहुत कम है, और कोई राष्ट्रपति यह भरोसा नहीं रख सकता, कि दूसरे साल के चुनाव में भी उसे अवश्य चुन लिया जायेगा। इसी विचार से संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति का निर्वाचन चार साल के लिये होता है, और उसे यह अधिकार भी रहता है, कि वह दूसरी बार भी अपने पद के लिये उम्मीदावार हो सके

मन्त्रि-परिशद के अधीन शासन वाले राज्यों में मन्त्रि-परिशद की कोई अवधि निष्चित नहीं होती। पर ब्रिटेन सदृश जिन राज्यों में केवल दो या तीन राजनीतिक दल विद्यमान हैं। वहां मन्त्रि-परिशद इस बात का भरोसा रख सकती है, कि वह पर्याप्त समय तक अपने पद पर रह सकेगी। पर फ्रांस सदृश राज्यों में जहां राजनीतिक दलों की संख्या एक दर्जन के लगभग रहती है, कोई भी मन्त्रि-परिशद पर्याप्त समय तक अपने पद पर नहीं रह सकी। पर फ्रांस में एक मन्त्रि-परिशद के टूटने पर जिस नई परिशद का निर्माण होता था, उसमें पहली से बहुत अन्तर नहीं होता था। पहली मन्त्रि-परिशद में यदि पांच दलों के प्रतिनिधि थे, तो उनमें से कोई एक या दो दल नई मन्त्रि-परिशद में सम्मिलित नहीं होते थे। उनका स्थान अन्य दलों के व्यक्ति ले लेते थे, और प्रायः मन्त्रि-परिशद की एकरूपता में विशेष अन्तर नहीं आने पाता था।

जिन राज्यों में किसी अधिनायक या एकाधिकारी (डिक्टेटर) का शासन होता है, या जिन राज्यों में किसी एक राजनीतिक दल का प्राधान्य होता है, वहां राजनीतिक शासकों की अवधि बहुत लम्बी होती है। हिटलर और मुसोलिनी तब तक अपने पदों पर आरुढ़ रहे, जब तक कि महायुद्ध में परास्त हो जाने के कारण उनकी सत्ता ही नष्ट नहीं हो गई। कम्युनिस्ट दल के असाधारण प्राधान्य के कारण रूस में स्टालिन बहुत सुदीर्घ काल तक अपने पद पर आरुढ़ रहे। चीन के कम्युनिस्ट शासन में माओ त्से तुंग चिरकाल तक अपनी स्थिति कायम रख सकें, यह भरोसे के साथ कहा जा सकता है।

शासक वर्ग की नियुक्ति का प्रकार-राज्य का शासन जिन (राष्ट्रपति या मन्त्रि-परिशद) के हाथ में होता है, उनकी नियुक्ति का प्रकार सब राज्यों में एक सदृश नहीं है। एकतंत्र राज्यों में राजा वंशक्रमानुगत होता है, अतः उसकी नियुक्ति का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। पर ऐसे राज्यों में राजा के वंशक्रम के सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों में पृथक-पृथक नियम होते हैं। कुछ राज्यों में कन्या को राजगद्दी पर बैठने का अधिकार नहीं होता। अन्य राज्यों में कन्या गद्दी पर बैठ सकती है, बर्ते कि राजा का कोई पुत्र न हो। इतिहास में ऐसे समय भी रह चुके हैं, जबकि कतिपय राज्यों में राजा की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा होती थी। विषुद्ध वैधानिक सिद्धान्त के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन के राजा को अब भी निर्वाचित माना जाता है, यद्यपि वह वंशक्रमानुगत होता है। अनेक विचारक पुनः शासक (राज) के वंशक्रमानुगत होने को उचित मानते हैं। उनका कथन है, कि जनता में राजपति के प्रति भक्ति और निष्ठा की भावना तभी रह सकती है, जबकि उसकी नियुक्ति निर्वाचन द्वारा न हो चुनाव के समय वोट

प्राप्त करने के लिये जिस प्रकार का आन्दोलन होता है, विविध उम्मीदवारों के विरुद्ध जिस प्रकार कीचड़ उछाला जाता है, उसके कारण जनता के हृदय में राष्ट्रपति के प्रति श्रद्धा या आदर का भाव सम्भव नहीं रहता । अतः यह उपयोगी है, कि लोकतंत्र राज्यों में भी जिस ध्वजमात्र षासक (राजा या राष्ट्रपति) के नाम से षासन सूत्र का प्रयोग किया जा रहा हो, वह किसी कुलीन परिवार का हो, जिसे जनता स्वाभाविक रूप से आदर और भक्ति की दृष्टि से देखती हो, और जिसे लोग अपने से ऊँचा समझते हों। जिन राज्यों की जनता अपिक्षित हो, या राजनीतिक दृष्टि से अधिक उन्नत न हो, उनमें राजा के वंशक्रमानुगत होने का अवष्य लाभ है। इसी कारण ग्रेट ब्रिटेन के अनेक विचारक ब्रिटिश राजा की सत्ता को साम्राज्य की एकता व स्थिरता के लिये उपयोगी प्रतिपादित करते रहे हैं ।

वर्तमान समय के अनेक लोकतंत्र राज्यों में राष्ट्रपति या राज्यपाल (गवर्नर) की नियुक्ति जनता द्वारा निर्वाचित होकर की जाती है। बोलिविया, मैक्सिको, ब्राजील, पेरू आदि अमेरिकन राज्यों में राष्ट्रपति को सर्वसाधारण वोटर निर्वाचित करते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के विषय में भी यह कहा जा सकता है, कि उसका राष्ट्रपति जनता द्वारा निर्वाचित होता है, यद्यपि वहां राष्ट्रपति के के लिये एक अत्यन्त जटिल परोक्ष पद्धति का अनुसरण किया जाता है। फ्रांस में राष्ट्रपति के चुनाव के लिये अनेक बार जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन की पद्धति का अनुसरण किया गया । पर नैपोलियन के नाम में कुछ ऐसा जादू था, कि दो बार इस नाम का धारण करने वाले व्यक्ति वहां निर्वाचित राष्ट्रपति चुनाव

के पद से ऊंचें उठकर सम्राट पद तक पहुंच गये । अतः बाद में फ्रांस में यह व्यवस्था की गई कि राष्ट्रपति का चुनाव फ्रेंच पार्लियामेंट के दोनों सदन अपनी सम्मिलित बैठक में किया करें। 1914-18 के महायुद्ध के बाद यूरोप में जो अनेक नये लोकतंत्र राज्य कायम हुए थे, प्रायः उन सब में (जर्मनी को छोड़कर, जहां कि राष्ट्रपति को जनता प्रत्यक्ष रूप से चुनती थी) फ्रेंच पद्धति का अनुसरण किया गया, और यह व्यवस्था की गई है कि पार्लियामेंट के दोनों सदन मिलकर राष्ट्रपति का निर्वाचन करें । भारत में राष्ट्रपति के चुनाव के लिये जिस पद्धति का अनुसरण किया जाता है, उसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं।

कैबिनेट सिस्टम वाले राज्यों में राजा या राष्ट्रपति ध्वजमात्र होता है । अतः उनमें मन्त्रि-परिशद की नियुक्ति का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण है। ब्रिटेन में हाउस ऑफ कॉमन्स में जिस राजनीतिक दल का बहुमत हो, उसके नेता को प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त किया जाता है। राजा उसी व्यक्ति को मन्त्रि-परिशद के निर्माण का कार्य सुपुर्द करता है, और वही अपने दल के प्रमुख व्यक्तियों को विविध मन्त्रि पदों के लिये चुनता है। भारत में भी इसी पद्धति का अनुसरण किया गया है । पर फ्रांस की पार्लियामेंट में कोई राजनीतिक दल ऐसी स्थिति में नहीं होता कि वह अकेला अपने दल से मन्त्रि-परिशद का निर्माण कर सके ।

फ्रांस में राष्ट्रपति पार्लियामेंट (उसके प्रथम सदन – नेशनल एसेम्बली) के किसी ऐसे सदस्य को मन्त्रि-परिशद का निर्माण करने का कार्य सुपुर्द करता है, जिसके सम्बन्ध में यह आषा की जाती हो, कि वह असेम्बली के कम से कम 303 (आधे से अधिक) वोट अपने पक्ष में प्राप्त कर लेगा । चतुर्थ फ्रेंच रिपब्लिक में यह व्यवस्था थी, कि जब राष्ट्रपति किसी व्यक्ति को मन्त्रि-परिशद का (प्रधानमंत्री) पद ग्रहण करने के लिये आमन्त्रित करता था, तो वह व्यक्ति नेशनल एसेम्बली के सम्मुख उपस्थित होकर यह बताता था, कि प्रधानमंत्री बन जाने पर वह किस नीति व कार्यक्रम का अनुसरण करेगा और उसकी मन्त्रि-परिशद में अन्य मन्त्री कौन होंगे। यदि नेशनल एसेम्बली के बहुसंख्यक सदस्य इस व्यक्ति के प्रति विष्वास का प्रस्ताव स्वीकृत कर दें, तो वह मन्त्रि-परिशद का अध्यक्ष नियुक्त हो जाता था। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये, कि अध्यक्ष या प्रधानमंत्री बनने के लिये नेशनल एसेम्बली के अधिवेशन में उपस्थित सदस्यों की बहुसंख्या का अनुकूल होना ही पर्याप्त नहीं था, इसके लिये यह आवष्यक था कि एसेम्बली में कुल मिलाकर जितने सदस्य हों, उनकी बहुसंख्या विधायक के प्रस्ताव के पक्ष में अपना वोट दें।

राज्य का प्रमुख शासक, चाहे वह राजा हो या राष्ट्रपति और चाहे वह वास्तविक शासक हो या ध्वजमात्र, न्यायालयों द्वारा अदण्डनीय माना जाता है। वह चाहे कोई भी अपराध करे, यह अपराध चाहे राजनीतिक हो या किसी अन्य प्रकार का हो, राज्य के न्यायालयों में न उस पर मुकदमा चलाया जा सकता है, और न उसे कोई दण्ड ही दिया जा सकता है। इस व्यवस्था का मूल तो सम्भवतः यह है, कि पुराने समय में राजा को कानून से ऊपर माना जाता था। वही कानून का निर्माण करता था, और स्वयं ही सबसे प्रधान न्यायाधीश भी होता था। अतः यह सम्भव नहीं था, कि उस पर किसी न्यायालय में मुकदमा चलाया जा सके। लोकतंत्र शासनों में भी यह व्यवस्था कायम है। इसका कारण यह है, कि यदि साधारण न्यायालयों में राजा या राष्ट्रपति पर मुकदमा चलाया जाये, तो निर्णय सर्वथा निष्पक्ष नहीं हो सकेगा। राजा या राष्ट्रपति के नाम से ही उच्च न्यायाधीशों की नियुक्ति होती है। ये शासक राज्यकार्य में असाधारण प्रभाव रखते हैं। अतः इन पर आरोपित किसी अभियोग पर विचार करते हुए न्यायाधीश के सम्मुख अत्यन्त विकट समस्या उपस्थित हो जायेगी, और ऐसा होने से प्रमुख शासक (राजा या राष्ट्रपति) के प्रभाव व रोब पर भी असर पड़ेगा।

संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति पर न्यायालयों में कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। पर कांग्रेस के प्रथम सदन (प्रतिनिधि सभा या हाउस ऑफ रिप्रेजेंटेटिव्स) को यह अधिकार है, कि राजद्रोह या किसी अन्य महा अपराध का उस पर आरोप कर सके। इस दशा में कांग्रेस का दूसरा सदन (सीनेट) उस अभियोग के लिये न्यायालय का कार्य करता है। राष्ट्रपति के पद पर रहते हुए किसी व्यक्ति ने यदि कोई अपराध किया हो, तो उस राष्ट्रपति के पद से पृथक् होने के बाद साधारण न्यायालय में भी मुकदमा चलाया जा सकता है। ग्रेट ब्रिटेन में राजा के विषयमें यह सिद्धान्त माना जाता है, कि वह कोई भूल कर ही नहीं सकता। फ्रांस में राष्ट्रपतिके ऊपर कोई मुकदमा साधारण न्यायालयों में नहीं चलाया जा सकता। पर अमेरिका के समान वहां भी पार्लियामेंट का प्रथम सदन (नेशनल एसेम्बली) राष्ट्रपति पर महाभियोग लगासकता है, जिसका निर्णय द्वितीय सदन (सीनेट) द्वारा किया जाता है। भारत में राष्ट्रपतिपर महाभियोग चलाने के लिये यह व्यवस्था की गई है, कि संसद का कोई भी सदन उसपर महाभियोग चला सकता है, पर इसके लिये उस सदन के दो तिहाई सदस्यों की सहमति आवश्यक होगी। किसी एक सदन द्वारा महाभियोग के चलाये जाने पर अन्य सदन उसदोशारोप का अनुसंधान करेगा, और जब अनुसंधान करने वाले उस सदन के समस्त सदस्योंसे कम से कम दो तिहाई सदस्य उस महाभियोग का समर्थन करेंगे, तब राष्ट्रपति अपनेपद से पृथक् हुआ समझा जायेगा।

प्रशासक वर्ग या सिविल सर्विस – किसी भी राज्य का वास्तविक शासन ध्वजमात्र शासक या राजनीतिक शासक के हाथों में नहीं होता। ध्वजमात्र शासक के नाम पर सब शासनकार्य किया जाता है, पर वस्तुतः वह शासन सम्बन्धी नीति तक का भी निर्णय नहीं करता। राजनीतिक शासक शासननीति का निर्माण करते हैं, राज्य कार्य का संचालन करते हैं और सब सरकारी कार्य का नियंत्रण व मार्गप्रदर्शन करते हैं। पर राज्य का वास्तविक शासन उन स्थानीय राज-पदाधिकारियों व राजकर्मचारियों के हाथों में रहता है, कि जन्हें प्रशासक वर्ग या सिविल सर्विस कहा जाता है। ये राजकर्मचारी अपने-अपने कार्य में दक्ष होते हैं, और इनकी नियुक्ति शासन-सम्बन्धी योग्यता को दृष्टि में रखकर ही की जाती है। सरकारी सेवा इनका पेशा होता है और अपने कार्य के बदले में ये निश्चित वेतन प्राप्त करते हैं। इन कर्मचारियों की स्थिति ठीक वही होती है, जो आर्थिक क्षेत्र में श्रमिकों की होती है। मन्त्रियों के पद पर या राष्ट्रपति के पद पर जिन व्यक्तियों की नियुक्ति होती है, उनके लिये किसी निश्चित योग्यता की आवश्यकता नहीं समझी जाती, और न ही इसके लिये उन्हें कोई परीक्षा उत्तीर्ण करनी होती है। इन पदों पर किसी भी ऐसे व्यक्ति को नियुक्त किया जा सकता है, जो सार्वजनिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखता हो, और जनता का नेतृत्व करने में समर्थ हो। युद्धमंत्री के पद पर किसी ऐसे व्यक्ति को नियुक्त किया जा सकता है, जो युद्धविद्या से कोई भी परिचय न रखता हो। राज्य का अर्थमंत्री ऐसा हो सकता है जो स्वयं निर्धन हो, और जिसने आर्थिक उत्पादन के क्षेत्र में कोई भी महत्वपूर्ण कार्य न किया हो।

राजनीतिक शासकों की नियुक्ति के लिये किसी विषिष्ट या निष्चित योग्यता की आवश्यकता नहीं समझी जाती, और न ही इन पदों पर कार्य करने वाले लोग स्थिर रूप से अपने पदों पर रहते हैं। एक व्यक्ति आज कहीं वकालत करता है, पत्र सम्पादन करता है, या इसी प्रकार का कोई अन्य पेशा करता है विधानसभा में निर्वाचित होकर वह कल मंत्री बन सकता है, और कुछ दिन तक इस पद पर रहकर फिर अपने पुराने कार्य पर वापस आ सकता है। पर सिविल सर्विस के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। सरकारी कर्मचारी अनुसार धीरे-धीरे युवावस्था में राजकीय सेवा में नियुक्त होते हैं, और अपनी योग्यता व कार्यक्षमता के उन्नति करते जाते हैं। उनका सम्पूर्ण जीवन राजकीय सेवा में ही व्यतीत होता है, और वही उनका पेशा होता है। एक कर्मचारी मुन्सिफ के रूप में सरकारी सेवा प्रारम्भ करता है। यदि वह योग्य हो, तो उन्नति करता हुआ वह एक दिन हाईकोर्ट का न्यायाधीश बन सकता है। नायब तहसीलदार से काम शुरू कर कोई व्यक्ति जिले का कलेक्टर बन सकता है, और इससे भी ऊँचा पद प्राप्त कर सकता है। सरकारी कर्मचारियों की स्थिति मन्त्रि-परिषद या राष्ट्रपति के ऊपर निर्भर नहीं करती। प्रधानमंत्री चाहे कन्जर्वेटिव दल का हो चाहे मजदूर दल का, सिविल सर्विस के लोग एक समान रूप से अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं सरकार चाहे किसी भी राजनीतिक दल की हो, सरकारी कर्मचारी सब के अधीन समान रूप से कार्य करते हैं। ब्रिटिश शासन के समय में जो सरकारी कर्मचारी कांग्रेस द्वारा आयोजित सभाओं पर गोली चलाने की आज्ञा देने में संकोच नहीं करते थे, वे आज कांग्रेस सरकार के आदेशों का आंख मीच कर अनुसरण करते हैं। राजकर्मचारियों का कार्य ही यह है, कि वे सरकार की आज्ञा का पालन करें, राज्य के कानूनों को क्रिया में परिणत कराएँ, और स्वयं राजनीति या राजनीतिक दलबन्दी से कोई वास्ता न रखें। राजनीतिक शासक स्वयं राजनीतिज्ञ होते हैं, उनके निष्चित राजनीतिक विचार होते हैं एवं उनका सम्बन्ध किसी राजनीतिक दल के साथ होता है। पर प्रशासक वर्ग, सिविल सर्विस या राज्य कर्मचारियों के अपने विचार चाहे कोई भी क्यों हों, उनका यही कर्तव्य होता है कि वे राज्य की तत्कालीन सरकार के आदेशों का पालन करें।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राजनीतिक शासकों और प्रशासक वर्ग में मुख्य भेद निम्नलिखित (1) प्रशासकवर्ग की अपने कार्य पर नियुक्ति विशेष योग्यता के कारण की जाती है। इसके लिये उन्हें किसी निष्चित परीक्षा को उत्तीर्ण करना होता है, और परीक्षा में जो लोग उत्तीर्ण हो उनमें भी जो सबसे अधिका योग्य हों, उन्हें ही राजकीय सेवा में लिया जाता है। राजकीय पदों पर नियुक्ति के लिये पब्लिक सर्विस कमीशन (लोकसेवा आयोग) की व्यवस्था प्रायः सभी राज्यों में होती है। राजनीतिक शासकों (राष्ट्रपति व मंत्री) के लिये इस प्रकार की विशेष योग्यता व परीक्षा आदि की आवश्यकता नहीं होती। (2) प्रशासकवर्ग राजकीय सेवा को पेशे के रूप में करता है, इसके लिये वह अपनी योग्यता के अनुसार वेतन प्राप्त करता है, और स्थायी रूप से अपने पद पर रहता है। (3) प्रशासक वर्ग या राज कर्मचारियों का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं होता। राज्य का संचालन किसी भी राजनीतिक दल के हाथ में हों, ये कर्मचारी सबके आदेशों को समान रूप से मानते हैं।

प्रशासक वर्ग के कार्य शासन कार्य के संचालन के लिये सरकार या शासन विभाग को अनेक अधिकरणों (डिपार्टमेंट) में विभक्त किया जाता है। प्रत्येक अधिकरण या विभाग का प्रमुख अधिकारी एक मंत्री होता है। भारतीय गणराज्य की संघ सरकार में आन्तरिक शासन (होम), विदेशी सम्बन्ध (एक्सटर्नल अफेयर्स), शिक्षा, यातायात (ट्रांसपोर्ट), रक्षा (डिफेन्स), सूचना और प्रचार, व्यवसाय और व्यापार आदि अनेक विभाग हैं, जिनका संचालन करने के लिये विविध मन्त्रियों की नियुक्ति की जाती है। ये मंत्री राजनीतिक शासक होते हैं, अतः विभाग के कार्य की देख-रेख व नीति का निर्माण यही करते हैं। पर प्रत्येक विभाग का वास्तविक अध्यक्ष एक सचिव (सेक्रेटरी) होता है, जो सिविल सर्विस का सदस्य होता है, और मन्त्री के आदेशों अनुसार अपने विभाग का शासन व संचालन करता है। मंत्री लोग अपने आदेश इन सचिवों को ही देते हैं, और वे सचिव अपने अधीन विविध राज-कर्मचारियों द्वारा सरकारी आदेशों का पालन कराते हैं।

प्रशासक वर्ग का कार्य यह है, कि वह राजनीतिक शासकों के आदेशों को क्रिया में परिणत करें। राष्ट्रपति या मन्त्रि-परिषद किस नीति का निर्माण करते हैं, राज्य को किस दिशा में ले जाना चाहते हैं, किन कार्यों को राज्य के लिये हितकर मानते हैं, इन बातों से इस प्रशासक वर्ग का विशेष सम्बन्ध नहीं होता। इसका कार्य यही है, कि वह मन्त्रियों की आज्ञा का पालन करे। इसमें सन्देह नहीं, कि मन्त्रियों पर इन स्थायी राज पदाधिकारियों का बहुत प्रभाव होता है। कोई योग्य मंत्री ऐसा नहीं हो सकता, जो इनके अनुभव से लाभ न उठाना चाहे। मंत्री लोगों को क्रियात्मक शासन का अनुभव बहुत कम होता है। अतः वे जो योजनाएं बनाते हैं, या जो नीति निर्धारित करते हैं, क्रियात्मक दृष्टि से उसका क्या परिणाम होगा, यह बात वे भली-भांति नहीं जान सकते। स्थायी राज पदाधिकारी अपने अनुभव के आधार पर मन्त्रियों को परामर्श देते हैं, और मंत्री लोग इनके परामर्श को समुचित महत्व देते हैं। सिविल सर्विस मन्त्रियों पर बहुत प्रभाव रखती है, और सरकारी नीति के निर्धारण में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

सिविल सर्विस के उच्च कर्मचारियों को व्यवस्थापन और न्याय सम्बन्धी कार्य भी करने होते हैं। मन्त्रि-परिषद की ओर से जो बिल विधानसभा या संसद में पेश होते हैं, उनके मसविदे ये कर्मचारी ही तैयार करते हैं। जो कानून व्यवस्थापन विभाग द्वारा स्वीकृत हो जाते हैं, उनका पालन कराने के लिये बहुत से नियम उपनियमों की आवश्यकता होती है। इनका निर्माण भी इन कर्मचारियों द्वारा ही होता है। सरकार का कार्य बुत जटिल है। प्रत्येक राजकीय विभाग में बहुत से नियम विद्यमान होते हैं, जिनका पालन प्रत्येक कर्मचारियों के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्णय इन्हीं नियमों के अनुसार किया जाता है। इन नियमों का निर्माण उच्च सरकारी पदाधिकारी ही रकते हैं। सरकार के प्रत्येक विभाग बहुत सी ऐसी समस्याएं पैदा होती रहती हैं जिनका निर्णय विभाग के उच्च पदाधिकारियों के ही हाथ में रहता है। छोटे राजकर्मचारी के निर्णय के विरुद्ध बड़े अधिकारी के समक्ष अपील की जा

सकती है। यदि किसी मुख्याध्यापक ने किसी अध्यापक को कार्य से पथ्यक किया, तो वह इन्स्पेक्टर के पास अपील कर सकता है। इन्कम टैक्स ऑफिसर ने किसी व्यक्ति पर टैक्स लगाया, व उसके फैसले के विरुद्ध इन्कमटैक्स कमिश्नर की सेवा में अपील कर सकता है। इस प्रकार प्रत्येक राजकीय विभाग में उच्च कर्मचारियों को न्याय सम्बन्धी अनेक कार्य भी करने पड़ते हैं। राज्य के प्रशासक वर्ग के कार्य बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। शासन सम्बन्धी वास्तविक कार्य उन्हीं के हाथों में रहता है। राज्य में जो व्यवस्थापन विभाग है या जो राजनीतिक शासक है, उनका कार्य तो मुख्यतया यही है, कि वे जनता के मत को अभिव्यक्त करें, या लोकमत के अनुसार नीति का निर्धारण करें। पर जनता के मत को क्रिया में परिणत करना इस स्थायी प्रशासक वर्ग का ही कार्य है।

(6) न्याय – विभाग

पर व्यवस्थापन विभाग और शासन विभाग के समान न्याय विभाग भी सरकार का एक महत्वपूर्ण अंग होता है। व्यवस्थापन विभाग जनता की इच्छा को कानूनों के रूप में अभिव्यक्त करता है, कानून के रूप में अभिव्यक्त हुई जनता की इच्छा को शासन विभाग क्रिया रूप में परिणत करता है। न्याय विभाग का यह कार्य है, कि इन कानूनों के अभिप्राय की व्याख्या करे, और जो कोई इनका उल्लंघन करे उसे दण्ड दे। किसी राज्य में कानून चाहे कितने ही विषाल व उन्नत रूप में विद्यमान हों,

1 जब तक उन्हें समुचित रूप से प्रयुक्त करने के लिये एक पथ्यक विभाग नहीं होगा, जनता उनका पूरा-पूरा लाभ नहीं उठा सकेगी। राज्य में निवास करने वाले विभिन्न व्यक्तियों के लिये आवश्यक होता है, कि वे राजकीय कानूनों का पालन करें। पर कोई व्यक्ति इन कानूनों का समुचित रूप से पालन कर रहा है या नहीं, इस बात का निर्णय करने के लिये एक निष्पक्ष, ईमानदार और स्वतन्त्र न्याय – संस्था की अनिवार्य रूप से आवश्यकता है। इसी

राजनीतिक सिद्धान्त

को राज्य का न्याय – विभाग कहते हैं। यह विभाग न केवल व्यक्तियों के पारस्परिक मुकदमों का कानून के अनुसार निर्णय करता है, अपितु राज्य और व्यक्तियों के पारस्परिक विवादों का भी फैसला करता है। लॉर्ड ब्राइस ने ठीक लिखा है, कि किसी शासन की उत्तमता व उत्कृष्टता उसके न्याय – विभाग के सुसंगठन पर ही निर्भर है।

राज्य संस्था के विकास के साथ ही न्याय विभाग का भी प्रादुर्भाव हुआ। जब तक मनुष्यों के बीच में राज्य संस्था का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, मनुष्य आपस के झगड़ों का निर्णय स्वयं किया करते थे। यदि किसी व्यक्ति की हत्या की है, तो मुझे भी उसका दाँत तोड़ देना चाहिए, यदि किसी ने मेरे घर के किसी व्यक्ति की हत्या की है, तो मुझे भी उसके परिवार के किसी व्यक्ति का प्राण ले लेना चाहिए, यही युग का न्याय था। यही मनोवृत्ति मातस्य न्याय को पैदा करती थी। राज्य संस्था के विकास द्वारा प्रत्येक मनुष्य ने अपनी असीमित स्वतन्त्रता, स्वेच्छाचारिता या उच्छृंखलता को मर्यादित किया। प्रत्येक मनुष्य ने यह तय किया कि वह अपने झगड़ों का फैसला स्वयं शक्ति प्रयोग द्वारा न करके किसी अन्य सत्ता द्वारा करायेगा। सब लोग कुछ निश्चित नियमों का पालन करेंगे, जो इन नियमों का उल्लंघन करेगा वह दण्डनीय होगा – यही भावना राज्यसंस्था के प्रादुर्भाव का मूल है। अतः जब व्यवस्थापन विभाग का पथक् रूप से विकास नहीं हुआ था, जब कानून मनुष्यों में विद्यमान व्यवहार, चरित्र, प्रथा व परम्परा पर आश्रित थे, तब भी न्याय विभाग की आवश्यकता थी। इस विभाग के अभाव में राज्य संस्था की कल्पना भी सम्भव नहीं है।

न्याय विभाग के कार्य – वर्तमान युग में न्याय विभाग का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है। आजकल के राज्यों में कानून बहुत विकसित रूप धारण कर चुका है, और इस कारण उन्हें प्रयुक्त करने व उनके अनुसार निर्णय करने की आवश्यकता भी बहुत महत्व रखती है। न्याय विभाग के वर्तमान कार्यों को हम संक्षिप्त रूप से इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं

(1) व्यक्तियों के जो आपस के झगड़े हों, न्यायालय कानून के अनुसार विभाग उनका निर्णय करते हैं। मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार बहुत प्रकार के होते हैं। आर्थिक लेन-देन, विरासत, विवाह – सम्बन्ध, आदि विविध विषयों की लेकर उनमें बहुत से झगड़े उत्पन्न होते हैं, और इनका निर्णय करने के लिए ऐसे न्यायालयों की आवश्यकता होती है, जो निष्पक्ष रूप से कानून के अनुसार इनको निर्णीत कर सकें।

(2) अनेक विषय ऐसे भी होते हैं, जिनके सम्बन्ध में कानून स्पष्ट नहीं होता है। कानून का स्वरूप कितना ही विशद क्यों न हो, पर अनेक मामले ऐसे पेश हो जाते हैं, जिनका निर्णय वर्तमान कानून द्वारा नहीं किया जा सकता। पर न्यायालय इनका भी निपटारा करते हैं, और इसके लिये वे औचित्य (ईक्विटी) व स्वाभाविक तथ्य के सिद्धान्त का आश्रय लेते हैं। भारत के प्राचीन विधान शास्त्रियों ने इसी को 'धर्म' व 'सत्य' के नाम से कहा है। न्यायालय औचित्य, धर्म या सत्य के आधार पर जो निर्णय करता है, वह एक परम्परा को उत्पन्न कर देता है। यदि अन्य न्यायाधीश भी इसी प्रकार के किसी अन्य विवाद के उपस्थित होने पर उसी प्रकार का निर्णय करें, जो पहले किसी न्यायाधीश ने किया था, तो परम्परा के आधार पर एक नये कानून का विकास हो जाता है, जिसे केस लॉ या न्यायालयों द्वारा निर्मित कानून कहते हैं। न्याय – विभाग का यह कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। न्याय विभाग जहाँ राज्य के कानून का प्रयोग करता है, वहाँ उसकी व्याख्या भी करता है। न्यायालयों द्वारा की गई कानूनों की व्याख्या कानून के समान ही स्थिति रखती है। जिन मामलों के लिये कोई कानून विद्यमान न हो, न्यायालय औचित्य या सत्य के सिद्धान्त के आधार पर उनके लिये कानूनों का प्रतिपादन भी करता है।

(3) राज्य संस्था का एक प्रधान प्रयोजन यह है, कि वह व्यक्तियों की स्वतन्त्रता व अधिकारों की रक्षा करें व व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में दो ओर से बाधा उपस्थित हो सकती है, अन्य व्यक्तियों द्वारा और राज्य द्वारा, सब व्यक्तियों की शक्ति एक समान नहीं होती। सबल व्यक्ति निर्बलों की स्वतन्त्रता में बाधा उपस्थित कर सकते हैं। राज्य भी एक शक्ति सम्पन्न सत्ता होती है, वह भी अपनी शक्ति का प्रयोग कर व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में बाधा डाल सकती है। न्याय विभाग का कार्य यह है कि वह इन दोनों बाधाओं को दूर करे, और इस प्रकार

व्यक्तियों की स्वतन्त्रता व अधिकारों की रक्षा करें। राज्य में निवास करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को यह अवसर होता है, कि वह न्यायालय द्वारा अपनी स्वतन्त्रता और अधिकारों की रक्षा करा सके। जिस प्रकार व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों को कानून नियन्त्रित करता है, वैसे ही व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धों की भी कानून मर्यादित करता है। इसी कारण, यदि राज्य या उसका कोई कर्मचारी किसी व्यक्ति की स्वतन्त्रता और अधिकार में बाधा उपस्थित करे, तो वह व्यक्ति राज्य या उसके कर्मचारी के विरुद्ध न्यायालय में मुकदमा चला सकता है, और वहां न्याय करा सकता है।

(4) जिन राज्यों में लेखबद्ध संविधान हैं, और संवैधानिक कानून और साधारण कानून में भेद हैं, उनमें राज्य के व्यवस्थापन विभाग की कानून बनाने की शक्ति संविधान द्वारा मर्यादित होती है। उनमें राज्य की संसद या विधानसभा कोई ऐसा कानून नहीं बना सकती है, जो संविधान में प्रतिपादित मूलभूत अधिकारों व सिद्धान्तों के विपरीत हो। यदि विधानसभा कोई ऐसा कानून स्वीकृत करे जो संविधान के विरुद्ध हो, तो प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार होता है, कि वह सर्वोच्च न्यायालय में उसके विरुद्ध अपील कर सके, और इस प्रकार उसे रद्द करा सके। भारत में ब्रिटिश काल में ऐसे अनेक कानून विद्यमान थे, जो भारतीय गणराज्य के संविधान के विरुद्ध हैं। भारत के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा उन्हें असंवैधानिक घोषित कर दिया गया है, और अब उनके अनुसार किसी व्यक्ति को दण्डित नहीं किया जा सकता। जमींदारी प्रथा को नष्ट करने के लिये जो कानून विविध राज्यों की विधानसभाओं द्वारा बनाने गये थे, न्याय-विभाग के मतानुसार वे भी संविधान के विरुद्ध थे। इसी कारण यह आवश्यकता हुई, कि संविधान में ऐसे संशोधन किये जाएँ, जिनके कारण वे असंवैधानिक न रहें।

(5) संवर्गात्मक राज्यों और संघ राज्यों में न्याय विभाग का एक अन्य महत्वपूर्ण उपयोग होता है। संवर्ग सरकार और संवर्ग के अन्तर्गत विविध राज्यों की सरकारों में क्या सम्बन्ध हो, कौन से विषयों का शासन संवर्ग सरकार को करना है, और कौन से विषय राज्यों की सरकारों के अधीन रहने हैं। इस प्रश्न पर प्रायः विवाद उपस्थित हो जाते हैं। इस प्रकार के विवादों का निर्णय भी न्याय विभाग ही करता है।

(6) न्यायालय केवल विवादग्रस्त विषयों का ही निर्णय नहीं करते, वे केवल उसी दशा में अपना 'फैसला' नहीं देते, जबकि कोई निश्चित मुकदमा उनके सम्मुख उपस्थित किया जाये। अनेक राज्यों में यह प्रथा भी विद्यमान है, कि कानून के अभिप्राय के विषय में या कानून के औचित्य के सम्बन्ध में न्यायालयों से सम्मति मांगी जा सकती है। कोई भी व्यक्ति किसी निश्चित मुकदमे को पेश किये बिना भी न्यायालय से कानून के अभिप्राय को स्पष्ट करा सकता है, या किसी कानून के औचित्य के विषय में न्यायालय के मत को प्रकट करा सकता है। विधानसभा द्वारा अनेक कानून ऐसे बनाए जाते हैं जो या तो अस्पष्ट होते हैं, और या किसी अन्य कानून के विपरीत होते हैं। न्यायालय इनके सम्बन्ध में जो मत प्रकट करते हैं, राज्य के कानूनों की पूर्णता या निर्दिष्टता को कायम रखने के लिये उनका बहुत उपयोग होता है।

(7) अनेक राज्यों में यह भी प्रथा है कि राज्य का शासन विभाग या व्यवस्थापन विभाग न्यायालय ने कानून विषयक किसी प्रश्न पर परामर्श ले सके। इंग्लैंड में सरकार की और से बहुधा प्रिवी कौंसिल की ज्यूडिषियल कमेटी से वैधानिक समस्याओं पर परामर्श लिया जाता है। ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के द्वितीय सदन (सदन ऑफ लॉर्ड्स) को न्याय सम्बन्धी अनेक अधिकार प्राप्त हैं। भारत में भी राष्ट्रपति कानूनी प्रश्नों पर सुप्रीम कोर्ट से परामर्श कर सकता है। इसी प्रकार की प्रथा कनाडा, पनामा, स्वीडन आदि अन्य भी बहुत से राज्यों में है।

(8) न्यायालय अन्य भी अनेक प्रकार के कार्य करते हैं, वे अपने अनेक कर्मचारियों की नियुक्ति स्वयं करते हैं। ऐसे मप्त व्यक्तियों की, जिनके उत्तराधिकारी अभी बालिग न हुए हों, जायेदाद की व्यवस्था करते हैं, और वसीयतनामों को रजिस्टर्ड करते हैं। यदि कोई राजकर्मचारी कोई ऐसा कार्य करने के लिये तत्पर हो, जो कानून के विरुद्ध हो, तो उसे उस

कार्य से रोकने के लिये वे आदेश भी देते हैं। यदि किसी व्यक्ति के किसी कार्य से किसी अन्य व्यक्ति को कोई नुकसान पहुँचने की सम्भावना हो, तो उसे उस कार्य से रोकने की व्यवस्था भी वे करते हैं। न्यायालयों के इन विविध कार्यों का स्वरूप ऐसा होता है, जिसका न्याय विभाग के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं होता है पर न्यायालय इन कार्यों को भी करते हैं।

राजनीतिक सिद्धान्त

न्याय विभाग का संगठन – विविध राज्यों में न्याय का संगठन विभिन्न प्रकार से किया जाता है। यहां यह सम्भव नहीं है, कि हम प्रत्येक राज्य के न्याय – विभाग की रचना के सम्बन्ध में प्रकाश डाल सकें। पर न्याय विभाग की संगठन – सम्बन्धी जो विशेषताएँ विभिन्न राज्यों में विद्यमान हैं, उनका संक्षेप के साथ उल्लेख करना उपयोगी है।

(1) राज्यों में न्यायालय अनेक प्रकार के होते हैं। जहां सम्पूर्ण राज्य का एक सर्वोच्च न्यायालय होता है, वहां साथ ही उसके अधीन अनेक बड़े व छोटे न्यायालय भी होते हैं। मुकदमें पहले स्थानीय छोटे न्यायालयों में पेश होते हैं वहां जो फैसला हो, उसके विरुद्ध उच्चतर न्यायालय में अपील की जा सकती है। इस प्रकार प्रत्येक राज्य में न्यायालयों के अनेक स्तर होते हैं, जिनकी स्थिति एक समान नहीं होती। न्यायालयों के संगठन एक पिरामिड के समान होते हैं। छोटे न्यायालयों के ऊपर बड़े न्यायालय, उनके ऊपर हाई कोर्ट और सबसे ऊपर सर्वोच्च न्यायालय की सत्ता होती है। भारत में सबसे नीचे मुन्सिफ का कोर्ट होता है, उसके ऊपर सिविल जज के कोर्ट, उनके ऊपर सेषन कोर्ट, उनके ऊपर हाई कोर्ट और सबसे ऊपर सुप्रीम कोर्ट है। छोटे न्यायालयों का संगठन भारतीय संघ के सब राज्यों में एक सदृश नहीं है। एक राज्य में भी विविध जिलों में इनके संगठन में भेद है। पर सर्वत्र यह बात समान रूप से विद्यमान है, कि न्यायालयों में छोटे और बड़े, कम शक्ति वाले और अधिक शक्ति वाले न्यायालयों की सत्ता है। भारत के न्याय विभाग में दीवानी और फौजदारी न्यायालयों में भी भेद है। फौजदारी मामलों के न्याय का अधिकार डिप्टी कलेक्टर और जिला मजिस्ट्रेट के न्यायालयों को दिया गया है, जिनके ऊपर सेषन कोर्ट होता है, और सेषन कोर्ट के ऊपर हाई कोर्ट और सुप्रीम कोर्ट की सत्ता है।

(2) ब्रिटेन, भारत, अमेरिका आदि में छोटे न्यायालयों में प्रायः एक न्यायाधीश होने की प्रथा है। हाई कोर्ट और सुप्रीम कोर्ट ऐसे न्यायालय हैं, जिनमें एक से अधिक न्यायाधीश एक साथ बैठकर न्याय का कार्य करते हैं, पर सेषन कोर्ट, सिविल जज के कोर्ट और मुन्सिफ के कोर्ट में केवल एक ही न्यायाधीश होता है। यही बात निचले स्तर के फौजदारी न्यायालयों के विषय में कही जा सकती है। पर फ्रांस व यूरोप के अन्य अनेक राज्यों की प्रथा इससे भिन्न है। वहां सब स्तरों के न्यायालयों में एक से अधिक न्यायाधीश होते हैं, और उनकी संख्या प्रायः तीन से पन्द्रह तक होती है। फ्रांस के लोग एक न्यायाधीश द्वारा किये गये निर्णय में विश्वास नहीं करते। उनका कथन है कि एक न्यायाधीश होने पर उसमें स्वेच्छाचार की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। जब अनेक न्यायाधीश होंगे, तो वे परस्पर परमर्ष द्वारा बहुसम्मति से जिस निर्णय पर पहुंचेंगे, वह अधिक उचित और मान्य होगा। विशेषतया, फौजदारी मामलों में यह बहुत सम्भव होता है कि एक न्यायाधीश सरकारी वकील के प्रभाव में सुगमता से आ जाये, और वह सही-सही निर्णय न कर सके। इसी कारण फ्रांस में न्यायाधीशों की कुल संख्या पाँच हजार के लगभग रहती है, जिनके वेतन आदि में सरकार को बहुत अधिक खर्च करना पड़ता है। पर इसमें सन्देह नहीं, कि न्याय दृष्टि से न्यायालय में बहुसंख्यक न्यायाधीशों का होना बहुत उपयोगी है। सब मामलों में अपील कर सकना सुगम नहीं होता, और न ही कानून इसकी अनुमति ही देता है। अनेक बार अकेले न्यायाधीश से न्याय कार्य में गलती हो जाती है, जिसका किसी भी प्रकार प्रतिषेध सम्भव नहीं होता। अतः यदि छोटे न्यायालयों में भी तीन के लगभग न्यायाधीश हों, तो जनता के लिये अधिक अच्छा न्याय प्राप्त कर सकना सम्भव हो जायेगा।

(3) ब्रिटेन, अमेरिका, भारत आदि राज्यों के न्याय विभाग के संगठन में और फ्रांस आदि यूरोपियन राज्यों के न्याय विभाग में एक अन्य भेद यह है, कि ब्रिटेन आदि में न्यायाधीश दौरे पर जाते हैं, उनके न्यायालय किसी एक स्थान पर स्थायी रूप से स्थित नहीं होते। विशेषतया सेषन और सिविल जज अपने क्षेत्र के विभिन्न नगरों में जाते हैं, और वहां कुछ

समय तक रहकर न्याय करते हैं। इससे वादियों और प्रतिवादियों को बहुत सुविधा रहती है। पर फ्रांस आदि यूरोपियन राज्यों में न्यायालयों का स्थान एक जगह पर स्थित होता है, और उस क्षेत्र के सब मुकदमों की वहीं पर सुनवाई होती है।

(4) संघ राज्यों और संवर्गात्मक राज्यों में प्रायः यह प्रथा होती है, कि सर्वत्र दो प्रकार के न्यायालय रहते हैं, एक वे जो संघ के कानूनों का प्रयोग करते हैं, और उनका न्यायाधिकार संघ – विशयक मामलों तक सीमित रहता है। दूसरे न्यायालयों का सम्बन्ध संघ व संवर्ग के अन्तर्गत राज्यों के साथ होता है और वे केवल राज्य के कानूनों का ही प्रयोग करते हैं, उनका न्यायाधिकार राज्य विशयक मामलों तक ही सीमित होता है। अमेरिका में यही प्रथा है। पर अनेक संघ राज्य ऐसे भी हैं, जिनमें एक ही न्यायालय संघ सरकार और राज्यों की सरकार, दोनों के कानूनों का प्रयोग करते हैं। भारत में यही प्रथा विद्यमान है

(5) राज्यों के न्यायालय अनेक प्रकार के होते हैं। स्थूल रूप से उन्हें दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, पहले वे जिन्हें सामान्य न्यायालय कह सकते हैं। ये न्यायालय व्यक्तियों के आपस के झगड़ों का निर्णय करते हैं, और साथ ही राजकीय अपराधों (क्राइम) के अभियोगों का भी फैसला करते हैं। भारत में अभी तक सामान्य न्यायालय भी दो प्रकार के हैं, दीवानी और फौजदारी। दीवानी न्यायालय व्यक्तियों के आपस के झगड़ों का फैसला करते हैं, और अपराधों के निर्णय के लिये डिप्टी कलेक्टर, जिला मजिस्ट्रेट आदि के न्यायालय होते हैं। डिप्टी कलेक्टर आदि कर्मचारी शासन – सम्बन्धी कार्य भी करते हैं, अतः इस प्रकार के न्यायालयों के कारण शासन और न्याय का कार्य एक ही व्यक्ति के हाथ में रहता है। यह बात लोकतन्त्रवाद के प्रतिकूल है, और इसीलिये भारत में यह प्रयत्न किया जा रहा है, कि अपराधों के फैसले का अधिकार राज्य कर्मचारियों से लेकर पृथक् न्यायालयों के सुपुर्द कर दिया जाये। आधुनिक युग के बहुसंख्यक लोकतन्त्र राज्यों में यही प्रथा है, कि शासन और न्याय के कार्यों को पृथक् रखा जाता है, और स्वतन्त्र न्यायालय व्यक्तियों के पारस्परिक विवाद और अपराध, दोनों का निर्णय करते हैं। पर सामान्य न्यायालयों के अतिरिक्त, अनेक देशों में कतिपय विशेष न्यायालयों की भी सत्ता होती है। सैनिक न्यायालय, व्यावसायिक विवादों का निर्णय करने के लिए बनाये गये न्यायालय, मजदूरों की समस्याओं के लिये निर्मित न्यायालय और प्रशासनीय न्यायालय (एडमिनिस्ट्रेटिव कोर्ट) इनके उदाहरण हैं। यहां यह सम्भव नहीं है, कि हम इन सब प्रकार के विशेष या असाधारण न्यायालयों के स्वरूप पर प्रकाश डाल सकें। पर फ्रांस आदि यूरोपियन राज्यों में प्रशासनीय न्यायालय के रूप में जो एक विशेष प्रकार के न्यायालय विद्यमान हैं, उनके सम्बन्ध में संक्षिप्त रूप से उल्लेख करना उपयोगी है, क्योंकि यूरोप में इन न्यायालयों का बहुत महत्व है।

फ्रांस के एडमिनिस्ट्रेटिव कोर्टों में उन मामलों को पेश किया जाता है, जो व्यक्तियों और राज्य के बीच में हों। जब किसी व्यक्ति को राज्य या उसके कर्मचारी के विरुद्ध कोई शिकायत होती है, या जब किसी व्यक्ति का राज्य या कर्मचारी के विरुद्ध कोई दावा करना होता है, तो उसे सामान्य न्यायालय में पेश न कर इन विशेष न्यायालयों में पेश किया जाता है। सामान्य न्यायालय के समान ये एडमिनिस्ट्रेटिव कोर्ट भी सर्वत्र सामान्य न्यायालय के समानान्तर रूप से विद्यमान हैं। सबसे बड़ा एडमिनिस्ट्रेटिव कोर्ट पेरिस में है, जिसे 'कौंसिल ऑफ स्टेट' कहते हैं। निचले प्रशासकीय न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध इस सर्वोच्च विशेष न्यायालय में अपील की जा सकती है, और इसका निर्णय अन्तिम माना जाता है। प्रशासकीय न्यायालय में मुकदमें चलाने के लिये अधिक कोर्ट फीस की आवश्यकता नहीं होती। कुछ आनों की फीस से ही वहां मुकदमा दायर किया जा सकता है। अंग्रेज विद्वान शास्त्रियों का यह मत रहा है, कि एडमिनिस्ट्रेटिव कोर्टों की सत्ता वैयक्तिक स्वतन्त्रता व लोकतन्त्रवाद के अनुकूल नहीं है। क्योंकि राज्य की स्थिति भी एक व्यक्ति के समान है, अतः अन्य व्यक्तियों के समान ही इसे संरक्षण देना चाहिए और भी सामान्य न्यायालयों में ही मुकदमा चलना चाहिये, और राजकर्मचारियों की स्थिति अन्य व्यक्तियों से किसी भी प्रकार भिन्न व ऊँची नहीं समझनी चाहिए। पर फ्रांस के विधानशास्त्री इन प्रशासनीय न्यायालयों को बहुत हितकर मानते हैं। उनके अनुसार, राज्य या राजकर्मचारियों के साथ सम्बन्ध

रखने वाले मुकदमों के लिये पृथक् न्यायालयों की सत्ता सरकारी कर्मचारियों की उत्कृष्टता को नहीं सूचित करती, पर इससे न्याय में बहुत सहायता मिलती है। लगभग दो सदी से ये न्यायालय फ्रांस में कायम हैं, और अनुभव ने इस बात को सिद्ध कर दिया है कि इनके कारण फ्रांस में व्यक्तियों की स्वतन्त्रता के सुरक्षित रहने में बहुत सहायता मिली है। अनेक अंग्रेज विधान शास्त्रियों ने भी इस बात को स्वीकार किया है। फ्रांस के समान जर्मनी आदि में भी प्रशासकीय न्यायालयों की पृथक् रूप से सत्ता है।

न्यायाधीशों की नियुक्ति न्यायाधीशों का कार्य बहुत ही उत्तरदायिता का होता है। यह आवश्यक है, कि इस पद पर जो व्यक्ति नियुक्त हो, वे न केवल कानून को भलीभाँति समझते हों, अपितु साथ ही ईमानदार भी हों, रिष्वत आदि के प्रलोभन में वे न आ सकें। आचार्य चाणक्य ने राज्य में विविध अमात्यों (राजपदाधिकारियों) की नियुक्ति के लिये यह व्यवस्था की है, कि उन्हें विविध उपधाओं (परखों) द्वारा परख लिया जाये। इन उपधाओं का चाणक्य ने बड़े विषद रूप से वर्णन किया है। न्यायाधीशों की परख के लिये चाणक्य के अनुसार धर्मापधा का प्रयोग करना चाहिए। जो व्यक्ति 'धर्मोपधाषुद्ध' हों, पूर्णतया धार्मिक हों, उन्हें ही न्यायाधीश के पद पर नियुक्त करना चाहिए।

विविध राज्यों में न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिये भिन्न-भिन्न प्रथाएँ हैं। इन्हें तीन भागों में बांटा जा सकता है— (1) विधानसभा द्वारा निर्वाचित करना (2) जनता द्वारा निर्वाचित करना, और (3) शासन विभाग द्वारा मनोनीत करना। यह आवश्यक है कि हम इन तीनों पद्धतियों पर संक्षेप के साथ विचार करें।

(1) विधानसभा द्वारा निर्वाचित करना कुछ राज्यों में यह प्रथा है, कि न्यायाधीशों की नियुक्ति विधानसभा द्वारा निर्वाचन से की जाती है। अमेरिका में किसी समय (राज्य क्रान्ति के बाद) यह प्रथा बहुत प्रचलित थी, और वहाँ के राजनीतिज्ञ इसे बहुत पसन्द करते थे। पर धीरे-धीरे वहाँ इसका परित्याग कर दिया गया और अब केवल चार राज्य (संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्तर्गत) ही ऐसे रह गये हैं, जहाँ न्यायाधीशों की नियुक्ति विधानसभा द्वारा निर्वाचित होकर होती है। यूरोप में स्विट्जरलैण्ड में न्यायाधीशों की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा होती है, और संघ के न्यायालयों के न्यायाधीश संघ की विधान सभा द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं। इस पद्धति में मुख्य दोष यह है, कि विधान सभा में जिस राजनीतिक दल का बहुमत हो, वह अपने दल के व्यक्तियों को ही निर्वाचित करने का प्रयत्न करता है। इस दशा में न्यायाधीशों की नियुक्ति उनके कानूनी ज्ञान, निष्पक्ष वृत्ति या अन्य वैयक्तिक गुणों के कारण न होकर प्रधान तया इस कारण होती है, कि वे किसी राजनीतिक दल के नेताओं के पात्र हैं, व उस दल के क्रियाशील कार्यकर्ता हैं।

(2) जनता द्वारा निर्वाचित करना — निर्वाचकों के वोटों द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रथा सबसे पहले फ्रांस में 1711 ई० में पुरु की गई थी। पर कुछ ही वर्षों में यह प्रथा केवल संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्तर्गत कतिपय राज्यों में ही विद्यमान है। पर इस प्रथा को जो अन्यत्र नहीं अपनाया गया है, उसका कारण यह है, कि इससे योग्य न्यायाधीशों का निर्वाचित हो सकना सम्भव नहीं होता है। जनता के वोट प्राप्त करने के लिये जिस प्रकार के उपायों की आवश्यकता होती है, उनका प्रयोग न्यायाधीश पद के लिये उपयुक्त व्यक्ति कभी कर ही नहीं सकते।

(3) शासन विभाग द्वारा नियुक्ति संयुक्त राज्य अमेरिका और स्विट्जरलैण्ड के अतिरिक्त प्रायः अन्य सब राज्यों में यह प्रथा है, कि बड़े न्यायालयों (यथा हाईकोर्ट और सुप्रीम कोर्ट) के न्यायाधीशों की नियुक्ति राज्य के राजा व राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। जिन राज्यों में कैबिनेट सिस्टम होने के कारण राजा या राष्ट्रपति 'ध्वजमात्र' होते हैं, उनमें यह कार्य वस्तुतः मन्त्रि-परिषद् का अन्यतम मन्त्री (न्यायमन्त्री) करता है, और यह मन्त्री जिन व्यक्तियों की न्यायाधीश के पद पर नियुक्त करना उचित समझे, राजा या राष्ट्रपति उन्हीं को औपचारिक रूप से इन पदों पर नियुक्त कर देता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में संवर्ग न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है, यद्यपि इन नियुक्तियों के लिये सीनेट की स्वीकृति आवश्यक मानी जाती है। छोटे न्यायालयों के न्यायाधीश प्रायः

राज्य के स्थायी कर्मचारी होते हैं। उनके लिये किसी निश्चित परीक्षा का उत्तीर्ण करना व विशेष योग्यता – सम्पन्न होना अनिवार्य माना जाता है

1 प्रमुख षासक या षासन विभाग द्वारा न्यायाधीषों की नियुक्ति की प्रथा को सर्वथा दोष रहित नहीं समझा जा सकता। इसका कारण यह है, कि राष्ट्रपति या न्यायमन्त्री भी राजनीतिकदल के प्रभाव से वंचित नहीं होते। वे अपने पद पर किसी राजनीतिक दल की सहायता से ही आरुढ़ होते होते हैं, और वे इस प्रलोभन को नहीं रोक सकते, कि अपने दल के प्रमुखव्यक्तियों को ऊँचे राजकीय पद प्रदान करें। इसका परिणाम यह होता है, कि उच्च न्यायाधीषों को नियुक्ति उनकी योग्यता व गुणों के कारण न होकर राजनीतिक दलबन्दी के कारण होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका और फ्रांस का अनुभव यह बताता है, कि बहुधा अयोग्यव्यक्ति अपने राजनीतिक विचारों के कारण उच्च न्यायाधीष के पद पर नियुक्त हो जाते हैं। इसी कारण कई राज्यों में यह प्रथा है, कि जब न्यायाधीष का कोई पद खाली होता है, तो उस न्यायालय के अन्य न्यायाधीष इस सूची में से ही किसी एक की एक सूची तैयार करते हैं, और राष्ट्रपति या न्यायमन्त्री इस सूची में से ही किसी एक व्यक्ति को उस पद के लिये मनोनीत कर सकता है। न्यायाधीषों की नियुक्ति के लिये जो विविध प्रथाएँ इस समय प्रचलित हैं, शायद यही उनमें सबसे अधिक उपयुक्त है।

न्यायाधीषों को कार्यकाल – उच्च न्यायालयों के न्यायाधीषों के कार्यकाल के सम्बन्ध में मुख्यतया दो प्रकार की व्यवस्थाएँ होती हैं – (1) उन्हें किसी निश्चित अवधि के लिये अपने पद पर नियत किया जाता है, या (2) तब तक न्यायाधीष अपने पद पर रहते हैं, जब तक कि वे ठीक प्रकार से अपना कार्य करते रहें। संयुक्त राज्य – अमेरिका के अन्तर्गत विविध 1 राज्यों में (केवल तीन को छोड़कर) यह पद्धति है, कि न्यायाधीषों की नियुक्ति निश्चित अवधि के लिये की जाती है। यह अवधि दो साल से इक्कीस साल तक होती है। पर औसत रूप से अमेरिकन राज्यों में न्यायाधीषों की छः साल से नौ साल के लिये नियुक्त किये जाते हैं। इसी प्रकार मैक्सिको में न्यायाधीषों कार्यकाल छः साल निश्चित किया गया है। संसार के प्रायः अन्य सब राज्यों के न्यायाधीषों के कार्य की अवधि के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त स्वीकार किया जाता है, कि वे जब तक ठीक प्रकार से अपना कार्य करते रहें अपने पद पर रह सकें। वहाँ उनके कार्य की कोई अवधि निश्चित नहीं की जाती। राजनीतिक षास्त्र के बहुसंख्यक विद्वान् इसी सिद्धान्त के पक्षपाती हैं। उनका कथन है, कि सुदीर्घ समय तक न्यायालय में कार्य करने से जहाँ न्यायाधीषों को अपने कार्य का भली-भाँति अनुभव हो जाता है, वहाँ साथ ही वे अपने कार्य को अधिक निष्पक्ष रूप से भी कर सकते हैं।

न्यायाधीषों का अपने पद से हटाया जाना यह आवश्यक नहीं, कि जिन व्यक्तियों को न्यायाधीष के पद पर नियुक्त किया जाये, वे अपना कार्य योग्यता व निष्पक्ष भावना से ही करें। अनेक न्यायाधीष ऐसे भी होते हैं, जो आर्थिक प्रलोभन या किसी अन्य अनुचित प्रभाव में आकर अपने कार्य को सुचारु रूप से नहीं करते। अतः ऐसी व्यवस्था की आवश्यकता होती है, जिससे न्यायाधीषों को अपने पद से पथ्यक भी किया जा सके। इस सम्बन्ध में प्रमुख व्यवस्थाएँ निम्नलिखित हैं :-

(1) संयुक्त राज्य अमेरिका की संघ सरकार में यह व्यवस्था है, कि कांग्रेस का कोई एक सदन किसी उच्च न्यायाधीष पर महाभियोग का आरोप कर सकता है। यह कार्य प्रायः प्रथम सदन (हाउस ऑफ रिप्रेजेन्टेटिव्स) करता है। महाभियोग का आरोप होने पर कांग्रेस का दूसरा सदन (सीनेट) उस पर विचार करता है, और उसके निर्णयानुसार न्यायाधीष को अपने पद से पथ्यक् किया जा सकता है। इसी प्रकार की व्यवस्था भारतीय गणराज्य के संविधान में भी की गई है।

(2) संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्तर्गत अनेक राज्यों में यह पद्धति है, कि मतदाता लोग यदि किसी न्यायाधीष को उसके पद के लिए अयोग्य समझें, तो अपने वोटों द्वारा यह निर्धारित कर सकते हैं, कि उसका न्यायाधीष पद से पुनरावर्तन (रिकॉल) कर लिया जाय। इस

पद्धति के होते हुए न्यायाधीष अपना कार्य स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं कर सकते, क्योंकि उन्हें यह भय सदा बना रहता है, कि यदि उन्होंने सार्वजनिक नेताओं को नाराज कर दिया, तो वे आन्दोलन कर उन्हें न्यायाधीष पद से पृथक् कर देने का उद्योग करेंगे।

राजनीतिक सिद्धान्त

(3) यूरोप के अनेक राज्यों में यह प्रथा है, कि छोटे न्यायालयों के न्यायाधीषों को अपने पद पृथक् करने के लिये सर्वोच्च न्यायालय में उन पर बाकायदा मुकदमा चलाया जाता है। यदि सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीष पर कदाचार व असमर्थता का अभियोग हो, तो उसका निर्णय अन्य न्यायाधीषों द्वारा किया जाता है !

सारांश

न्यायपालिका को संविधान का अभिभावक और संरक्षक कहा जाता है। न्यायपालिका स्थापित कानूनों के उल्लंघन करने पर दण्ड निर्धारित करता है। साथ ही संविधान प्रस्तुत अधिकारों को सुनिश्चित कराने के लिए आदेश भी जारी करता है। न्यायपालिका नागरिक अधिकारों की न केवल गारंटी देता है। वलिक मूलभूत अधिकारों की सुरक्षा हेतु शासन व्यवस्था करने में केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के अधिकार क्षेत्र की स्पष्ट व्याख्या करना और सरकारों को दिशा निर्देश करना भी न्यायपालिका की विशेषता है। ताकि लोकतांत्रिक व्यवस्था के जड़े हिलान सकें। और व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका मिलकर कुटिल चालें न चल पायें। दरअसल लोकतांत्रिक व्यवस्था में न्यायपालिका की भूमिका शक्ति – संतुलन बनाये रखने की होती है।

अभ्यास प्रश्न

शासन के तीन महत्वपूर्ण विभाग कौन-कौन से हैं? विवरण दें। व्यवस्थापिका के संगठन की व्याख्या प्रस्तुत करें।

जनता के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से व्यवस्थापन क्या है? यह कब प्रचलित था ?

कार्यपालिका के गठन की प्रक्रिया तथा उसके भागों एवं कार्यों पर दृष्टि डालें।

5. न्यायपालिका के कार्यों एवं अधिकारों का वर्णन करो।

पृथक्करण का सिद्धान्त

(Theory of Separation of Power)

परिचय (Introduction)

आधुनिक युग के राज्य आकार में बहुत विषाल हैं। क्षेत्रफल और जनसंख्या— दोनों ही दृष्टियों से उनके आकार अब बहुत बढ़ गये हैं। साथ ही, आधुनिक समय में राज्यों का कार्यक्षेत्र भी बहुत विस्तृत हो गया है। अब उनका कार्य केवल यही नहीं रह गया है कि वे आभयन्तर उपद्रवों और बाह्य षत्रुओं के आक्रमणों से देश की रक्षा करें। जनता का हित व कल्याण भी उनके कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत हो गया है। इस दशा में यह सम्भव ही नहीं रहा है कि कोई एक व्यक्ति अकेला राज्य का शासन कर सके। अब यह अनिवार्य हो गया है कि राज्य संस्था के अनेक अंग हों और प्रत्येक अंग का कार्यक्षेत्र व शक्ति भली-भाँति निश्चित व सुनिर्धारित हो। इसीलिये 'आजकल के राज्यों में राजशक्ति को अनेक अंगों में विभक्त कर दिया जाता है। राज्य की जो इच्छा हो, उसे अभिव्यक्त करने के लिये एक पृथक् विभाग होता है, जो कानूनों व राजकीय आदेशों के रूप में राज्य की इच्छा को प्रकट करता है। पर केवल राज्य की इच्छा को अभिव्यक्त कर देने से ही काम नहीं चल सकता। यह भी आवश्यक है कि इस राजकीय इच्छा (कानूनों व राजकीय आदेशों) को कार्यान्वित भी कराया जाए। इसके लिए राज्य का एक पृथक् अंग होता है। बहुधा इस प्रश्न पर मतभेद हो सकता है कि राज्य की क्या इच्छा है, और उसे सही ढंग से कार्यान्वित किया गया है या नहीं। अतः एक अन्य राजकीय अंग की आवश्यकता होती है, जो विवादग्रस्त विशयों का निर्णय करता है। इस प्रकार राजकीय शक्ति को तीन पृथक् अंगों या विभागों में विभक्त किया जा सकता है:—

(1) व्यवस्थापन विभाग राज्य की क्या इच्छा है, राज्य किस नीति का अनुसरण करना चाहता है, जनता की रक्षा, हित, कल्याण व उन्नति के लिये वह क्या व्यवस्था करना उचित समझता है — इन सब बातों का निर्धारण करने के लिये कोई साधन होना चाहिए। इसी साधन को 'व्यवस्थापन विभाग' कहते हैं। सरकार का यह विभाग राज्य की इच्छा को जिस रूप में प्रकट करता है, उसी को 'कानून' व 'राजकीय आदेश' कहते हैं।

(2) शासन विभाग या कार्यपालिका राज्य के कानूनों व विभागों को क्रियान्वित कराने के लिये जिसे साधन की व्यवस्था की जाती है, उसे शासन — विभाग कहते हैं।

(3) न्याय विभाग कोई व्यक्ति कानूनों व राजकीय आदेशों का पालन कर रहा है या नहीं, इस प्रश्न पर विवाद हो सकता है। साथ ही, इस प्रश्न पर भी मतभेद सम्भव है कि कानून व राजकीय आदेश का वास्तविक अभिप्राय क्या है। इन विवादग्रस्त विशयों का निर्णय करने और कानूनों के अभिप्राय को स्पष्ट करने तथा राजकीय आदेशों व कानूनों का उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को दण्ड देने के लिये एक पृथक् विभाग की आवश्यकता होती है, जिसे 'न्याय — विभाग' कहते हैं।

यह तो स्पष्ट है कि राजशक्ति को कार्य के आधार पर तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। इसी को कार्य के आधार पर विभाजन (धनदबजपवदंस क्पेजतपइनजपवद व च्चूमत) कहते हैं। पर प्रश्न यह है, कि क्या राजशक्ति के ये तीनों अंग एक ही व्यक्ति या संस्था के हाथों में रहने चाहिए, या इन्हें एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् रखकर विभिन्न व्यक्तियों व संस्थाओं के सुपुर्द कर देना चाहिए। वर्तमान युग के विषाल राज्यों में यह तो सम्भव नहीं है कि कोई एक ही व्यक्ति राजशक्ति के सब अंगों का सुचारु रूप से संचालन कर सकें। कोई व्यक्ति कितना ही योग्य व शक्तिशाली क्यों न हो, वह अकेला कानून बनाने, उन्हें

कार्यान्वित कराने और विवादग्रस्त विषयों का निर्णय करने का कार्य नहीं कर सकता । बहुत प्राचीन काल में आचार्य चाणक्य ने इस तथ्य को इस प्रकार प्रकट किया था— “ राज्य के कार्य बहुत से होते हैं और बहुत से स्थानों पर होते हैं, अतः एक राजा सारे राज्यकार्य स्वयं नहीं कर सकता है।” इस युक्ति द्वारा राजा को राज्यकार्य संभालने के लिये सहायक तो नियुक्त करने ही होंगे, पर यह भी सम्भव है कि ये सहायक राजा की इच्छा के अनुसार ही कार्य करें और सारी राजषक्ति (कानून बनाने, उन्हें कार्यान्वित कराने और न्याय करने की शक्ति) एक राजा के हाथों में ही केन्द्रित रहे । प्राचीन समय के एकतंत्र राज्यों में यही दशा थी । पर लोकतंत्र शासनों के विकास के साथ-साथ इस मत का प्रतिपादन भी प्रारम्भ हुआ कि राजषक्ति के विविध अंगों को किसी एक स्थान पर केन्द्रित नहीं होना चाहिए, अपितु ये अंग या विभाग एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् व स्वतंत्र रहने चाहिए । इसी को राजषक्ति के पृथक्करण का सिद्धान्त कहा जाता है ।

लोकतंत्रवाद की सफलता के लिये इस सिद्धान्त का बहुत महत्व है। जिस राज्य में व्यवस्थापन, शासन और न्याय की शक्तियाँ एक ही स्थान पर केन्द्रित हों, उसकी सरकार का निरंकुष हो जाना अवश्यम्भावी है । मध्यकाल में राज्य के ये तीनों कार्य जब एक ही राजा के हाथों में हुआ करते थे, उसकी शक्ति पर नियंत्रक रखने का कोई भी साधन नहीं था । यही कारण है कि आधुनिक

के राजनीतिक विचारकों ने ‘राजषक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त को बहुत महत्व दिया है।

युग राजषक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त का विकास आधुनिक युग के सूत्रपात के समय अठारहवीं सदी में फ्रेंच विचारक मांटेस्क्यू (डवदजुनपमन) ने इस सिद्धान्त का प्रबल रूप से प्रतिपादन किया था । पर यह नहीं कहा जा सकता कि इससे पूर्व अरिस्टोटल ने भी राज्य के तीन अंगों का उल्लेख किया है, जनपद सभा (क्लैसिस पब्लिक), शासक (डिपेजतंजम) और न्याय विभाग (श्रनकपबपंतल)। ये तीनों अंग सरकार के तीन प्रमुख विभागों के ही परिचायक हैं। रोमन रिपब्लिक के युग में पोलिबियस और सिसरो ने भी अरिस्टोटल का अनुसरण कर राजषक्ति के विभिन्न अंगों का प्रतिपादन किया था । पोलिबियस के अनुसार रोमन रिपब्लिक के शासन की उत्कृष्टता का प्रधान कारण यह था कि उसमें निरोध और संतुलन (बिम्बो दक ठंसंदबमे) के साधन विद्यमान थे, जिनके कारण शासन का कोई भी अंग निरंकुष नहीं हो सकता था। पर जब रोमन रिपब्लिक का अन्त होकर सब शासन — शक्ति सम्राटों के हाथों में आ गई, तो वहां लोकतंत्र शासन सम्भव नहीं रहा। उस समय राजषक्ति के पृथक्करण का प्रश्न ही नहीं रहा । मध्य युग में भी सब राजषक्ति सम्राटों, राजाओं व उनके सामंतों के हाथों में थी । प्राचीन ग्रीक गणराज्यों और रोमन रिपब्लिक में जिस प्रकार की जनपद सभाओं की सत्ता थी और शासकों व न्यायाधीशों को चुनने या लॉटरी द्वारा नियुक्त करने की जो पद्धति थी, मध्य युग में उसका सर्वथा अभाव था । इसीलिये जनता राजाओं की स्वेच्छाचारिता को किसी भी प्रकार से नियंत्रित करने में असमर्थ थी, और सब राजषक्ति एक ही स्थान पर केन्द्रित हो गई थी ।

पर मध्यकाल में भी कतिपय ऐसे विचारक उत्पन्न हुए, जिन्होंने कि राजषक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त का सूत्ररूप से प्रतिपादन किया । इन विचारकों में सर्वप्रथम पेडआ का मारसिग्लियो (डंतेपहसपव विल्मकन) था, जिसका काल 1270 से 1342 ई० तक था। मारसिलियो ने यह प्रतिपादित किया कि राज्य का स्वरूप एक शरीर के समान है, जिसके दो मुख्य अंग हैं— व्यवस्थापन विभाग और शासन विभाग । ये अंग परस्पर आश्रित होते हुए भी एक-दूसरे से पृथक् हैं। सोलहवीं सदी में फ्रांस के सुप्रसिद्ध विचारक बोदी (डवकपद) ने प्रभुता के सिद्धान्त का विशद रूप से प्रतिपादन

किया बोदी के अनुसार यह प्रभुता जनता में निहित होती है, यद्यपि इसे प्रयोग का अधिकार शासक वर्ग के हाथों में रहता है, पर शासक का अधिकार शासक वर्ग के पास न रह कर ऐसे न्यायाधीशों के हाथों में रहना चाहिए, जो शासक वर्ग से पूर्णतया स्वतंत्र हों । ग्रेट ब्रिटेन में लॉक (1632–1704) ने राज्य के कार्यों व शक्ति को स्पष्ट रूप से तीन भागों में विभक्त

किया— व्यवस्थापन, शासन और न्याय । लॉक उस युग में हुआ था, जब इंग्लैण्ड में राज्य क्रान्ति हो चुकी थी। अपने समय की परिस्थिति का उसके विचारों पर प्रभाव होना सर्वथा स्वाभाविक था । वह यह स्वीकार नहीं कर सकता था कि राज्य की सब शक्ति एक ही स्थान पर केन्द्रित होनी चाहिए । इसीलिये उसने कानून बनाने वाले या उनको स्पष्ट रूप देने वाले, उन्हें कार्यान्वित करने वाले और कानूनों का उल्लंघन करने वाले लोगों को दण्ड देने वाले राज्य के तीन अंगों का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया । पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि मध्यकाल के इन विचारकों ने राजशक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त का बीज रूप से ही संकेत किया था—

मांतस्क्यू (Montesquieu)

प्रथमतः इस सिद्धान्त को स्पष्ट व विशद रूप से प्रतिपादित करने का श्रेय मांतस्क्यू (1689 – 1755) को प्राप्त है। मांतस्क्यू ने सर्वप्रथम यह प्रतिपादित किया कि मनुष्यों की स्वतंत्रता की वास्तविक रूप से रक्षा ऐसे राज्य में ही सम्भव है, जिसमें कि सरकार के तीनों अंग या शक्तियाँ — व्यवस्थापन, शासन और न्याय — कानून के अधीन हों। इसके लिये यह आवश्यक है कि इन तीनों अंगों या शक्तियों को एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् रखा जाये। मांतस्क्यू ने लिखा है कि यदि व्यवस्थापन की शक्ति शासन की शक्ति के साथ संयुक्त होकर एक व्यक्ति के या एक व्यक्ति— समूह के हाथों में केन्द्रित हो जाए, तो किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता नहीं रह सकती, क्योंकि इसमें यह भय बना रहता है कि वह एक व्यक्ति या व्यक्ति — समूह मनमाने कानून पास करके उनका मनमाने ढंग से प्रयोग करने लगेगा। इसी प्रकार यदि न्याय विभाग को शासन और व्यवस्थापन विभागों से पृथक् न रखा जाए, तो भी मनुष्यों को स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होती । यदि न्याय और व्यवस्थापन की शक्तियाँ संयुक्त रहें, तो इस दशा में कानून के निर्माता ही न्यायाधीश भी हो जायेंगे । यदि न्याय और शासन के विभाग पृथक् न हों, तो न्यायाधीश पूर्णतया निरंकुश व स्वेच्छाचारी हो जायेगा । यदि एक ही व्यक्ति चाहे वे कुलीन वर्ग के हों या चाहे सर्वसाधारण जनता के, कानून बनाने, कानूनों को क्रियान्वित करने और मुकदमों सुनने के तीनों कार्य करने लगे, तो सर्वनाश ही हो जायेगा । मांतस्क्यू के इन विचारों का निश्कर्ष इस प्रकार है—

(1) यदि व्यवस्थापन और शासन विभाग पृथक् न हों और राज्य के ये दोनों कार्य एक ही व्यक्ति या व्यक्ति — समूह के हाथों में रहें, तो मनमाने कानून बनने लगेंगे और उनका प्रयोग भी मनमाने ढंग से किया जायेगा । (2) यदि व्यवस्थापन और न्याय — विभाग पृथक् न हों, तो कानूनों की व्याख्या मनमाने ढंग से की जाने लगेगी। (3) यदि शासन और न्याय विभाग संयुक्त हों, तो शासन विभाग पर कोई भी अंकुश नहीं रह जायेगा, क्योंकि शासकवर्ग के कार्यों को अनुचित करार देने वाली कोई सत्ता नहीं रह जायेगी । (4) यदि व्यवस्थापन, शासन और न्याय तीनों विभाग एक ही व्यक्ति या व्यक्ति — समूह के हाथों में हो जाएं, तब तो स्वतंत्रता की सत्ता ही सम्भव नहीं हो सकती । (5) राज्य की तीनों शक्तियों को पृथक् कर देने से सरकार की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश स्थापित हो जाता है, प्रत्येक शक्ति एक-दूसरे के मनमाने कार्यों पर निरोध (बिम्बा) लगा सकती हैं, और राज्य — संस्था के तीनों अंगों के संतुलन स्थापित हो जाता है ।

मांतस्क्यू के समय में फ्रांस में लुई चौदहवें का शासन था । बूबों वंश के राजा पूर्णतया स्वेच्छाचारी व निरंकुश थे । राज्य के सम्बन्ध में लुई चौदहवें का यह सिद्धान्त था कि मेरी इच्छा ही कानून है । ऐसे राजा के शासन में जनता को किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी । पर इस समय तक इंग्लैण्ड में राज्य क्रान्ति हो चुकी थी, और वहां का शासन अनेक अंशों में वैध (बवदेजपजनजपवदंस) और लोकतंत्र हो चुका था। मांतस्क्यू ने इंग्लैण्ड की यात्रा की, अठारह माह वहां रह कर उसने इंगलिष शासन पद्धति का गम्भीरता के साथ अध्ययन किया । उसका विचार था कि जनता की स्वतंत्रता इंग्लैण्ड में भली-भांति सुरक्षित है, और इसका कारण यह है कि वहां के शासन में राजपति के पृथक्करण के सिद्धान्त का भली-भांति अनुसरण किया गया है। पार्लियामेंट वहां

कानून बनाने का कार्य करती है, राजा और उसके मंत्री कानूनों को कार्यान्वित करते हैं, और न्याय विभाग पार्लियामेंट और राजा के हस्तक्षेप से स्वतंत्र हैं। यद्यपि अठारहवीं सदी में इंग्लैण्ड का शासन न पूर्णतया लोकतंत्र था और न वहां राज्य संस्था के तीनों अंग एक-दूसरे से पूर्णतया स्वतंत्र व पृथक् ही थे, पर इसमें सन्देह नहीं कि फ्रांस की तुलना में इंग्लैण्ड का शासन लोकतंत्र अवस्था था और वहां राज्य की सब शक्ति भी एक ही हाथों में केन्द्रित नहीं थी। इंग्लैण्ड से प्रेरणा पाकर मांतस्व्यू ने राजशक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त का प्रबल रूप से प्रतिपादन किया। यूरोप के प्रायः सभी राज्यों में उस समय स्वेच्छाचारी व निरंकुष शासनों की सत्ता थी। इस दशा में यह स्वाभाविक था कि मांतस्व्यू के विचार जनता को स्वीकार्य प्रतीत हों। अठारहवीं सदी के अन्त में फ्रांस में जो राज्य क्रान्ति हुई, मांतस्व्यू के विचार उसमें बहुत सहायक हुए।

ब्लैकस्टोन (ठसंबोजवदम) – जिस प्रकार के विचार फ्रांस में मांतस्व्यू ने प्रकट किये थे, प्रायः वैसे ही इंग्लैण्ड में ब्लैकस्टोन ने प्रतिपादित किये। उसने लिखा है कि जिस राज्य में कानून बनाने और उन्हें कार्यान्वित करने की शक्ति एक ही व्यक्ति या व्यक्ति समूह के हाथों में केन्द्रित रहेगी, वहाँ जनता की स्वतंत्रता की सत्ता असम्भव है। ऐसे राज्य में शासकवर्ग मनमाने कानून बनाकर उन्हें मनमाने ढंग से प्रयुक्त करने की स्थिति में होता है, क्योंकि अपने लिये वह जिन शक्तियों को भी उचित समझे उन्हें वह व्यवस्थापक भी होने के कारण स्वयं प्राप्त कर लेता है।

मांतस्व्यू और ब्लैकस्टोन जैसे विचारकों के कारण शक्ति के पृथक्करण का सिद्धान्त बहुत लोकप्रिय हो गया, और उन्नीसवीं सदी के अन्य अनेक विचारकों ने उसका अनुसरण किया। राजशक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त का प्रभाव 1789 में फ्रांस में राज्य क्रान्ति द्वारा बूब वंश के निरंकुष शासन का अन्त किया गया। क्रान्तिकारियों ने राज सत्ता का अन्त कर जो रिपब्लिक स्थापित की, उसके संविधान कानिर्माण करते हुए उन्होंने राजशक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त को अपने सम्मुख रखा। 1789 के फ्रेंच संविधान में यह स्पष्टरूप से स्वीकार किया गया कि राजशक्ति के तीन अंग हैं – व्यवस्थापन, शासन और न्याय, और इन तीनों को एक-दूसरे से पृथक् रखा जाना चाहिए और साथ ही इनका प्रयोग विभिन्न व्यक्तियों के हाथों में रहना चाहिए। इस संविधान के निर्माताओं का यह मत था, कि जिस देश में राजशक्तियों के पृथक्करण की व्यवस्था न हो, उसके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वहां संविधान की सत्ता भी है। सन् 1776 तक अमेरिका में स्थित विभिन्न उपनिवेश ब्रिटेन की अधीनता में थे। इन उपनिवेशों का शासन करने के लिये ब्रिटिश सरकार द्वारा गवर्नरों की नियुक्ति की जाती थी। साथ ही, उनमें ऐसी विधान सभाओं की सत्ता थी, जिनके सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होते थे। जब इन अमेरिकन उपनिवेशों में स्वतंत्रता का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था कि इनके ब्रिटिश गवर्नरों और जनता द्वारा निर्वाचित विधान-सभाओं में संघर्ष का सूत्रपात हो। इस संघर्ष के समय अमेरिकन नेता इस बात पर जोर दिया करते थे, कि राज्य की व्यवस्थापन – शक्ति शासन-शक्ति से पूर्णतया पृथक् व स्वतंत्र होनी चाहिए और शासकवर्ग को यह अधिकार नहीं होना चाहिए कि वह विधानसभाओं के निर्णयों में हस्तक्षेप कर सके। संघर्ष व युद्ध के अनन्तर जब अमेरिकन उपनिवेश ब्रिटेन की अधीनता से स्वतंत्र हुए, तब उन्होंने अपने लिये संविधानों का निर्माण किया। इन संविधानों में मांतस्व्यू और ब्लैकस्टोन द्वारा प्रतिपादित राजशक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त की प्रबल रूप से पुष्टि की। मैडिसन ने 'फिडरलिस्ट' पत्र में लिखा कि यदि व्यवस्थापन, शासन और न्यायविभाग एक ही हाथों में केन्द्रित हों तो इसी का नाम स्वेच्छाचारिता है। राजशक्ति के पृथक्करण का सिद्धान्त इस समय अमेरिका में इतना प्रबल था, कि 1780 में जब मेसेचुएट्स के संविधान का निर्माण किया गया, तो उसमें यह घोषित किया गया कि "इस कॉमनवेल्थ की सरकार में व्यवस्थापन विभाग कभी शासन और न्याय – सम्बन्धी शक्तियों या उनमें से किसी एक भी शक्ति का प्रयोग नहीं करेगा, और न्याय विभाग कभी शासन और व्यवस्थापन – सम्बन्ध

पि शक्तियों या उनमें से किसी एक भी शक्ति का प्रयोग नहीं करेगा, ताकि यहां कानूनों का शासन स्थापित रह सके, व्यक्तियों का नहीं ।” बाद में

अमेरिका के सुप्रीम कोर्ट ने इसी सिद्धान्त का निम्नलिखित रूप से प्रतिपादन किया— “यह विष्वास किया जाता है कि अमेरिका के लिखित संवैधानिक कानून की पद्धति की मुख्य विशेषता यह है कि सरकार को प्रदत्त सब शक्तियाँ — चाहे उन्हें राज्यों की सरकारों को प्रदान किया गया हो और चाहे केन्द्रीय राष्ट्रीय सरकार को — तीन विषाल विभागों में विभक्त है— शासन विभाग, व्यवस्थापन विभाग और न्याय विभाग छ सरकार की इन तीनों शाखाओं से सम्बन्ध रखने वाले सब समुचित कार्य राजकीय कर्मचारियों के तीन पृथक वर्गों के सुपुर्द किये जायेंगे और इस पद्धति की पूर्णता के लिये यह आवश्यक है कि इन तीन विभागों को जो सीमाएं पृथक व विभक्त करती हैं, उन्हें स्पष्ट रूप से निर्धारित किया जाये ।”

स्वाधीनता के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका का जो संविधान बनाया गया, उसमें राजशक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त को अविकल रूप से स्वीकार किया गया। वहां अब तक भी यह सिद्धान्त प्रयोग में लाया जा रहा है, और वहां के शासन में व्यवस्थापन, शासन और न्याय विभागों को एक—दूसरे से सर्वथा पृथक् रखा गया है। अमेरिकन महाद्वीप के अर्जेन्टिना, मैक्सिको, ब्राजील, चीली आदि राज्यों में भी इस सिद्धान्त का अनुसरण किया गया, और उनके संविधानों का निर्माण इसी सिद्धान्त के अनुसार किया गया पर यूरोप में जब एकतंत्र स्वेच्छाचारी शासनों का अन्त होकर लोकतंत्र सरकारों की स्थापना की गई, तो वहां के विविध राज्यों ने व्यवस्थापन, शासन और न्याय विभागों को एक—दूसरे से सर्वथा पृथक् रखने के सिद्धान्त को अधिक महत्व नहीं दिया। उनमें प्रायः पार्लियामेंटरी पद्धति का अनुसरण किया गया, जिसमें शासन — विभाग व्यवस्थापन — विभाग के प्रति उत्तरदायी होता है और मन्त्रिमण्डल की स्थिति पार्लियामेंट की एक उप-समिति के सदृश रहती है। पर फ्रांस के संविधान पर राजशक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त का प्रभाव विद्यमान रहा है। इसी कारण वहां शासन — विभाग को न्याय विभाग के नियंत्रण से मुक्त रखा गया है। इसीलिये फ्रांस में प्रशासकीय कानून (कउपदपेजतंजपअम सू) का पृथक् रूप से निर्माण किया गया है, और सरकारी कर्मचारियों पर सामान्य न्यायालयों में मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। प्रशासकीय कानून के अधीन सरकारी कर्मचारियों पर मुकदमें चलाने के लिये वहां पृथक् न्यायालयों का भी संगठन किया गया है। स्वतंत्र भारत के संविधान में राजशक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त को अविकल रूप से नहीं अपनाया गया। जिन राज्यों का ब्रिटिश साम्राज्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, उन सब में प्रायः ब्रिटेन की शासन पद्धति का ही अनुसरण किया गया है, जो पार्लियामेंटरी पद्धति है, और जिसमें शासन और व्यवस्थापन विभाग एक—दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से संयुक्त व सम्बद्ध रहते हैं।

राजशक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त की आलोचना राजनीति शास्त्र में शक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त का बहुत महत्व है। इसमें सन्देह नहीं कि राजाओं के निरंकुष शासनों का अंत करने और लोकतंत्र शासनों की स्थापना में इस सिद्धान्त ने बहुत सहायता की। इसके पक्ष में निम्नलिखित युक्तियाँ दी जाती हैं—

(1) यदि सब राजशक्ति एक ही व्यक्ति या व्यक्ति — समूह के हाथों में रहे, तो उसका निरंकुष व स्वेच्छाचारी हो जाना अवश्यम्भावी है। कानूनों को कार्यान्वित कराने वाले के हाथ में ही यदि न्याय का कार्य भी रहे, तो जनता कभी समुचित न्याय प्राप्त नहीं कर सकती। किसी मनुष्य ने कानून का उल्लंघन किया है या नहीं, इसका निर्णय ऐसे न्यायालयों के हाथों में रहना चाहिए जो शासन विभाग से पूर्णतया स्वतंत्र हों। पुलिस शासन विभाग का अंग होती है। कानून का उल्लंघन करने वालों पर वह मुकदमा चलाती है, और उन्हें दण्ड दिलाने का प्रयत्न करती है। पर किसी व्यक्ति ने वस्तुतः कानून का उल्लंघन किया है, इसका निर्णय एक ऐसे विभाग द्वारा किया जाना चाहिए, जो पुलिस या सरकारी मजिस्ट्रेटों से पृथक् व स्वतंत्र हो। इसी प्रकार व्यवस्थापन और शासन विभागों को भी एक—दूसरे से स्वतंत्र होना आवश्यक है। क्योंकि राज्य की प्रभुत्व — शक्ति जनता में निहित है, अतः कानूनों के रूप में राज्य की इच्छा को प्रकट करना जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों का कार्य है। पर ये

प्रतिनिधि शासन या कानूनों को कार्यान्वित करने का कार्य नहीं कर सकते । इसके लिये पृथक रूप से शासन विभाग की सत्ता आवश्यक है ।

(2) आधुनिक युग में राज्यों के कार्यक्षेत्र में बहुत अधिक वृद्धि हो गई है। अब राज्य संस्था का कार्य केवल यही नहीं रह गया है कि वह बाह्य आक्रमणों और आभयन्तर उपद्रवों से रक्षा करके देश में शान्ति और व्यवस्था को कायम रखे । जनता का हित व कल्याण सम्पादित करना और उसकी चौमुखी उन्नति करना भी अब राज्य का आवश्यक कार्य माना जाता है। इसीलिये जहां राज्य द्वारा अनेकविध कानूनों का निर्माण किया जाता है, वहां साथ ही जनता की सुख-समृद्धि और देश की उन्नति के लिए वह अनेकविध योजनाएं भी बनाता है। ये सब कार्य किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति – समूह द्वारा नहीं किये जा सकते। अतः यह आवश्यक है कि राज्य के कार्यों को अनेक भागों में विभक्त कर उनके सम्पादन के लिये पृथक व एक-दूसरे से स्वतंत्र व्यक्ति – समूह की व्यवस्था की जाए । यह होने पर ही राज्य के निरन्तर बढ़ते हुए कार्यों को सुचारु रूप से सम्पादित कर सकना सम्भव हो सकेगा ।

(3) सरकार के जो विभिन्न कार्य हैं, वे विभिन्न प्रकार के हैं। उन्हें सम्पादित करने वाले व्यक्तियों में विभिन्न प्रकार के गुणों व क्षमता की आवश्यकता है। कानून बनाने या राज्य की इच्छा को अभिव्यक्त करने का कार्य ऐसे व्यक्तियों के हाथों में रहना चाहिए जो जनता का प्रतिनिधित्व करते हों । जिनका जनता के साथ सम्पर्क न हो और जिन्हें जनता का विश्वास प्राप्त न हो, वे उसकी इच्छा को किस प्रकार प्रकट कर सकते हैं? पर कानूनों को कार्यान्वित कराना एक ऐसा कार्य है जिसके लिये शासन-सम्बन्धी क्षमता अपेक्षित है। न्याय करने के लिये जहाँ कानूनों को भली-भाँति समझना आवश्यक है, वहाँ साथ ही निष्पक्ष होना भी अनिवार्य है। राज्य कार्य तभी सुचारु रूप से सम्पादित हो सकेंगे, जब कि सब राजषक्ति एक ही व्यक्ति – समूह के हाथों में केन्द्रित न हों, अपितु विविध कार्यों को ऐसे पृथक व्यक्तियों के सुपुर्द किया जाए, जिनमें उन्हें सम्पादित कर सकने की विषिष्ट क्षमता हो ।

(4) निष्पक्ष न्याय की व्यवस्था तभी सम्भव है जबकि राजषक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त को स्वीकृत किया जाए। क्योंकि राज्य प्रभुत्व – शक्ति – सम्पन्न होता है, अतः प्रत्येक नागरिक को राजकीय कानूनों व आदेशों का पालन करना ही पड़ता है । पर कोई व्यक्ति कानून का पालन कर रहा है या नहीं, इसका निर्णय एक ऐसे विभाग के हाथों में रहना चाहिए जो शासन व व्यवस्थापन विभागों से सर्वथा पृथक व स्वतंत्र हो । यदि ऐसा नहीं होगा, तो नागरिक स्वतंत्रता और जनता की प्रभुता का कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा ।

यह स्पष्ट है कि इन युक्तियों में पर्याप्त बल है। पर अनेक विचारकों ने राजषक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त की आलोचना भी की है। उनकी मुख्य युक्तियाँ निम्नलिखित हैं

(1) इस सिद्धान्त को अविकल रूप से क्रियान्वित कर सकना सम्भव नहीं है । कोई भी शासन-पद्धति ऐसी नहीं हो सकती, जिसमें राजषक्ति के विविध अंगों या विभागों को पूर्णतया एक-दूसरे से पृथक किया जा सके। वस्तुतः व्यवस्थापन, शासन और न्याय – इन तीनों विभागों का एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। राज्य की तुलना शरीर के साथ की जाती है। शरीर में भी अनेक अंग होते हैं । सब अंगों के कार्य भी एक-दूसरे से पृथक होते हैं। पर शरीर के इन अंगों में घनिष्ठ सम्बन्ध भी रहता है, उन्हें पूर्णतया एक-दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। यदि शरीर का एक अंग रुग्ण या विफल हो जाए तो उसकाल हो जाये, तो उसका प्रभाव सारे शरीर पर पड़ता है । यही बात राज्य के सम्बन्ध में भी सही है। राज्य संस्था या सरकार के अनेक अंग अवश्य होते हैं, पर उन्हें एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक व स्वतंत्र नहीं रखा जा सकता ।

(2) यदि यह मान भी लिया जाये कि राजषक्ति को अनेक विभागों में विभक्त कर सकना और उन्हें एक-दूसरे से पृथक रख सकना सम्भव है, तो भी ऐसा करना उचित नहीं होगा। शासन और व्यवस्थापन विभागों को ही लीजिये । यदि उन्हें पूरी तरह से पृथक कर दिया

जाये, तो अच्छे कानूनों का बन सकना सम्भव नहीं रहेगा। शासन का कार्य जिन व्यक्तियों के सुपुर्द हो, वे ही यह भी भली-भाँति समझ सकते हैं कि राज्य को किन कानूनों की आवश्यकता है। यदि शासक वर्ग का यह विचार हो कि देशद्रोहियों का दमन करने के लिये एक विशेष कानून की आवश्यकता है, और पार्लियामेंट उस कानून का निर्माण करने के लिये तैयार न हो, तो सरकार के कार्य में भारी रुकावट पेश आ सकती है। यही बात टैक्सों के विषय में भी है। राज्यकार्य को सुचारु रूप से सम्पादित करने के लिये कितना धन चाहिए और उस धन को किन टैक्सों द्वारा प्राप्त किया जाए— इन बातों का निर्णय शासक वर्ग ही भली-भाँति कर सकता है। इस कारण यह आवश्यक है कि शासन और व्यवस्थापन विभागों में घनिष्ठ सम्बन्ध रहे। साथ ही, शासक वर्ग का व्यवस्थापन विभाग के प्रति उत्तरदायी होना भी बहुत उपयोगी है। यदि पार्लियामेंट का (जिसके सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं) शासक वर्ग पर कोई भी नियंत्रण न हो, तो शासक लोगों में स्वच्छन्ता की प्रवृत्ति विकसित हो जायेगी।

(3) राजपक्ष के पृथक्करण के सिद्धान्त में यह मान लिया जाता है कि राजपक्ष के तीनों अंग—व्यवस्थापन, शासन और न्याय — एक समान महत्व रखते हैं। पर लोकतंत्र राज्यों के विषय में यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती। वर्तमान युग के लोकतंत्र राज्यों में जनता का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है। राज्य की प्रभुत्व — शक्ति उसी में निहित मानी जाती है। जनता अपने प्रतिनिधियों को चुन कर जहाँ कानून बनाने और राजकीय नीति के निर्धारण में हाथ बंटाती है, वहाँ साथ ही शासन के कार्य पर भी अपना नियंत्रण रखती है। पार्लियामेंट शासन में मन्त्रिमण्डल तभी तक अपने पद पर रह सकता है, जब तक कि जनता या उस द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों के बहुमत का विश्वास उसे प्राप्त रहे। शासक वर्ग पर जनता के प्रभाव व नियंत्रण को कायम रखने के लिये यह आवश्यक है कि शासन विभाग को पार्लियामेंट या व्यवस्थापन विभाग से सर्वथा पृथक् व स्वतंत्र न रखा जाए।

(4) यह सही है कि न्याय विभाग को शासक वर्ग के प्रभाव से स्वतंत्र रहना चाहिए। पर इस विभाग को पूर्णतया स्वतंत्र कर देने का केवल यही उपाय हो सकता है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति न मन्त्रिमण्डल द्वारा की जाए और न पार्लियामेंट द्वारा। इस दृष्टि में न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिये भी जनता के वोटों का आश्रय लेना होगा। प्राचीन ग्रीस के अनेक गणराज्यों में यह पद्धति प्रचलित भी थी। पर जनता से निर्वाचित हुए न्यायाधीश कभी भी निष्पक्ष रूप से न्याय कार्य का सम्पादन नहीं कर सकते। जिन व्यक्तियों को न्यायाधीश नियुक्त होने के लिये जनता से वोट मांगने होंगे, वे चुनाव में सफल होकर अवश्य ही उन लोगों के प्रति पक्षपात का भाव रखेंगे, जिन्होंने निर्वाचन में उनकी सहायता की थी। यह बात मानव स्वभाव के सर्वथा अनुकूल है। यही कारण है, जो प्रायः सभी देशों में न्यायाधीशों की नियुक्ति शासन विभाग द्वारा की जाती है, यद्यपि इस बात की व्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया जाता है कि एक बार नियुक्त होकर न्यायाधीश अपना कार्य निष्पक्ष व स्वतंत्र रूप से करने में समर्थ रहें।

(5) यह स्वीकार कर सकना युक्तिसंगत नहीं है कि राजपक्ष के विविध अंगों को एक—दूसरे से सर्वथा पृथक् रखना व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिये अनिवार्य है। ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, भारत आदि जिन देशों में शासन की पार्लियामेंटरी पद्धति का अनुसरण किया जाता है, वहाँ के निवासियों को भी नागरिक स्वतंत्रता भली-भाँति प्राप्त है। संयुक्त राज्य अमेरिका में राजपक्ष के पृथक्करण के सिद्धान्त को अपनाया गया है। पर वहाँ के नागरिकों की तुलना में पार्लियामेंटरी पद्धति का अनुसरण करने वाले देशों के नागरिक किसी भी प्रकार कम स्वतंत्र नहीं हैं।

(6) शक्ति के पृथक्करण का सिद्धान्त व्यावहारिक नहीं है। वस्तुतः, क्रियात्मक दृष्टि से राजपक्ष को ऐसे विभागों में विभक्त किया ही नहीं जा सकता, जो एक—दूसरे से पूर्णतया पृथक् व स्वतंत्र हों। राज्य के व्यवस्थापन, शासन और न्याय विभाग परस्पर अन्तर्निहित

व घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहते हुए ही अपने कामों को सम्पन्न करते हैं। शासन विभाग का एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी है कि विशेष अवसरों पर वह अध्यादेश (लोकपददबम) जारी करे। व्यवस्थापन विभाग कौन से कानून बनाए, इस सम्बन्ध में परामर्श देना भी शासन विभाग का एक महत्वपूर्ण कार्य है। अमेरिका में भी राष्ट्रपति जो शासन विभाग का प्रधान होता है, नये कानूनों व नई राजकीय नीति के विषय में व्यवस्थापन विभाग (कांग्रेस) को परामर्श देने का कार्य करता है। इसी प्रयोजन से वह कांग्रेस के अनुसार विवादग्रस्त विषयों व मुकदमों का निर्णय करता है, पर कानूनों की व्याख्या करना व उनके अभिप्राय को स्पष्ट करना भी उसका एक महत्वपूर्ण कार्य है। न्यायालयों द्वारा किये गये निर्णयों के आधार पर ऐसी प्रथाओं व परम्पराओं का निर्माण हो जाता है, जिनकी स्थिति कानून के ही सदृश मानी जाती है। अमेरिका भी इस सम्बन्ध में अपवाद नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कोई शासन पद्धति ऐसी हो ही नहीं सकती, जिसमें राजपक्ष को ऐसे विभागों में विभक्त किया जा सके, जो एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक हों।

(7) मांतस्व्यू ने राजपक्ष को तीन भागों में विभक्त किया था व्यवस्थापन, शासन और न्याय। कतिपय विद्वानों ने इससे भी असहमति प्रकट की है और मांतस्व्यू द्वारा प्रतिपादित राजपक्ष के पृथक्करण के सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर भी की है कि इसमें राजपक्ष के जो विभाग किये गये हैं, वे ही सही नहीं हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार राजपक्ष के दो भाग होते हैं, और कुछ के अनुसार पांच। जो विद्वान राजपक्ष के केवल दो विभाग करने के पक्ष में हैं, उनका मत है कि राजपक्ष को केवल व्यवस्थापन और शासन विभागों में ही विभक्त किया जाना उचित है। व्यवस्थापन विभाग राज्य की इच्छा का निर्माण व अभिव्यक्ति का कार्य करता है, और शासन विभाग उसे कार्यान्वित करने का। न्याय विभाग की कोई पृथक् सत्ता नहीं होती, क्योंकि उसका कार्य यही है कि वह व्यक्तियों को कानूनों का पालन करने के लिये विवश करे। यह सही है कि न्याय विभाग का संगठन पृथक् व स्वतंत्र रूप से किया जाना चाहिए, पर वस्तुतः यह शासन विभाग का ही अंग होता है। इन विचारकों के अनुसार शासन विभाग को तीन उप-विभागों में विभक्त किया जा सकता है—
(1) कार्यकारिणी (मन्त्रिमण्डल) — यह उप-विभाग शासन सम्बन्धी कार्यों का निरीक्षण व नियंत्रण करता है और सरकार की नीति का निर्धारण करता है।
(2) प्रशासन — यह उप-विभाग कार्यकारिणी के निरीक्षण में शासन वास्तविक कार्य करता है।
(3) न्याय (श्रमकपक्ष) यह उप-विभाग कानूनों का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देकर शासन के कार्य में सहायता पहुंचाता है।

कतिपय विद्वान् राजपक्ष को पांच भागों में विभक्त करते हैं। ये विभाग निम्नलिखित हैं—
(1) व्यवस्थापन विभाग — यह विभाग कानून बनाता है, और सरकार की नीति की रूपरेखा तैयार करता है।
(2) निर्वाचक मण्डल — लोकतंत्रशासन में निर्वाचकों का स्थान बड़े महत्व का है। चुनाव द्वारा निर्वाचक या मतदाता ही यह निर्णय करते हैं कि विधानसभाओं के सदस्य कौन हों। रिफरेन्डम, इनीशिएटिव और रिकॉलद्वारा भी निर्वाचक लोग ही राज्य की इच्छा को अभिव्यक्त करते हैं।
(3) कार्यकारिणी — यह विभाग कानूनों व सरकारी नीति को क्रियान्वित करने के लिये उत्तरदायी होता है, और साथ ही जिन लोगों के हाथों में शासन का वास्तविक कार्य हो, उनका भी निरीक्षण व मार्ग-प्रदर्शन करता है।
(4) प्रशासन विभाग जो लोग स्थायी रूप से सरकारी सेवा में होते हैं और शासन का वास्तविक कार्य करते हैं, वे इस विभाग में सम्मिलित हैं।
(5) न्याय विभाग — कानूनों की व्याख्या करना, इस बात का निर्णय करना कि किसी व्यक्ति के कानूनों का उल्लंघन किया है या नहीं, और कानूनों का अतिक्रमण करने वालों को दण्ड देना इस विभाग का कार्य है।

राजपक्ष के पृथक्करण के सिद्धान्त की जिस ढंग से आलोचना की गई है, उसमें सत्य का अंश पर्याप्त है। यह सर्वथा सत्य है कि राजपक्ष को किन्हीं ऐसे विभागों में विभक्त नहीं किया जा सकता जो पूर्णतया एक-दूसरे से पृथक् व स्वतंत्र हों और जिनका एक-दूसरे के साथ कोई भी सम्बन्ध न हो। व्यवस्थापन, शासन और न्याय विभाग राज्य संस्था या सरकार के तीन अंग हैं, और शरीर के अंगों के समान वे अन्योन्याश्रित व घनिष्ठ रूप से

सम्बद्ध है। यही कारण है, जो यह सिद्धान्त कहीं भी पूर्णतया प्रयुक्त नहीं किया जा सका है। यही संयुक्त राज्य अमेरिका के विषय में यह माना जाता है कि उसके संविधान में इस सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप दिया गया है। पर अमेरिका में व्यवस्थापन विभाग (कांग्रेस) को न्याय – सम्बन्धी अनेक अधिकार भी प्राप्त हैं। सुप्रीम कोर्ट के न्यायधीषों पर महाभियोग (पुचमंबीउमदज) चलाने का कार्य कांग्रेस द्वारा ही किया जाता है। साथ ही, वहीं न्यायालयों को भी यह अधिकार है कि वे कांग्रेस द्वारा स्वीकृत किसी कानून को संविधान के विरुद्ध (न्दबवदेजपजनजपवदंस) घोषित कर सकें। अमेरिका के राष्ट्रपति – जो शासन विभाग का प्रधान है और व्यवस्थापन विभाग के प्रति उत्तरदायी नहीं है को व्यवस्थापन सम्बन्धी अनेक अधिकार भी प्राप्त हैं। वह कांग्रेस द्वारा स्वीकृत कानूनों को वीटो कर सकता है या पुनर्विचार के लिये भेज सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अमेरिका में भी राजपक्ष का पथ्यकरण अविकल रूप से नहीं है।

वर्तमान समय में राजपक्ष के पथ्यकरण के सिद्धान्त को बहुत महत्व नहीं दिया जाता। आजकल सरकार के लिये श्रम विभाग (कपअपेपवद वसिंइवनत) को अवश्य स्वीकार किया जाता है, पर पथ्यकरण को नहीं। जिस प्रकार सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्यों में श्रम – विभाग विकसित हो गया है, वैसे ही राज्य संस्था को कार्यों में वृद्धि के कारण अब सरकार के संगठन में भी श्रम-विभाग का विकास हो गया है। अब यह सम्भव नहीं रहा कि कोई एक व्यक्ति या व्यक्तिसमूह सम्पूर्ण राजपक्ष का प्रयोग कर सके। व्यवस्थापन, शासन और न्याय विभागों की स्थिति सरकार के क्षेत्र में श्रम विग की ही है। उन्हें ऐसे पथ्यक व्यक्ति – समूहों के सुपुर्द किया जाना चाहिए जो इन कार्यों में विशेष योग्यता व क्षमता रखते हों। पर श्रम विभाग के साथ-साथ उनमें परस्पर सहयोग का रहना भी बहुत आवश्यक है।

पर इसमें सन्देह नहीं कि राजनीतिशास्त्र में राजपक्ष के पथ्यकरण के सिद्धान्त का बहुत महत्व रहा है। एकतंत्र स्वेच्छाचारी शासनों के अन्त और लोकतंत्र शासनों की स्थापना में इस सिद्धान्त ने बहुत सहायता पहुंचाई है। यह इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है कि सम्पूर्ण राजपक्ष का एक स्थान पर केन्द्रित हो जाना मानव स्वतंत्रता के लिये विघातक है।

(5) निरोध और संतुलन का सिद्धांत (बिम्बो दक ठसंदबमे) दृ राजपक्ष के पथ्यकरण के सिद्धान्त का एक संशोधित रूप आजकल के विद्वान प्रतिपादित करते हैं, जिसे 'निरोध और संतुलन का सिद्धान्त' कहा जाता है। इस सिद्धांत के मुख्य तत्व निम्नलिखित हैं—

(1) सरकार के विविध अंगों – व्यवस्थापन, शासन और न्याय का क्षेत्र पृथक रूप से निर्धारित (2) पर साथ ही ऐसी व्यवस्था भी रहनी चाहिए जिससे एक अंग दूसरे अंगों पर रोक-थाम रख सकें, उनका नियंत्रण कर सकें, कोई अंग अत्यधिक पक्षपाली न हो जाये और सबएक-दूसरे की स्वेच्छाचारिता का निरोध करने में समर्थ रहते हुए परस्पर संतुलन रखने में भी समर्थ रहें।

सब अंगों में पारस्परिक सहयोग की सत्ता रहे।

शासन विभाग व्यवस्थापन विभाग पर इस प्रकार से नियंत्रण रख सकता है— (1) यदि व्यवस्थापन विभाग कोई ऐसा कानून स्वीकार कर दे जो शासन विभाग की दृष्टि में सर्वथा अनुचित हो, तो उसे यह अधिकार होना चाहिए कि वह उसे वीटो कर सके। (2) शासन विभाग को यह अधिकार भी प्राप्त होना चाहिए कि व्यवस्थापन विभाग द्वारा स्वीकृत किसी कानून व प्रस्ताव को अपने सुझावों व आलोचना के साथ पुनर्विचार के लिये वापस लौटा सके। (3) प्रत्येक कानून के लिये शासन विभाग के प्रधान द्वारा स्वीकृति अनिवार्य मानी जाये।

इसी प्रकार व्यवस्थापन – विभाग शासन – विभाग को इस ढंग से नियन्त्रित कर सकता है— (1) वह शासन विभाग के कार्यों व नीति की आलोचना कर सके । (2) सरकार को चलाने के लिये जो धनराशि अपेक्षित हो, उसमें कटौती करके या उसे सर्वथा अस्वीकृत करके बहु शासन विभाग के प्रति अपने असंतोश को प्रकट कर सके। (3) जिन राज्यों में पार्लियामेंटरी या सांसद प्रणाली हो, उनमें तो मन्त्रिमण्डल की सत्ता इसी बात पर निर्भर होती है कि विधानसभा के बहुमत का विष्वास उसे प्राप्त रहे । पर अध्यक्षात्मक (क्षेत्रीयकमदजपंस) प्रणाली वाले राज्यों में भी व्यवस्थापन विभाग को यह अधिकार प्राप्त होना चाहिए कि महाभियोग चलाकर वह राष्ट्रपति को अपदस्थ कर सकें। इस ढंग से व्यवस्थापन – विभाग शासन— विभाग पर अपना नियंत्रण रख सकता है ।

शासन और व्यवस्थापन विभागों को जहां एक-दूसरे पर नियंत्रण रखने का अधिकार होना चाहिए, वहां यह भी आवश्यक है कि उनमें परस्पर सहयोग रहे। इस सहयोग के प्रकार निम्नलिखित हैं – (1) विधानसभा कानूनों व राजकीय नीति की केवल रूपरेखा तैयार कर दे, और शासन – विभाग को यह अधिकार दे दे कि इन कानूनों व निर्धारित नीति को कार्यान्वित करने के लिये विशद रूप से नियम बना सके, क्योंकि जनता की इच्छा को कार्यान्वित करना शासन-विभाग का ही कार्य है, अतः वही यह भली-भांति निर्धारित कर सकता है कि कौन से नियम आवश्यक व उपयोगी हैं। (2) शासन विभाग की ओर से ऐसे कानून, प्रस्ताव आदि विधानसभाओं के समक्ष प्रस्तुत किये जा सकें, जिन्हें कि वह समुचित व आवश्यक समझें । पार्लियामेंटरी पद्धति वाले राज्यों में तो प्रायः सभी महत्वपूर्ण कानून व प्रस्ताव मन्त्रिमण्डल द्वारा ही पेश किये जाते हैं। पर अध्यक्षात्मक पद्धति के राज्यों में भी प्रायः राष्ट्रपति अपने संदेश द्वारा विधानसभा को उन कानूनों व प्रस्तावों को स्वीकृत करने का सुझाव देता है जिन्हें कि सरकार या शासन विभाग आवश्यक समझता है ।

न्याय-विभाग पर भी शासन और व्यवस्थापन विभागों का नियंत्रण रहता हैकृ (1) न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिये जहां शासन – विभाग परीक्षाओं की व्यवस्था करता है, वहां हाईकोर्टों व सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशों की नियुक्ति प्रायः राष्ट्रपति व गवर्नरों द्वारा की जाती है। (2) व्यवस्थापन विभाग को प्रायः यह अधिकार प्राप्त है कि उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों पर महाभियोग चलाकर वह उन्हें अपदस्थ कर सकें। (3) न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए किन योग्यताओं की आवश्यकता हो, इसका निर्णय व्यवस्थापक विभाग द्वारा ही किया जाता है। शासन और व्यवस्थापन विभागों पर न्याय विभाग के नियंत्रण के ढंग निम्नलिखित हैं (1) शासन विभाग के कर्मचारियों पर न्यायालयों में मुकदमें चलाये जा सकते हैं । यदि सरकार किसी व्यक्ति को कानून के विपरीत गिरफ्तार करके बन्दी बना ले, तो हैबियस कॉर्पस के आवेदन पत्र द्वारा न्यायालय उसे अपने समक्ष प्रस्तुत करने व उसकी रिहाई का आदेश दे सकता है। (2) व्यवस्थापन – विभाग द्वारा स्वीकृत कोई कानून संविधान के विरुद्ध तो नहीं है, इसका निर्णय भी न्याय विभाग करता है । उच्च न्यायालय कानूनों को असंवैधानिक होने के कारण रद्द भी कर सकते हैं । (3) कानूनों की व्याख्या करना व उन्हें स्पष्ट करना भी न्याय विभाग का एक महत्वपूर्ण कार्य है ।

सारांश :

वर्तमान समय में यही मन्तव्य राजशास्त्रियों को स्वीकार्य है कि राजपक्षि का अविकल रूप से पथककरण सम्भव नहीं है । पर निरोध और संतुलन द्वारा राज्य – संस्था के विविध अंगों को एक-दूसरे पर नियंत्रण रखना चाहिए और साथ ही परस्पर सहयोग भी करना चाहिए

अभ्यास-प्रश्न

1. पथककरण का सिद्धांत क्या है तथा इसकी आवश्यकता क्यों होती है?

MATS Centre for Distance and Online Education, MATS University

2. पथककरण के सिद्धांत का विकास किस प्रकार हुआ ? विवरण दें।

3. राज्यशक्ति के पथ्यक्करण सिद्धांत की आलोचना पर टिप्पणी लिखें ।
4. निरोध और संतुलन के सिद्धांत क्या हैं? स्पष्ट करें।
5. हैबियस (बंदी प्रत्यक्षीकरण) कार्पस क्या है? स्पष्ट करें।

वर्तमान युग के प्रायः सभी सभ्य राज्यों में संविधान (कॉन्स्टिट्यूशन) की सत्ता है। भारत ब्रिटिश साम्राज्य की अधीनता से मुक्त होकर एक स्वतंत्र राज्य बना, तो उसका संविधान तैयार करने के लिये संविधान परिषद (ब्रिटेन के संविधान के आधार पर) का निर्माण किया गया और इस परिषद ने भारत का जो संविधान बनाया, उसी के अनुसार अब इस देश का शासन किया जा रहा है। संविधान प्रत्येक राज्य के लिये आवश्यक है, इसके बिना राज्य-संस्था की सत्ता ही सम्भव नहीं है। इसीलिये अनेक विद्वानों ने संविधान से पूंन्य राज्यों को 'अराजक' कहा है।

संविधान के लक्षण दृष्टि से राजनीति शास्त्र के विविध विद्वानों ने संविधान के लक्षण भिन्न-भिन्न प्रकार से दिये हैं। सर जेम्स मैकिनटोष के अनुसार, "संविधान उन लिखित व अलिखित आधारभूत कानूनों के समूह को कहते हैं, जो कि उच्च पदाधिकारियों के सर्वाधिक महत्वपूर्ण अधिकारों और जनता के सबसे महत्वपूर्ण विशेषाधिकारों को मर्यादित करते हैं।" अमेरिकन विद्वान कूले के अनुसार "संविधान राज्य के उस आधारभूत कानून का नाम है, जिसमें कि उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन हो, जिनके अनुसार राज्य की सरकार स्थापित की गई हो, और जिनके द्वारा राज्य की प्रभुत्व – शक्ति का संविधान किया गया हो और यह निर्देश किया गया हो कि इस प्रभुत्व – शक्ति के विविध अंश किन व्यक्तियों में निहित रहेंगे और वे इसका प्रयोग किस प्रकार से करेंगे।" स्विस् विद्वान बोजो के अनुसार "संविधान उस आधारभूत कानून को कहते हैं, जिसके अनुसार राज्य की सरकार का संगठन किया जाता है, और जिसके अनुसार व्यक्तियों और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित किया जाता है। यह संविधान लिखित और अलिखित दोनों प्रकार का हो सकता है। डेयसी के अनुसार, "संविधान उन कानूनों के समूह को कहते हैं, जो कि प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से राज्य की प्रभुत्व – शक्ति के विभाग और प्रयोग को निश्चित करते हैं।" प्रसिद्ध जर्मन विद्वान जेलीनेक के अनुसार "संविधान उन कानूनों का नाम है, जिनके द्वारा राजशक्ति को प्रयोग में लाने वाले प्रधान-साधनों का स्वरूप निश्चित किया जाता है, और इन विविध साधनों का निर्माण कैसे किया जाये, इनमें परस्पर क्या सम्बन्ध हो, इनका कार्यक्षेत्र क्या हो और इनमें से प्रत्येक का राज्य के साथ क्या सम्बन्ध हो, ये बातें जिनसे निर्धारित होती हैं।"

विविध विद्वानों ने संविधान के जो लक्षण दिये हैं, उन पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि संविधान द्वारा सरकार के स्वरूप और संगठन को निश्चित किया जाता है। संविधान यह प्रतिपादित करता है— कि किसी राज्य की सरकार के विविध अंग कौन-से हैं, इन विविध अंगों की क्या शक्ति है, क्या कार्यक्षेत्र है, उनके परस्पर क्या सम्बन्ध हैं और उनका राज्य के साथ क्या सम्बन्ध है। संविधान के कारण सरकार और उसके विविध अंगों (विभागों) की शक्ति निश्चित हो जाती है, और उसका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। राज्य और सरकार दो भिन्न सत्ताएँ हैं। प्रभुत्व शक्ति राज्य में निहित है, सरकार में नहीं। सम्पूर्ण प्रभुत्व – सम्पन्न राज्य अपनी राजशक्ति के प्रयोग का अधिकार सरकार को प्रदान करता है। ऐसा करते हुए वह संविधान द्वारा यह निश्चित कर देता है कि सरकार कहाँ तक किस सीमा तक, शक्ति का प्रयोग कर सकती है, जनता के कौन-से ऐसे आधारभूत अधिकार हैं जिनका सरकार अतिक्रमण नहीं कर सकती, वे कौन-से साधन हैं जिनसे जनता अपने इन अधिकारों की रक्षा कर सकती है, सरकार का प्रयोग क्या होगा, उसके विविध भाग व अंग कौन-कौन से होंगे, इनका निर्माण किस ढंग से होगा, और इनमें परस्पर क्या सम्बन्ध रहेगा। संवर्गात्मक व संघात्मक राज्यों में संविधान द्वारा यह भी निश्चित कर दिया जाता है कि

राजशक्ति का प्रयोग किस प्रकार केन्द्रीय और प्रादेशिक सरकारों में विभक्त रहेगा, और इन सरकारों में पारस्परिक सम्बन्ध क्या होगा । संविधान द्वारा इन बातों के भली-भांति स्पष्ट हो जाने का परिणाम यह होता है कि सरकार व उसका कोई विभाग अपनी मर्यादा, शक्ति व कार्यक्षेत्र का अतिक्रमण नहीं कर पाता, और सरकार स्वेच्छाचारी व निरंकुश नहीं होने पाती ।

संविधान लिखित (तपजजमद) और अलिखित (न्दूतपजजमद) दोनों प्रकार का हो सकता है । ग्रेट ब्रिटेन सदृश राज्यों में बहुत से कानून, जो कि सरकार व उसके विविध विभागों की शक्ति व क्षेत्र को मर्यादित करते हैं, लेखबद्ध नहीं किये गये हैं। ये कानून परम्पराओं व प्रथाओं पर आश्रित हैं। यद्यपि इनमें भी वही बल है, जो लेखबद्ध कानूनों में होता है। ब्रिटेन का राजा शासन, व्यवस्थापन व न्याय सम्बन्धी बहुत अधिक शक्ति रखता है, पर प्रथा के अनुसार वह उसका प्रयोग नहीं कर सकता । संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस, भारत आदि राज्यों के संविधान लिखित हैं। पर उनमें भी परम्परा व प्रथा का महत्व कम नहीं है। संविधान में जहाँ लेखबद्ध कानून अन्तर्गत होते हैं, वहाँ साथ ही अलिखित प्रथाओं और परम्पराओं का भी उसमें समावेश रहता है।

संविधान की अनिवार्यता यह सम्भव नहीं है, कि कोई राज्य संविधान के बिना रह सके । जेलीनेक के अनुसार कोई राज्य ऐसा नहीं हो सकता, जिसका संविधान न हो। जिन राज्यों में किसी निरंकुश स्वेच्छाचारी राजा का शासन हो, उनमें भी किसी न किसी रूप में संविधान का होना अनिवार्य होता है । संविधान के अभाव में राज्य राज्य नहीं रहेगा, उसकी दशा 'अराजक' हो जायेगी ।

जेलीनेक के इस मन्तव्य की सत्यता को फ्रांस के उदाहरण द्वारा भलीभांति स्पष्ट किया जा सकता है। लोकतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना से पूर्व फ्रांस में बूब वंश के निरंकुश व स्वेच्छाचारी राजाओं का शासन था। ये राजा अपनी इच्छा को ही कानून समझते थे । पर इनके शासन में भी फ्रांस में एक प्रकार के संविधान की सत्ता विद्यमान थी। वहाँ कतिपय ऐसे कानून विद्यमान थे, जिनका उल्लंघन राजा भी नहीं करते थे । उदाहरण के लिए राजा कोई ऐसा नया टैक्स नहीं लगा सकता था, जो फ्रांस की पार्लियामेंट (एस्टेट्स जनरल) ने स्वीकार न कर लिया हो । मध्यकाल की यह फ्रेंच पार्लियामेंट जनता द्वारा निर्वाचित नहीं होती थी, इसे जनता का प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता था । इसमें राज्य की विविध श्रेणियों (जागीरदार, पादरी व सर्वसाधारण लोग) के व्यक्ति सम्मिलित हुआ करते थे। इनके शामिल होने का ढंग क्या था, इसे लिखने की यहाँ आवश्यकता नहीं । इतना निर्देश कर देना पर्याप्त है कि नये टैक्स लगाने के सम्बन्ध में फ्रेंच राजाओं की शक्ति इस एस्टेट्स – जनरल द्वारा मर्यादित होती थी। फ्रेंच राजाओं की यह शक्ति भी नहीं थी कि राजगद्दी पर किस क्रम से राजवंश के लोग आरुढ़ हों, इस बात के नियमों में वे स्वेच्छापूर्वक परिवर्तन कर सकें । राजा द्वारा प्रचारित किया हुआ कोई कानून तब तक क्रिया में परिणत नहीं हो सकता था, जब तक कि पार्लमा (एक प्रकार के न्यायालय) उसे अपने यहाँ दर्ज न कर लें। 1771 में जब फ्रांस में राज्य क्रांति का सूत्रपात हुआ, तो क्रांतिकारी नेता इन्हीं परम्परागत कानूनों पर जोर देते थे, और राजा की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध जनता की रक्षा करने को उत्सुक थे। कोई राजा चाहे कितना ही निरंकुश क्यों न हो, वह किसी न किसी व्यवस्था का अनुसरण अवश्य करता है । इस व्यवस्था को चाहे ईश्वरीय विधान कहिये, चाहे परम्परागत नियम व प्रथा कहिये, पर स्वेच्छाचारी एकतंत्र राजा भी किन्हीं निश्चित नियमों का पालन अवश्य करते हैं, उन्हीं के अनुसार शासन करते हैं । यदि राज्यमें कोई भी नियम न हो, मर्यादा का सर्वथा अभाव हो, तो अराजकता की दशा उपस्थित होजायेगी ।

लिखित (तपजजमद) संविधानों का प्रारम्भ प्राचीन और मध्य कालों में संविधान प्रायः सर्वांश में व आंशिक रूप में अलिखित हुआ करते थे । उस युग में यह प्रथा नहीं थी कि सरकार के स्वरूप को व शासन की विधि को किसी एक लेख में अलिखित रूप से लेखबद्ध कर दिया जाये । लिखित संविधानों का प्रारम्भ सबसे पूर्व अमेरिका में हुआ। 1776 से 1781 तक विविध

1 अमेरिकन राज्यों में संविधानों को लेखबद्ध किया गया। ये राज्य पहले ब्रिटेन के अधीन थे। उसके शासन के विरुद्ध विद्रोह कर इन्होंने स्वतंत्रता प्राप्त की थी और अपने यहां लोकतंत्र रिपब्लिकों की स्थापना की थी। स्वतंत्र होने के बाद उन्होंने यह आवश्यक समझा कि अपनी शासन – विधि को लिखित रूप दे दिया जाये। फ्रांस में जब बूब वंश के एकतंत्र राजाओं के विरुद्ध क्रांति हुई, तो वहां के लोगों ने भी यह आवश्यक समझा कि नये लोकतंत्र शासन की विधि को लेखबद्ध कर दिया जाये। सितम्बर, 1799 में फ्रांस का पहला लिखित संविधान तैयार हुआ। उसके बाद वहां फिर अनेक बार नये संविधानों की रचना हुई। 1794 से 1921 तक अनेक जर्मन राज्यों ने अपने लिखित संविधानों का निर्माण किया। अन्य अनेक यूरोपियन राज्यों ने भी इस सम्बन्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका और फ्रांस का अनुसरण किया। 1912 में स्पेन ने, 1714 में नार्वे ने, 1794 में डेनमार्क और नीदरलैण्ड ने, 1722 में पुर्तगाल ने, 1731 में बेल्जियम ने, 1747 में इटली और और स्वित्जरलैण्ड ने 1741 में आस्ट्रिया ने और 1766 में स्वीडन ने अपने लिये लिखित संविधानों की रचना की। 1994–97 के महायुद्ध के बाद यूरोप में जो अनेक राज्य स्थापित हुए, उन सब में बड़े विशद रूप से लिखित संविधानों का निर्माण किया गया। लोकतंत्रवाद के विस्तार के साथ-साथ संविधानों की रचनाएँ में भी निरन्तर उन्नति होती गई। संयुक्त राज्य अमेरिका संसार की सबसे विषाल व समृद्ध रिपब्लिक है, पर अठारहवीं सदी के अन्तिम भाग में उसने अपने लिये जो संविधान बनाया था, वह बहुत ही संक्षिप्त तथा सूत्ररूप था। उसकी तुलना में आस्ट्रिया जैसी छोटी-सी रिपब्लिक का संविधान बहुत ही विस्तृत व विशद था। प्रथम महायुद्ध (1914 – 17) के बाद विविध यूरोपियन राज्यों ने अपने संविधान को तैयार करते हुए राजनीति शास्त्र व लोकतंत्रवाद के उन सब सिद्धान्तों व मन्तव्यों का अपने संविधानों में समावेश कर लिया था, जिनका विकास उन्नीसवीं सदी में हुआ था। द्वितीय महायुद्ध (1939–45) के बाद भारत का जो नया संविधान बना है, वह लिखित संविधान का एक अत्यन्त उत्तम उदाहरण है। यह किसी भी अन्य राज्य के संविधान की अपेक्षा अधिक विषाल, विशद व विस्तृत है। नागरिकों के आधारभूत अधिकार क्या हों, राज्य – संस्था के क्या आदर्श हों, उन आदर्शों को क्रिया में परिणत करने के लिये किस नीति का अनुसरण किया जाये, किस प्रकार ऐसी सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था कायम की जाये जिससे किसब व्यक्तियों के साथ समुचित व न्याय व्यवहार हो सकें इन तथा इसी प्रकार की अन्यमहत्वपूर्ण बातों का जिस विशद रूप में भारत के संविधान में प्रतिपादन किया गया है, वह अन्य संविधानों में नहीं पाया जाता। बीसवीं सदी में मनुष्य ने जिस प्रकार विज्ञान के विविध क्षेत्रों में असाधारण उन्नति की है, वैसे ही राजनीति, समाजशास्त्र व कानून के क्षेत्र में भी अब मानव-समाज पहले की अपेक्षा बहुत आगे बढ़ चुका है। राज्य का कार्यक्षेत्र क्या हो, यह विषय बड़ा विवादग्रस्त है। अब संविधान में केवल यह बता देना ही पर्याप्त नहीं समझा जाता कि शासन की विधि क्या रहेगी, राजपक्षि का प्रयोग सरकार के किन विभागों द्वारा व किस प्रकार होगा और नागरिकों के आधारभूत अधिकार कौन से रहेंगे। अब संविधान में इस बात को भी भली-भांति स्पष्ट करने की आवश्यकता अनुभव की जाती है कि राज्य – संस्था वैयक्तिक स्वतंत्रता के सम्बन्ध में, आर्थिक क्षेत्र में, और मनुष्यों के सामूहिक हितों के प्रतिपादन के लिये किस नीति का अनुसरण करेगी। भारत के संविधान में इस नीति को विशद रूप से प्रतिपादित किया गया है और यह लिखित संविधान का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

संविधानों के भेद व प्रकार

राजनीति शास्त्र के विद्वानों ने संविधानों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया है। कतिपय लेखकों ने राज्यों के शासन को दृष्टि में रखकर उनके संविधानों को एकतंत्र, श्रेणीतंत्र और

राजनीतिक सिद्धान्त

रूप से किया जाता है। जिन राज्यों की शासन विधि धीरे-धीरे विकसित हुई हो, जिसका आधार पुरातन परम्पराएँ हैं, उनके संविधान को विकसित कहा जाता है। ग्रेट ब्रिटेन का संविधान इसका उत्तम उदाहरण है। वहाँ राजा, मन्त्रि-परिषद्, पार्लियामेंट आदिसंस्थाओं की शक्ति व अधिकार क्षेत्र लेखबद्ध नहीं हैं, न ही किसी एक समय में उनका निर्माण ही किया गया है। वे ऐतिहासिक विकास के परिणाम हैं, इसीलिये उन्हें 'विकसित' कहा जा सकता है। विहित संविधान वे हैं, जिनका किसी एक समय में किसी राजा द्वारा या संविधान – परिषद् द्वारा निर्माण किया गया हो। लिखित और अलिखित संविधान – राजनीति शास्त्र के अनेकविधान संविधानों को दो वर्गों में विभक्त करते हैं, लिखित और अलिखित। लिखित संविधान वे हैं, जो पूर्णतया व अधिकांश रूप से लेखबद्ध हों। इनका निर्माण या तो किसी संविधान – परिषद् द्वारा होता है या कोई पार्लियामेंट अपने विधि कार – क्षेत्र में विद्यमान किसी राज्य के लिये इन्हें बनाती है, और या किसी राजा के आदेश व आषा के अनुसार इन्हें विहित किया जाता है। लिखित संविधान में एक या एक से अधिक ऐसे विधानों का समावेश होता है, जिनमें शासन – विधि का विशद रूप से प्रतिपादन किया गया हो। सरकार का क्या स्वरूप हो, शासन के विभिन्न विभागों के क्या अधिकार व कर्तव्य हों, उनकी रचना किसप्रकार की जाये और नागरिकों के क्या मूलभूत अधिकार हों, इन सब बातों का संविधान में भली भाँति समावेश किया जाता है। इसके विपरीत अलिखित संविधान वे होते हैं, जिनमें परम्परागत रिवाजों, प्रथाओं और न्यायालयों के निर्णयों का महत्व अधिक होता है। सरकार का स्वरूप, शासन के विविध विभाग, उनकी रचना आदि विषय किसी एक विधान में लेखबद्ध नहीं होते, अपितु उनका आधार वे प्रथाएँ व परम्पराएँ होती हैं, जो राज्य में धीरे-धीरे विकसित हुई होती हैं। ग्रेट ब्रिटेन का संविधान अलिखित संविधान का सर्वोत्तम उदाहरण है। ब्रिटेन के शासन कैबिनेट का बहुत महत्व है, वही उसका शासन करती है। पर ब्रिटेन के लिखित विधान में इस संस्था का कहीं भी उल्लेख नहीं है, जिसका ब्रिटेन राजा की वास्तविक स्थिति वह नहीं है, जो ब्रिटेन का राजा अब भी सर्वशक्ति सम्पन्न, स्वेच्छाचारी व निरंकुश है। पर प्रथा व परम्परा के अनुसार वह वैध राजा है। वह कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकता जो पार्लियामेंट को स्वीकार्य न हो। ब्रिटेन का संविधान प्रायः अलिखित है, और उसमें लिखित विधानों की अपेक्षा परम्पराओं, प्रथाओं व न्यायालयों के निर्णयों का महत्व अधिक है। अलिखित संविधान के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि उसका निर्माण किसनिश्चित तिथि को हुआ। उसका निर्माण किसी एक समय में नहीं होता, उसका तो धीरे-धीरे विकास होता है। लिखित संविधान किसी निश्चित समय पर बनते हैं। वे एक या कतिपय विधानों के रूप में लेखबद्ध होते हैं। अमेरिका, भारत आदि अनेक राज्यों का संविधान एक कानून व विधान के रूप में लेखबद्ध है। फ्रांस की तत्पीय रिपब्लिक (1871 – 1942) के संविधान में तीन विधान शामिल थे, जिन तीनों का निर्माण भिन्न-भिन्न समयों पर हुआ था। आस्ट्रिया के पुराने संविधान (1919 से पूर्व) का निर्माण पाँच पथक-पथक विधानों द्वारा हुआ था। अतः यह स्पष्ट है कि लिखित संविधान के लिये यह आवश्यक नहीं कि यह केवल एक विधान में ही लेखबद्ध हो, उसमें एक से अधिक विधान भी शामिल हो सकते हैं। पर लिखित संविधानों की यह आवश्यक विशेषता होती है कि उनमें सरकार के स्वरूप, शासन के विविध विभाग आदि के सम्बन्ध में सब व्यवस्थाएँ लेखबद्ध कर ली जाती हैं। लिखित और अलिखित संविधानों में प्रायः एक अन्य भेद रहता है। लिखित संविधानों में परिवर्तन बहुत सुगम नहीं होता। जो संसद्, विधानसभा या पार्लियामेंट साधारण कानून का निर्माण करती है, वह न तो संविधान का निर्माण कर सकती है और न ही उसमें संशोधन व परिवर्तन कर सकती है। संवैधानिक कानून (ब्यदेजपजनजपवदंस सू) और साधारण कानून की अपेक्षा अधिक ऊँची मानी जाती है, और उसमें परिवर्तन करने के लिये पार्लियामेंट की अपेक्षा अधिक ऊँची संस्था की

आवश्यकता होती है। संवैधानिक कानून में परिवर्तन का अधिकार रखने वाली संस्था का निर्माण किस प्रकार हो, इस विषय में विविध राज्यों के कानून भिन्न-भिन्न हैं। पर यह स्पष्ट है कि लिखित संविधानों में संवैधानिक व आधारभूत कानून उन साधारण कानूनों से भिन्न होते हैं, जिनका निर्माण व संशोधन पार्लियामेंट के हाथों में रहता है। इसके विपरीत जिन राज्यों का संविधान अलिखित होता है, उनमें न संवैधानिक कानून और साधारण कानूनों में भेद किया जाता है, और न संविधान में संशोधन व परिवर्तन करने के लिये पार्लियामेंट की अपेक्षा किसी अधिक ऊँची व भिन्न संस्था की आवश्यकता समझी जाती है। ग्रेट ब्रिटेन में पार्लियामेंट ही को यह अधिकार है कि वह राज्य की शासन विधि में भी परिवर्तन कर सके, या किन्हीं ऐसे कानूनों का निर्माण कर सके जिनका प्रयोजन शासन सम्बन्धी व्यवस्था में संशोधन करता हो। पर यह नहीं समझना चाहिए कि लिखित संविधानों के लिये यह अनिवार्य है कि उनमें परिवर्तन व संशोधन करने का अधिकार राज्य की साधारण पार्लियामेंट को न हो। कतिपय ऐसे उदाहरण भी उपस्थित किये जा सकते हैं, जबकि किसी राज्य का संविधान तो लिखित था, पर उसमें परिवर्तन का अधिकार पार्लियामेंट को ही था। 1999 तक आस्ट्रिया का जो संविधान था, उसका भी निर्माण वहाँ की पार्लियामेंट को ही प्राप्त था यही बात इटली के संविधान (द्वितीय महायुद्ध तक) के सम्बन्ध में कही जा सकती है। पर प्रायः लिखित संविधानों में इस बात की व्यवस्था की जाती है कि उनमें परिवर्तन करने के लिये साधारण पार्लियामेंट की अपेक्षा अधिक ऊँची संस्था की आवश्यकता रहे। स्वतंत्र भारत का जो नया संविधान बना है, उसमें परिवर्तन करने के लिये यह व्यवस्था की गयी है कि संविधान में परिवर्तन – सम्बन्धी कोई प्रस्ताव या मसविदा पहले संघ की पार्लियामेंट के दोनों सदनों में पृथक-पृथक स्वीकृत हो और यह स्वीकृति दोनों सदनों के कुल सदस्यों के बहुमत द्वारा और उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई मत द्वारा हो। संविधान की जिन 6 भागों का सम्बन्ध भारतीय संघ के अन्तर्गत विविध राज्यों के साथ हो, उनमें परिवर्तन करने के लिये यह भी आवश्यक है कि बहुसंख्यक राज्य भी उसके पक्ष में हों। अन्य राज्यों के संविधानों के मुकाबिले में भारत का संविधान बहुत सुगमता से परिवर्तनीय है। यह होते हुए भी, भारत में संवैधानिक कानून और साधारण कानून में भेद रखा गया है, और संविधान सम्बन्धी परिवर्तनों के लिये आपेक्षिक दृष्टि से भिन्न व्यवस्था रखी गयी है।

लिखित संविधानों के भेद – विविध राज्यों में जो लिखित संविधान विद्यमान हैं, उन्हें भी तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

1. जिनका निर्माण राजा के आदेश या आज्ञा द्वारा हुआ हो। 1814 में राजा लुई 18वें ने फ्रांस में जो संविधान जारी किया था, वह इसका उदाहरण है। उसका निर्माण किसी संविधान – परिशद या पार्लियामेंट द्वारा नहीं हुआ था, अपितु बूबों राजवंश का पुनरुद्धार होने पर 18वें लुई ने स्वयं अपनी आज्ञा से उसे जारी किया था। 1730 में जब लुई फिलिप फ्रांस का राजा बना, तो उसने नये सिरे से संविधान का निर्माण किया। 1730 का यह नया फ्रेंच संविधान भी राजा के आदेश का ही परिणाम था।
2. जिनका निर्माण साधारण विधानसभा या पार्लियामेंट द्वारा हुआ हो। आस्ट्रिया (1919 तक), इटली (1944 तक) और स्पेन के संविधान इसके उदाहरण हैं। इन राज्यों के संविधान इनकी साधारण पार्लियामेंट द्वारा ही निर्मित हुए थे।
3. जिनका निर्माण संविधान परिशदों द्वारा हुआ हो। फ्रांस की तृतीय (1871 – 1942) और चतुर्थ (1945 – 48) रिपब्लिकों के संविधान इसके उदाहरण हैं। प्रथम महायुद्ध (1914 – 17) के बाद पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, आस्ट्रिया, युगोस्लाविया आदि राज्यों के संविधानों का निर्माण उन संविधान परिशदों द्वारा हुआ था, जिनका संगठन इसी विषिष्ट उद्देश्य को दृष्टि में रखकर किया गया था। भारत के नये संविधान का निर्माण भी संविधान परिशद द्वारा ही किया गया है।

1. जिन राज्यों के संविधान लिखित हैं, उनमें भी बहुत-सी ऐसी परम्पराओं और प्रथाओं का विकास हो गया है, जो लेखबद्ध न होते हुए भी संवैधानिक कानून का ही महत्व रखती हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका का उदाहरण लीजिये। उसके संविधान का निर्माण अब से लगभग दो सदी पूर्व हुआ था, जबकि अमेरिका का संसार में कोई विशेष महत्व नहीं था। उस समय संविधान – शास्त्र का भली-भांति विकास भी नहीं हुआ था। इसीलिये उस युग का बना हुआ अमेरिकन संविधान बहुत संक्षिप्त व सूत्ररूप है। इस समय अमेरिका सबसे समृद्ध शक्तिशाली राज्यों में से एक है। लगभग दो सदी पहले बना हुआ उसका संविधान वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूल नहीं समझा जा सकता। पर धीरे-धीरे अमेरिका में भी बहुत सी ऐसी परम्पराएं व प्रथाएं विकसित हो गयी हैं और वहां के सर्वोच्च न्यायालय ने बहुत से ऐसे निर्णय दे दिये हैं, जो लिखित संविधान के अंग न होने पर भी संवैधानिक कानून की ही स्थिति रखते हैं। जो लिखित संविधान अभी बिल्कुल नया है। उसमें यथा सम्भव प्रत्येक बात को लिखित रूप देने का प्रयत्न किया गया है। पर यह अनिवार्य है कि भारत में भी –सी

बहुत-परम्पराओं व प्रथाओं का विकास हो। भारत के संविधान में राष्ट्रपति को बहुत सी ऐसी शक्तियां व अधिकार दिये गये हैं जो कि पार्लियामेंटरी – सिस्टम के शासन में राष्ट्रपति व राजा को नहीं दिये जाते। उदाहरणार्थ, वह विशेष परिस्थितियों में आर्डिनेन्स (अध्यादेश) जारी कर सकता है। उसे यह भी अधिकार है कि वह जब अनुभव करे कि बाहरी आक्रमण, युद्ध, आन्तरिक विद्रोह व अन्य किसी कारण से सम्पूर्ण भारत में, किसी राज्य में या उसके किसी खण्ड में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है, जिससे संविधान के अनुसार कार्य कर सकना संभव नहीं रह गया है, तो वह एमर्जेंसी (संकट काल) की घोषणा कर सके और उस दशा में शासन की विशेष रूप से व्यवस्था कर सके। यद्यपि राष्ट्रपति अपने इन अधिकारों का प्रयोग भी प्रधानमंत्री व मन्त्रि-परिषद के परामर्श के अनुसार ही करेगा, पर चतुर्थ फ्रेंच रिपब्लिक की तरह भारत में यह आवश्यक नहीं है कि राष्ट्रपति की प्रत्येक आज्ञा पर साथ में किसी मंत्री के हस्ताक्षर रहें। भारत का राष्ट्रपति पूरी तरह अपने मन्त्रियों के परामर्श के अनुसार कार्य करेगा, या विशेष परिस्थितियों में, विपत्तिकाल में बहु मन्त्रियों के परामर्श की उपेक्षा कर स्वयं कार्य करेगा, यह बात उन परम्पराओं व प्रथाओं के आधार पर निश्चित होगी, जिनका भारत में विकसित होना अनिवार्य है। सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों ने भी अभी से भारत के संविधान की व्याख्या प्रारम्भ कर दी है, और अनेक प्रचलित कानूनों को संविधान के खिलाफ होने की व्यवस्था इस न्यायालय द्वारा दी जा चुकी है। सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों का भी संवैधानिक में वही कानून महत्व होता है जो कि लेखबद्ध संविधान का। वस्तुतः कोई भी संविधान पूर्णतया लेखबद्ध नहीं हो सकता।

2. ग्रेट ब्रिटेन सदृश जिन राज्यों के संविधानों को अलिखित कहा जाता है, वस्तुतः वे भी पूर्णतया अलिखित नहीं हैं। ब्रिटेन में जो बहुत सी बातें परम्परा व प्रथा के अनुसार चली आती थी, उनमें से बहुत सी अब पार्लियामेंट द्वारा स्वीकृत लेखबद्ध विधान के रूप में आ चुकी हैं। साथ ही, समय के साथ-साथ प्रगति करते हुए ब्रिटिश पार्लियामेंट ने उनके ऐसे कानून स्वीकृत किये हैं, जो वस्तुतः ब्रिटिश संविधान के अंगरूप समझे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, ब्रिटिश पार्लियामेंट ने मताधिकार, निर्वाचन – मण्डल व प्रतिनिधित्व आदि के सम्बन्ध में जो कानून लेखबद्ध रूप से स्वीकृत किये हैं, वे उसके संविधान के एक महत्वपूर्ण अंश को लिखित रूप प्रदान कर देते हैं। इन कारणों से अब कोई ऐसा राज्य नहीं रह गया है, जिसके संविधान की पूर्णतया लिखित या अलिखित कहा जा सके। इसीलिये राजनीति शास्त्र के वर्तमान विद्वान संविधान के इस वर्गीकरण को तात्त्विक व शास्त्रीय नहीं मानते।

सुपरिवर्तनीय और दुश्परिवर्तनीय संविधान राजनीति शास्त्र के विद्वानों में आजकल यह प्रवृत्ति है कि वे संविधानों का वर्गीकरण इस आधार पर करें कि उनमें परिवर्तन सुगमता के साथ ही हो सकता है या कठिनता से। इस आधार पर संविधानों के दो भेद किये जाते हैं:—

1. सुपरिवर्तनीय – जिन राज्यों में संवैधानिक और साधारण कानून में विशेष भेद नहीं किया जाता, जिनमें संवैधानिक कानून में परिवर्तन भी उसी प्रकार से किया जा सकता है जैसे कि

साधारण कानून में, जिनमें संवैधानिक कानून में संशोधन व परिवर्तन के लिये साधारण पार्लियामेंट व विधानसभा की अपेक्षा किसी अधिक ऊँची संस्था की आवश्यकता नहीं समझी जाती, उनके संविधान को 'सुपरिवर्तनीय' कहते हैं। ऐसे संविधानों में संविधान परिशद और संसद (पार्लियामेंट) में कोई भेद नहीं रखा जाता है। एक ही संस्था एक ही प्रक्रिया का अनुसरण कर साधारण कानून और संवैधानिक कानून में समान रूप से परिवर्तन कर सकती है। अंग्रेजी में इन संविधानों को फ्लेक्सिबल व एलैस्टिक कहते हैं। ग्रेट ब्रिटेन का संविधान इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। वहाँ की पार्लियामेंट जिस प्रक्रिया से यह बात निश्चित करती है कि नयी रेलवे लाइन किस प्रदेश में बनाई जाये, उसी प्रक्रिया से वह राज्य की शासन – व्यवस्था में भी परिवर्तन कर सकती है। भारत का नया संविधान भी एक प्रकार से सुपरिवर्तनीय ही समझा जा सकता है। जैसा कि हमने ऊपर लिखा है, संसद या पार्लियामेंट के दोनों सदनों में सदस्यों की बहुसंख्यक और उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई की सहमति भारतीय संविधान में परिवर्तन के लिये पर्याप्त है। यद्यपि भारत के संविधान में संवैधानिक और साधारण कानून में भेद रखा गया है, और उसमें परिवर्तन के लिये भी कुछ विभिन्न प्रक्रिया की आवश्यकता रखी गयी है, पर फिर भी अमेरिका व फ्रांस आदि के संविधानों के मुकाबिले में भारत के संविधान में परिवर्तन कर सकना बहुत सुगम है।

2. कठोरपरिवर्तनीय व दुश्परिवर्तनीय – जिन राज्यों में संवैधानिक और साधारण कानूनों में मौलिक भेद समझा जाता हो, जिनमें पार्लियामेंट व विधानसभा संविधान में परिवर्तन व संशोधन का अधिकार न रखती हो, और न ही कोई ऐसा कानून बना सकती हो जो संविधान के प्रतिकूल हो, जिनमें संविधान – सम्बन्धी परिवर्तन करने के लिये पार्लियामेंट की अपेक्षा उच्चतर संस्था की आवश्यकता हो, व साधारण कानून के निर्माण के लिये जो प्रक्रिया हो, उससे भिन्न किसी अन्य प्रक्रिया का अवलम्बन किया जाता हो, उनके संविधान को दुश्परिवर्तनीय कहा जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में कांग्रेस (पार्लियामेंट) को यह अधिकार नहीं है कि वह संविधान में कोई परिवर्तन कर सके या कोई ऐसा कानून स्वीकार कर सके, जो संविधान के प्रतिकूल हो। संविधान – सम्बन्धी परिवर्तन के लिये वहाँ एक विभिन्न प्रक्रिया का अनुसरण किया जाता है। यही बात फ्रांस के सम्बन्ध में कही जा सकती है। 1994-17 के महायुद्ध के बाद यूरोप के अनेक नये राज्यों में जिन नये संविधानों का निर्माण किया गया था, वे भी दुश्परिवर्तनीय ही थे। प्रायः सभी राज्यों में संविधान को साधारण कानून की अपेक्षा अधिक ऊँचा माना जाता है। इस विषय में यह सिद्धान्त स्वीकृत किया जाता है कि राज्य का संविधान राज्य की प्रभुत्व शक्ति व जनता की इच्छा का मूर्तरूप है। जनता अपनी प्रभुत्व शक्ति को अभिव्यक्त कर सरकार के उस स्वरूप को निश्चित करती है, जिसके अनुसार वह अपना शासन कराना चाहती है। सरकार के हाथ में राजशक्ति के प्रयोग का जो अधिकार यह प्रदान करती है, उसे वह संविधान द्वारा नियंत्रित व मर्यादित कर देती है। अतः सरकार के व्यवस्थापन विभाग को भी वह इस बात का खुला व अनियन्त्रित अधिकार नहीं दे देती कि वह जो कानून चाहे बना सके। इसी कारण यह आवश्यक समझा जाता है कि राज्य की पार्लियामेंट संविधान में स्वेच्छापूर्वक परिवर्तन न कर सके। संवैधानिक परिवर्तन का अधिकार एक ऐसी संस्था के हाथ में रखा जाता है, जो जनता की सम्पत्ति को अधिक प्रत्यक्ष रूप में प्रतिबिम्बित करे। ग्रेट ब्रिटेन तक में यह प्रथा विकसित हो गयी है कि जब शासन-व्यवस्था सम्बन्धी कोई परिवर्तन करना हो, तो मन्त्रि-परिषद उसी प्रश्न को लेकर पार्लियामेंट का नया निर्वाचन करा ले या पार्लियामेंट के निर्वाचन के समय उस प्रश्न को अपने दल के कार्यक्रम में स्पष्ट रूप से शामिल कर ले, ताकि जनता को यह अवसर प्राप्त हो कि वह शासन सम्बन्धी परिवर्तन के प्रश्न अपनी सम्पत्ति को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर सके। सुपरिवर्तनीय और दुश्परिवर्तनीय संविधानों में भेद – इन दो प्रकार के संविधानों में भेद निम्नलिखित आधारों पर आश्रित होता है—

1. सुपरिवर्तनीय संविधानों में संवैधानिक कानून में परिवर्तन करने के लिये पार्लियामेंट का अधिकार है, और वह ऐसे परिवर्तन करते हुए उसी प्रक्रिया का अनुसरण करती है, जिसके

द्वारा साधारण कानून का निर्माण व संशोधन किया जाता है। इसके विपरीत दुश्परिवर्तनीय संविधानों में संवैधानिक परिवर्तनों के लिये या पार्लियामेंट की अपेक्षा किसी अधिक उच्च संस्था की आवश्यकता होती है और या पार्लियामेंट ही एक भिन्न प्रक्रिया का आश्रय लेकर परिवर्तन करती है।

2. दुश्परिवर्तनीय संविधान में संवैधानिक कानून को साधारण कानून की अपेक्षा अधिक ऊँचा कानून के माना जाता है। कोई ऐसा कानून इन राज्यों में नहीं बनाया जा सकता जो संवैधानिक प्रतिकूल हो। सुपरिवर्तनीय संविधानों में ऐसा नहीं होता।

3. दुश्परिवर्तनीय संविधान लेखबद्ध होते हैं। किसी संविधान परिशद द्वारा उनका लेखबद्ध रूप निर्माण होता है या कोई राजा अपनी विशेष आज्ञा द्वारा उनको जारी करता है। सुपरिवर्तनीय संविधान प्रायः लेखबद्ध नहीं होते।

दुश्परिवर्तनीय संविधानों के गुण और दोष – इस प्रकार के संविधानों के निम्नलिखित गुण माने जाते हैं

1. क्योंकि दुश्परिवर्तनीय संविधान का निर्माण प्रायः एक संविधान परिशद द्वारा होता है, अतः उसे बड़े ध्यान और विवेकपूर्वक बनाया जाता है। सरकार के विविध विभागों की रचना किस प्रकार हो, उनके क्या अधिकार व कर्तव्य हों, नागरिकों के कौन-से अधिकार अनुल्लंघनीय माने जाएं, ये सब बातें उसमें स्पष्ट रूप से प्रतिपादित कर दी जाती हैं स्पष्टता इन संविधानों का प्रधान गुण है।

2. इनमें परिवर्तन करना सुगम नहीं होता, अतः ये चिरकाल तक स्थायी रहते हैं। राजनीतिक दलों के पारस्परिक संघर्ष का राज्य की आधारभूत नीति पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। कोई राजनतिक दल शक्ति प्राप्त करने के बाद अपने विचारों के अनुसार स्वेच्छापूर्वक इस नीति से परिवर्तन नहीं कर सकता। भारत के संविधान में सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार को स्वीकृत किया गया है। यदि भारतीय संघ के अन्तर्गत किसी राज्य में कोई ऐसी पार्टी मन्त्रि परिशद बनाने में समर्थ हो, जिसकी नीति सम्पत्ति को राज्य के स्वामित्व में ले जाने के पक्ष में हो, तो भी वह ऐसा कानून नहीं बना सकेगी, क्योंकि यह कानून संविधान के विरुद्ध होगा। साथ ही, दुश्परिवर्तनीय संविधानों में किसी भी राजनीतिक दल के लिये परिवर्तन करा सको तब तक सम्भव नहीं होता, जब तक कि वह जनता के बहुत बड़े भाग को (केवल बहुमत को ही नहीं) अपने पक्ष में न कर ले। राज्य की नीति में स्थिरता रखने के लिये दुश्परिवर्तनीय संविधान बहुत सहायक होते हैं।

इसके विपरीत, दुश्परिवर्तनीय संविधानों के विरुद्ध यह बात कही जाती है कि मानव-समाज में निरन्तर परिवर्तन आता रहता है। उसके विचार, आवश्यकताएं आदि सदा एक समान नहीं रहते। मनुष्य जिन विचारों को आज ठीक समझता है, कल वे पुराने पड़ जाते हैं, और मनुष्य नये विचारों के अनुसार अपने सामाजिक और आर्थिक संगठन में परिवर्तन करने की आवश्यकता अनुभव करता है। शासन व्यवस्था सम्बन्धी विचारों में भी निरन्तर प्रगति होती रहती है। अतः यदि संविधान को बहुत दुश्परिवर्तनीय बना दिया जाये, तो मनुष्यों के सम्मुख उनमें परिवर्तन लाने का केवल यही उपाय रह जाता है कि वे उसके विरुद्ध क्रांति करें। क्रांति का उपाय हिंसात्मक व भावभून्ध होने के कारण उपादेय नहीं कहा जा सकता। इसीलिये संविधान ऐसा होता चाहिए, जिसमें सुगमता से परिवर्तन किया जा सके। समय के साथ जैसे-जैसे मनुष्यों के सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक विचारों में परिवर्तन होता जाये, वैसे-वैसे ही संविधान में भी परिवर्तन होता रहे। पिछले सौ सालों में ग्रेट ब्रिटेन में राजशक्ति कुलीन श्रेणी के हाथ से निकलकर जनता के हाथों में आ गयी है। इस भारी परिवर्तन के लिये वहां फ्रांस के समान किसी क्रांति की आवश्यकता नहीं हुई। यही कारण है कि हाउस ऑफ लॉर्ड्स की शक्ति घटती गयी, और हाउस ऑफ कॉमन्स में ऐसे प्रतिनिधि निर्वाचित होने की व्यवस्था होती गयी, जो सच्चे अर्थों में सर्वसाधारण जनता का प्रतिनिधि

त्व करते हों। अब मजदूर दल जिस समष्टिवादी नीति को ब्रिटेन में प्रारम्भ करना चाहता है, उसके लिये भी वहाँ कोई कठिनता उपस्थित नहीं हो सकती। ज्यों-ज्यों ब्रिटिश जनता मजदूर दल की नीति का समर्थन करती जायेगी, उसकी

द्य प्रस्तावित नयी व्यवस्था क्रिया में परिणत होती जायेगी। यदि ब्रिटेन का संविधान भी दुश्परिवर्तनीय होता तो वहाँ इनती भान्ति से परिवर्तन सम्भव न होते। सम्भवतः इन्हीं बातों को दृष्टि में रखकर भारत के संविधान को भी अधिक दुश्परिवर्तनीय न बना कर सुगमता से परिवर्तनीय बनाया गया है।

सुपरिवर्तनीय संविधानों के गुण और दोष दृष्टिपूर्वक दुश्परिवर्तनीय संविधानों के जो दोष हैं, वही सुपरिवर्तनीय संविधानों के मुख्य गुण हैं। जनता के विचारों में जैसे-जैसे परिवर्तन होता जाता है, वैसे-वैसे ही उनके लिये संविधान को बदल सकना भी सम्भव रहता है। अपनी शासन - व्यवस्था में परिवर्तन करने के लिये जनता को क्रांति, विद्रोह आदि के हिंसात्मक उपायों की आवश्यकता नहीं होती। जिन राज्यों के संविधान में सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार के सिद्धान्त को पवित्र व अनुल्लंघनीय माना गया हो, और उनका संविधान यदि दुश्परिवर्तनीय रखना बहुत हानिकारक सिद्ध होता है। अब से कुछ वर्ष पहले भारत में अछूत प्रथा की सत्ता थी। हिन्दुओं का लोकमत उस समय वर्णभेद व जातिभेद को अधिक महत्त्व देता था। यदि उस समय भारत का संविधान तैयार किया जाता, तो सम्भवतः राज्य द्वारा इस ढंग के मामलों में हस्तक्षेप न कर सकने की बात पर जनता बहुत जोर देती। अछूतपन, बाल-विवाह आदि को धर्म का अंग मान कर बहुत से हिन्दु लोग बायद यह प्रयत्न भी करते कि अपनी इन धार्मिक प्रथाओं को संविधान द्वारा अनुल्लंघनीय रखने की व्यवस्था की जाये। पर अब भारतीय जनता के विचारों में भारी परिवर्तन हो गया है। किसी को अछूत मानना भारतीय संविधान में नागरिकता के अधिकारों के विरुद्ध माना गया है। आज जिन विचारों के आधार पर संविधान में नागरिकों के मूलभूत अधिकारों का प्रतिपादन किया गया है, यह सम्भव नहीं कि अब से आधी सदी बाद उनमें भारी परिवर्तन हो जाये और आज के विचारों को बहुत ही पिछड़ा हुआ माना जाने लगे। सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार के सम्बन्ध में तो यह बात सर्वथा सम्भव समझी जा सकती है। इस दशा में संविधान को सुगमता से परिवर्तनीय रखने से राज्य अपनी सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था को समय के अनुसार सुविधापूर्वक परिवर्तित करता रह सकता है।

सुपरिवर्तनीय संविधानों का एक गुण यह भी होता है कि किसी विशेष परिस्थिति के उत्पन्न होने की दशा में राज्य शासन-व्यवस्था को सुगमता के साथ परिवर्तित किया जा सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान के अनुसार राष्ट्रपति और कांग्रेस का चुनाव प्रति चार वर्ष पश्चात् अवश्य होना चाहिए। यदि अमेरिका में युद्ध आदि के कारण कोई ऐसी परिस्थिति भी क्यों न उत्पन्न हो गयी हो, जिसके कारण नये चुनाव कर सकना असम्भव हो या वांछनीय न समझा जाये, तो भी संविधान के अनुसार वहाँ नया चुनाव होना ही चाहिए। संविधान में परिवर्तन किये बिना अमेरिका में चुनाव को स्थगित करने का कोई उपाय नहीं है, और वहाँ संविधान में संशोधन करने की प्रक्रिया इतनी जटिल व दुःसाध्य है, कि संकट की असाधारण परिस्थिति में उसका अवलम्बन कर सकना भी क्रियात्मक नहीं हो सकता। इस दशा में अमेरिका में एक विकट समस्या उत्पन्न हो जायेगी, जिसकी सारी उत्तरदायिता उसके संविधान की दुश्परिवर्तनीय पर ही होगी। इसके विपरीत, ग्रेट ब्रिटेन सदृश राज्यों में पार्लियामेंट ही संवैधानिक कानूनों में भी परिवर्तन का अधिकार रखती है। 1994-97 के महायुद्ध के अवसर पर ब्रिटिश पार्लियामेंट ने स्वयं ही अपना कार्य काल बढ़ा लिया था और नये निर्वाचन को स्थगित कर दिया था। पार्लियामेंट ने ही मन्त्रि-परिषद् को युद्ध के संचालन के सम्बन्ध में कतिपय असाधारण अधिकार भी प्रदान कर दिये थे। इसी प्रकार की कुछ व्यवस्थाएं 1939-45 के द्वितीय महायुद्ध के अवसर पर भी की गयी थी। पर अमेरिका जैसे दुश्परिवर्तनीय संविधान वाले राज्य में युद्ध आदि की असाधारण परिस्थितियों में भी शासन व्यवस्था के सम्बन्ध में असाधारण उपायों का अवलम्बन नहीं किया जा सकता। अब तक संयुक्त राज्य अमेरिका को यूरोपियन राज्यों के समान महायुद्ध की

विकट परिस्थिति का सामना नहीं करना पड़ा है। इसीलिए वहाँ के लोगों ने अपने संविधान की दुश्परिवर्तनीयता के इस दोष को भली प्रकार अनुभव नहीं किया है।

पर संविधान को सुगमता से परिवर्तनीय बना देना भी अनेक दृष्टियों से हानिकारक है। इसके कारण शासन व्यवस्था व शासन-नीति में स्थिरता नहीं रहने पाती। राज्य में जिस राजनीतिक दल का बहुमत होता है, वह केवल युद्ध आदि की असाधारण परिस्थितियों

आदि की असाधारण परिस्थितियों में ही शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में परिवर्तन करने के लिये तत्पर नहीं होता, अपितु उसकी यह भी प्रवृत्ति होती है कि षण्टिकाल में भी अपने बहुमत का लाभ उठाकर ऐसी नीति का अवलम्बन करे, जो शासन की स्थिरता में घातक हो। राज्य का संविधान लोकमत और जनता की आकांक्षाओं का मूर्तरूप होता है, उसमें उन आधारभूत बातों का समावेश रहता है जिन्हें जनता राजनीतिक दलों व नेताओं की इच्छा पर नहीं छोड़ देना चाहती। वह सरकार की शक्ति को संविधान द्वारा मर्यादित करती है, और यह चाहती है कि देश का शासन चाहे किसी भी दल के हाथ में हो वह इन आधारभूत बातों का उल्लंघन न कर सके। सुपरिवर्तनीय संविधानों में ऐसी कोई मर्यादा स्थापित नहीं रह पाती। उनमें राज्यों का शासन व नीति पूर्णतया राजनीतिक दलों के हाथ में आ जाती है। जनता की आकांक्षा व अधिकारों की रक्षा करने के लिये उनमें कोई ऐसा साधन नहीं रहता, जिसके सम्मुख राजनीतिक दल अपने को असहाय व निःशक्त समझें। संवैधानिक कानून और साधारण कानून में परिवर्तन व संशोधन करने के लिये किसी भिन्न प्रक्रिया के न होने से जिस राजनीतिक दल का बहुमत हो, जिसकी मन्त्रि-परिषद् हो, वह जनता के आधारभूत अधिकारों व शासन के मूलभूत सिद्धांतों में भी स्वेच्छापूर्वक परिवर्तन कर सकता है। यह बात राज्य व उसके नागरिकों की दृष्टि से कदापि वांछनीय नहीं समझी जा सकती।

सारांश संविधानों के सम्बन्ध में वर्तमान समय की प्रवृत्ति यह है कि वे लिखित हों, और उनमें बहुत सुगमता से परिवर्तन न हो सके। ब्रिटेन जैसा अलिखित संविधान अन्य किसी भी राज्य में नहीं है। वर्तमान युग के प्रायः सभी राज्य यह उपयोगी समझते हैं कि अपने संविधान के लेखबद्ध रूप दें, और शासन – सम्बन्धी सिद्धान्तों को केवल परम्पराओं व प्रथाओं पर ही आश्रित न रहने दें। साथ ही, वे यह भी आवश्यक समझते हैं कि संवैधानिक कानून और साधारण कानून में भेद रहे, संवैधानिक कानून की स्थिति साधारण कानून से ऊँची रहे, उसमें परिवर्तन व संशोधन का अधिकार राज्य की पार्लियामेंट से अधिक ऊँची संस्था के हाथ में हो, और संविधान में परिवर्तन के लिए साधारण कानून के निर्माण से भिन्न प्रक्रिया का प्रयोग किया जाये। पर साथ ही, आजकल यह भी अनुभव किया जाता है कि संविधान को अत्यधिक दुश्परिवर्तनीय बना देना भी समुचित है। अमेरिका के संविधान में परिवर्तन करना जितना कठिन है, उतना अन्य राज्यों के संविधानों में परिवर्तन करना कठिन नहीं है। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में कोई भी परिवर्तन करने के लिए यह आवश्यक होता है कि कांग्रेस के दोनों सदनों के दो-तिहाई सदस्य उसका समर्थन करें और साथ ही संवर्ग के अन्तर्गत राज्यों की तीन-चौथाई विधानसभाओं का समर्थन उसे प्राप्त हो। पर चतुर्थ फ्रेंच रिपब्लिक के संविधान में परिवर्तन करने के लिए केवल इतना पर्याप्त था कि फ्रेंच पार्लियामेंट के दोनों सदन उसे स्वीकृत करें और फिर दोनों सदनों की सम्मिलित बैठक में वह बहुमत द्वारा स्वीकृत हो जाये। फ्रांस में संविधान उतना दुश्परिवर्तनीय नहीं था, जितना कि अमेरिका में है। भारत के संविधान में परिवर्तन करने के लिए तो यही पर्याप्त है, कि संसद के कुल सभासदों का बहुमत और उपस्थित सदस्यों का दो-तिहाई मत उसके पक्ष में हो। आधुनिक समय की प्रवृत्ति यही है कि संविधान में परिवर्तन व संशोधन करना बहुत अधिक कठिन न हो, अन्यथा परिस्थितियों के बदलने के साथ-साथ संविधान को परिवर्तित नहीं किया जा सकेगा।

अभ्यास—प्रश्न

MATS Centre for Distance and Online Education, MATS University

1. संविधान क्या है? इसके लक्षण कौन-कौन से हैं?



2. संविधानों के भिन्न प्रकारों का विस्तृत विवरण दें।
3. दुश्परिवर्तनीय एवं सुपरिवर्तनीय संविधानों के गुणों-दोशों की व्याख्या करें।
4. संविधान के संबंध में वर्तमान प्रवृत्ति पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

राजनीतिक सिद्धान्त

अधिनायक तन्त्र

(Dictatorship)

परिचय (Introfuction)

अधिनायक तंत्र के मूल में असंवैधानिक और असीमित ढंग से शासन करने का अधिकार होता है। इस प्रकार की सत्ता विधि के शासन पर आधारित नहीं होती बल्कि प्रायः कानूनों की अपेक्षा करते हुये शासक की मर्जी से प्रयोग की जाती हैं। अधिनायक तंत्र में प्रायः एक व्यक्ति ही सर्वोपरि होता है जिसकी स्थिति एक संगठित राजनीतिक दल अथवा सैन्य बल पर आधारित होती है।

ऐसे शासन में शासन की समस्त शक्तियाँ जनता के बजाये एक निश्चित व्यक्ति (अधिनायक या तानाशाह) में निहित होती हैं और वह उन शक्तियों का प्रयोग मनमाने ढंग से करता है, उसके आदेश ही कानून होते हैं, उसकी आज्ञाओं का पालन करना नागरिकों का अनिवार्य कर्तव्य है, उसके आदेश किसी निश्चित अवधि के लिये चुना जाता है और न ही वह अपने कार्यों के लिये किसी प्रतिनिधि संस्था या संविधान आदि के प्रति उत्तरदायी होता है। उसकी समस्त राजनीतिक शक्ति का स्रोत उसकी इच्छा होती है।

अधिनायक तंत्र राजतंत्र से भिन्न है, क्योंकि राजतंत्र में पद को ग्रहण करने का एक वंशानुगत अधिकार होता है, तथा शासन संचालन में कतिपय परम्पराओं का पालन किया जाता है इसके विपरीत अधिनायक तंत्र में पद अधिनायक द्वारा बलात् ढंग से या अपने राजनीतिक दल विशेष के द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। इसमें अधिनायक की स्वयं की इच्छा ही शासन संचालन का आधार बनती है। अधिनायक की परिभाषायें

न्यूमैन के अनुसार, “अधिनायक तंत्र से हमारा तात्पर्य एक व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह के शासन से है जो राज्य में बलपूर्वक सत्ता पर एकाधिकार कर लेते हैं और अनियंत्रित ढंग से उसका प्रयोग करते हैं।”

सोल्टाउ के मत में अधिनायक तंत्र एक व्यक्ति का शासन होता है जिसने अपने पद को वंशानुगत आधार पर प्राप्त नहीं किया है बल्कि शक्ति या सहमति अथवा दोनों के सहयोग से प्राप्त किया है। उसके पास निरपेक्ष सत्ता होती है जिसका प्रयोग वह स्वेच्छापूर्ण ढंग से करता है।

अधिनायक तंत्र की मुख्य विशेषतायें प्रो. न्यूमैन में अपनी पुस्तक ‘दी डेमोक्रेटिक एण्ड ऑथोरेटियन स्टेट’ में अधिनायक तंत्र के पाँच लक्षण बताये हैं 1. यह एक पुलिस राज्य होता है, 2. इसमें शक्तियों का केन्द्रीयकरण होता है, 3. उसमें एक सर्वाधिकारवादी राजनीतिक दल होता है, 4. इसमें सार्वजनिक जीवन पर राज्य का कठोर नियन्त्रण रहता है, और 5. वह नागरिकों को सदैव भयभीत रखने में विश्वास रखता है। अधिनायक तंत्र की मुख्य विशेषतायें निम्न हैं

सर्वाधिकारवादी राज्य में विश्वास — आधुनिक अधिनायक तंत्र राज्य के सर्वाधिकारवादी स्वरूप में विश्वास रखता है। इसमें शासक स्वयं राज्य का स्वरूप धारण कर लेते हैं, जैसा कि फ्रांस का शासक लुई चौदहवाँ द्वारा कहा जाता था कि “मैं ही राज्य हूँ” राज्य और सरकार के बीच ऐसा कोई क्षेत्र नहीं होता जो राज्य के नियंत्रण से मुक्त हो। राज्य साध्य माना जाता है और वह व्यक्ति के सारे कार्य-कलापों को अपने अन्दर समाविष्ट कर लेता है। हिटलर और मुसोलिनी के लिए राज्य से बढ़कर के और कुछ नहीं थे। मुसोलिनी का कथन है कि ‘सब कुछ राज्य के अन्तर्गत है, बाहर कुछ भी नहीं है और राज्य के विरुद्ध कुछ भी नहीं है।’

अधिनायक तंत्र का अर्थ है एक व्यक्ति — एक व्यक्ति अथवा एक दल का शासन अथवा एक दल का शासन इसमें दल के नेता को राष्ट्रीय एकता का प्रतीक माना जाता है। इसमें नेता में अटूट विष्वास तथा श्रद्धा रखने और उसकी आज्ञाओं का पालन करने पर बल दिया जाता है। इसमें शासन का विरोध, शासन की आलोचना तथा विरोधी राजनीतिक दलों का कोई स्थान नहीं होता। नाजीवाद और फासिस्टवाद का आदर्श था— ‘एक संस्था, एक लोग, एक नेता’ इटली के युवकों के लिए मुसोलिनी का प्रवचन था — विष्वास करो, आज्ञापालन करो और युद्ध करो।’ हिटलर ने कर्तव्य, अनुशासन और त्याग पर बल दिया।

लोकतंत्र का विरोध — अधिनायक तंत्र लोकतंत्र विरोधी सिद्धान्त है। यह राजनीतिक विरोध को पसन्द नहीं करता है। प्रायः सभी अधिनायकों तथा उनके समर्थकों ने लोकतंत्र को एक सड़े हुए मुर्दे की संज्ञा दी जो भ्रष्ट और मन्द गति से चलाने वाला है। उसके अनुसार संसद ‘केवल बकवास की दुकानें हैं और संकट के समय ये नितान्त असहाय होती हैं। अधिनायक तंत्र इस धारणा में विष्वास करता है कि सम्पूर्ण राष्ट्र को एक ही ढंग से सोचना चाहिए, एक ही ढंग से बोलना चाहिए तथा एक ढंग से कार्य करना चाहिए। इसमें स्वतन्त्र वाद-विवाद और शासन की आलोचना का कोई स्थान नहीं है।

(पअ) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विरोधी — आधुनिक अधिनायक तंत्र एक व्यक्ति अथवा दल का शासन होता है और इसलिए वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विरोधी है। साम्यवाद व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बुर्जुआ लोगों की धारणा मानता है तथा फासिज्म एवं नाजीवाद इसे अतीत की मान्यता मानते थे। अधिनायकवादी राज्य अपनी प्रजा को भाषण देने, विचार प्रकट करने, सभा करने, संगठन बनाने तथा अन्य इसी प्रकार के वह सब अधिकार प्रदान नहीं करता जो लोकतंत्र में प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होता है।

(अ) उग्र राष्ट्रवाद में विष्वास दृष्टि अधिनायक तंत्र उग्र राष्ट्रवाद में विष्वास करता है। वह अपने राष्ट्र को सर्वशक्तिमान मानता है। यह राष्ट्र के हित में व्यक्ति को अपना सर्वस्व अर्पण करने की प्रेरणा देता है। इसमें विवेक के स्थान पर मनुष्यों की भावनाओं, विष्वासों तथा जोष को उभारने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें प्रायः सर्वत्र अपनी जाति, संस्कृति, सभ्यता, साहित्य आदि की महानता के गुणगान किये जाते हैं तथा दूसरे राष्ट्रों की जातियों, सभ्यता एवं संस्कृति को हीन समझा जाता है। इसमें केवल अपने राष्ट्र का हित सोचा जाता है और अन्य के हितों की अवहेलना की जाती है।

(अप) प्रचार के साधनों पर नियंत्रण — अधिनायक तंत्र में प्रचार के साधनों, जैसे समाचार-पत्र, रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा इत्यादि पर राज्य का कठोर नियंत्रण रहता है। इन साधनों का उपयोग सत्तारूढ़ दल और उसके नेता के विचारों के प्रचार के लिए किया जाता है। इसमें समाचार-पत्रों को विरोधी विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता नहीं होती है। शासक दल जनता को अपने पक्ष में बनाये रखने के लिए प्रचार के इन साधनों का हर प्रकार से प्रयोग करता है तथा इस मान्यता में विष्वास करता है कि सम्पूर्ण राष्ट्र को एक ही ढंग से सोचना, बोलना और कार्य करना चाहिए। (अपप) युद्ध एवं साम्राज्यवाद में विष्वास — अधिनायक तंत्र अपने राष्ट्र को सर्वोपरि मानता है। उसके विकास और विस्तार के लिए वह युद्ध का मार्ग अपनाता है। हिटलर और मुसोलिनी ने खुले रूप में युद्ध का प्रचार किया। हिटलर तलवार की शक्ति में विष्वास करता था तथा मुसोलिनी बलिदान के समक्ष शान्ति को कायरता मानता था। दोनों अपने-अपने देशों के आर्थिक विकास के लिए तथा अपने महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए शक्ति के माध्यम से औपनिवेशिक विस्तार की नीति का अनुसरण किया। हिटलर कहा करता था, कि “पुरुषों के जीवन में युद्ध का वही महत्व है जो स्त्री के जीवन में मातृत्व का है।” मुसोलिनी ने कहा था कि, ‘साम्राज्यवाद जीवन का चिरस्थायी और सफल नियम है।’ उसकी सोझाणी थी कि “इटली का या तो विस्तार होना चाहिए या अन्त

(अपपप) धर्म का विरोधी – अधिनायक तंत्र धर्म का षत्रु होता है। अधिनायकवादी या तो धर्म में आस्था ही नहीं रखते या उसे राज्य के हाथ में कठपुतली बनाये रखना चाहते हैं। नाजीवाद लोगों को यह उपदेश देता था कि, 'जो कुछ परमात्मा का है उसे सीजर अथवा राजा को दे डालो।'

(प०) उदार विरोधी – स्वतंत्रता, समानता, बन्धुत्व तथा अधिकार जैसी उदारवादी प्रवृत्तियों के लिए अधिनायक तंत्र में कोई स्थान नहीं है। वस्तुतः अधिनायक तंत्र में अधिकारों के स्थान पर कर्तव्यों को महत्व दिया जाता है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक अधिनायक तंत्र राज्य की सर्वोच्चता के सिद्धान्त में विश्वास करता है जिसमें सम्पूर्ण शक्ति दल के नेता में केन्द्रित होती है।

अधिनायक तंत्र के प्रकार

प्राचीन

नवीन

अधिनायकवादी के प्राचीन रूप

अधिनायक तंत्रीय शासन – प्रणाली नई नहीं है। प्राचीन यूनान और रोम में भी इस प्रकार की शासन-प्रणाली प्रचलित थी। यूनान में अधिनायक तंत्र ऐसी शासन व्यवस्था को कहा जाता था जिसमें सत्ताधारी व्यक्ति कानून एवं संविधान की अपेक्षा करके बल प्रयोग द्वारा सत्ता पर अपना अधिकार कर लेता था। रोम में तानाशाही एक निश्चित समय के लिए होती थी। वहाँ संकट का सामना करने के लिए शासन की समस्त शक्तियाँ अस्थायी रूप से एक अधिनायक को सौंप दी जाती थीं। रोम में सिकन्दर महान, जूलियस सीजर, इंग्लैण्ड में क्रॉमवेल का शासन तथा फ्रांस में नेपोलियन का शासन इसी प्रकार का था।

अधिनायकवाद के नवीन रूप

अधिनायक का यह रूप आधुनिक अधिनायकों के ऊपर लागू नहीं होता बल्कि आधुनिक अधिनायक आकस्मिक राज – विप्लव के फलस्वरूप बल प्रयोग द्वारा शक्ति में आते हैं और वे उस समय तक सत्ता में बने रहते हैं, जब तक शक्ति के अथवा बल-प्रयोग उन्हें अधिनायक बनाये रख सकता है। वे निश्चित अवधि के लिए नहीं होते और न वे किसी प्रतिनिधिक संस्था के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

आधुनिक अधिनायक तंत्र की एक विशेषता यह है कि अधिनायक को अपने दल का पूर्ण समर्थन एवं सहयोग प्राप्त रहता है। वह दल की सहायता से ही सत्ता ग्रहण करता है बल्कि उदारणार्थ, वॉशिंग्टन की सहायता से रूस में लेनिन, फासी दल की सहायता से इटली में मुसोलिनी तथा नाजी दल की सहायता से जर्मनी में हिटलर अधिनायक बने। इसके अतिरिक्त आर्थिक विचारधारा के आधार पर आधुनिक अधिनायक तंत्र को दक्षिणपंथी अधिनायक तंत्र (इटली, जर्मनी आदि में विस्थापित) तथा वामपंथी अथवा सर्वहारा वर्ग के अधिनायक तंत्र (रूस, चीन आदि में) में विभाजित किया गया। इन्हें सैन्य बलों का समर्थन प्राप्त रहता है या फिर नये अधिनायक सैन्य पष्ठभूमि से जुड़े होते हैं जैसे म्यानमार, पाकिस्तान आदि के शासक।

आधुनिक अधिनायक तंत्र के उत्कर्ष के कारण

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जो अधिनायक तंत्र स्थापित हुए, उनके उदय के कई प्रमुख कारण थे – प्रथम, तो जिन देशों में लोकतंत्रों की नई-नई स्थापना की गई थी, उनकी भूमि और जलवायु इस योग्य नहीं थी, कि वहाँ लोकतंत्र पनप सके। वस्तुतः उन देशों की परम्पराएँ लोकतंत्र के अनुकूल नहीं थीं। द्वितीय, अधिनायक तंत्र का उदय उन देशों में हुआ जहाँ

निराशा और नाराजगी की भावनाएँ फैली हुई थीं। युद्ध ने जिन देशों को पूरी तरह से तहस-नहस कर दिया था तथा जिनको भारी क्षति – पूर्ति देनी पड़ी और जिसके कारण उनकी आर्थिक स्थिति बहुत खराब हो गयी थी, उन्हीं देशों में अधिनायक तंत्र का उदय हुआ। यही नहीं युद्ध के पश्चात् बेकारी, आर्थिक संकट तथा पुनर्निर्माण की समस्याओं का समाधान करने में लोकतंत्रीय व्यवस्थाएं असफल सिद्ध हुईं। अतः लोगों का लोकतंत्र से विष्वास हटने लगा। तत्पश्चात्, राष्ट्र संघ की निर्बलता के फलस्वरूप भी उस प्रवृत्ति का दुःख को उदय हुआ। अन्त में, जब तानाशाहों ने अपने जोषीले भाषणों तथा कार्यक्रमों से जनता दूर करने की आशा दिखाई, तो उनके भुलावे में आकर जनता ने उसको सत्ता हस्तगत कर दी। अवसर से लाभ उठाकर उन अधिनायकों ने सर्वाधिकारवादी शासन स्थापित किए।

गुण एवं दोष

अधिनायक तंत्र के गुण

जिस समय अधिनायक तंत्र का बोलबाला था, कई बुद्धिजीवियों और विद्वानों ने इसकी खूब प्रशंसा की। इसकी प्रशंसा करने वालों में बर्नाड शॉ भी थे। इसमें निम्नलिखित गुण बताये जाते हैं— (प) शासन में कुशलता – अधिनायक तंत्र का पहला गुण उसकी प्रशासनिक कुशलता है। अधिनायक तंत्र में राज्य शक्ति एक व्यक्ति अर्थात् अधिनायक में निहित रहती है। शासन सम्बन्धी समस्त निर्णय उसी के द्वारा लिए जाते हैं। अतः निर्णय लेने तथा निर्णयों को कार्यान्वित करने में समय की बर्बादी नहीं होती और समयानुकूल षीघ्रतापूर्वक निर्णय लिये जाते हैं। इसमें शासन की कुशलता बढ़ जाती है।

(पप) राष्ट्रीय एकता में वृद्धि – राष्ट्रीय एकता में वृद्धि की दृष्टि से भी अधिनायकतंत्र अधिक उपयुक्त माना जाता है। इसमें राष्ट्रीय हित को प्रमुख स्थान प्राप्त होता है। अतः इसमें राष्ट्रीय भावना तेजी से विकसित होती है। अधिनायक तंत्र में राष्ट्र आन्तरिक क्षेत्र में सुदृढ़ बन जाता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी शक्ति एवं प्रतिष्ठा में वृद्धि हो जाती है।

अधिनायक तंत्र संकटकालीन परिस्थितियों

(पपप) संकट काल के लिए अधिक उपयुक्त का अधिक दृढ़तापूर्वक सामना कर सकता है। संकटकालीन परिस्थितियों का सफलतापूर्वक सामना करने के लिए आवश्यक है कि षीघ्र निर्णय लिया जाए तथा गोपनीयता बनायी रखी जाए। ये दोनों बातें अधिनायक तंत्र में ज्यादा संभव है, क्योंकि समस्त प्रकार के निर्णय लेने की शक्ति एक व्यक्ति के हाथों में होती है। इसमें षीघ्रता से निर्णय लिये जा सकते हैं तथा उन्हें दृढ़ता से लागू किया जा सकता है।

राष्ट्र की प्रगति के लिए लाभदायक राष्ट्र की प्रगति की दृष्टि से भी अधिनायक के तंत्र अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। रूस, जर्मनी, इटली, टर्की, स्पेन आदि देशों में प्रथम महायुद्ध कारण बिगड़ी हुई आर्थिक स्थिति को वहाँ के अधिनायकों ने बड़ी तेजी से सुधारा। उन्होंने अपने राष्ट्र के आर्थिक जीवन में पुनर्निर्माण बड़ी तेजी से तत्परता से किया।

(अ) कम खर्चीली शासन— व्यवस्था अन्य शासन-पद्धतियों की तुलना में अधिकनायक तंत्र कम खर्चीली शासन— व्यवस्था है। लोकतंत्र के समान इसमें चुनाव आदि के प्रबन्ध में ँान खर्च नहीं होता तथा इसमें लम्बे-चौड़े शासन – प्रबन्ध के लिए बहुत अधिक धन खर्च नहीं करना पड़ता। उच्च गुणों को प्रोत्साहन – अधिनायकतंत्र देशवासियों में देश-भक्ति, सहयोग और त्याग के आदर्शों को प्रोत्साहित करता है। जर्मनी तथा इटली इसके अच्छे उदाहरण हैं।

होना चाहिए तथा इसके लिए एक – दलीय शासन या सैनिक अधिनायक तंत्र उपयोगी हो सकता है।

जैक्सन ने अपनी पुस्तक में स्पेन के अधिनायक रिवेरा की सफलताओं का वर्णन करते हुए लिखा है, “स्पेनवासियों के इतिहास में यह पहला अवसर है, जबकि रेलें समय पर चली हैं, नये रेल – पथ बनाये गये हैं और स्पेन के परम्परागत खच्चर मार्गों की जगह मोटर सड़कों ने ले ली है। अधिनायक के अधीन व्यापार उद्योग समृद्ध हुए हैं। कृषि फूली – फली है और श्रम संकट दूर हो गया है।”

अधिनायक तंत्र में दोष

उपर्युक्त गुणों के होते हुये भी अधिनायक तंत्र को अब कोई समर्थन प्राप्त नहीं है। इसमें निम्नलिखित प्रमुख दोष बताये जाते हैं :

(प) व्यक्तित्व के विकास में बाधा अधिनायक तंत्र व्यक्ति के विकास को रोकता है। नागरिकों को आर्थिक सुरक्षा के भुलावे में डालकर उनकी वास्तविक स्वतंत्रता का अपहरण कर लेता है। मानव-जीवन का लक्ष्य केवल भोजन प्राप्त करना ही नहीं है। यह मानव-जीवन को एक ढर्रे पर चलाकर तथा उसे पूर्णतया राज्य के अधीन बनाकर मनुष्य के विवेक एवं स्वतः प्रेरणा का अन्त कर देता है।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन अधिनायक तंत्र व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन करता है। इसमें विचारों की अभिव्यक्ति एवं सरकार का विरोध करने की स्वतंत्रता मनुष्यों को प्राप्त नहीं होती। उनका कार्य केवल अधिनायक की आज्ञा का पालन करना है। इसमें व्यक्ति केवल साधन मात्र बन जाता है। इसके कारण अधिनायक तंत्र में मानव व्यक्तित्व के साथ-साथ शिक्षण, साहित्य तथा कला के विकास की सम्भावना भी नष्ट हो जाती है

(पपप) विष्व षान्ति में बाधक – अधिनायक तंत्र उग्र राष्ट्रीयता का समर्थक तथा अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रबल विरोधी होता है। इसमें युद्ध व उपनिवेशवादी प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है। द्वितीय महायुद्ध इटली, जर्मनी व जापान के अधिनायकों की विस्तारवादी नीति का परिणाम था। उग्र राष्ट्रीयता की भावना विष्वषान्ति के मार्ग में बाधा पहुँचती है। फ्रीडमेन ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि, “मानव जाति के मध्य हुए सभी भीषण युद्ध किसी न किसी रूप में अधिनायकवादी राज्यों द्वारा ही प्रारम्भ किय गये।”

(पअ) शासन षक्तियों का दुरुपयोग – अधिनायक तंत्र में षक्तियों के केन्द्रीयकरण तथा किसी भी प्रकार के नियंत्रण के अभाव के कारण शासन – षक्तियों के दुरुपयोग की सम्भावना बनी रहती है। अधिनायक अपने विरोधियों पर भारी अत्याचार करता है और कभी-कभी तो ये अत्याचार सीमा पार कर जाते हैं।

(अ) योग्य उत्तराधिकारियों की समस्या

यदि पहला अधिनायक कुषल और योग्य षासक हो, तो भी इस बात की कोई गारण्टी नहीं है कि उसका उत्तराधिकारी भी वैसा ही योग्य होगा। साधारणतया एक अधिनायक की मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर प्रायः झगड़े होते हैं जिससे अषान्ति और अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है।

(अप) क्रांन्ति की सम्भावना अधिनायक तंत्र में सदैव क्रांन्ति की सम्भावना बनी रहती है, क्योंकि इसमें षासक को चुनने या हटाने का अधिकार (मत द्वारा) जनता को प्राप्त नहीं होता। यही नहीं इसके अन्तर्गत जनमत निर्माण के साधनों पर भी अधिनायक का नियंत्रण रहता है। अतः षासक की नीतियों से मतभेद रखने वाले वर्ग क्रांन्ति का सहारा लेते हैं। इस षासन तंत्र में अधिनायक की स्थिति अस्थिर बनी रहती है।

डॉ. आषीर्वादम के षब्दों में, “अनुत्तरदायीपूर्ण अधिकेन्द्रित राज्य का अर्थ है, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का दमन करना तथा मानवीय व्यक्तित्व को दबाना, स्वदेश में हिंसा करना तथा

विदेशों पर निर्लज्जतापूर्ण आक्रमण करना, मानवीय स्वभाव की नृषंस हत्या करना तथा सम्पूर्ण लोगों का सैनिकीकरण करना । ”

राजनीतिक सिद्धान्त

निश्कर्ष : अधिनायक तंत्र के गुण व दोशों का विवेचन करने के पश्चात् हम इस निश्कर्ष पर पहुँचते हैं, कि शासन का यह रूप कुछ विशेष परिस्थितियों में ही अधिक उपयोगी प्रतीत होता है। इसे हर समय में तथा सब देशों के लिए उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है। व्यक्ति और जनता के हित की दृष्टि से अधिनायक तंत्र बहुत अनिष्टकारी है तथा आज के युग में विवेकशील बुद्धिजीवी इसका समर्थन नहीं करते। बेनडेटो क्रॉस के अनुसार, “शक्ति के प्रयोग पर आधारित राज्य पतनोन्मुख राष्ट्र में ही ठहर सकते हैं। ये उन राष्ट्र में जो प्रगति कर रहे हैं अथवा ऊँचे उठ रहे हैं, अल्पकाल के लिए ही ठहर सकते हैं। ”

कैबिनेट सिस्टम और प्रोसिडेन्सल सिस्टम

पिछले अध्याय में हमें राजशक्ति के पथ्यकरण के सिद्धान्त पर विचार-विमर्श किया है। राजशक्ति के तीनों अंगों – व्यवस्थापन, शासन और न्याय – को एक-दूसरे से पथ्यक रखने के सिद्धान्त के अनुसार अमेरिका आदि देशों में अध्यक्षात्मक पद्धति का अनुकरण किया गया। पार्लियामेंटरी, सांसद, या कैबिनेट प्रणाली में इन अंगों को एक-दूसरे से पथ्यक नहीं रखा जाता। इस अध्याय में हम इन दोनों प्रकार की शासन-पद्धतियों पर विचार करेंगे।

एकतंत्र, श्रेणीतंत्र, लोकतंत्र और अधिनायक तंत्र – इन चार वर्गों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकार से सरकार व शासन का वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया गया है। प्रोफेसर बर्गस ने विविध शासनों को निम्नलिखित प्रकार से विभिन्न वर्गों में विभक्त किया है

सत्तात्मक

(1) राज्य की प्रभुत्वशक्ति की दृष्टि से राज्य और सरकार में एक समता है, या भिन्न रूपता इस दृष्टि से सरकार के दो भेद होते हैं, प्रत्यक्ष (डाइरेक्ट) और प्रतिनिधि एथेन्स के सदृश प्रत्यक्ष लोकतंत्र राज्यों में जहाँ प्रभुत्वशक्ति नागरिकों में निहित थी, वहाँ शासन की राजशक्ति भी इन्हीं नागरिकों द्वारा अभिव्यक्त और प्रयुक्त होती थी। ऐसे राज्यों में राज्य और सरकार में एकरूपता होती है, भिन्नरूपता नहीं, राज्य ही अपने समुच्चय रूप

में सरकार भी होता है। इसे विपरीत प्रतिनिधिसत्तात्मक राज्यों में प्रभुत्व – शक्ति – सम्पन्न जनता व नागरिक राजशक्ति के प्रयोग को अपने द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों को हस्तान्तरित कर देते हैं, तथा ये प्रतिनिधि ही राजशक्ति को अभिव्यक्त और प्रयुक्त करते हैं।

(2) राज्य के शासक वंशक्रमगत हैं, निर्वाचित हैं, या अन्य किसी प्रकार से नियुक्त हैं। कुछ एकतंत्र राज्यों में राजा व वंशक्रमानुगत होता है, अन्य राज्यों में न केवल राजा वंशक्रमानुगत होता है, अपितु उसके विधि प्रधान पदाधिकारी भी वंशक्रम के अनुसार रहते हैं। मुगलसाम्राज्य में जहाँ मुगल बादशाह वंशक्रम द्वारा अपने पद पर आरूढ़ होते थे, वहाँ उनके

पदाधिकारी (यथा नवाब – वजीर, निजाम, सिपहसालार, सूबेदार आदि) भी प्रायः वंशक्रम से नियुक्त किये जाते थे। पटवारी, पेशकार आदि छोटे-छोटे कर्मचारी भी वंशक्रम द्वारा ही नियुक्त रहते थे। यही बात मध्यकाल के अनेक यूरोपियन राज्यों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। कतिपय राज्य ऐसे भी हुए हैं, जिनमें राजा व पदाधिकारी निर्वाचित होते थे। एथेन्स सदृश राज्यों में जहाँ प्रत्यक्ष लोकतंत्र सरकारें कायम थीं, प्रायः सभी शासकनिर्वाचित होते थे। परीक्षाओं द्वारा शासकों की नियुक्ति की प्रथा को चीन में बहुत

(3) व्यवस्थापन (लेजिस्लेचर) और शासन (एग्जीक्यूटिव) विभागों में क्या सम्बन्ध है, इस दृष्टि से सरकार के दो भेद किये जाते हैं। मन्त्रि – मण्डल पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी है या किसी अन्य सत्ता के प्रति इस भेद को सम्मुख रखकर सरकार को दो वर्गों पर पृथक रूप से विस्तार के साथ विचार करेंगे।

(4) राज्य की राजपति का प्रयोग एक सरकार द्वारा होता है या अनेक (केन्द्रीय और प्रादेशिक) सरकारों द्वारा इस दृष्टि से शासन के एकात्मक (यूनिटरी) और संवर्गात्मक (फेडरल) ये दो प्रधान भेद किये जाते हैं। इन पर भी हम पृथक रूप से विस्तार के साथ प्रकाश डालेंगे।

मन्त्रिपरिषदके अधीन शासन (कैबिनेट सिस्टम)

स्वरूप जिन सरकारों में कार्यकारिणी – विभाग या मन्त्रिपरिषद व्यवस्थापन विभाग या पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी होते हैं, उन्हें 'मन्त्रिपरिषदके अधीन सरकार (कैबिनेट सिस्टम) या पार्लियामेंटरी (सांसद) सरकार कहते हैं। इनमें शासन का प्रधान (राजा या राष्ट्रपति) केवल 'ध्वजमात्र' होता है। शासन का वास्तविक संचालन एक मन्त्रि-परिषद के अधीन होता है जो कि तब तक अपने पद पर आरुढ़ रहती है, जब तक कि पार्लियामेंट का विष्वास उसे प्राप्त रहे। पार्लियामेंट में (या जहाँ पार्लियामेंट में एक से अधिक सदन हों, वहाँ प्रमुख सदन में) जिस राजनीतिक दल का बहुमत हो, उसके नेता को यह कार्य राजा या राष्ट्रपति द्वारा सुपुर्द किया जाता है कि वह अपने दल के सदस्यों में से अपनी मन्त्रि-परिषदका निर्माण करे। यह आवश्यक नहीं कि इस मन्त्रिपरिषद के सब सदस्य पार्लियामेंट के भी सदस्य हों। बहुसंख्यक दल के नेता को, जिसे प्रायः प्रधानमन्त्री कहते हैं, यह अधिकार रहता है कि वह किसी ऐसे व्यक्ति को भी मन्त्रिपरिषदका सदस्य नियत कर सके, जो पार्लियामेंट का सदस्य न हो। पर यह आवश्यक है कि ऐसा व्यक्ति कतिपय निश्चित समय (जो प्रायः 6 मास का नियत किया जाता है) में पार्लियामेंट का सदस्य निर्वाचित या नियुक्त हो जाये। मन्त्रि-परिषद के सदस्यों (चाहे वे पार्लियामेंट के सदस्य हों या न हों) को यह अधिकार होता है कि वे पार्लियामेंट में उपस्थित होकर अपने दृष्टिकोण को उपस्थित कर सकें। जो कानून व प्रस्ताव वे उचित समझें उन्हें पेश कर सकें, और अपने शासन-सम्बन्धी कार्यों के विषय में पार्लियामेंट के सदस्यों को सब बातें समझा सकें व उनका विरोध होने की दशा में अपने कार्यों के पक्ष में बहस कर सकें। शासन – सम्बन्धी सब मामलों में उत्तरदायिता इस मन्त्रिपरिषदकी होती है, शासन – विभाग के प्रधान (राजा या राष्ट्रपति) की नहीं। यद्यपि शासन – सम्बन्धी सब आदेश राजा या राष्ट्रपति के नाम से जारी किये जाते हैं, पर प्रायः इन आदेशों पर इस विभाग के मन्त्री के भी हस्ताक्षर होते हैं, जिसके साथ उस आदेश का सम्बन्ध हो। इस प्रकार, मन्त्रि-परिषद पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी होती है, और क्योंकि पार्लियामेंट में प्रायः ऐसे व्यक्ति सदस्य होते हैं, जो नागरिकों के द्वारा निर्वाचित हों, अतः अन्ततोगत्वा मन्त्रि-परिषदजनता के प्रति उत्तरदायी रहती है।

इन पार्लियामेंटरी शासनों में सरकार के शासन और व्यवस्थापन विभाग एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक नहीं होते। इसके विपरीत, शासन और व्यवस्थापन विभाग एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहते हैं। प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान बगेहोट ने ग्रेट ब्रिटेन के पार्लियामेंटरी सिस्टम का प्रतिपादन करते हुये लिखा है कि ब्रिटिश मन्त्रि-परिषद एक हाइफन है जो इन दो विभागों को जोड़ता है, एक बक्सूआ है जो इन दोनों को परस्पर बाँधता है। एक अन्य स्थान पर बगेहोट ने लिखा है कि मन्त्रि-परिषद पार्लियामेंट की ऐसी समिति है जिसे शासन कार्य सुपुर्द किया जाता है। सम्भवतः, यह कहना अधिक ठीक होगा कि मन्त्रि-परिषद उस राजनीतिक दल की एक समिति है, जिसका पार्लियामेंट में बहुमत हो। पार्लियामेंट जो अन्य समितियाँ नियत करती है। उनमें विविध दलों के सदस्यों को प्रतिनिधित्व दिया जाता है। पर मन्त्रि-परिषद एक ऐसी समिति होती है, जिसमें केवल बहुमत रहने

वाले दल के ही सदस्य लिये जाते हैं। इस प्रकार के पार्लियामेंटरी शासनों से शासन के प्रधान (राजा या राष्ट्रपति) के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त स्वीकार किया जाता है कि वह कोई गलती नहीं कर सकता। राजनीतिक व राज्य-सम्बन्धी मामलों में उसे सब प्रकार की भूलों व गलतियों से ऊपर माना जाता है। उसके सब कार्यों व उसके नाम से जारी किये जाने वाले आदेशों के लिये मन्त्रि-परिषद को ही उत्तरदायी समझा जाता है। मन्त्रि-परिषद ही उन सब कानूनों व प्रस्तावों के मसविदों को तैयार करती है, व पेश करती है जिन्हें सरकारी तौर पर पार्लियामेंट के सम्मुख उपस्थित किया जाना हो। जब तक पार्लियामेंट का बहुमत मन्त्रि-परिषद के पक्ष में हो, वह अपने पद पर कायम रहती है। पर जब कभी पार्लियामेंट में मन्त्रि-परिषद के प्रति अविश्वासों का प्रस्ताव स्वीकृत हो जाये, या उसके द्वारा पेश किया गया कोई कानून व प्रस्ताव अस्वीकृत हो जाये, तो उसे सम्मुख दो विकल्प रहते हैं, या तो वह त्याग पत्र दे दे, और यदि उसे विश्वास हो कि जनता उसके पक्ष में है और वर्तमान पार्लियामेंट सच्चे अर्थों में जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करती, तो उसे अधिकार होता है कि वह पार्लियामेंट का बहुमत मन्त्रि-परिषद के पक्ष में हो, तो वह अपने पद पर स्थित रहती है। अन्यथा वह त्यागपत्र दे देती है और नई मन्त्रि-परिषद का निर्माण किया जाता है। नई पार्लियामेंट जिस दल का बहुमत हो, उसके नेता को राजा या राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद का निर्माण करने के लिये बुलाता है और वह अपने दल में से नई मन्त्रि-परिषद का निर्माण करता है।

। अनेक बार ऐसा भी होता है, कि पार्लियामेंट में किसी भी दल का बहुमत न हो। इस दशा में अनेक दल मिलकर सम्मिलित मन्त्रि-परिषद बनाते हैं, और जिस दल के सदस्यों की संख्या सबसे अधिक हो, प्रायः उसी के नेता को प्रधानमंत्री के पद पर नियत किया जाता है।

ग्रेट ब्रिटेन में मन्त्रिपरिषद का शासन

पार्लियामेंट सिस्टम का सर्वोत्तम उदाहरण ग्रेट ब्रिटेन में मिलता है। वहाँ मुख्यतया दो राजनीतिक दल हैं, कन्जर्वेटिव दल और मजदूर दल। इनके अतिरिक्त एक तीसरा भी दल है, जिसे लिबरल या उदार दल कहते हैं। किसी समय ब्रिटेन में इस दल की बहुत शक्ति थी, पर जब मजदूर दल की सत्ता नहीं थी। अब लिबरल दल का स्थान मजदूर दल ने ले लिया है, और लिबरल दल की शक्ति बहुत कम रह गयी है। ब्रिटेन की पार्लियामेंट में जिस दल का बहुमत हो, उसी के नेता को राजा द्वारा यह कार्य सुपुर्द किया जाता है कि वह मन्त्रि-परिषद का निर्माण करे। वैधानिक दृष्टि से राजा को यह अधिकार है कि वह जिस व्यक्ति को चाहे प्रधानमंत्री के पद पर नियुक्त कर सकता है, पर क्रिया में वह पार्लियामेंट के बहुसंख्यक दल के नेता को ही इस पद पर नियुक्त करता है। मन्त्रि-परिषद में कितने मन्त्री रहें, यह निश्चित नहीं है। आवश्यकता के अनुसार उनकी संख्या घट व बढ़ सकती है। ब्रिटेन में मन्त्री लोग तभी तक अपने पद पर रहते हैं, जब तक पार्लियामेंट की प्रमुख सभा हाउस ऑफ कॉमन्स का विश्वास उन्हें प्राप्त रहे। ब्रिटिश पार्लियामेंट में दो सदन होते हैं, हाउस ऑफ कामन्स और हाउस ऑफ लॉर्ड्स। हाउस ऑफ लॉर्ड्स में वंशाक्रमानुगत कुलीन लोगों की प्रधानता रहती है। लोकसत्तात्मक शासन के विकास के कारण इस सदन का शासन में महत्व अब बहुत कम हो गया है। अतः मन्त्रियों को अपने पदों पर रहने के लिये हाउस ऑफ कॉमन्स (जिसमें जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं) के बहुमत का पक्ष में रहना ही पर्याप्त रहता है। यदि इस सदन में मन्त्रिपरिषद के विरुद्ध कोई अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकृत हो जाये, या उसके द्वारा पेश किया गया कोई कानून व प्रस्ताव अस्वीकृत हो जाये, तो वह त्यागपत्र दे देती है। पर अनेक बार ऐसा भी होता है कि किसी मामूली से बात पर मन्त्रि-परिषद की पराजय हो जाये। ऐसी दशा में मन्त्रि-परिषद त्यागपत्र नहीं देती। अक्टूबर, 1919 में श्री लायड जार्ज की मन्त्रि-परिषद हाउस ऑफ लॉर्ड्स में परास्त हो गई थी, पर उसने त्यागपत्र नहीं दिया, क्योंकि उसे विश्वास था कि हाउस ऑफ कामन्स का बहुमत उसके साथ है। आजकल ब्रिटेन में यह प्रथा हो गई है कि मन्त्रि-परिषद स्वयं यह प्रकट कर देती है कि किस प्रस्ताव पर दिये

गये मत को वह अपने प्रति विष्वास या अविष्वास का आधार मारेगी । अन्य प्रश्नों पर यदि उसके विरुद्ध भी निर्णय हो जाये, तो उसके कारण वह त्यागपत्र नहीं दे देती ।

मजदूर दल की शक्ति बढ़ने पर एक ऐसा भी समय ब्रिटेन में रहा, जब ब्रिटिश पार्लियामेंट में कोई दल ऐसा नहीं था, जिसका स्पष्ट बहुमत हो । जब तक ब्रिटेन में दो दल थे, मन्त्रिपरिषद के निर्माण में विशेष दिक्कत नहीं होती थी । पर 1923 के पार्लियामेंट के निर्वाचन में कन्जर्वेटिव, लिबरल और मजदूर — तीनों दल अच्छी बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए । यद्यपि कन्जर्वेटिव दल के सदस्यों की संख्या सबसे अधिक थी, पर लिबरल और मजदूर दलों के सदस्यों की संख्या मिलकर उनसे अधिक हो जाती थी । इस दशा में मजदूर दल ने अपनी मन्त्रि-परिषद बनाई और लिबरल दल की सहायता से वह कुछ समय के लिये शासन का संचालन करने में समर्थ रही । इसके बाद, अनेक बार ब्रिटेन में सम्मिलित (कोलीषन) मन्त्रि-परिषदों का भी निर्णय हुआ । महायुद्ध के अवसर पर व अन्य राष्ट्रीय संकट के समय में ब्रिटिश दल यह उपयोगी समझते हैं कि वे अपने राजनीतिक मत-भेदों को भूलकर सम्मिलित रूप से मन्त्रि-परिषद बनाएँ और राष्ट्रीय आपत्ति का निराकरण सब दल परस्पर मिलकर करें। वे यह भी उपयोगी समझते हैं कि मन्त्रि-परिषदकी एक अधिक छोटी उप-समिति (कैबिनेट) भी बना लें, ताकि मन्त्र — गुप्ति भली-भाँति हो सके। ब्रिटिश मन्त्रि-परिषद के विविध मन्त्री शासन के एक — एक विभाग के अधिकारी होते हैं। अपने-अपने विभाग के लिये तो ये उत्तरदायी होत ही हैं, पर साथ ही सारी मन्त्रि-परिषदकी सामूहिक उत्तरदायिता भी स्वीकार की जाती है । मन्त्रिपरिषद में कुछ मन्त्री ऐसे भी नियुक्त किये जा सकते हैं, जिनके पास अपना कोई महकमा न हो। इनके विचारों से लाभ उठाने के लिये ही इन्हें मन्त्रि-परिषद में स्थान दिया जाता है। ब्रिटेन में सब मन्त्री कैबिनेट के सदस्य रहें, यह आवश्यक नहीं है। कुछ मन्त्री ऐसे भी हो सकते हैं, जिन्हें कैबिनेट में स्थान न दिया जाये, यद्यपि सब मन्त्री परिषद के सदस्य माने जाते हैं

ब्रिटेन में पहले-पहल पार्लियामेंट सिस्टम का विकास हुआ था । अठारहवीं सदी के फ्रेंच राजशास्त्री लोकतन्त्र राज्यों के लिये यह आवश्यक समझते थे कि सरकार के तीनों विभाग — शासन, व्यवस्थापन और न्याय पृथक-पृथक हाथों में रहे। मांतस्व्यू जैसे राजशास्त्रियों ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था । इसीलिये अठारहवीं सदी के चतुर्थ चरण में जब अमेरिका में राज्य — क्रांति हुई, और वहाँ नये संविधान का निर्माण किया गया, तो इन तीनों विभागों को पृथक रखा गया । पर ब्रिटेन की शासन-पद्धति क्रमिक विकास का परिणाम है । पहले वहाँ सब राजशक्ति एक स्वेच्छाचारी व निरंकुष राजा के हाथों में होती थी । वह परामर्श के लिये ही पार्लियामेंट के अधिवेशन बुलाया करता था । पर समयान्तर में वहाँ पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी शासन का विकास हुआ, जिसमें सरकार के तीनों विभागों को पृथक-पृथक हाथों में रखने की आवश्यकता अनुभव नहीं की गयी । ब्रिटेन के बाद इस सिस्टम को हॉलैण्ड, फ्रांस, बेल्जियम आदि बहुत-से अन्य राज्यों ने भी अपनाया ।

ब्रिटिश उपनिवेशों में मन्त्रि-परिषदके शासन कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका, न्यूजीलैण्ड आदि में जब लोकतन्त्र सरकारों का सूत्रपात हुआ, तो यह स्वाभाविक था कि वहाँ भी पार्लियामेंटरी सिस्टम को अपनाया जाता। इन औपनिवेशिक राज्यों के संविधान का निर्माण करते हुए ऐसी मन्त्रि-परिषदों की ही व्यवस्था की गई, जो पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी हों ।

भारत में मन्त्रि-परिषदका शासन 1934 ई० के गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट द्वारा जब भारत की प्रान्तीय सरकारों में आंशिक रूप से लोकतन्त्र शासन को प्रारम्भ किया गया, तो उनमें भी ब्रिटिश प्रणाली के अनुकरण में ऐसी मन्त्रि-परिषदों का निर्माण करने की व्यवस्था की गई, जो प्रान्तों की व्यवस्थापिका सभाओं के प्रति उत्तरदायी हों । स्वराज्य प्राप्त कर लेने के बाद भारतीय गणराज्य का जो संविधान बनाया गया है, उसमें भी पार्लियामेंट सिस्टम का अनुसरण किया गया है। भारत की प्रधानमन्त्री व मन्त्रिपरिषद अपनी कार्यवाही के लिये — सम्बन्धी कार्यों के लिये संसद (पार्लियामेंट) के प्रति उत्तरदायी रखे गये हैं। वे तभी तक अपने पद पर रह सकते हैं, जब तक संघ पार्लियामेंट के बहुमत का विष्वास उन्हें प्राप्त रहे । यद्यपि प्रधानमन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा ही होती है, और मन्त्री तभी तक अपने पदों

पर रह सकते हैं, जब तक कि राष्ट्रपति की लोकसभा (हाउस ऑफ पीपुल) के प्रति उत्तरदायी हैं, अतः वस्तुतः शासननीति का संचालन व नियन्त्रण पार्लियामेंट के हाथों में ही रहता है। जिस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका में व्यवस्थापन और शासन विभागों को एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् रखा गया है, वैसा भारत के नये संविधान में नहीं किया गया। भारत में पार्लियामेंटरी सिस्टम का ही अनुसरण किया गया है। संघ के अन्तर्गत विविध राज्यों में भी शासन का प्रकार 'पार्लियामेंटरी' ही रखा गया है। उनमें राष्ट्रपति का स्थान राज्यपाल (गवर्नर) को दिया गया है, जिसकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। पर शासन नीति का वास्तविक संचालन मुख्यमंत्री (चीफ मिनिस्टर) द्वारा होता है, जो अपनी मन्त्रि-परिषद के साथ राज्य की विधान सभा (लेजिस्लेटिव एसेम्बली) के प्रति उत्तरदायी होता है।

फ्रांस में मन्त्रि-परिषद का शासन 1958 में फ्रांस के लिये जनरल द गॉल के नेतृत्व में एक नये संविधान का निर्माण किया गया था, जिसके कारण चतुर्थ फ्रेंच रिपब्लिक का अन्त होकर पाँचवीं रिपब्लिक की स्थापना हुई थी। नये फ्रेंच संविधान में एक ऐसी पद्धति को अपनाया गया है, जिसमें मन्त्रिपरिषदकी तुलना में राष्ट्रपति का अधिक महत्व है। प 1958 के सितम्बर मास से पूर्व फ्रांस में पार्लियामेंटरी शासन की ही सत्ता थी, और यह शासन देर तक फ्रांस में कायम भी रहा था। फ्रांस के पार्लियामेंटरी सिस्टम की कतिपय ऐसी विशेषताएँ थीं, जिन पर प्रकाश डालना उपयोगी है। यद्यपि यह पद्धति अब भूतकाल का विषय हो चुकी है, पर इसका उल्लेख करते हुए हम सुविधा के लिये वर्तमान काल का ही प्रयोग करेंगे।

ब्रिटेन के समान फ्रांस में भी पार्लियामेंटरी शासन की पद्धति विद्यमान है। फ्रेंच पार्लियामेंट में दो सदन होते हैं, नैशनल एसेम्बली और कौंसिल। नैशनल एसेम्बली के सदस्यों का चुनाव जनता करती है। कौंसिल के सदस्यों का चुनाव जनता सीधा नहीं करती। इसका चुनाव विविध नगरों व प्रदेशों की स्थानीय कौंसिलों द्वारा होता है। जब नैशनल एसेम्बली और कौंसिल के सदस्य मिलकर एक सभा में एकत्र होते हैं, तो उसे कांग्रेस कहते हैं। यह कांग्रेस ही बहुमत द्वारा फ्रेंच राष्ट्रपति का निर्वाचन करती है। राष्ट्रपति को ही यह अधिकार दिया गया है कि वह मन्त्रि-परिषद के अध्यक्ष को मनोनीत करे। फ्रांस में मन्त्रिपरिषदके अध्यक्ष की वही स्थिति है, जो ब्रिटेन या भारत में प्रधानमंत्री की होती है। यह अध्यक्ष (व प्रधानमंत्री) ही अपने सहकारी अन्य मन्त्रियों को नियुक्त करता है। पर अध्यक्ष व मन्त्री तब तक अपने पदों पर अधिष्ठित नहीं हो सकते, जब तक कि नैशनल एसेम्बली में वे अपने पक्ष में विष्वास का प्रस्ताव बहुमत से स्वीकार न करा लें। इसलिये फ्रांस में यह व्यवस्था की गई है कि जब राष्ट्रपति किसी व्यक्ति को मन्त्रिपरिषदका अध्यक्ष पद ग्रहण करने के लिये आमन्त्रित करता है, तो वह व्यक्ति नैशनल एसेम्बली के सम्मुख जाकर यह बताता है कि अध्यक्ष बन जानें पर वह किस नीति व कार्यक्रम का अनुसरण करेगा और उसकी मन्त्रिपरिषदमें अन्य कौन-कौन मन्त्री होंगे। यदि नैशनल एसेम्बली के बहुसंख्यक सदस्य इस व्यक्ति के प्रति विष्वास का प्रस्ताव स्वीकार कर लें, तो वह मन्त्रि-परिषदका अध्यक्ष नियुक्त हो जाता है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए, कि अध्यक्ष (प्रधानमंत्री) बनने के लिये नैशनल एसेम्बली के अधिवेशन में उपस्थित सदस्यों की बहुसंख्या का अनुकूल होना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु यह आवश्यक है कि एसेम्बली के कुल मिलाकर जितने सदस्य हों, उनकी बहुसंख्या विष्वास के प्रस्ताव के पक्ष में अपना वोट दें। तब तक कोई व्यक्ति फ्रांस में अपनी मन्त्रिपरिषद नहीं बना सकता, जब तक कि नैशनल एसेम्बली के कम से कम 303 वोट वह अपने पक्ष में प्राप्त न कर ले फ्रांस के संविधान (1946) में यह भी व्यवस्था की गई है, कि पार्लियामेंट के चुनाव के बाद उसे तभी बर्खास्त किया जा सकता है, जबकि चुनाव को हुए अठारह महीने बीत चुके हों, और इस बीच में कम से कम दो बार मन्त्रि-परिषदका पुनः संगठन इस कारण हुआ हो कि उसके विरुद्ध अविष्वास का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था या विष्वास का प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हो सका था। यह व्यवस्था इसलिये की गई है कि बार-बार चुनाव की आवश्यकता न हो और पार्लियामेंट में स्थिरता रहे। फ्रांस में मन्त्रिपरिषद पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी होती है और वह अपने पद पर तभी तक रह सकती है, जब तक कि एसेम्बली के सदस्यों की बहुसंख्या उसके पक्ष में रहे।

फ्रांस में ग्रेट ब्रिटेन के समान केवल दो या तीन दल ही नहीं हैं। वहाँ राजनीतिक दलों की संख्या बहुत अधिक है। इसी कारण वहाँ कोई ऐसा दल नहीं होता, जो अपनी बहुसंख्या के कारण अकेला अपनी मन्त्रिपरिषद बना सके।

फ्रेंच लोग बहुत से दलों की सत्ता को स्वाभाविक समझते हैं। उनकी दृष्टि में यह सर्वथा स्वाभाविक व उचित है कि सामूहिक हितों के साथ सम्बन्ध रखने वाले विशयों में बहुत से मत हों, बहुत से दृष्टिकोण हों। इन अनेकविध दृष्टिकोणों और मतभेदों के कारण बहुसंख्यक दलों का होना भी सर्वथा उचित है। इसी कारण फ्रांस में बार-बार राजनीतिक दलों में समझौते, सन्तुलन और समन्वय होते रहते हैं। कोई एक दल तो इस स्थिति में होता ही नहीं कि वह अकेला मन्त्रि-परिषद बनाकर एसेम्बली का विष्वास प्राप्त कर सके। अतः विविध दल मिलकर समझौता करते हैं और एक संयुक्त मन्त्रिपरिषद का निर्माण करते हैं। किसी महत्वपूर्ण प्रश्न या समस्या के उत्पन्न होने पर इन दलों में मतभेद प्रकट होने लगता है, उनका समझौता टूट जाता है, मन्त्रि परिषद भंग हो जाती है, और नई मन्त्रिपरिषद बनाने का सवाल पैदा होता है। विभिन्न दलों व गुप्तों में फिर समझौता किया जाता है, और आपस में विचार – संतुलन द्वारा नई मन्त्रिपरिषद का निर्माण होता है। फ्रेंच राजनीतिज्ञों की दृष्टि में यह व्यवस्था लोकतन्त्रवाद के अधिक अनुकूल है। इससे शासन की स्थिरता में विशेष हानि भी नहीं पहुँचती, क्योंकि मन्त्रि-परिषद का कार्य नीति का निर्माण करना है, शासन करना नहीं। शासक तो स्थिर रहते हैं, मन्त्रि-परिषद में परिवर्तन नीति निर्धारण की दृष्टि से आवश्यक व उपयोगी होता है। इसीलिए तृतीय रिपब्लिक (1871–1940) की सत्ता के सत्तर सालों में फ्रांस में 100 से अधिक मन्त्रिपरिषदें बनीं। चतुर्थ रिपब्लिक (1946 – 1958) केवल बारह साल तक कायम रही, पर इस काल में वहाँ दो दर्ज के लगभग मन्त्रि-परिषदें बनीं। अन्य यूरोपियन राज्यों में मन्त्रिपरिषद का शासन – 1914–18 के महायुद्ध के बाद यूरोप बहुत से राज्यों में नये लोकतन्त्र संविधानों का निर्माण हुआ था। 1919 में जर्मनी में राजतन्त्र शासन का अन्त होने के बाद रिपब्लिक की स्थापना हुई थी। इस नई जर्मन रिपब्लिक के शासन – विधान में न केवल संघ सरकार में मन्त्रि-परिषद को संघ की पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी बनाया गया था, अपितु यह व्यवस्था भी की गई थी कि जर्मन संघ के अन्तर्गत विविध प्रदेशों व प्रान्तों के शासन में भी उनकी मन्त्रि-परिषदें उनकी विधान-सभाओं के प्रति उत्तरदायी रहें। इसी प्रकार, महायुद्ध के बाद आस्ट्रिया, हंगरी, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि नये लोकतन्त्र राज्यों के जो संविधान बने थे, उनमें भी पार्लियामेंटरी सिस्टम का ही अनुसरण किया गया था। बीसवीं सदी में 1914–18 के महायुद्ध के बाद यही ऐसी शासन-पद्धति थी, जिसे विविध लोकतन्त्र राज्यों ने अपनाया था। पर यूरोप के अनेक राज्यों में यह पद्धति देर तक कायम नहीं रह सकी। इटली में फैसिज्म और जर्मनी ने नाजीज्म के प्रादुर्भाव के कारण यूरोप के बहुसंख्यक राज्यों से इस पद्धति का कुछ वर्षों में ही अन्त हो गया। कैबिनेट सिस्टम या संसदीय प्रणाली के गुण और दोष कैबिनेट सिस्टम के गुण इस प्रणाली में व्यवस्थापन और शासन विभागों में परस्पर सहयोग और निश्चिन्त सम्बन्ध रहता है। मन्त्रि-परिषद की स्थिति पार्लियामेंट की एक उप-समितिके सदृश होती है, जिसे शासन कार्य सुपुर्द किया जाता है। मन्त्रि-परिषद के सदस्य पार्लियामेंट के भी सदस्य होते हैं। वे पार्लियामेंट में उपस्थित होकर उसके वाद-विवादों में भाग लेते हैं, सदस्यों के प्रश्नों का उत्तर देते हैं, राज्य के लिये जिन कानूनों व प्रस्तावों को उचित समझें उन्हें पेश करते हैं, और अपनी शासन – नीति का पक्ष – पोषण करते हैं। यदि कुछ समय के लिये कोई मन्त्री पार्लियामेंट का सदस्य न भी हो, तो भी उसे पार्लियामेंट में उपस्थित होने व उसके कार्य में भाग लेने का अधिकार होता है। मन्त्री शासन के संचालन के लिये जिन टैक्सों की आवश्यकता समझें, उन्हें भी पार्लियामेंट द्वारा स्वयं स्वीकृत कराते हैं। इन सब बातों का परिणाम यह होता है कि शासकों को यह ज्ञात हो जाता है कि व्यवस्थापकों की उनकी शासन – नीति के सम्बन्ध में क्या सम्मति है, वे उनके प्रस्तावित कानूनों को किस दृष्टि से देखते हैं और उनके द्वारा किये जाने वाले खर्च को जनता के प्रतिनिधि कहाँ तक उचित समझते हैं। साथ ही, पार्लियामेंट को भी यह ज्ञात होता रहता है कि जिन लोगों के हाथ में वास्तविक शासन की बागडोर है, उनका दृष्टिकोण क्या है, उनकी क्या कठिनाइयाँ हैं, और वे किन बातों किस नीति को राज्य के लिये हितकर व

उपयोगी समझते हैं। कैबिनेट सिस्टम में ही यह लाभ प्राप्त हो सकता है कि जिन व्यवस्थापकों के हाथ में कानून बनाने और टैक्सों को निर्धारित करने की शक्ति हो, उनमें और उन शासकों में जिनके हाथ में कानूनों को प्रयुक्त करने और टैक्सों से वसूल हुए धन को खर्च करने की शक्ति हो, सहयोग और सन्निकट सम्बन्ध स्थापित रहे। साथ ही, क्योंकि

मन्त्रि-परिषद की रचना ऐसे लोगों द्वारा होती है, जो पार्लियामेंट के बहुसंख्यक दल के हों, अतः मन्त्रियों और व्यवस्थापकों में परस्पर सौमनस्य और सामंजस्य कायम रहता है। इसे विपरीत, राष्ट्रपति के अधीन शासनों में व्यवस्थापन और शासन विभागों में न सहयोग होता है, और न उन्हें एक-दूसरे के दृष्टिकोण व विचारों को जानने का अवसर मिलता है।

(2) कैबिनेट सिस्टम में शासक लोग जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। वे अपने पद पर तभी तक रह सकते हैं, जब तक जनता का विश्वास उन्हें प्राप्त रहे। मन्त्रि-परिषद अपने प्रत्यक्ष कार्य के लिये पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी होती है। यदि उसके द्वारा सत्ता विधि किसी महत्वपूर्ण कानून व प्रस्ताव को पार्लियामेंट अस्वीकृत कर दे या उसके प्रति अविश्वास के प्रस्ताव को स्वीकृत कर दे, तो वह तुरन्त त्यागपत्र दे देती है। पार्लियामेंट के सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि ही हैं, वे लोकमत को प्रतिबिम्बित करते हैं, अतः मन्त्रिपरिषद का उनके प्रति उत्तरदायी होने का अभिप्राय यही होता है कि वे परोक्ष रूप से अन्ततोगत्वा जनता व निर्वाचकों के प्रति ही उत्तरदायी हों। यदि मन्त्रि-परिषद यह समझे कि जनता उसके साथ है और पार्लियामेंट के वर्तमान सदस्य जनता की सम्मति को भली-भाँति अभिव्यक्त नहीं करते, तो उसे यह भी अधिकार होता है कि पार्लियामेंट को बर्खास्त कर नये निर्वाचन की व्यवस्था करें। उस दशा में नये निर्वाचन में जो प्रतिनिधि चुने जायें, उनकी सम्पत्ति पर ही मन्त्रि-परिषद की सत्ता निर्भर होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मन्त्रि-परिषद तभी तक अपने पद पर रह सकती है, जब तक कि जनता का विश्वास उसे प्राप्त रहे और उसकी नीति का समर्थन जनता द्वारा होता रहे। इसके विपरीत, राष्ट्रपति के अधीन शासनों में पार्लियामेंट और राष्ट्रपति, दोनों का निर्वाचन एक निश्चित समय के लिये हो जाता है। इस निश्चित अवधि से पहले उन्हें अपने पदों से पृथक् नहीं किया जा सकता। यदि इस बीच में जनता के मत में परिवर्तन हो जाये, किसी महत्वपूर्ण प्रश्न को लेकर जनता की सम्मति बदल जाये, तो भी शासन और व्यवस्थापन का कार्य ऐसे व्यक्तियों के हाथों में रहता है, जो वस्तुतः लोकमत का प्रतिनिधित्व नहीं करते। पर कैबिनेट सिस्टम में यह बात सम्भव नहीं है।

(3) कैबिनेट सिस्टम में इस बात की गुंजाइश भी रहती है, कि राष्ट्रीय विपत्ति के किसी असाधारण अवसर पर राजशक्ति के प्रयोग का अधिकार किसी एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के हाथों में दिया जा सके। ऐसे अवसर उपस्थित होने पर पार्लियामेंट देश के किसी सर्वमान्य नेता को असाधारण शक्ति प्रदान कर देती है, और ऐसे कानून सुगमता से स्वीकृत कर लेती है, जिनसे यह प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति अपनी राजशक्ति का उपयोग स्वेच्छापूर्वक अनियन्त्रित रूप से कर सके। 1914-18 के महायुद्ध के अवसर पर ब्रिटेन में लॉर्ड जॉर्ज को असाधारण शक्ति दे दी गई थी। 1939-45 के महायुद्ध के अवसर पर चर्चिल अबाधित रूप से राजशक्ति का उपयोग करने का अधिकार रखते थे। कैबिनेट सिस्टम में यह भी सम्भव रहता है कि राष्ट्रीय विपत्ति के समय विविध राजनीतिक दल आपस के मतभेदों को भुलाकर एक ऐसी मन्त्रि-परिषद बना लें, जिसमें सब दलों के प्रतिनिधि हों और वे इस प्रकार शासन करें, जिससे किसी भी राजनीतिक दल को सन्तोश का अवसर न हो। बीसवीं सदी के प्रथम महायुद्ध के बाद जब ब्रिटेन में घोर आर्थिक संकट उपस्थित हुआ था, तो रामजे मैकडॉनल्ड के नेतृत्व में इसी प्रकार की मन्त्रि परिषद का निर्माण किया गया था। 1939-45 महायुद्ध के अवसर पर चर्चिल के नेतृत्व में जो मन्त्रि-परिषद ब्रिटेन का शासन करती थी, उसमें भी सब दलों के प्रतिनिधि विद्यमान थे। राष्ट्रपति के अधीन शासन में यह बात संभव नहीं होती। वहाँ जो व्यक्ति राष्ट्रपति के पद पर एक बार निर्वाचित हो जाये, उसे नियत अवधि से पहले अपने पद पृथक् नहीं किया जा सकता, चाहे जनता की सम्मति में वह उस असाधारण परिस्थिति के लिये उपयुक्त व्यक्ति न हो, जिससे कि विशेष राष्ट्रीय विपत्ति के समय

षासन—कार्य में विविध राजनीतिक दलों के सहयोग को स्थापित कर सकना भी सम्भव नहीं हो पाता, क्योंकि षासन—कार्य में राष्ट्रपति व्यवस्थापन विभाग के प्रति किसी भी प्रकार उत्तरदायी नहीं होता ।

(4) कैबिनेट सिस्टम में योग्य व अनुभवी व्यक्तियों को षासनकार्य संभालने का अवसर मिलता है । जनता के नेता पहले पार्लियामेंट में प्रतिनिधि चुने जाते हैं । वहाँ पहुँचकर वे प्रस्तावों और कानूनों पर बहस करके अपनी योग्यता का सिक्का जमाते हैं । सरकारी नीति और कार्यों की आलोचना के अवसर पर सरकारी नीति का पक्षपोषण व विरोध करके वे यह सिद्ध करते हैं कि वे राज्य कार्य को भली—भाँति समझते हैं । इस प्रकार, पार्लियामेंट में अपनी योग्यता प्रदर्शित करके वे अपने राजनीतिक दल में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लेते हैं । जब कभी उनके राजनीतिक दल को मन्त्रि—परिशद बनाने का अवसर मिलता है तो उस दल के ये योग्य व्यक्ति ही मन्त्री पद पर नियुक्त होते हैं । इस प्रकार कैबिनेट सिस्टम में मन्त्री केवल वे ही व्यक्ति नियत हो सकते हैं, जो जनता के स्वाभाविक नेता हों, और जिन्होंने अपनी योग्यता का सिक्का पार्लियामेंट में जमा लिया हो । इसके विपरीत, राष्ट्रपति के अधीन षासन में एकमात्र राष्ट्रपति तो जनता का माना हुआ नेता होता है पर अन्य सब मन्त्री इस राष्ट्रपति द्वारा ही नियत किये जाते हैं, और अकेले उसके प्रति ही उत्तरदायी होते हैं । इस कारण, ऐसे व्यक्ति मन्त्री नहीं नियत किये जा सकते हैं, जो स्वयं जनता के माने हुए नेता हों । ऐसे जननायक एक व्यक्ति के प्रति उत्तरदायी होने की बात को स्वीकार नहीं कर सकते । (5) कैबिनेट सिस्टम में जनता को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त करने का अधिक अच्छा अवसर मिलता है । मन्त्रि—परिशद के सदस्यों के कार्यों की पार्लियामेंट में कड़ी आलोचना होती है । मन्त्री भी अपनी नीति व कार्यों के पक्ष — पोषण में कोई कसर उठा नहीं रखते । जनता पार्लियामेंट के कार्य विवरण को बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ती है और इस बात को भली—भाँति समझ सकती है कि मन्त्री लोग जो कार्य कर रहे हैं, वे जिस नीति का अनुसरण कर रहे हैं, वह राज्य के लिये हितकर है या नहीं ।

संसदीय व्यवस्था के दोष — (1) लोकतंत्रवाद का यह एक आधारभूत सिद्धान्त है कि षासन की मुख्य षक्तियाँ — षासन व्यवस्थापन और न्याय एक हाथ में न रहकर पृथक—पृथक हाथों में रहें । अठारहवीं सदी के राजषास्त्रियों ने यह अनुभव किया था कि राजा जो निरंकुष रूप से षासन करता है, उसका प्रधान कारण यही है कि सम्पूर्ण राजषक्ति उस एक व्यक्ति के हाथ में रहती है । अतः उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि षासन व्यवस्थापन और न्याय — षक्ति का प्रयोग पृथक हाथों में रहना चाहिए । इसी कारण, जब अमेरिका ने ब्रिटेन की अधिपतिता से मुक्त होकर स्वतन्त्र लोकतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना की, तो इन तीनों विभागों को एक—दूसरे से पूर्णतया पृथक नहीं रखा । षासन विभाग मन्त्रि—परिशद के अधीन होता है, जो पार्लियामेंट व व्यवस्थापन विभाग की एक उप—समिति मात्र होती है ।”

(2) कैबिनेट सिस्टम में राजषक्ति जनता के हाथ में न रहकर एक राजनीतिक दल के हाथ में रहकर एक राजनीतिक दल के हाथ में रहती है । पार्लियामेंट में जिस दल का बहुमत होता है, वही मन्त्रि—परिशद का निर्माण करता है । इस दल की यह कोषिष रहती है कि वह राजषक्ति को अपने हाथों से न निकलने दे । वह सब प्रकार के उपायों का प्रयोग कर बहुमत को अपने साथ रखता है । निर्वाचन के समय मतदाताओं पर अनुचित प्रभाव डालने का भी वह यत्न करता है । राजकर्मचारी उसी दल का पक्ष लेने की प्रवृत्ति रखते हैं, जिसके हाथ में राजषक्ति हो । सर्वसाधारण मतदाताओं पर निजी कतिपय लोगों का प्रभाव होता है, जिन्हें धन, पद व अन्य प्रकार की कृपा का प्रलोभन दिखाकर यह राजनीतिक दल अपने पक्ष में कर लेता है और इस प्रकार निर्वाचन निष्पक्ष रूप से नहीं होने पाता । साथ ही, राजनीतिक दल पार्लियामेंट में अल्पसंख्या में होता है, वह अपना केवल यह काम समझता है कि मन्त्रि—परिशद के प्रत्येक प्रस्ताव का विरोध करे । मन्त्रि—परिशद द्वारा पेश किया हुआ कोई कानून व प्रस्ताव चाहे कितना ही उत्तम क्यों न हो, विरोधी दल उसका विरोध करना ही अपना एकमात्र कर्तव्य समझता है । इस स्थिति का परिणाम यह होता है कि उपयोगी कानूनों व प्रस्तावों के स्वीकृत होने में असाधारण देर लग जाती है । कैबिनेट सिस्टम में

दलबन्दी की भावना अनुचित रूप से बढ़ जाती है व व्यवस्थापक और शासन लोग जनता की इच्छा की अपेक्षा कर केवल पार्टी की भावना से कार्य करते हैं। भारत में जिस समय कांग्रेस और मुस्लिम लीग के रूप में दो प्रधान राजनीतिक दल विद्यमान थे, लीग ने कांग्रेस दल द्वारा प्रस्तावित अनेक ऐसे कानूनों का भी विरोध किया, जिन्हें जनता का सामूहिक समर्थन प्राप्त था। उत्तर प्रदेश की विधानसभा में जब कांग्रेस सरकार ने बुनियादी तालीम की योजना पेश की, तो मुस्लिम लीग पार्टी ने उसका भी विरोध किया, यद्यपि इस योजना

का सम्बन्ध किसी राजनीतिक बात से नहीं था। इसी प्रकार की प्रवृत्ति कैबिनेट सिस्टम द्वारा शासित अन्य राज्यों में भी पायी जाती है। लॉर्ड ब्राइस ने कैबिनेट सिस्टम के इस दोष का विवेचन करते हुए लिखा है— “इस सिस्टम में दलबन्दी की भावना बहुत प्रबल रहती है। जब राष्ट्र के सम्मुख किसी महत्वपूर्ण नीति के साथ सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न हों, तब भी पदों की प्राप्ति के लिये संघर्ष जारी रहता है। एक दल के हाथ में पद रहते हैं, दूसरा दल उन्हें अपने हाथ में करना चाहता है और इस प्रकार अनन्त संघर्ष चलता रहता है। जिस प्रकार कि खून में घेत और रक्त अवयवों में निरन्तर युद्ध होता रहता है, उसी प्रकार राज्य में इन दलों में निरन्तर युद्ध चलता रहता है। विधानसभाओं में इसके कारण समय और शक्ति का बहुत अपव्यय होता है। यद्यपि सिद्धान्त की दृष्टि से विरोधी दल का कार्य केवल यह माना जाता है कि वह केवल बुरे प्रस्तावों का विरोध करें और शासन विभाग के केवल बुरे कृत्यों की आलोचना करे, पर क्रिया में वह प्रायः शासक विभाग द्वारा प्रस्तावित प्रत्येक प्रस्ताव का विरोध करता है और उसके सब कृत्यों की आलोचना करता है।” यही कारण है कि लॉर्ड ब्राइस के अनुसार, मन्त्रि-परिषद जब किसी प्रस्ताव को पेश करना चाहती हैं तो वह इस बात को अधिक महत्व देती है, कि जनता व उसके निर्वाचित प्रतिनिधियों का समर्थन उसे कहाँ तक प्राप्त हो सकता है। वह इस बात को महत्व नहीं देती कि राज्य के वास्तविक हित के लिये किन प्रस्तावों व कानूनों की आवश्यकता है।

(3) कैबिनेट सिस्टम में एक दोष यह भी है कि इसमें शासन विभाग का कार्यकाल निश्चित नहीं रहता। मन्त्रि-परिषद को सदा यह आशंका बनी रहती है कि उसके विरुद्ध कोई अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकृत न हो जाये, या उसके द्वारा प्रस्तावित कोई महत्वपूर्ण कानून व प्रस्ताव अस्वीकृत न हो जाये, जिसके कारण उसे अपने पद से त्यागपत्र देने के लिये विवश होना पड़े। अपने कार्यकाल की अवधि का भरोसा न रहने के कारण मन्त्रि-परिषद कोई ऐसी योजनाएँ प्रस्तावित करने के लिये उत्साहित नहीं होतीं, जिन्हें पूर्ण करने के लिये पर्याप्त समय अपेक्षित हो। जिन राज्यों की पार्लियामेंट में कोई दो या तीन सुसंगठित दल नहीं होते, अपितु ऐसे बहुत से दल होते हैं, जिनमें से किसी को भी बहुमत प्राप्त नहीं होता, ऐसे राज्यों में तो मन्त्रि-परिषद की स्थिरता का भरोसा और भी कम होता है। फ्रांस में मन्त्रि-परिषद जल्दी-जल्दी बदलती रहती थी। इस दशा में वह किन्हीं ऐसी योजनाओं को क्रिया में परिणत करने की आशा कैसे रख सकती थी, जिन्हें वह राज्य के लिये उपयोगी समझती हो। ब्रिटेन जैसे राज्य में, जहाँ दो सुसंगठित पार्टियों की सत्ता के कारण मन्त्रि-परिषद को अपनी स्थिरता का कुछ-न-कुछ भरोसा होता है, कभी पंचवर्षीय योजना या इसी प्रकार की दीर्घ समय की अपेक्षा रखने वाली योजनाओं के निर्माण करने का उत्साह नहीं हुआ। कारण यह कि ब्रिटेन में भी मन्त्रि-परिषद को यह आशंका सदा बनी रहती है, कि उसका कार्यकाल किसी भी समय समाप्त हो सकता है। दीर्घ समय की अपेक्षा रखने वाली योजनाओं के लिये शासन की स्थिरता अत्यन्त आवश्यक होती है। राष्ट्रपति के अधीन शासनों में जब एक बार राष्ट्रपति का चुनाव हो जाता है, तो उसे यह भरोसा रहता है कि वह एक निश्चित अवधि तक अपने पद पर अवश्य रहेगा। इसी कारण वह दीर्घकालीन योजनाओं को क्रिया में परिणत कर सकता है।

(4) कैबिनेट सिस्टम का एक दोष यह है कि वह निर्बल होता है। उसमें कोई एक ऐसा व्यक्ति नहीं होता, जिसके हाथ में शासन की सब शक्ति हो और राज्य के सुशासन के लिये उत्तरदायी हो। प्रधानमंत्री अन्य मन्त्रियों का नेता मात्र होता है। विविध मन्त्री अपने-अपने विभाग के स्वतन्त्र अधिकारी होते हैं, और सम्पूर्ण मन्त्रि-परिषद की सामूहिक उत्तरदायिता

मानी जाती है। इस स्थिति में, इस सिस्टम में कोई ऐसा एक व्यक्ति नहीं होता, जो राष्ट्र विपत्ति या अन्य असाधारण परिस्थिति में अबाधित रूप से अपनी शक्ति व दक्षता का प्रदर्शन कर सके। इसके विपरीत, प्रेजिडेन्सियल सिस्टम में शासन – कार्य के लिये राष्ट्रपति पूर्णतया जिम्मेवार होता है, और विकट – से – विकट परिस्थिति में अपनी उत्तरदायिता पर राजशक्ति का अबाधित रूप से प्रयोग करने का उसे पूरा अधिकार होता है। मन्त्री लागू पूर्णतया उसके अधीन होते हैं।

(5) कैबिनेट सिस्टम में यह प्रवृत्ति होती है कि सब राजशक्ति मन्त्रि-परिशद के हाथ में आ

जाये और पार्लियामेंट उसके हाथों में कठपुतली मात्र रह जायेय कानूनों का निर्माण मन्त्रि परिशद करे, नीति व कार्य-विधि का निष्पत्ति मन्त्रि-परिशद द्वारा हो, और मन्त्री लोग ही यह तय करें कि कौन से टैक्स जनता से वसूल करने हैंय पार्लियामेंट का कार्य केवल यह रह जाये कि वह मन्त्रि-परिशद के निर्णयों पर अपने वोटों द्वारा मोहर लगा दे। राज्य की पार्लियामेंट के सदस्यों की संख्या सैकड़ों में होती है। सैकड़ों व्यक्तियों के लिये यह सम्भव नहीं है कि वे किसी भी प्रश्न पर गम्भीरता के साथ विचार कर सकें। इसका परिणाम यह होता है कि नीति, कर व कानून आदि के सम्बन्ध में सब विचार मन्त्रि-परिशद करती है, वही उनके सम्बन्ध में निर्णय करती है। पार्लियामेंट में तो केवल मन्त्रि-परिशद के निर्णयों पर जाने की बहस हो जाती है। कुछ सदस्य उसमें भाषण व विवाद की शक्ति का प्रदर्शन कर देते हैं। व्यवस्थापन का वास्तविक कार्य तो केवल इतना ही होता है कि वह यह बात निश्चित कर दे, कि उसके नेता कौन हैं। एक बार अपने नेताओं का निर्णय कर पार्लियामेंट उनका अनुसरण करना ही अपना काम समझती है। बैंगहट के अनुसार पार्लियामेंट अपने नेताओं को चुनकर उनसे कहती है “व्यवस्थापन कार्य के लिये हम लोगों की संख्या बहुत अधिक है। हमने तुम्हें इसलिए चुन दिया है कि हमें मार्ग प्रदर्शित करें, क्योंकि हम तुम्हें अपना नेता मानते हैं, और तुममें विश्वास रखते हैं। हम यह तुम्हारे सुपुर्द करते हैं कि व्यवस्थापन – सम्बन्धी उन प्रस्तावों का निर्माण करो जो तुम्हारी सम्मति में हमें स्वीकृत करने चाहिए धन की मात्रा निश्चित करो जो तुम्हारी सम्मति में राज्यकार्य को चलाने के लिये आवश्यक है, और साथ ही यह भी तय करो कि धन की इस मा. को प्राप्त करने के लिये कौन से और कितने टैक्स अपेक्षित हैं। जो प्रस्ताव तुम पेश करोगे, यदि वे हमारी सम्मति में उपयुक्त व बुद्धिमत्तापूर्ण होंगे, तो हम उनके लिये अपनी स्वीकृति दे देंगे। इसी प्रकार हम उस धन की भी स्वीकृति दे देंगे, जो तुम्हें चाहिए, व उन टैक्सों को भी मंजूर कर देंगे, जो तुम जरूरी समझते हो। साथ ही, हम तुम्हारे ऊपर दृष्टि रखेंगे और तुम्हें तुम्हारे कार्यों व नीति के लिये उत्तरदायी ठहरायेंगे। हम तुम्हें सावधान करते कि जब कभी हम तुम्हारे प्रस्तावों, कार्यों व नीति को अस्वीकार्य समझेंगे, तो तुम्हें तुम्हारे पद से पृथक् कर देंगे और नये मंत्रियों को तुम्हारी जगह पर नियुक्त करके उन्हें वे ही अधिकार व शक्ति दे देंगे, जो अब तुम्हें दिये जा रहे हैं।” इसमें सन्देह नहीं कि कैबिनेट सिस्टम में पार्लियामेंट अपने कार्य को बहुत कुछ मन्त्रि-परिशद को दे देती है और इसी परिशदके हाथ में शासन और व्यवस्थापन की शक्ति आ जाती है।

(6) कैबिनेट सिस्टम का एक दोष यह कि उसमें मन्त्रियों का बहुत अधिक समय पार्लियामेंट में उपस्थित होने, वहाँ वाद-विवाद को सुनने व स्वयं वाद-विवाद में भाग लेने में नष्ट हो जाता है। जिन दिनों पार्लियामेंट का अधिवेशन हो रहा हो, मन्त्रियों को इस बात की फुरसत नहीं मिलती है कि वे अपने शासन- सम्बन्धी कार्य पर यथोचित ध्यान दे सकें। जिन दिनों पार्लियामेंट का अधिवेशन नहीं हो रहा होता, तब भी मन्त्रियों का बहुत-सा समय सार्वजनिक सभाओं में उपस्थित होने, जनता के साथ सम्पर्क स्थापित करने और अन्य प्रकार से अपना नेतृत्व कायम रखने के प्रयत्न में व्यतीत होता है। वे सदा इस बात की आवश्यकता अनुभव करते रहते हैं कि जनता को अपने पक्ष में रखें, उनकी पार्टी मजबूत रहे और वे अपनी लोकप्रियता को कायम रखें। इसके लिये उन्हें बहुत से ऐसे कार्य करने पड़ते हैं, जिनका शासन से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। परिणाम यह होता है कि शासन का वास्तविक कार्य उन सचिवों (सेक्रेटरियों) के हाथ में आ जाता है, जो अपने विभाग के अध्यक्ष होते हैं और

जो स्थायी रूप से सरकार के कर्मचारी होते हैं। इन सचिवों के हाथ में राजषक्ति का प्रयोग रहने के कारण शासन में कर्मचारी तंत्र (ब्यूरोक्रेसी) की शक्ति बढ़ जाती है, और शासन का कार्य जनता के विपक्षित व्यक्तियों के हाथों में नहीं रहने पाता। इस प्रसंग में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कैबिनेट सिस्टम के अनुसार जो व्यक्ति पार्लियामेंट की बहुसंख्यक पार्टी के कारण मन्त्री पद पर नियुक्त किये जाते हैं, यह आवश्यक नहीं कि वे शासन-कार्य में कुशल भी हों। जनता व पार्टी का नेता होना एक बात है, और उत्तम शासक होना दूसरी बात है। कई बार ऐसा भी होता है कि मन्त्री के पद पर ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति हो जाती है, जो शासन का कुछ भी अनुभव नहीं रखते और जो शासनकार्य की अपेक्षा उत्तम भाषण देने व दलबन्दी के कार्य में अधिक योग्य होते हैं।

राष्ट्रपति के अधीन शासन (प्रेजिडेन्शियल सिस्टम)

जिस सरकार में शासन विभाग व्यवस्थापन विभाग से सर्वथा पृथक होता है और शासन – विभाग का प्रधान एक ऐसा व्यक्ति होता है जो पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी नहीं होता और जिसकी सत्ता व शक्ति पार्लियामेंट के विष्वास पर आश्रित नहीं होती, उसे राष्ट्रपति के अधीन शासन या प्रेजिडेन्शियल सिस्टम कहते हैं। इस प्रकार के शासन में राष्ट्रपति केवल 'ध्वजमात्र' न होकर सच्चे अर्थों में शासन – विभाग का प्रधान होता है, और संविधान द्वारा प्राप्त अधिकारों के अनुसार राजषक्ति का प्रयोग करता है। वह अपनी सहायता के लिये मन्त्रियों को भी नियत करता है, पर ये मन्त्री पार्लियामेंट के प्रति अपने कार्यों के लिये उत्तरदायी नहीं होते। उन्हें राष्ट्रपति नियुक्त करता है और वे उसी के प्रति उत्तरदायी होते हैं। ये मन्त्री जो कुछ करते हैं, वैधानिक दृष्टि से उसे राष्ट्रपति का ही किया हुआ माना जाता है। राष्ट्रपति उन्हें उसी दल में से चुनता है, जिसका वह अपने आप हो। यह आवश्यक नहीं कि ये मन्त्री पार्लियामेंट के भी सदस्य हों। कतिपय राज्यों में जरूरी है कि मन्त्री पार्लियामेंट के सदस्य न हों। संयुक्त राज्य अमेरिका में कोई ऐसा व्यक्ति मन्त्री नहीं हो सकता, वहाँ कि पार्लियामेंट (कांग्रेस) का भी सदस्य हो। यह भी जरूरी नहीं कि मन्त्री ऐसे राजनीतिक दल से लिये जाएँ, जिसका पार्लियामेंट में बहुमत हो। अनेक बार ऐसा हो सकता है कि राष्ट्रपति स्वयं जिस दल का हो, पार्लियामेंट में उसके विरोधी दल सदस्य बहुसंख्या में हों। पार्लियामेंट में जो कानून, प्रस्ताव आदि पेश होते हैं, मन्त्री लोग न उन्हें तैयार करते हैं और न ही उन्हें पेश करते हैं। मन्त्री यदि कोई कानून या प्रस्ताव पार्लियामेंट में पेश करना चाहें, तो वे पार्लियामेंट के किसी ऐसे सदस्य द्वारा उसे पेश कराते हैं जो उनके अपने दल का हो और उस कानून व प्रस्ताव का पक्षपाती हो। मन्त्रियों को यह अधिकार होता है कि वे पार्लियामेंट के किसी भी सदन में उपस्थित हो सकें, वहाँ भाषण कर सकें और प्रश्नों का उत्तर दें सकें। पर क्योंकि वे पार्लियामेंट के सदस्य नहीं होते, अतः वे वहाँ वोट नहीं दे सकते। पर राष्ट्रपति द्वारा शासित राज्य में मन्त्री लोग अपने इस अधिकार का प्रयोग प्रायः नहीं करते। संयुक्त राज्य अमेरिका में तो मन्त्री लोग कभी भी इस अधिकार का प्रयोग नहीं करते। राष्ट्रपति जब चाहे मन्त्रियों को या किसी एक मन्त्री को अपने पद से पृथक कर सकता है। प्रेजिडेन्शियल सिस्टम में मन्त्री लोग पूर्णतया राष्ट्रपति के अधीन होते हैं, वे उसी द्वारा नियुक्त होते हैं और वही उन्हें उनके पद से पृथक कर सकता है। ऐसा करते हुए उसे यह ध्यान में रखने की आवश्यकता नहीं होती कि पार्लियामेंट का विष्वास उन्हें प्राप्त है या नहीं। वस्तुतः इस सिस्टम में मन्त्रियों और पार्लियामेंट में परस्पर कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। ऐसा हो सकता है कि पार्लियामेंट में जिस दल का बहुमत हो, राष्ट्रपति व मन्त्री उससे भिन्न दल के हों। प्रेजिडेन्शियल सिस्टम में ऐसी दशा में कोई विशेष समस्या उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि सरकार के व्यवस्थापन और शासन – विभाग वहाँ एक-दूसरे से सर्वथा पृथक होते हैं। पार्लियामेंट में मन्त्रियों के विरुद्ध चाहे कितनी ही अविष्वास के प्रस्ताव स्वीकृत हो जाएँ, पर मन्त्री तब तक अपने पद पर आरुढ़ रहते हैं जब तक कि राष्ट्रपति उनके पक्ष में हो।

संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति के अधीन शासन शासन और व्यवस्थापन विभागों को एक-दूसरे से सर्वथा पृथक रखते हुए राष्ट्रपति द्वारा शासन का सबसे उत्तम उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका में मिलता है। संविधान के अनुसार अमेरिकन राष्ट्रपति का निर्वाचन चार साल के लिये किया जाता है, और उसे नागरिक लोग स्वयं चुनते हैं। भारत में राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिये यह व्यवस्था है कि संघ पार्लियामेंट के दोनों सदनों के वे सदस्य जो निर्वाचन द्वारा उनके सदस्य बन हों, और भारतीय संघ के अन्तर्गत विविध राज्यों की विधानसभाओं के वे सदस्य जो निर्वाचन द्वारा उनके सदस्य बने हों, एक राष्ट्रीय महासभा में एकत्र होकर राष्ट्रपति का निर्वाचन करें। पर भारत की पद्धति में के विपरीत, संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति के चुनाव का ढंग यह है कि वहाँ के सर्वसाधारण नागरिक परोक्ष रूप से उसका निर्वाचन करते हैं। प्रत्येक मतदाता को यह अवसर व अधिकार प्राप्त है कि वह उन निर्वाचकों के चुनाव में भाग ले सके, जिन्हें कि राष्ट्रपति को चुनना होता है। अमेरिका में राष्ट्रपति को अपने पद पर सत्ता वहाँ की पार्लियामेंट (जिसे वहाँ कांग्रेस कहते हैं) के उसके प्रति विष्वास या अविष्वास पर निर्भर नहीं होती। यदि कांग्रेस में किसी ऐसे दल का भी बहुमत हो, जो राष्ट्रपति का विरोधी हो, तो भी वह अपने पद पर रह सकता है, क्योंकि उसका निर्वाचन कांग्रेस से पूर्णतया स्वतन्त्र रूप से होता है। राष्ट्रपति को यह भी अधिकार है कि वह कांग्रेस द्वारा स्वीकृत किसी कानून व प्रस्ताव को वीटों कर सके। वह जिस कानून या प्रस्ताव के पक्ष में हो, उसे स्वीकृत करने के लिये वह कांग्रेस से सिफारिश कर सकता है, पर वह उसे स्वयं कांग्रेस के सम्मुख उपस्थित नहीं कर सकता। अमेरिका में राष्ट्रपति को यह अधिकार नहीं है कि वह कांग्रेस को बर्खास्त कर सके, या उसके पुनः निर्वाचन की आज्ञा दे सके। वह अपनी इच्छा से किन्हीं भी व्यक्तियों को मन्त्री पद पर नियुक्त कर सकता है, और इन मन्त्रियों की अपने पदों पर सत्ता राष्ट्रपति की इच्छा पर ही निर्भर करती है। वह कांग्रेस के नियंत्रण से पृथक रहकर राज्य के शासन का संचालन करता है, और यह करते हुए वह व्यवस्थापन विभाग की राय व इच्छा की परवाह करने के लिये विषय व बाध नहीं होता। इस दृष्टि से अमेरिकन राष्ट्रपति की स्थिति एक निरंकुष शासक के समान होती है, क्योंकि कांग्रेस उस पर किसी प्रकार का अंकुष रखने का अधिकार नहीं रखती। पर क्योंकि राष्ट्रपति नागरिकों द्वारा निर्वाचित होती है और उसे केवल चार साल के लिये निर्वाचित किया जाता है, अतः उसका यही प्रयत्न रहता है कि लोकमत के अनुसार ही अपनी राजषक्ति का प्रयोग करे। अन्य कहीं अपनी राजषक्ति का प्रयोग करे।

अन्य राज्यों में राष्ट्रपति के अधीन शासन अमेरिकन महाद्वीप के अन्य भी अनेक राज्यों में पार्लियामेंटरी सिस्टम का अनुसरण न कर प्रेजिडेन्शियल सिस्टम को अपनाया गया है। उन पर उसके अपने हस्ताक्षरों के साथ-साथ उस विभाग के मन्त्री के हस्ताक्षर होना भी आवश्यक है। अर्जेंटिना के संविधान के अनुसार मन्त्रियों को यह भी अधिकार है कि वे कांग्रेस के अधिवेशन में उपस्थित हो सकें, वहाँ भाषण दे सकें और सदस्यों द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दे सकें। वहाँ मन्त्री लोग अपने इस अधिकार का प्रयोग भी करते हैं, यद्यपि वे वोट नहीं दे सकते। अनेक बार ऐसा भी हुआ है कि कांग्रेस से उग्र मतभेद के कारण मन्त्रियों ने त्यागपत्र दे दिया है। पर संयुक्त राज्य अमेरिका के समान अर्जेंटिना में भी शासन और व्यवस्थापन विभागों के एक-दूसरे से सर्वथा पृथक होने के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है, और वहाँ के मन्त्री अपने कार्यों के लिये राष्ट्रपति के प्रति ही उत्तरदायी माने जाते हैं।

ब्राजील में संयुक्त राज्य अमेरिका के सदृश ही प्रेजिडेन्शियल सिस्टम विद्यमान है। वहाँ राष्ट्रपति ही मन्त्रियों को नियुक्त करता है और इन मन्त्रियों को कांग्रेस से जो कुछ कहना होता है, उसे ये लेखबद्ध करके उसके पास भेज देते हैं। कांग्रेस के अधिवेशन में स्वयं उपस्थित होने की आवश्यकता मन्त्री लोग नहीं समझते। ये मन्त्री अपने कार्यों के लिये कांग्रेस के प्रति उत्तरदायी न होकर केवल राष्ट्रपति के प्रति ही उत्तरदायी होते हैं। विशेषताएँ – प्रेजिडेन्शियल सिस्टम की विशेषताओं का मूल उल्लेख करना उपरोक्त है, इस शासन-पद्धति की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

राजनीतिक सिद्धान्त

(1) इस पद्धति में राज्य की शासन-शक्ति एक व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त की जाती है। यह व्यक्ति जिसे राष्ट्रपति कहते हैं, केवल 'ध्वजमात्र' शासक नहीं होता, अपितु वास्तविक शासक होता है।

(2) राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निश्चित अवधि के लिये किया जाता है। उसका कार्यकाल व्यवस्थापन – विभाग की सहमति व विष्वास पर निर्भर नहीं करता। विधानसभाओं में उसकी नीति के विरुद्ध चाहे प्रस्ताव स्वीकृत हो जाएँ, या उसके अभीष्ट प्रस्ताव अस्वीकृत हो जाएँ, पर ये बातें उसकी स्थिति पर प्रभाव नहीं डालतीं। राष्ट्रपति की सत्ता व्यवस्थापन – विभाग से सर्वथा स्वतन्त्र व पृथक् होती है।

राष्ट्रपति ही मन्त्रियों को नियत करता है, वे उसी के प्रति उत्तरदायी होते हैं। यह आवश्यक होता है कि मन्त्री पार्लियामेंट के सदस्य न हों।

(4) मन्त्री पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। यदि वह उनके प्रति अविष्वास व निन्दा का प्रस्ताव भी स्वीकृत कर दें, तो भी उन्हें उनके पदों से नहीं हटाया जा सकता, बशर्ते कि राष्ट्रपति का उनमें विष्वास कायम रहे।

(5) राष्ट्रपति को यह अधिकार नहीं होता कि व्यवस्थापन विभाग के सदस्यों को बर्खास्त कर सके। राष्ट्रपति के समान वे भी निश्चित अवधि के लिये चुने जाते हैं और उस अवधि तक अपने पद पर स्थिर रहते हैं।

प्रेजिडेन्शियल सिस्टम के गुण और दोष

प्रेजिडेन्शियल सिस्टम के गुण कैबिनेट सिस्टम में जो दोष हैं, वे ही प्रेजिडेन्शियल सिस्टम के गुण समझे जाते हैं। (1) इस पद्धति में मन्त्रियों के लिए यह सम्भव होता है कि वे अपनी सब शक्ति और समय का उपयोग शासनकाय के लिये कर सकें। उन्हें लोकप्रिय होने की आवश्यकता नहीं होती। इसलिये उनमें यह प्रवृत्ति नहीं होती कि वे जगह-जगह जाकर व्याख्यान दें, जनता को अपने पक्ष में करें व अन्य प्रकार से लोकप्रिय बनने का प्रयत्न करें। उन्हें यह भी आवश्यकता नहीं होती कि पार्लियामेंट में उपस्थित होकर सदस्यों के प्रश्नों का उत्तर दें, और अपने पक्ष – पोषण के लिये भाषण आदि दें। वे केवल राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं, और राष्ट्रपति उनसे केवल यह आशा करता है कि वे अपनी सम्पूर्ण शक्ति और समय का उपयोग अपने राजकीय विभाग के सुशासन के लिये करें।

(2) इस सिस्टम में शासन – विभाग को यह भरोसा रहता है कि अवधि से पूर्व उसे अपने से पृथक् नहीं किया जा सकेगा। इस कारण राष्ट्रपति और उसे मन्त्री राज्य की उन्नति के सम्बन्ध में अनेक ऐसी योजनाएँ भी बना सकते हैं, जिन्हें पूर्ण करने में अनेक वर्षों का समय लगे। राज्य की उन्नति के लिये ऐसी योजनाएँ बहुत उपयोगी होती हैं और उन्हें बना सकना व उन्हें सम्पन्न कर सकना केवल ऐसे शासन में ही सम्भव है, जिसे अपनी स्थिरता का पूरा भरोसा हो। संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति का चुनाव चार वर्ष के लिये होता है। राष्ट्रपति को दूसरी बार भी चुना जा सकता है। अमेरिका में ऐसे अनेक राष्ट्रपति हुए हैं, जो निरन्तर आठ वर्षों तक अपने पद पर आरुढ़ रहे। आठ वर्ष तक अपने पद पर स्थिर रहने के कारण उनके लिये राज्य की उन्नति के अनेक कार्यों को सम्पन्न कर सकना सुगम रहा है। इसके विपरीत कैबिनेट सिस्टम वाले फ्रांस में तो शायद ही कोई मन्त्रि-परिषद कुछ महीनों से अधिक अपने पद पर रह सकी हो। ग्रेट ब्रिटेन में भी बहुत कम प्रधानमंत्री ऐसे

हुए हैं, जो निरन्तर आठ साल तक अपने पद पर रहे हों।

(3) प्रेजिडेन्शियल सिस्टम के शासन-कारण एक व्यक्ति (राष्ट्रपति) के हाथ में रहता है। उसे किसी शासननीति के अनुसरण के लिये पार्लियामेंट की सहमति की आवश्यकता

नहीं होती । संकट काल में यह पद्धति बहुत उपयोगी सिद्ध होती है। ऐसे संकटकालीन अवसरों पर राष्ट्रपति अपनी समझ व बूझ के अनुसार जो कुछ चाहे कर सकता है ।

(4) इस सिस्टम में दलबन्दी की बुराइयाँ अधिक प्रकट नहीं होती । यह ठीक है कि संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे प्रेजिडेन्शियल सिस्टम का अनुसरण करने वाले राज्यों में भी सुसंगठित राजनीतिक दल विद्यमान हैं। पर ये दल केवल निर्वाचन के समय में ही अपनी दलबन्दी की भावना को प्रयोग में लाते हैं। जब एक बार राष्ट्रपति और पार्लियामेंट का निर्वाचन हो जाता है, तो दलबन्दी की इस भावना के प्रकट होने का विषेश अवसर नहीं रहता। किसी भी राजनीतिक दल का आन्दोलन राष्ट्रपति को उसके पद से पथ्यक नहीं कर सकता, क्योंकि उसका चुनाव एक निश्चित अवधि के लिये हो जाता है। एक बार निर्वाचित हो जाने पर राष्ट्रपति अपना शासनकार्य पार्टीबाजी से पथ्यक रहकर कर सकता है । यही बात पार्लियामेंट के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। पार्लियामेंट के सदस्य जानते हैं कि शासन विभाग के साथ उनका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है । वे उसे अपने पद से नहीं हटा सकते । इसलिये वे अपनी शक्ति का उपयोग केवल इस काम के लिये करते हैं कि प्रस्तावित कानूनों की आलोचना करें, व ऐसे कानूनों को स्वीकृत करें, जो उनकी दृष्टि में राज्य के लिये हितकर हों । कैबिनेट सिस्टम का अनुसरण करने वाले राज्यों की पार्लियामेंटों में विरोधी दल का निरन्तर यह प्रयत्न रहता है कि मन्त्रि-परिषद के विरुद्ध बहुमत बनाकर उसे अपने पद से पथ्यक कर दें। इस कारण उनमें दलबन्दी की भावना सदा उग्र रूप धारण कर किये रहती है ।

(5) शासन और व्यवस्थापन विभागों को पृथक रखने के कारण प्रेजिडेन्शियल सिस्टम लोकतन्त्रवाद के अधिक अनुकूल होते हैं।

प्रेजिडेन्शियल सिस्टम के दोष दृ (1) इस पद्धति में शासन और व्यवस्थापन विभागों में समन्वय व सामंजस्य नहीं रहता। कई बार ऐसा हो जाता है कि राष्ट्रपति किसी एक दल का हो और पार्लियामेंट में उसके विरोधी दल का बहुमत हों। इस दशा में राष्ट्रपति व शासन – विभाग जिन कानूनों को राज्य के हितकर समझता हो, उन्हें पार्लियामेंट में स्वीकृत करा सकना सुगम नहीं होता । राज्य के बजट को स्वीकृत कराने में भी ऐसी दशा में कठिनाई उपस्थित हो जाती है, और शासन व व्यवस्थापन विभागों में एक प्रकार की कटुता उत्पन्न हो जाती है, जो राज्य के लिये हितकर नहीं होती ।

(2) प्रेजिडेन्शियल सिस्टम में यह सम्भव नहीं होता कि समय के अनुसार शासन और व्यवस्थापन विभागों में परिवर्तन किया जा सके। राष्ट्रपति एक निश्चित अवधि के लिये

चुना जाता है और उसके समान पार्लियामेंट का चुनाव भी एक निश्चित अवधि के लिये होता है । इस अवधि से पूर्व दोनों में से किसी को भी हटाया नहीं जा सकता। यदि इस बीच में कोई ऐसी परिस्थिति पैदा हो जाये, जिसके कारण जनता यह अनुभव करे कि राष्ट्रपति समय के अनुसार उपयुक्त व्यक्ति नहीं है या कोई नई राजनीतिक समस्या उत्पन्न हो जाने के कारण जनता का यह विचार हो कि पार्लियामेंट के सदस्य उसका ठीक तरह से प्रतिनिधित्व नहीं करते, तो उन्हें अपने पदों से पथ्यक कर सकना उसकी शक्ति में नहीं होता ।

इस प्रसंग में बैगहाट में लिखा है – “ आपअपनी सरकार को पहले से ही निश्चित कर देते हैं। वह आपके लिये उपयुक्त है या नहीं, वह ठीक प्रकार से कार्य करती है या नहीं, वह आपकी इच्छा के अनुकूल है या नहीं, इसबात से अब आपको कोई वास्ता नहीं कानून

के अनुसार, उसे आपको रखना ही पड़ेगा ।” कैबिनेट सिस्टम में यह दोष नहीं होता । उसमें सरकार का परिवर्तन अधिक सुगमता के साथ किया जा सकता है। पार्लियामेंट यदि मन्त्री – परिषद की किसी नीति से सहमत नहीं हो, तो वह उसे स्वीकृत कर सकती है या उसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकृत कर सकती है । इस दशा में मन्त्रिपरिषद को अपने पद से हट जाना पड़ेगा । कैबिनेट सिस्टम के अधीन शासनों में यह भी गुंजाइश होती

है कि पार्लियामेंट का पुनः निर्वाचन निश्चित अवधि के पूर्ण होने से पूर्व भी हो सके और इस प्रकार पार्लियामेंट सच्चे अर्थों में जनता का प्रतिनिधि बनी रहे ।

(3) प्रेजिडेन्शियल सिस्टम में राष्ट्रपति बहुत कुछ निरंकुष होता है, कारण यह कि वह अपनी नीति व कार्यों के लिये पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी नहीं होता । पार्लियामेंट उसे केवल उस दशा में अपने पद से हटा सकती है, जबकि उस पर कोई बहुत भयंकर व गम्भीर अपराध आरोपित किया जाये । पर इस प्रकार के अपराध को सिद्ध करना बहुत ही जटिल होता है । बात की पूरी स्वतन्त्रता रहती है कि वह अपनी सूझ के अनुसार जैसे चाहे शासन-शक्ति का प्रयोग करे । यदि उसकी शासन-नीति से सब लोग असंतुष्ट हों न केवल पार्लियामेंट के सब सदस्य अपितु सम्पूर्ण जनता भी उसे राष्ट्रपति पद से पृथक करना चाहें तो भी कानून के अनुसार निश्चित अवधि के समाप्त होने तक वह अपने पद पर रह सकता है । इससे राष्ट्रपति में निरंकुषता की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, और वह अपने को किसी नियंत्रण व मर्यादा के अधीन नहीं समझता । प्रेजिडेन्शियल सिस्टम में राष्ट्रपति लोकमत के अनुसार शासन करे, इसके दो ही हेतु हो सकते हैं । प्रथम यह कि उसे यह भय रहता है कि लोकमत के विपरीत कार्य करने पर वह दुबारा राष्ट्रपति निर्वाचित नहीं हो सकेगा य दूसरा यह कि वह अपनी नैतिक जिम्मेदारी को अनुभव करे और शासन कार्य में स्वेच्छाचारी न हो । पर ये दोनों बातें ही वैधानिक दृष्टि से राष्ट्रपति को निरंकुष व स्वेच्छाचारी होने से रोकने के लिये अपर्याप्त हैं । राष्ट्रपति अपने शासन-कार्य में लोकमत को दृष्टि में रखें, इसका यही क्रियात्मक उपाय है कि या तो वह पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी रहे, और या निर्वाचकों को यह अधिकार हो कि उसकी शासन नीति से असंतुष्ट होने की दशा में उसे वे राष्ट्रपति पद से पृथक कर सकें । जनता को राष्ट्रपति को अपने पद से हटाने का जो अधिकार होता है, उसे 'रिकॉल' (पुनरावर्तन) कहते हैं । संयुक्तराज्य अमेरिका के अन्तर्गत कतिपय राज्यों में निर्वाचित गर्वनरों को 'रिकॉल' करने की व्यवस्था की गई है । यही व्यवस्था स्विट्जरलैण्ड के अन्तर्गत कतिपय कैंटनों में भी है । पर संयुक्तराज्य अमेरिका का राष्ट्रपति निर्वाचकों द्वारा पुनरावर्तित नहीं किया जा सकता । अतः उसका स्वेच्छाचारी व निरंकुष हो सकना असम्भव नहीं समझा जा सकता ।

(4) प्रेजिडेन्शियल सिस्टम में यह स्पष्ट नहीं होता कि शासन व व्यवस्थापन में निर्बलता व बुराई के लिये वास्तविक रूप में उत्तरदायिता किसकी है । पार्लियामेंट में जो कानून व प्रस्ताव स्वीकृत होते हैं, उन्हें राष्ट्रपति या उसके मन्त्री उपस्थित नहीं करते । यदि पार्लियामेंट में कोई ऐसी बात स्वीकृत हो जाये, जो राज्य के लिये अहितकर सिद्ध हो, तो उसके सदस्य कह सकते हैं कि शासक वर्ग न उन्हें ठीक प्रकार से मार्ग-प्रदर्शन नहीं किया व अपने दृष्टिकोण को उनके सम्मुख नहीं रखा । राष्ट्रपति व उसके मन्त्री तो तो यह कह सकते ही हैं, कि उस अहितकर बात के स्वीकृत होने में हमारा कोई हाथ नहीं है । कैबिनेट सिस्टम में राज्य कार्य की सब उत्तरदायिता मन्त्रि-परिषद पर होती है, जो अपने प्रत्येक कार्य के लिये पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी मानी जाती है ।

विवेचना दृष्टि कैबिनेट और प्रेजिडेन्ट के अधीन शासनों के पक्ष और विपक्ष में जो युक्तियाँ प्रायः दी जाती हैं, उनका हमने संक्षेप के साथ उल्लेख कर दिया है । अब प्रश्न यह कि दोनों प्रणालियों में कौन-सी अधिक उत्तम है? प्रेजिडेन्शियल सिस्टम को संयुक्त राज्य अमेरिका और अमेरिकन महाद्वीप के कतिपय राज्यों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं अपनाया नहीं गया है । 1914-18 के महायुद्ध के बाद यूरोप में जो अनेक लोकतन्त्र राज्य स्थापित हुए, उन्होंने अपने संविधानों का निर्माण बहुत सोच-समझकर किया था । उनके सम्मुख दोनों प्रणालियाँ विद्यमान थीं, दोनों की सफलता व असफलता का इतिहास उनके सम्मुख था । पर उन्होंने कैबिनेट सिस्टम को ही अपने राज्यों के लिये अधिक उपयुक्त पाया । 1939-45 के महायुद्ध के बाद भी भारत आदि जिन राज्यों में नये लोकतन्त्र शासन स्थापित हुए, उन्होंने भी प्रेजिडेन्शियल सिस्टम को ही अपनाया । कैबिनेट सिस्टम को ही अपने लिये हितकर समझा । इसका कारण यह है कि मन्त्रि-परिषद के अधीन शासनों में शासन जनता के प्रति उत्तरदायी रहते हैं । वे तभी तक अपने पदों पर रह सकते हैं, जब तक जनता व उसके प्रतिनिधियों का विष्वास उन्हें प्राप्त रहे । वे सुगमता से स्वेच्छाचारी व निरंकुष नहीं हो सकते । साथ ही, इस

सिस्टम में सम्भव नहीं हैं। कैबिनेट सिस्टम के ये दो ऐसे गुण हैं, जिन्होंने उसे बहुत लोकप्रिय बना दिया है।

कैबिनेट सिस्टम के जिन दोषों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनमें से कतिपय लोकतंत्र पद्धति के ही दोष हैं। या यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि लोकतन्त्रवाद की सफलता के लिये जनता का नैतिक स्तर जितना ऊँचा होना चाहिए, उसके अभाव में ही वे दोष उत्पन्न होते हैं। वस्तुतः, कैबिनेट सिस्टम लोकतन्त्र शासन के लिये अधिक उपयुक्त है और यही कारण है कि वर्तमान समय में उसकी लोकप्रियता निरन्तर बढ़ रही है।

एकात्मक और संवर्गात्मक संघात्मक शासन एकात्मक शासन (यूनिटरी गवर्नमेंट)

राज्य की राजषक्ति का प्रयोग एक सरकार द्वारा होता है या अनेक सरकारों (केन्द्रीय और प्रादेशिक) द्वारा इस आधार पर शासन के दो भेद किए जाते हैं, एकात्मक और संवर्गात्मक। जिन राज्यों में संविधान (कॉन्स्टिट्यूशन) द्वारा संपूर्ण राजषक्ति एक सरकार के हाथों में निहित कर दी गई हो, और विविध स्थानीय सरकारें अपनी सब शक्ति इसी एक केन्द्रीय सरकार द्वारा प्राप्त करती हों, न केवल उनकी शक्ति अपितु सत्ता तक भी इसी एक केन्द्रीय सरकार के निर्णय पर निर्भर रहती हो, तो उनके शासन को 'एकात्मक' (यूनिटरी) कहा जाता है।

विशेषताएं – एकात्मक शासन की निम्नलिखित विशेषताएं उसके स्वरूप को भली-भांति स्पष्ट करती हैं—

1. संविधान के अनुसार सब राजषक्ति एक ही सरकार के पास होती है, राजषक्ति को एक से अधिक सरकारों में विभक्त नहीं किया गया होता। शासन की दृष्टि से राज्य को अनेक प्रान्तों व प्रदेशों में विभक्त किया जा सकता है, पर इन प्रान्तों की सरकारें अपनी सब शक्ति एक केन्द्रीय सरकार से ही प्राप्त करती हैं। संविधान के अनुसार उनकी कोई पृथक व स्वतंत्र शक्ति नहीं होती। यदि केन्द्रीय या राष्ट्रीय सरकार चाहे, तो अपनी इच्छानुसार, शासन की सुविधा की दृष्टि से प्रान्तों की सीमा में परिवर्तन कर सकती है, उनका निर्माण कर सकती है, उनके शासन प्रकार को बदल सकती है, और प्रान्तों की सरकारों की शक्ति को मर्यादित, नियंत्रित व परिवर्तित कर सकती है। प्रान्तों की सरकारें संविधान द्वारा प्रदान की गई किसी तात्त्विक, आधारभूत व स्वतंत्र शक्ति का प्रयोग नहीं करतीं, अपितु राष्ट्रीय सरकार पर निर्भर रहकर उस द्वारा प्रदान की गई शक्ति का ही प्रयोग करती हैं।

2. राज्य की प्रभुत्व – शक्ति अपनी अभिव्यक्ति के लिये केवल एक साधन (सरकार) का आश्रय लेती है, अनेक साधनों (सरकारों) का नहीं। संवर्गात्मक राज्यों में भी यद्यपि प्रभुत्व-शक्ति एक ही होती है, पर वह अपनी अभिव्यक्ति के लिये व अपनी इच्छा को क्रिया में परिणत कराने के लिये अनेक सरकारों का आश्रय लेती है। इसी कारण, उनमें संघ व संवर्ग के अन्तर्गत विविध राज्य भी संविधान के अनुसार पृथक व स्वतंत्र राजषक्ति प्राप्त करते हैं। पर एकात्मक राज्यों में सम्पूर्ण राजषक्ति एक ही सरकार में केन्द्रित रहती है, वही उसे प्रयुक्त करती है, और स्थानीय सरकारों के पास जो भी शक्ति होती है, वह इस एक केन्द्रीय सरकार की शक्ति का ही अंश होती है।

एकात्मक शासन के उदाहरण— यूरोप में ग्रेट ब्रिटैन, फ्रांस, इटली, बेल्जियम और हॉलैण्ड एकात्मक राज्यों के उत्तम उदाहरण हैं। एशिया में जापान, अफगानिस्तान, ईरान आदि एकात्मक शासन वाले राज्य हैं।

यूरोप में फ्रांस के उदाहरण द्वारा एकात्मक शासन के स्वरूप को भली-भांति स्पष्ट किया जा सकता है। शासन की दृष्टि में फ्रांस को 89 जिलों में विभक्त किया गया है, जिन्हें डिपार्टमेंट्स माँ कहते हैं। प्रत्येक जिले का एक अध्यक्ष व शासक होता है, जिसे प्रीफेक्ट कहा जाता है। उसकी नियुक्ति फ्रांस की केन्द्रीय सरकार द्वारा होती है, और वह गृहमंत्री के

निरीक्षण व नियंत्रण में अपना शासन कार्य करता है। उसकी सहायता के लिये तीन सदस्यों की एक कौंसिल और एक मुख्य सचिव (सेक्रेटरी – जनरल) की भी सत्ता होती है। साथ ही, प्रीफेक्ट का परामर्श देने के लिये एक प्रतिनिधि सभा (कौन्सिल – जनरल) भी होती है, जिसके सदस्यों की संख्या प्रान्त के अनुसार 17 से 67 तक रहती है। जिले के अन्तर्गत प्रत्येक कैण्टन इस प्रतिनिधि – सभा के लिये एक-एक प्रतिनिधि निर्वाचित करता है, जिसका कार्यकाल छः वर्ष तक होता है। इसके आधे सदस्य प्रति तीन वर्ष बाद अपने स्थान को रिक्त कर देते हैं, और उनके स्थान पर नये प्रतिनिधियों का निर्वाचन होता है। प्रतिनिधि सभा अपने सभापति का चुनाव स्वयं करती है। जिले के लिये राजकीय करों को निश्चित करना, शिक्षालय व अनाथालय आदि का प्रबन्ध करना, सड़कों व सार्वजनिक इमारतों का प्रबन्ध करना और इसी प्रकार के अन्य स्थानीय मामलों की व्यवस्था करना प्रतिनिधि – सभा का कार्य होता है। जिले या डिपार्टमेंट के अन्तर्गत अन्य विभाग होते हैं, जिन्हें परगना (एरोंदिस मॉ) कहते हैं। इनकी भी अपनी कौंसिलें होती हैं। एरोंदिस मॉ के अन्तर्गत अनेक कैण्टन होते हैं, जो फ्रांस में स्थानीय स्वशासन की सबसे छोटी इकाई हैं। इनके अतिरिक्त पेरिस, लियो आदि बड़े नगरों को भी अपना शासन स्वयं करने के लिये अनेक अधिकार प्राप्त हैं। पेरिस जैसे विषाल नगर की कौंसिल का तो केवल स्थानीय महत्व ही नहीं है, अपितु साथ ही राष्ट्रीय महत्व भी है। पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि फ्रांस में जिलों (डिपार्टमेंट), परगनों व नगरों की सरकारों को जो भी राजषक्ति प्राप्त है, वह राज्य के संविधान द्वारा प्राप्त नहीं हुई है। उसका आधार वे विभिन्न कानून हैं, जिनका निर्माण विविध समयों पर फ्रेंच पार्लियामेंट ने किया है। फ्रांस की पार्लियामेंट को यह अधिकार है कि वह इन कानूनों में परिवर्तन कर स्थानीय स्वशासन के स्वरूप को मौलिक रूप से बदल सके। अभिप्राय यह है कि फ्रांस के विविध प्रान्तों की सरकारें अपनी शक्ति को राष्ट्रीय सरकार से प्राप्त करती हैं, उनकी शक्ति राष्ट्रीय सरकार की शक्ति का ही एक अंश है।

फ्रांस के समान ग्रेट ब्रिटेन का शासन भी एकात्मक है। शासन की सुविधा की दृष्टि से राज्य को काउन्टी, बरो, पेरिष आदि अनेक विभागों में विभक्त किया गया है और स्वशासन के सम्बन्ध में भी इन्हें अनेक अधिकार प्राप्त हैं। पर इनकी विविध सरकारों की शक्ति पार्लियामेंट द्वारा स्वीकृत कानूनों पर निर्भर है। उनकी शक्ति ब्रिटेन की केन्द्रीय सरकार की शक्ति का ही अंश है। उनकी कोई पृथक व स्वतंत्र शक्ति नहीं है।

एकात्मक शासन का ब्रिटिश कालीन भारत भी उत्तम उदाहरण था। शासन की सुविधा की दृष्टि से भारत जैसे विषाल राज्य को अनेक प्रान्तों में विभक्त किया गया था इन प्रान्तों की अपनी पृथक सरकारें थीं। इनके पृथक गवर्नर, पृथक विधान-सभाएं व पृथक हाई कोर्ट थे। पर इन प्रान्तीय सरकारों की शक्ति का आधार केन्द्रीय सरकार से पृथक व स्वतंत्र नहीं था। इन्हें जो भी राजषक्ति प्राप्त थी, वह सब इन्हें केन्द्रीय सरकार से ही प्राप्त हुई थी, और ये उसी के प्रतिनिधि व एजेंट के रूप में अपने-अपने क्षेत्र में शासन करती थीं। 1919 के गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट के अनुसार भारतीय सरकार का स्वरूप स्पष्टतया एकात्मक था। प्रान्तों के भी जिलों और नगरों के रूप में अनेक विभाग किये गये थे। इन जिलों व नगरों को भी जिला बोर्डों व म्युनिसिपैलिटियों के रूप में स्थानीय स्वशासन सम्बन्धी बहुत से अधिकार प्रदान किये गये थे। पर प्रान्तों व जिला बोर्डों आदि की सरकारें अपनी सब शक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा ही प्राप्त करती थीं, और वैधानिक दृष्टि से उनकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं थी। 1935 के गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट द्वारा भारत के शासन को संवर्गात्मक बनाने की व्यवस्था की गई थी, पर इस एक्ट के संवर्ग सम्बन्धी अंश क्रिया में परिणत नहीं किए जा सके थे।

एकात्मक शासन के गुण और दोष एकात्मक शासन के गुण

1. एकात्मक शासन अधिक शक्ति सम्पन्न होते हैं, क्योंकि उनमें सम्पूर्ण राजषक्ति एक केन्द्र से केन्द्रित रहती है। सारे राज्य में एक कानून होता है, सब जगह एक राजकीय आदेश का पालन किया जाता है। इसके विपरीत, संवर्ग राज्यों में राजषक्ति केन्द्रीय सरकार और राज्यों की सरकारी में विभक्त रहती है। संवर्ग के अन्तर्गत विविध राज्यों में उनके अपने कानून

1. एकात्मक षासनों में स्थानीय स्वषासन की प्रवृत्ति नश्ट हो जाती है। सारी षक्ति एक केन्द्र में एकत्र रहती है, और यह सम्भव नहीं होता कि इस केन्द्र में सुदूरवर्ती प्रदेशों की स्थानीय समस्याओं का भली-भाँति समाधान किया जा सके। षासन की सुविधा की दृष्टि से राज्य को जिन प्रान्तों व जिलों में विभक्त किया जाता है, उसकी सरकारी कार्यवाही केन्द्रीय सरकार में एक कण्ठ से होती है। कानून बनाने में अधिकार के ही सिद्धि कि बिबिध नदियाम सभ्यताओं के अखण्डपत्र में केन्द्रीय सरकार का कठोर नियन्त्रण रहता है, और स्थानीय सरकार द्वारा निर्मित किसी कानून को क्रिया में परिणत करने के लिये प्रायः केन्द्रीय सरकार की अनुमति लेनी पडती

है, जिससे बहुधा असाधारण रूप से विलम्ब हो जाता है। फ्रांस में दिपार्त माँ विद्यमान हैं, उनकी अपनी सरकारें व अपनी कौंसिलें भी हैं। पर इन स्थानीय सरकारों की शक्ति बहुत मर्यादित है, और पेरिस की केन्द्रीय सरकार का उन पर कठोर नियंत्रण विद्यमान पार्लियामेंट से यह आशा कैसे की जा सकती है कि वह सुदूरवर्ती प्रदेशों की समस्याओं को भली-भाँति समझ सकेगी। जब भारत ब्रिटिश साम्राज्य का अंग था, और इस देश के लिए कानूनों का निर्माण लण्डन में स्थित ब्रिटिश पार्लियामेंट किया करती थी, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वह अनेक गलतियाँ करें। यही कारण है कि ब्रिटिश पार्लियामेंट में स्वीकृत हुए भारत सम्बन्धी कानून इस देश के निवासियों को स्वीकार्य नहीं प्रतीत होते थे। एकात्मक शासनों में स्थानीय स्वशासन के लिए प्रान्तों, जिलों व नगरों की स्थानीय स्वशासन संस्थाओं का निर्माण कर देने से भी यह समस्या भली-भाँति हल नहीं होती, कारण यह कि उनकी शक्ति व अधिकार बहुत सीमित होते हैं, और उनसे जनता यह अनुभव नहीं करती, कि वह अपनी आवश्यकताओं को अपनी इच्छानुसार पूर्ण कर सकती है और अपने लिए स्वतंत्रतापूर्वक कानून बना सकती है।

2. एकात्मक शासन में लोकतन्त्रवाद को क्रिया परिणत होने में बाधा उपस्थित होती है। सर्वसाधारण जनता की वास्तविक दिलचस्पी उन बातों में होती है, जिनका उसके साथ सीधे

घनिष्ठ सम्बन्ध हो। अपने प्रदेश, अपनी तहसील व अपने जिले के मामलों से जनता का जितना सम्बन्ध होता है, उतना सम्पूर्ण राज्य के मामलों से नहीं होता। पर अपने स्थानीय मामलों का स्वयं संचालन करने, बिना किसी बाह्य नियंत्रण के अपनी समस्याओं को स्वयं हल करने और अपने-आप शासन करने का अवसर जनता को एकात्मक शासनों में प्राप्त नहीं होता। एकात्मक शासनों में राजशक्ति का प्रयोग एक सुदूरवर्ती सरकार के हाथ में रहता है, जो अपने कर्मचारियों द्वारा सब राज्य कार्य करती है। इसे वास्तविक अर्थों में लोकतंत्र शासन नहीं कहा जा सकता।

3. एकात्मक शासन छोटे-छोटे राज्यों के लिए चाहे उपयुक्त हो, पर बड़े राज्यों के लिए उसे कदापि उपयुक्त नहीं समझा जा सकता।

4. जिन राज्यों की जनता में भाषा, नस्ल, धर्म आदि के आधार पर अनेक प्रकार की विभिन्नताएँ हों, उनमें तो एकात्मक शासन कभी सफल नहीं हो सकता। उनमें यही उचित होता है कि जनता की विभिन्नताओं को दृष्टि में रखकर अनेक राज्य बना दिए जाएँ, जो जहाँ अपना राज्यकार्य स्वयं करें, वहाँ साथ ही अपनी विभिन्न विशेषताओं को भी पृथक् रूप से विकसित करने में समर्थ हों। यह बात संघात्मक व संवर्ग राज्यों में सम्भव हो सकती है, एकात्मक राज्यों में नहीं।

संवर्ग शासन

जिन राज्यों में संविधान द्वारा राजशक्ति के प्रयोग को केन्द्रीय (संवर्ग) सरकार और संवर्ग के अन्तर्गत विविध राज्यों की सरकारों में विभक्त कर दिया जाता है, उनके शासन को संवर्गात्मक कहते हैं। संवर्गात्मक शासन की विशेषताओं को निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है

1. संवर्गात्मक शासनों में राज्य की प्रभुत्व शक्ति अपने को दो भागों में अभिव्यक्त करती है, एक संवर्ग (फ़ेडरल) सरकार में, और दूसरी संवर्ग के अन्तर्गत विविध राज्यों व प्रदेशों की सरकारों में। संवर्ग के अन्तर्गत विविध राज्यों की सरकारें अपनी राज शक्ति केन्द्रीय सरकार से प्राप्त नहीं करतीं, न ही उनकी शक्ति संवर्ग सरकार की शक्ति का अंशमात्र होती है। विविध राज्यों की सरकारों की राजशक्ति सर्वथा स्वतंत्र व पृथक् होती है, और उसका आधार वह संविधान होता है, जिसे राज्य की प्रभुत्वशक्ति का मूर्तरूप कहा जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि संवर्ग राज्य में ही प्रभुत्वशक्ति अभिव्यक्त हो सकती है पर उसे अभिव्यक्त करने के लिए वह जो साधन (एजेंट) प्रयुक्त करती है, वे दो होते हैं। एक तो संवर्ग की केन्द्रीय सरकार, और दूसरी संवर्ग के अन्तर्गत विविध राज्यों की अपनी-अपनी सरकारें।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संवर्ग राज्यों में जो विभिन्न प्रादेशिक विभाग (राज्य) होते हैं, उनका निर्माण केवल शासन की सुविधा को दृष्टि में रखकर ही नहीं किया जाता, और न ही उनपर उनकी सरकार का नियंत्रण व आधिपत्य होता है। उनकी सत्ता स्वतंत्र व पृथक होती है, और वे अपनी राजषक्ति उसी स्रोत (संविधान) से प्राप्त करती हैं, जिससे संवर्ग सरकार अपनी शक्ति प्राप्त करती है। इस प्रकार राज्यों की विविध सरकारें संवर्ग सरकार की अधीनस्थ सरकारें न होकर उसकी समकक्ष होती हैं।

2. संवर्ग सरकार के पास शासन के लिये कौन से विषय हों, और विविध राज्यों की सरकारों के शासन के लिये कौन-कौन से विषय हों, यह बात संविधान के अनुसार निश्चित होती है। प्रत्येक सरकार अपने-अपने क्षेत्र में सर्वोपरि होती है। राज्यों की सरकारें संवर्ग सरकार के अधीन न होकर अपने क्षेत्र में स्वतंत्र शक्ति रखती हैं, और इस कारण उनकी राजषक्ति अन्य किसी सत्ता के अधीन नहीं होती।

3. संवर्ग राज्यों में प्रत्येक व्यक्ति दो राज्यों का नागरिक होता है, एक तो संवर्ग राज्य का, दूसरा संवर्ग के अन्तर्गत उस राज्य का जिसमें उसका निवास हो। उसकी भक्ति व निष्ठा इन दो भिन्न-भिन्न सत्ताओं के प्रति होती है। वह दोनों के कानूनों को मानता है और दोनों टैक्स प्रदान करता संवर्गात्मक राज्यों में राजषक्ति का विभाजन – संवर्ग सरकार और विविध राज्यों की सरकारों में राजषक्ति का विभाजन करते हुए इस सिद्धान्त को दृष्टि में रखा जाता है कि जो विषय सबके साथ समान रूप से सम्बन्ध रखते हों, जिनका सम्बन्ध सर्व सामान्य हितों से हो, उन्हें, संवर्ग सरकार के हाथों में रखा जाये। वैदेशिक सम्बन्ध, सन्धि और विग्रह, राज्यों में परस्पर होने वाला व्यापार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, मुद्रा, पद्धति, पेटेन्ट और कॉपीराइट, आवागमन के साधन आदि ऐसे विषय हैं, जिन्हें प्रायः संवर्ग सरकार को दिया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से संवर्ग के अन्तर्गत राज्यों की कोई स्थिति नहीं होती। विदेशी सन्धियाँ आदि संवर्ग सरकार द्वारा ही की जाती हैं, और विदेशों में अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार भी केवल संवर्ग को ही होता है। विदेशों की दृष्टि में संवर्ग के अन्तर्गत विविध राज्यों की कोई भी स्वतंत्र व पृथक सत्ता नहीं होती। उनके लिये संवर्ग और एकात्मक राज्यों में कोई भेद नहीं होता। पर संवर्ग की आन्तरिक दृष्टि से उसके अन्तर्गत राज्यों की पृथक सत्ता होती है, और उनकी सरकारें अपने क्षेत्र में स्वतंत्र राज्यों की सरकारों के समान होती हैं।

संवर्ग और उसके अन्तर्गत विविध राज्यों में राजषक्ति का विभाजन करते हुए दो पद्धतियों का अवलम्बन किया जाता है। कुछ संवर्गों के संविधानों में उन सब विषयों का अविकल रूप से परिगणन कर दिया जाता है, जो संवर्ग सरकार के हाथ में रहेंगे। साथ ही, उन विषयों को भी गिना दिया जाता है, जो विविध राज्यों की सरकारों द्वारा शासित होंगे। पर जो विषय परिगणन से छूट गये हों, जिन्हें कि निश्चित रूप से संवर्ग सरकार या राज्यों की सरकारों के हाथ में न दिया गया हो, उनके सम्बन्ध में यह व्यवस्था कर दी जाती है कि वे विविध राज्यों की सरकारों के हाथों में माने जाएंगे। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में उन सब विषयों का परिगणन कर दिया गया है, जिनका शासन संवर्ग सरकार करेगी। उसके हाथ में दिए हुए विषयों के अतिरिक्त पेश सब विषय विविध राज्यों ने मिलकर अपने को संयुक्त राज्य अमेरिका के रूप में संगठित किया है, उन्होंने कुछ निश्चित राजषक्ति संवर्ग सरकार को प्रदान की है, और पेश को अपने पास रखा है। इसके विपरीत, कनाडा के संविधान के अनुसार जिन विषयों का परिगणन न हुआ हो, उन्हें केन्द्रीय संवर्ग-सरकार के हाथ में दिया हुआ माना गया है। स्वतंत्र भारत के नये संविधान में उन शक्तियों व अधिकारों का विशद रूप से परिगणन कर दिया गया है, जो राज्यों के पास रहेंगे और जो संघ (यूनियन) सरकार के हाथ में होंगे। जिन विषयों का परिगणन नहीं हुआ है, वे राज्यों की सरकारों के हाथ में न रहकर संघ सरकार के पास रहेंगे।

संवर्ग सरकार का नियंत्रण – अनेक संवर्ग राज्यों में संविधान द्वारा संवर्ग सरकार को यह शक्ति भी दी गई है कि वह विविध राज्यों की सरकारों पर अनेक प्रकार से नियंत्रण रख

सकें। संयुक्त राज्य अमेरिका में संवर्ग सरकार का यह कर्तव्य है कि वह उसके अन्तर्गत किसी राज्य में कोई ऐसी सरकार कायम न होने दे, जो गणराज्य (रिपब्लिक) से भिन्न प्रकार की हो। इसी प्रकार, 1919 में जर्मनी का जो संविधान बना था, उसमें संवर्ग सरकार का यह अधिकार दिया गया था कि वह इस बात की व्यवस्था करे कि विविध जर्मन राज्यों की सरकारें लोकतंत्र रहें, सब बालिग स्त्री पुरुषों को वोट का अधिकार प्राप्त हो, और सर्वत्र पार्लियामेंट शासन की पद्धति को अपनाया जाये। कनाडा की संवर्ग सरकार का यह अधिकार है कि वह विविध राज्यों की विधानसभाओं द्वारा स्वीकृत किये हुए कानूनों को क्रिया में परिणत होने की अनुमति देने से इंकार कर सकें। बेनेजला की केन्द्रीय सरकार को यह शक्ति प्राप्त है कि वह अपने अन्तर्गत विविध राज्यों की विधानसभाओं द्वारा स्वीकृत कानूनों को वीटों कर सके। भारत के नये संविधान के अनुसार विविध राज्यों के राज्यपालों (गवर्नरों) की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है, और भारत के राष्ट्रपति को यह अधिकार प्राप्त है कि वह विशेष परिस्थितियों व आपत्तिकाल में किसी भी राज्य के शासन को सीधे अपने नियंत्रण में ले सके, और उसमें विद्यमान विधानसभा व मन्त्रिपरिषद को बर्खास्त कर अपने अधीन शासन की व्यवस्था कर सकें। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संवर्ग के अन्तर्गत राज्यों की राजशक्ति यद्यपि संवर्ग की राजशक्ति से सर्वथा पृथक् व स्वतंत्र होती है, पर फिर भी उन पर संवर्ग सरकार का नियंत्रण किसी न किसी रूप में स्वीकार किया जाता है। राज्य की प्रभुत्वशक्ति की एकता के लिए यह उपयोगी भी है।

यदि संवर्ग के अन्तर्गत किसी राज्य में विद्रोह हो जाये, तो उसे शान्त करने के लिए संवर्ग सरकार हस्तक्षेप कर सकती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में यह व्यवस्था की गई है कि यदि कहीं आन्तरिक विद्रोह होने की दशा में उस राज्य की विधानसभा संवर्ग सरकार से सहायता की याचना करें, तो संवर्ग सरकार उसे सहायता अवश्य प्रदान करेगी। यदि विद्रोह के समय में विधानसभा का अधिवेशन न हो रहा हो, तो राज्य का गवर्नर भी संवर्ग सरकार से सहायता की याचना कर सकता है। पर यदि किसी राज्य के आन्तरिक विद्रोह ने इतना गम्भीर रूप धारण कर लिया हो कि उससे संवर्ग की शान्ति और व्यवस्था में बाधा उत्पन्न होने की संभावना हो, या राज्यों के पारस्परिक व्यापार व अन्य सम्बन्धों में विघ्न पड़ता हो, तो राष्ट्रपति को अधिकार है कि उस राज्य द्वारा सहायता की याचना न होने पर भी स्वयं उसमें हस्तक्षेप कर सके, और विद्रोह को शान्त करने के लिए शक्ति का भी प्रयोग कर सके।

जो संवर्ग सरकार के कानूनों की क्रिया में परिणत – संवर्गात्मक राज्यों में संवर्ग सरकार कानून बनाती है व जो आदेश देती हैं, उन्हें क्रिया में परिणत करने के लिए वह दो उपायों का अवलम्बन कर सकती है। (1) या तो वह अपने राज पदाधिकारी व कर्मचारी पृथक् रूप से रखे, जो उसके कानूनों को क्रिया में परिणत कराएं, टैक्स एकत्र करें और अन्य राजकीय विशयों का संचालन करें। (2) या संवर्ग सरकार अपने पृथक् कर्मचारी न रखकर सब काम विविध राज्यों के कर्मचारियों द्वारा ले।

संयुक्त राज्य अमेरिका में संवर्ग सरकार के अपने पृथक् कर्मचारी होते हैं। ब्राजील आदि अन्य अमेरिकन राज्यों में भी यही व्यवस्था है। पर स्विट्जरलैण्ड, जर्मनी (1919 – 44) और आस्ट्रिया (1978 – 38) में संवर्ग सरकारें अपने पृथक् राजकर्मचारी नहीं रखतीं, अपितु अपने अन्तर्गत विविध राज्यों की सरकारों के कर्मचारियों द्वारा ही अपना सब कार्य कराती हैं। पर इन राज्यों में भी वैदेशिक सम्बन्ध, आत्मरक्षा, मुद्रा पद्धति, आयात-निर्यात कर आदि सर्वसामान्य विशयों के लिए संवर्ग सरकार के अपने कर्मचारी होने की व्यवस्था है, क्योंकि इनका सम्बन्ध किसी एक राज्य के साथ न होकर सम्पूर्ण संवर्ग के साथ होता है।

संवर्गात्मक शासन के गुण और दोष :-

संवर्गात्मक शासन के गुण

है। संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्तर्गत जो बहुत से राज्य विद्यमान हैं, वे यदि पृथक रहते तो उन्हें वह शक्ति कदापि प्राप्त न होती, जो आज अमेरिकन संघ के कारण उनको प्राप्त है। यदि भारत के बंगाल, पंजाब, चेन्नई, कर्णाटक आदि विविध राज्य भारतीय संघ से पृथक होकर सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राज्य हो जाएं, तो उनकी शक्ति बहुत कम रह जायेगी। एक संगठन में संगठित हो जाने के कारण राज्यों को न केवल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बल मिल सकता है, अपितु अव्यवस्था व विद्रोह की दशा में उन्हें भरोसा रहता है कि संघ की सम्मिलित शक्ति उनकी सहायता के लिए उद्यत होगी। यदि पश्चिमी यूरोप के बेल्जियम, लक्सम्बुर्ग, फ्रांस आदि राज्य परस्पर मिलकर अपना एक संघ या संघर्ष बना लें, तो इससे उनकी शक्ति घटेगी नहीं। वे सब अपने का बाह्य और आभ्यन्तर दोनों क्षेत्रों में अधिक समर्थ व शक्तिशाली अनुभव करेंगे, और उनके लिए किसी भी बाह्य शत्रु से अपनी रक्षा कर सकना अधिक सुगम हो जायेगा। यदि भूटान जैसा छोटा राज्य कर्णाटक के समान भारतीय संघ में सम्मिलित हो जाये, तो इससे उसकी शक्ति और महत्ता में वृद्धि ही होगी, कमी नहीं।

2. संवर्गात्मक शासन द्वारा विविध राज्यों के लिए यह सम्भव होता है कि वे अपनी विभिन्नताओं और विशेषताओं को कायम रखते हुए एक विषाल राज्य के अंग बन सकें। भारत के संघ में जो राज्य सम्मिलित हैं, उन्हें इस बात का पूरा अवसर है कि वे अपनी भाषा, संस्कृति आदि का पूर्णरूप से विकास कर सकें। कर्णाटक के बहुसंख्यक निवासी इस्लाम के अनुयायी हैं, और उनकी भाषा कर्णाटकी है। पर अपनी इन विभिन्नताओं को विकसित करने की उन्हें पूर्णरूप से स्वतंत्रता है। बंगाल के लोग बंगला भाषा और उड़ीसा के लोग उड़िया भाषा का भारतीय संघ में रहते स्वतंत्रता के साथ विकास कर सकते हैं। इसी प्रकार रूस के सोवियत संघ में जो सोलह रिपब्लिक भी हुए अन्तर्गत हैं, उन्हें इस बात का पूरा अवसर है कि वे अपनी भाषा और संस्कृति का पूर्णरूपसे विकास कर सकें, और अपनी स्थानीय परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर ऐसे कानून बना सकें, जिन्हें वे अपने लिये उपयुक्त समझते हों। पर साथ ही, एक शक्तिशाली संघ के सदस्य होने के कारण आत्मरक्षा की दृष्टि से वे बहुत निश्चित रह सकते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उनका महत्व बढ़ जाता है। संघात्मक व संवर्गात्मक शासन ही एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा जनता की विभिन्नता और एकता के तत्वों में समन्वय होता है। संबंध व संघर्ष के रूप में उसकी एकता अभिव्यक्त होती है, और पृथक राज्यों के रूप में जनता की विभिन्नता को मूल रूप धारण करने का अवसर प्राप्त होता है। एकात्मक शासन में यह बात सम्भव नहीं है। वहां एक केन्द्रीय सरकार ही सारे राज्य के लिये कानून बनाती है। वह स्थानीय समस्याओं को भली-भांति नहीं समझ सकती, और न ही स्थानीय विभिन्नताओं को समुचित महत्व दे सकती है। यदि एकात्मक राज्य में विभिन्न जातियों के लोग निवास करते हों, आधारों पर आश्रित अन्य विभिन्नताएं हों, तो एक केन्द्र से कभी उसका शासन समुचित रूप में नहीं किया जा सकेगा। पर संवर्गात्मक शासन में राजशक्ति के प्रयोग का अधिकार संघर्ष सरकार और प्रादेशिक सरकारों में विभक्त हो जाता है। जहां संघर्ष सरकार सम्पूर्ण संघर्ष के साथ सम्बन्ध रखने वाले विषयों का शासन करती है, वहां प्रादेशिक सरकारें अपने-अपने राज्य में आन्तरिक विषयों का शासन करने की पूर्ण स्वतंत्रता रखती हैं। संघर्ष सरकार उन पर कोई ऐसा नियंत्रण नहीं रखती, जो उनकी आन्तरिक स्वतंत्रता में किसी भी प्रकार से बाधा डाल सके।

3. संवर्गात्मक शासन लोकतंत्रवाद के अधिक अनुकूल होते हैं, क्योंकि उनमें जनता की अपना शासन स्वयं करने का अधिक अवसर मिलता है। उनमें यह आवश्यकता नहीं होती कि स्थानीय समस्याओं के समाधान के लिये भी एक सुदूरवर्ती केन्द्रीय सरकार पर आश्रित हुआ जाये। संघर्ष के अन्तर्गत विविध राज्य अपने आन्तरिक विषयों का शासन स्वयं करते हैं। ये राज्य प्रायः छोटे-छोटे होते हैं, और इसीलिये इनकी जनता अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले मामलों की स्वयं व्यवस्था कर सकती है। रूस के सोवियत संघ के अन्तर्गत जो बड़े राज्य हैं, उनका स्वरूप भी रशियन रिपब्लिक, रूस के सोवियत संघ के अन्तर्गत अन्य बड़े राज्य स्वयं एक संवर्गात्मक है। ग्रेट संघर्ष हैं, जिसके अन्तर्गत अनेक छोटे राज्य हैं। इस प्रकार संवर्गात्मक राज्यों में लोकतंत्रवाद को बहुत अंश में क्रियान्वित किया जा सकता है।

यही कारण है कि संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्तर्गत विविध राज्यों में लोकतन्त्रवाद बहुत अंशों में क्रियान्वित किया जा सका है। अमेरिका के अनेक राज्य न केवल अपने गर्वनरों का चुनाव करते हैं, अपितु साथ ही अन्य पदाधिकारियों को भी चुनते हैं। कुछ राज्यों में तो न्यायाधीशों तक की नियुक्ति चुनाव द्वारा होती है। अनेक राज्यों में रिफरेन्डम और इनीशियेटिव की पद्धतियाँ भी विद्यमान हैं, जिनके कारण जनता जिन कानूनों को चाहे, स्वयं प्रस्तावित कर सकती है और नागरिकों से सीधा लोकमत लेकर उनको कानून का रूप दिया जा सकता है। यदि जनता किसी पदाधिकारी के कार्य से असन्तुष्ट हो, तो 'रिकॉल' की पद्धति द्वारा वह उसे अपने पद से पृथक् भी कर सकती है। यह बात एकात्मक राज्यों में संभव नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ सारी राजषक्ति एक केन्द्र में केन्द्रित रहती है, और यह केन्द्रीय सरकार जब एक बड़े राज्य पर शासन करती हो, तो उसमें लोकतन्त्रवाद को क्रियात्मक रूप देने वाली इन पद्धतियों को प्रयुक्त कर सकना सम्भव नहीं होता।

(4) संवर्गात्मक शासन में सारी राजषक्ति केन्द्रीय सरकार में निहित नहीं होती। इससे उसका बहुत हल्का हो जाता है। उसे यह जरूरत नहीं रहती कि स्थानीय समस्याओं पर विचार करने बोझ में अपनी शक्ति का अपव्यय करें। वह अपना सब समय व शक्ति राष्ट्रीय मामलों के विचार में लगा सकती है, और इससे राष्ट्रीय उन्नति में बहुत सहायता मिलती है।

(5) संवर्गात्मक शासन केवल बड़े राज्यों के लिए ही उपयुक्त नहीं होता, अपितु जिन छोटे राज्यों में भाषा, धर्म आदि की भिन्नताएं विद्यमान हों, उनमें भी यह बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। स्विट्जरलैण्ड छोटा-सा राज्य है। पर उसमें फ्रेंच, जर्मन और इटालियन भाषाओं को बोलने वाले लोगों का निवास है। ये भिन्न प्रकार के लोग जो एक राज्य में मिलकर निवास करते हैं, उसका प्रधान कारण वहाँ संवर्गात्मक शासन की सत्ता ही है।

(6) संवर्गात्मक शासन में इस बात की संभावना नहीं रहती कि कोई एक व्यक्ति या एक जनसमुदाय सारी राजषक्ति को अपने हाथ में करके एकतंत्र व श्रेणीतंत्र शासन की स्थापना कर सके। एकात्मक शासन में सब राजषक्ति का प्रयोग एक केन्द्र से होता है। अतः यह बात सरल होती है कि इस केन्द्र पर कोई एक व्यक्ति अपना अधिकार स्थापित कर ले। फ्रांस जैसे एकात्मक राज्य में पेरिस पर जिसका अधिकार हो, वही सारे देश का शासक हो जाता है। पर संवर्गात्मक राज्यों में राजषक्ति का प्रयोग अनेक सरकारों के हाथों में होने के कारण यह बात संभव नहीं होती।

संवर्गात्मक शासन के दोष दृ (1) एकात्मक शासन के जो गुण हैं, वे संवर्गात्मक शासन के दोष हैं। राजषक्ति की एकता के अभाव के कारण संवर्गात्मक शासनों में वह मजबूती व शक्ति नहीं होती, जो एकात्मक शासनों में होती है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी जिम्मेदारियों को पूरा कर सकना उनके लिए सुगम नहीं होता, यह हम दक्षिण अफ्रीका और संयुक्त राज्य अमेरिका के उदाहरण से ऊपर प्रदर्शित कर चुके हैं।

(2) केवल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ही संवर्गात्मक राज्य निर्बल नहीं होते, अपितु आन्तरिक क्षेत्र में भी वे शक्तिहीन होते हैं। जिन विषयों का शासन संवर्ग के अन्तर्गत विविध राज्यों के सुपुर्द होता है, उनमें यह स्वाभाविक है कि भिन्न-भिन्न राज्यों में पृथक् नीति का अनुसरण किया जाये और उनके कानून भी एक-दूसरे से भिन्न हों। संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्तर्गत विविध राज्यों में विवाह, तलाक, बीमा, हुंडी, बैंकिंग, अपराध आदि विषयों के कानूनों में बहुत भिन्नता पायी जाती है, क्योंकि इन विषयों का शासन विविध राज्यों के हाथ में है। अमेरिका में इस दोष को भली-भांति अनुभव किया जाता है। इसी लिए वहाँ एक कमीशन की नियुक्ति की गई थी, जिसे यह कार्य सुपुर्द किया गया था कि वह ऐसे कानूनों का मसविदा तैयार करें, जिन्हें सब राज्य एक-समान रूप से स्वीकार कर लें। इस कमीशन ने जो कानून तैयार किये, उन्हें विविध राज्यों की विधान-सभाओं में पेश करके स्वीकृत कराने का प्रयत्न किया गया, पर यह कोई सफल बात नहीं थी, कि अमेरिका के दर्जनों राज्यों में इन कानूनों को एक समान रूप से स्वीकृत कराया जा सके। अब तक भी बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जिनके कानून संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्तर्गत विविध राज्यों में न केवल एक-दूसरे से भिन्न है,

अपितु एक-दूसरे के विरोधी भी हैं। विविध राज्यों में कानूनों की भिन्नता के कारण राष्ट्रीय एकता में बाधा पहुंचती है, और इससे संघ की राष्ट्रीय शक्ति कुछ न कुछ निर्बल अवश्य हो जाती है। यही कारण है कि स्विट्जरलैण्ड, कनाडा, ब्राजील, ऑस्ट्रेलिया आदि अन्य संघीय राज्यों में विवाह, तलाक, बैकिंग, अपराध, बीमा, हुंडी आदि विषयों को विविध राज्यों के हाथों में न देकर संघीय सरकार के हाथ में दिया गया है। इस समय प्रवृत्ति यह है कि संघीय सरकार के हाथ में अधिक शक्ति रहे, और विविध प्रादेशिक सरकारों के पास केवल वही विषय रहें, जिनका सम्बन्ध उनके आन्तरिक मामलों से हो। संयुक्त राज्य अमेरिका तक में यह प्रवृत्ति विद्यमान है, कि संघीय सरकार को अधिक शक्तिशाली बनाया जाये और उसके पास अधिक विषयों का शासन रहे। पर इस प्रवृत्ति की सत्ता ही इस बात की पुष्टि प्रमाण है कि संघीय राज्य निर्बल होते हैं संघीय सरकार के हाथ में अधिक शक्ति दे देने का यह परिणाम निश्चित है कि उसका स्वरूप अधिकाधिक एकात्मक होता जायेगा।

(3) संघीय शासनों में निर्बलता का एक अन्य कारण यह होता है कि संघीय के अन्तर्गत विविध राज्यों के शासनों पर उनका नियंत्रण दृढ़ व मजबूत नहीं होता। ऐसा समय आ सकता है जबकि कोई राज्य संघीय के विरुद्ध विद्रोह कर दे या अनेक राज्य मिल कर संघीय सरकार की नीति का प्रतिरोध करने के लिये उद्यत हो जाएं। संयुक्त राज्य अमेरिका की संघीय सरकार ने जब दास-प्रथा का अन्त करने का निश्चय किया, तो अनेक राज्य उसकी इस नीति से सहमत नहीं थे। उन्होंने मिलकर संघीय सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, और कुछ समय बाद ही इस विद्रोह ने गृहयुद्ध का रूप धारण कर लिया। एकात्मक राज्यों में जहां राजशक्ति एक केन्द्रीय सरकार में केन्द्रित रहती है, बात सम्भव नहीं होती।

यह(4) संघीय शासनों में यह भी सम्भव होता है कि संघीय सरकार और प्रादेशिक सरकारों में इस बात पर मतभेद हो जाये कि कोई राजकीय विषय किसके क्षेत्र में आता है। ऐसा मतभेद उपस्थित हो जाने पर इन दो सरकारों में जो विरोध पैदा होगा, वह संघीय के सामूहिक हित के लिए अवश्य ही हानिकारक होगा। साथ ही, संघीय शासन अधिक खर्चीले होते हैं। उन्हें दो प्रकार के राज – पदाधिकारी रखने होते हैं, एक संघीय सरकार के अधीन और दूसरे प्रादेशिक सरकारों के अधीन। इससे राजकीय खर्च में निरर्थक वृद्धि होती है।

संघीय शासन का भविष्य – इतिहास में हम यह प्रवृत्ति देखते हैं कि छोटे-छोटे राज्य धीरे-धीरे परस्पर मिलकर बड़े राज्य का रूप धारण करते जाते हैं। संसार में पहले बहुत से छोटे-छोटे नगर – राज्य विद्यमान थे। ग्रीस, भारत, चीन, इटली, इंग्लैण्ड आदि सभी राज्य बहुत से छोटे-छोटे राज्य के रूप में परिणत हो सके, इसमें संघीय शासन पद्धति ने बहुत सहायता पहुंचायी। ग्रीक नगर-राज्यों ने मिलकर पहले अपने संघ (लीग) बनाए, जर्मन राज्य पहले संघटन (कॉन्फेडरेशन) और फिर संघीय (फिडरेशन) के रूप में संगठित हुए। संघीय राज्य में यह प्रवृत्ति होती है कि वे धीरे-धीरे एकात्मक राज्य के रूप में परिणत हो जाते हैं। वर्तमान युग में मनुष्य ने वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा देश और काल पर जो अद्भुत विजय प्राप्त की है, उससे इस प्रवृत्ति में और भी अधिक सहायता मिल रही है। वर्तमान परिस्थितियों के कारण अब यह सम्भव नहीं रहा है कि संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्तर्गत विविध राज्य अपनी स्वतंत्रता, पृथक् सत्ता व प्रभुत्व-शक्ति पर बहुत जोर दे सकें। उन्हें यही अधिक क्रियात्मक और उचित प्रतीत होता है कि उनका संघीयशासन अधिकाधिक शक्तिशाली होता जाये। वह समय आ सकता है, जब कि संयुक्त राज्य अमेरिका का स्वरूप एकात्मक हो जाये। यही बात कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, ब्राजील आदि के सम्बन्ध में भी सम्भव हो सकती है। 1935 के गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट द्वारा भारत को संघीय राज्य बनाने का प्रयत्न किया गया था। पर स्वतंत्र भारत का जो नया संविधान बना है, उसमें यद्यपि भारतीय गणराज्य को एक संघ बनाया गया है, पर उसमें भारत की केन्द्रीय संघ सरकार को बहुत अधिक शक्ति प्रदान की गई है। विविध राज्यों के शासन पर केन्द्रीय शासन का नियंत्रण बहुत सुदृढ़ रखा गया है, और राष्ट्रपति को यह अधिकार भी दिया गया है कि यदि उसकी सम्मति में किसी राज्य का शासन सुचारु रूप से न चल रहा हो, या

आन्तरिक विद्रोह आदि द्वारा कोई असाधारण परिस्थिति उत्पन्न हो गई हो, तो वह उस राज्य के शासन को सीधा अपने हाथ में ले ले। भारत का नया संविधान इस बात को सूचित करता है, कि आजकल की प्रवृत्ति एकात्मक शासन की ओर है। 1919 में जर्मनी का जो नया संविधान बना था, उसमें केन्द्रीय जर्मन सरकार को बहुत अधिक शक्ति दी गयी थी। संसार की वर्तमान परिस्थितियों में यह सर्वथा स्वाभाविक है कि संवर्गात्मक शासन एकात्मक शासन की ओर आगे बढ़ते जाएं। यह बात ऐतिहासिक प्रगति के सर्वथा अनुकूल है।

पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि संवर्गात्मक शासन का भविष्य उज्ज्वल नहीं है। यदि वर्तमान संवर्गात्मक राज्यों की प्रवृत्ति एकात्मक राज्यों के रूप में परिवर्तित होने की है, तो साथ ही नये संवर्गात्मक राज्यों के संगठन की प्रवृत्ति भी जोर पकड़ रही है। पश्चिमी यूरोप के विविध राज्य परस्पर मिलकर अपना एक संघ या संवर्ग बना लें, यह विचार निरन्तर जोर पकड़ रहा है। कोई आश्चर्य नहीं कि आत्मरक्षा के उद्देश्य से बेल्जियम, फ्रांस, लक्समबुर्ग आदि पश्चिमी यूरोप के राज्य पहले परस्पर मिलकर एक संघटन (कॉन्फेडरेशन) के रूप में संगठित हो जाएं, और फिर यह संघटन संवर्ग व संघ (यूनियन) का रूप धारण कर ले। यही प्रक्रिया समयान्तर में भारत, नेपाल, भूटान, सीलोन, म्यांमार, पाकिस्तान और अफगानिस्तान के सम्बन्ध में भी हो सकती है। ईजिप्ट और सीरिया के अरब राज्यों में इसी प्रवृत्ति के कारण संयुक्त अरब राज्य का संगठन हुआ था। संवर्गात्मक शासन पद्धति ने मानव इतिहास में छोटे राज्यों को संगठित कर विषाल राज्यों के विकास में बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस कार्य के क्षेत्र अब भी विद्यमान हैं, और भविष्य में भी संवर्गात्मक पद्धति राज्यों को संगठित करने के लिए महत्वपूर्ण कार्य कर सकती है। यह भी असम्भव नहीं है कि कोई ऐसा समय भी आ जाये, जबकि धीरे-धीरे संसार के सभी राज्य परस्पर मिलकर एक विषाल संवर्गात्मक राज्य के रूप में परिवर्तित हो जाएं। राष्ट्रसंघ और संयुक्त राज्य संघ के रूप में विष्व के विविध राज्यों में परस्पर मिलकर अपने समुदाय बनाने की जो प्रवृत्ति धीरे-धीरे विकसित हो रही है, वह भविष्य में अधिक बल पकड़ सकती है और वह समय भी आ सकता है, जबकि सम्पूर्ण मानव समाज एक विष्व संघ में संगठित हो जाये। इस स्वप्न की पूर्ति संवर्गात्मक शासन प्रणाली द्वारा ही हो सकेगी। यही इस प्रणाली का महत्व है।

अभ्यास—प्रश्न

सरकार के विभिन्न प्रकारों का विस्तृत विवरण दें।

1. अधिनायक तंत्र का क्या अर्थ है? इसकी विशेषताओं का वर्णन करें।
2. अधिनायक तंत्र के गुण-दोशों की समीक्षा करें।
3. कैबिनेट सिस्टम के गुण-दोशों का वर्णन करें।
5. प्रेजिडेंट सिस्टम क्या है? इसके गुण-दोशों को लिखें।
6. यूनिटरी एवं फेडरल शासन में क्या अन्तर हैं?
7. यूनिटरी तथा फेडरल शासन के गुण-दोशों की समीक्षा करें।

राजनीतिक दल तथा दबाव समूह (Political Parties and Pressure Groups)

परिचय (Introduction)

लोकतान्त्रिक राज्यों में स्वतन्त्र भाषण, अभिव्यक्ति, संघ व समुदाय बनाने की आज्ञा होती है, व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार के समूहों का निर्माण करते हैं। वर्तमान समय में सभी राज्यों में प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था प्रचलित है। इस शासन व्यवस्था के अन्तर्गत जनता द्वारा समूह या दल के कार्यक्रम के आधार पर अपने प्रतिनिधि चुने जाते हैं, जो शासन-कार्य का संचालन करते हैं। इस प्रकार लोकतान्त्रिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों का होना आवश्यक हो गया है। राजनीतिक दल का अर्थ एवं उसकी परिभाषाएँ

(Meaning and Definitions of Political Party)

राजनीतिक दल मूल समस्याओं के सम्बन्ध में विचारों की एकता पर आधारित ऐसे संगठित समुदाय होते हैं जिनके द्वारा अपने विचारों को कार्यरूप देने के लिए केवल संवैधानिक साधनों को ही अपनाकर शासन शक्ति पर प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है और जिनका उद्देश्य राष्ट्रीय हित में वृद्धि करना होता है।

राजनीतिक दल की परिभाषा के सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों ने भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किए हैं। यथा —

1. बर्फ के षब्दों में, “राजनीतिक दल व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जिसके सदस्य सामान्य सिद्धान्तों पर सहमत हों और सामूहिक प्रयत्नों द्वारा लोक-हित को प्रोत्साहित करने के लिए एकता सूत्र में बंधे हों।”
2. गेटेल के अनुसार, “राजनीतिक दल न्यूनाधिक संगठित उन नागरिकों का समूह होता है, जो राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं और जिनका उद्देश्य अपने मतदान बल के प्रयोग द्वारा सरकार पर नियन्त्रण करना व अपनी सामान्य नीतियों को कार्यान्वित करना होता है।”
3. गिलक्राइस्ट ने राजनीतिक दल को परिभाषित करते हुए लिखा है कि “राजनीतिक दल नागरिकों को ऐसे संगठित समूह को कहते हैं, जो राजनीतिक दृष्टि से समान विचारों के हों तथा जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करके शासन पर नियंत्रण करने की इच्छा रखते हों।”
4. मैकाइवर के षब्दों में, “राजनीतिक दल एक ऐसा समुदाय है जो किसी ऐसे सिद्धान्त अथवा ऐसी नीति के समर्थन के लिए संगठित हुआ हो, जिसे वह वैधानिक साधनों से सरकार का आधार बनाना चाहता हो।”

5. राबर्ट सी. बोन के अनुसार, “राजनीतिक दल व्यक्तियों का ऐसा संगठन है जो अपने उद्देश्यों को सरकार पर औपचारिक नियन्त्रण प्राप्त करके समाज में मूल्यों के अधिकाधिक वितरण में प्राथमिकता की मदें (क्षतपक्षतपक्षल पक्षमते) बनाने का प्रयत्न करता है । ”

इस परिभाषा में न केवल राजनीतिक दल की संरचना का स्पष्टीकरण होता है, बल्कि उसके उद्देश्य, कार्य और कार्यविधि का भी बोध हो जाता है । यह परिभाषा उपर्युक्त मानी जा सकती है । इसी परिभाषा से मिलती-जुलती परिभाषा ला – पालोम्बरा की है ।

6. ला – पालोम्बरा के शब्दों में, “राजनीतिक दल एक औपचारिक संगठन है जिसका स्व-चेतना व प्रमुख उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों को सार्वजनिक पदों पर पहुँचाना व उन पर बनाये रखना है जो अकेले या किसी से मिलकर शासनतंत्र पर नियंत्रण रखेंगे ।”

राजनीतिक दलों की विशेषताएँ (लक्षण) या मूल तत्त्व

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर राजनीतिक दलों की निम्नलिखित विशेषताएँ तथा उसके मूल तत्व बताये जा सकते हैं

1. सामान्य सिद्धान्त की एकता – व्यक्तियों का जो समूह अपने आपको राजनीतिक दल में संगठित करना चाहता है, उनमें आधारभूत सिद्धान्तों पर मतैक्य होना चाहिए, यद्यपि सिद्धान्तों की व्यापक व्याख्या में उनमें मतभेद हो सकते हैं । दूसरे शब्दों में, राजनीतिक दल का कोई निश्चित सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक कार्यक्रम हो और उस कार्यक्रम के विषय में उस दल के सदस्य एकमत हों ।

2. दल के सदस्यों का संगठन दृ किसी भी राजनीतिक दल के निर्माण की एक अन्य शर्त यह है कि दल के सदस्य संगठित हों । जब तक सार्वजनिक प्रश्नों के विषय में एक-सा मत रखने वाले नागरिक संगठित न होंगे तब तक उनको राजनीतिक दल की संज्ञा नहीं दी जा सकती । बिना संगठन के उन लोगों में न तो अनुशासन होगा और नही उनमें किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक होकर कार्य करने की भावना होगी ।

3. संवैधानिक साधनों में विश्वास राजनीतिक दल के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी नीति और कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के लिए संवैधानिक मार्ग का ही अनुसरण करें । संवैधानिक साधनों, जैसे मतदान और मतदान के निर्णय, में उनको विश्वास होना आवश्यक है । गुप्त उपाय या सशस्त्र क्रान्ति, उपद्रव आदि का उन्हें सहारा नहीं लेना चाहिए । उन्हें राजनीतिक शिक्षा और प्रचार द्वारा जनमत अपने पक्ष में कर व्यवस्थापिका में बहुमत प्राप्त करके ही सत्ता प्राप्त करनी चाहिए ।

4. सत्ता प्राप्ति की लालसा

प्रत्येक राजनीतिक दल का उद्देश्य अन्ततः राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना होता है । यदि कोई संगठन शासन के बाहर रहकर कार्य करता है तो उसे राजनीतिक दल नहीं कहा जायेगा । दूसरे शब्दों में, राजनीतिक दल का एक लक्षण यह है कि राष्ट्रीय और स्थानीय दोनों ही स्तरों पर नेताओं का न केवल सत्ता के प्रयोग को प्रभावित करने वरन् सत्ता प्राप्त करने और अकेले या किसी अन्य दल से मिलकर सत्ता बनाए रखने की स्वचेतना हो ।

5. राष्ट्रीय हितों में वर्ध् के लिए प्रयत्नशील – राजनीतिक दल के किसी जाति, धर्म या वर्ग के हित को ध्यान में रखकर नहीं वरन् राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखते हुए कार्य करना चाहिए । बर्क ने इसलिए राजनीतिक दल की परिभाषा करते हुए उन्हें “राष्ट्रीय हित की वर्ध् के लिए संगठित राजनीतिक समुदाय” कहा है ।

6. सदस्यों में सम्पर्क – प्रत्येक राजनीतिक दल के नेताओं और सदस्यों में घनिष्ठ और नियमित सम्पर्क होना चाहिए, जिसमें समस्याओं पर व्यापक और लोकतान्त्रिक ढंग से विचार-विमर्श

हो सके। दल की केन्द्रीय इकाई और स्थानीय इकाइयों में भी नियमित, निरन्तर और घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए।

राजनीतिक दलों के कार्य अथवा भूमिका

Functions or Role of Political Parties

लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों के कार्यों एवं उनकी भूमिका का विवेचन अग्रलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत किया गया है

1. राजनीतिक प्रक्रिया को संगठित करना राजनीतिक दल विभिन्न और बिखरे हुए लोगों को एकत्रित कर उनकी भौगोलिक दूरी कम कर उनमें पारस्परिक सम्पर्क कराते हैं। दल विभिन्न हितों को अभिव्यक्ति के साधन प्रदान कर उनमें सामंजस्य उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दल राजनीतिक प्रक्रिया को संगठित, सरल और स्थिर बनाते हैं

2. लोकमत का निर्माण – राजनीतिक दल सार्वजनिक समस्याओं को जनता के सम्मुख इस प्रकार रखते हैं कि उन्हें आसानी से समझा जा सके। इस प्रकार जनता उन्हें भली प्रकार समझ कर निर्णय लेने की स्थिति में पहुँच जाती है। लॉर्ड ब्राइस के शब्दों में, “लोकमत को प्रशिक्षित करने, उसके निर्माण और अभिव्यक्ति में राजनीतिक दलों के द्वारा अत्यधिक महत्वपूर्ण कार्य किया जाता है।” एक अन्य स्थान पर ब्राइस ने लिखा है कि – “जिस प्रकार ज्वार-भाटा महासागर के जल को ताजा और तरंगित रखता है, उसी प्रकार राजनीतिक दल राष्ट्र के मस्तिष्क को ताजा तरंगित रखते हैं।”

3. नेताओं की भर्ती और सामाजिक एकीकरण ला पालोम्बारा ने अपनी पुस्तक ‘पॉलिटिक्स विद इन नेषन्स (चुनपजपबेपजीपद छंजपवदे) में कहा है कि नेताओं की भर्ती तथा सामाजिक एकीकरण राजनीतिक दलों का एक प्रमुख कार्य है। उनका कहना है कि हर राजनीतिक व्यवस्था में विभिन्न सरकारी पदों के नेतृत्वकर्ताओं की भर्ती तथा चयन की व्यवस्था करनी होती है। राजनीतिक दल इसको संस्थागत सुविधा व साधन उपलब्ध कराते हैं। दलों के बिना नेताओं का चयन का कार्य अत्यन्त दुरूह है।

एलेन बाल ने दलों के सामाजिक एकीकरण के कार्य को महत्वपूर्ण बताते हुए कहा है, “राजनीतिक दलों के अत्यधिक महत्वपूर्ण कार्यों में से एक कार्य राजनीतिक प्रक्रिया को जोड़ना, सरल करना और स्थिर बनाना है, दल समाज को जोड़ते हैं, क्षेत्रीय हितों को एक-दूसरे के करीब लाते हैं, भौगोलिक दूरियों का निवारण करते हैं और विभक्त करने वाली शासन संरचनाओं में सामंजस्य स्थापित करते हैं।”

4. निर्वाचन सम्बन्धी कार्य

आज की लोकतान्त्रिक व्यवस्था का आधार चुनाव है और चुनावों का आधार राजनीतिक दल हैं, जिसके बिना लोकतन्त्र दिशाहीन बन जायेगा। निर्वाचन के लिए प्रणाली दल के आधार पर खड़े किये जाते हैं, उनके लिए दल व्यय और प्रचार करता है। राजनीतिक दल अपना-अपना चुनाव घोषणा पत्र निकालते हैं, जिनके आधार पर मतदाता मत देते हैं। विधानमण्डल में दलीय बहुमत शासन को स्थिरता देता है और विधि निर्माण में सहायता देता है।

इस प्रकार चुनावों में तथा चुनावों के बाद भी राजनीतिक दल महत्वपूर्ण राजनीतिक भूमिका निभाते हैं। डॉ. फाइनर के शब्दों में, “राजनीतिक दलों के बिना निर्वाचक या तो नितान्त असहाय हो जायेंगे या उनके द्वारा असम्भव नीतियों को अपनाकर राजनीतिक तन्त्र को

नष्ट कर दिया जायेगा ।” 5. सरकार का निर्माण – निर्वाचन के बाद जिस दल को बहुमत प्राप्त होता है, वह दल सरकार बनाता है और अन्य दल विपक्ष के रूप में कार्य करते हैं। अध्यक्षतात्मक व्यवस्था में राष्ट्रपति अपनी इच्छानुसार व उससे सहमति रखने वाले व्यक्तियों को मन्त्रिपरिषद् में लेता है। संसदात्मक प्रणाली में मन्त्रि-परिषद् व्यवस्थापिका में अपने राजनीतिक दल के समर्थन के आधार पर ही सत्ता में रह सकती है। इस प्रकार बिना राजनीतिक दलों के सरकार का निर्माण और शासन – संचालन असम्भव है।

6. विपक्ष के रूप में कार्य करके शासन सत्ता को मर्यादित करना शासन व्यवस्था में जो दल सत्ता में नहीं होता है, उसके भी महत्वपूर्ण कार्य होते हैं। अल्पसंख्यक दल विरोधी दल के रूप में कार्य करते हुए शासक शक्ति को सीमित या मर्यादित करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। अल्पदल छाया मन्त्रिमण्डल के रूप में शासन बनाने का विकल्प प्रस्तुत करता है। संगठित विरोधी दल के आभाव में शासक दल अधिनायकवादी रुख अपना सकता है। जेनिंग्स के शब्दों में, “जब तक विपक्ष विद्यमान है तक कोई शासन अधिनायक तन्त्र ही नहीं सकता।”

7. सरकार के विभिन्न विभागों में समन्वय व सामंजस्य अध्यक्षतात्मक शासन प्रणाली वाले देशों में, जहाँ पर व्यवस्थापिका और कार्यपालिका शासन के पृथक अंग होते हैं, राजनीतिक दलों की सहायता के बिना शासन का ठीक संचालन सम्भव नहीं है। अमरीका में दलीय व्यवस्था ने ही कार्यपालिका और व्यवस्थापिक के मध्य सहयोग स्थापित कर रखा है। दूसरी ओर, संसदीय शासन प्रणाली में दलीय अनुशासन की विधि निर्माण और शासन संचालन को सम्भव बनाता है।

8. राजनीतिक चेतना में वृद्धि करना – राजनीतिक दल नागरिकों को सार्वजनिक मामलों में रुचि लेने के लिए प्रेरित करते हैं। राजनीतिक साहित्य, मंच, भाषण, व्यक्तिगत सम्पर्क, प्रेस रेडियो, मनोरंजन के साधनों द्वारा उदासीन व अनभिज्ञ मतदाताओं को जागरूक और क्रियाशील बनाते हैं। डॉ. आषीर्वादम् के अनुसार, “दल लोकतन्त्र जागरूक और क्रियाशील बनाते हैं। डॉ. आषीर्वादम् के अनुसार, “दल लोकतन्त्र के आधार पर सामान्य इच्छा के निर्माण एवं विकास को सम्भव बनाते हैं।” इसके अतिरिक्त विपक्ष और कभी-कभी सत्ताधारी दल के सदस्यों द्वारा सरकारी नीतियों की आलोचना, विधानमण्डल में प्रश्न, स्थगन प्रस्ताव, निन्दा या अविश्वास प्रस्ताव और भ्रष्टाचार तथा घोटालों का भण्डाफोड़ आदि के द्वारा भी नागरिकों की राजनीतिक चेतना और रुचि में वृद्धि करते हैं, जिसमें वे जागरूक हो जाते हैं।

9. जनता और शासन के बीच कड़ी जनता और शासन के बीच सम्पर्क का रहना प्रजातन्त्र का आधारभूत सिद्धान्त है। वर्तमान प्रतिनिध्यात्मक लोकतांत्रिक शासन व्यवस्थाओं में यह कार्य राजनीतिक दलों द्वारा ही सम्पन्न किया जाता है। एक ओर तो वे शासन की नीतियों, कार्यक्रमों तथा उपलब्धियों को जनता को समझाते हैं। दूसरी ओर नागरिकों की समस्याओं, कठिनाइयों और शिकायतों को सरकार तक पहुँचाते हैं। प्रो. बार्कर के अनुसार, “राजनीतिक दल एक ऐसे पुल का कार्य करते हैं, जिसका एक छोर समाज को छूता है और दूसरा राज्यों को।”

10. सत्ता का वैधीकरण शासन सत्ता का उपयोगकरने का औचित्य रखते हैं या नहीं, इसकी जाँच का माध्यम तो है – नियतकालिकनिर्वाचनय और दो चुनावों के बीच में शासन सत्ता की वैधता रखते हैं या नहीं, इस कार्य कोजनता की तरफ से राजनीतिक दल पूरा करते हैं। राजनीतिक दल ही जबर्दस्ती हथियारीसत्ता को वैधीकरण के लिए जनता के सामने रखवाते हैं। निरंकुष सत्ताओं में भी इसी वैधीकरण के लिए एक राजनीतिक दल की व्यवस्था की जाती है। निरंकुष शासक समय-समयपर चुनावों का दिखावा सत्ता के वैधीकरण के लिए करते हैं। अतः स्पष्ट है कि राजनीतिक

दल सत्ता के वैधीकरण के प्रमुख माध्यम हैं, साथ ही साथ से इस बात की व्यवस्था भी करते हैं कि सत्ता की वैधता का कार्य निरन्तर चलता रहे ।

11. आधुनिकीकरण का उपकरण – राजनीतिक दल सत्ता में आने पर सत्ता में बने रहने के लिए आधुनिकीकरण की आवश्यकताओं के महत्वपूर्ण पूरक तथा प्रेरक बन जाते हैं, वे समाज के नव-निर्माण में लग जाते हैं। ला – पालोम्बरा तथा माइरन वीनर ने लिखा है कि, “राजनीतिक दलों का भविष्य इस बात पर निर्भर करता है कि वे और उनकी सरकारें राजनीतिक विकास के संकट का सामना करने में कहाँ तक सफल रहती हैं।”

इस प्रकार राजनीतिक दलों द्वारा शासन – व्यवस्था से सम्बन्धित सभी प्रकार के कार्य किये जा सकते हैं। प्रो. मेरियम ने लिखा है कि “राजनीतिक दलों का कार्य अधिकारी वर्ग का चुनाव करना, लोक नीति का निर्धारण करना, सरकार को चलाना और उसकी आलोचना करना, राजनीतिक शिक्षण और व्यक्ति एवं सरकार के बीच मध्यस्थता का कार्य करना है।”

दल प्रणाली के तीन प्रमुख रूप दल प्रणाली के मुख्य रूप से तीन रूप प्रचलित हैं। ये हैं— (1) एक – दलीय प्रणाली, (2) द्वि- दलीय प्रणाली और (3) बहुदलीय प्रणाली । यथा (1) एकदलीय प्रणाली – जिस देश में केवल एक ही राजनीतिक दल हो और शासन की शक्ति का प्रयोग करने वाले सभी सदस्य इसी एक राजनीतिक दल के सदस्य हों, तो वहाँकी दल प्रणाली को एक – दलीय प्रणाली कहा जाता है ।

किसी राज्य में एक – दलीय व्यवस्था निम्नलिखित तीन रूपों में हो सकती है

(क) जब संविधान द्वारा किसी एक ही दल को मान्यता प्रदान की गई हो और अन्य दलों के संगठनों को निरोध कर दिया गया हो। जैसे – साम्यवादी शासन वाले राज्यों में संविधान द्वारा केवल साम्यवादी दल को ही मान्यता दी जाती है।

(ख) जब संविधान द्वारा तो अन्य राजनीतिक दलों का निषेध नहीं किया जाता, लेकिन शासक दल संविधानेतर उपायों से अन्य राजनीतिक दलों का दमन कर शासन शक्ति पर एकाधिकार कर लेता है, तो उसे भी एकदलीय व्यवस्था कहेंगे ।

(ग) यदि किसी राज्य में एक से अधिक राजनीतिक दल हों, लेकिन राजनीतिक प्रभाव की दृष्टि से अन्य राजनीतिक दलों की स्थिति नगण्य हो तो इसे भी व्यवहार में एक –दलीय प्रणाली वाला राज्य कहा जायेगा ।

एक – दलीय प्रणाली के गुण

एक दलीय प्रणाली के प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं—

(प) राष्ट्रीय एकता की प्राप्ति व रक्षा एक – दलीय व्यवस्था सम्पूर्ण जनता के विभिन्न विरोधी हितों में एकता स्थापित करती है । यह जनता को राष्ट्रीय हित की प्राप्ति के लिए वर्गीय हितों को त्यागने की प्रेरणा देती है । इस प्रकार एक दलीय प्रणाली राष्ट्रीय एकता की प्राप्ति एवं रक्षा में सहायक होती है।

(पप) दृढ़ षासन संभव — एक — दलीय प्रणाली में षासन के तीनों अंगों में एकता पायी जाती है तथा षक्ति का केन्द्रीकरण होने के कारण दल षासन का दृढ़तापूर्वक संचालन करता है

राजनीतिक सिद्धान्त

राजनीतिक स्थिरता दृ एक — दलीय व्यवस्था में सत्ता को किसी प्राकर की चुनौती नहीं मिलती है । अतः इस व्यवस्था में राजनीतिक स्थिरता प्राप्त होती है जिसके कारण दीर्घ कालीन आर्थिक नीतियाँ बनायी जा सकती हैं और उन्हें शांतिपूर्वक लागू करवाया जा सकता है। इससे राष्ट्र का तीव्र विकास होता है।

अनुषासन की स्थापना

एक — दलीय प्रणाली में षासन के किसी प्रकार के विरोध समूह

को स्वीकार नहीं किया जाता है और सरकारी कर्मचारी, व्यापारी, विद्यार्थी आदि सभी अनुषासनपूर्वक षासन की आज्ञाओं का पालन करते हैं।

एक — दलीय प्रणाली के दोष

एक — दलीय प्रणाली के प्रमुख अवगुण निम्नलिखित हैं।

(प) अलोकतांत्रिक प्रणाली एक — दलीय प्रणाली पूर्णतः लोकतंत्र विरोधी प्रणाली है। लोकतंत्र के लिए बहुलवादी और खुले समाज की जरूरत होती हैं और खुले चुनावों, जनमत निर्माण के स्वतंत्र साधनों तथा एक से अधिक राजनीतिक दलों की जरूरत होती है तथा लोकतंत्र के लिए सत्ता के विकेन्द्रीकरण का होना भी आवश्यक है। किन्तु एक — दलीय प्रणाली इन सब तथ्यों का विरोध करते हुए एकत्ववादी समाज तथा केन्द्रीकृत षासन व्यवस्था की स्थापना करती है।

(पप) अनुत्तरदायी षासन

एक — दलीय प्रणाली में राजनीतिक दल षासन की षक्ति का पूर्ण एवं मनमाना प्रयोग करने के लिए स्वतंत्र होता है। अतः यह व्यवस्था अनुत्तरदायीपूर्ण षासन को जन्म देती है।

(पपप) राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा — एक दलीय प्रणाली में दलों के उच्च पदाधिकारियों का षासन सत्ता पर पूर्ण अधिकार होता है और वे राष्ट्रीय हितों के नाम पर दलीय हितों की पूर्ति करते हैं। इससे राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा होती है।

(पअ) विरोधियों का दमन एक — दलीय प्रणाली सभी प्राकर के विरोधियों के दमन में विष्वास रखती है और उन्हें यातना देती है।

(अ) अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिए हानिकारक

एक — दलीय प्रणाली वाले राज्य कठोर विदेश नीति तथा युद्ध — प्रिय नीति में विष्वास रखते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की उपेक्षा करने में गौरव अनुभव करते हैं। इसलिए यह प्रणाली अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए हानिकारक है।

(2) द्वि—दलीय प्रणाली जब किसी देश की राजनीतिक व्यवस्था में केवल दो ही प्रमुख राजनीतिक दल होते हैं, तो उसे द्वि—दलीय प्रणाली कहते हैं।

द्वि—दलीय प्रणाली वाले राज्यों में दो से अधिक राजनीतिक दलों के गठन पर कोई वैधानिक प्रतिबन्ध नहीं होता है: दो से अधिक राजनीतिक दल हो सकते हैं लेकिन वे इतने छोटे होते हैं कि राजनीति पर उनका विशेष प्रभाव नहीं होता और उन्हें षासन में भागीदारी प्राप्त नहीं होती। उदाहरण के लिए, इंग्लैंड में दो प्रमुख राजनीतिक दल हैं— अनुदार दल (कंजर्वेटिव पार्टी) और श्रमिक दल (लेबर पार्टी)। इनके अतिरिक्त उदार दल तथा क्षेत्रीय

राष्ट्रवादी दल भी हैं, लेकिन उनका राजनीति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं है। इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका में भी दो प्रमुख राजनीतिक दल – रिपब्लिकन दल और डेमोक्रेटिक दल हैं।

द्वि-दलीय प्रणाली के गुण

द्वि-दलीय प्रणाली के प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं

(प) जनता की इच्छा के अनुसार सरकार का निर्माण द्वि-दलीय प्रणाली में जनता की स्पष्ट इच्छा के अनुसार सरकार का निर्माण होता है। निर्वाचनों में जनता जिस दल को बहुमत प्रदान करती है, उसी के नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया जाता है। जिस दल को अल्पमत मिलता है, वह विरोधी दल का स्थान ग्रहण करता है। अतः जनता की इच्छा के अनुसार सरकार बनती है।

(पप) स्थिर सरकार – द्वि-दलीय प्रणाली में मंत्रिमंडल को इस बात का आश्वासन रहता है कि उसकी नीतियों का कार्यों का समर्थन करने के लिए व्यवस्थापिका का बहुमत सदैव उसके साथ है तथा उसके द्वारा व्यवस्थापिका में जो भी विधेयक प्रस्तुत किया जायेगा, व्यवस्थापिका उसे असानी से स्वीकार कर लेगी। इससे प्रशासन में स्थायित्व बना रहता है

उत्तरदायित्व का निर्धारण – द्वि-दलीय प्रणाली वाले देशों के शासन द्वारा किये गये अच्छे या बुरे कार्यों के लिए उत्तरदायित्व व निर्धारण सरलता से हो जाता है। सत्तारूढ़ दल उन सभी त्रुटियों के लिए दोषी ठहराया जाता है जो इसके शासनकाल में होती है।

(पअ) मन्त्रिमण्डल के निर्माण में सरलता द्वि-दलीय शासन प्रणाली में मन्त्रिमण्डल बनाने में कोई कठिनाई नहीं होती है क्योंकि इसमें बहुमत प्राप्त दल सरकार बनाता है तथा शासन शक्ति का उपयोग करता है।

द्वि-दलीय प्रणाली के दोष

द्वि-दलीय प्रणाली के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं

(प) एक दल की तानाशाही की स्थापना द्वि-दलीय पद्धति के अन्तर्गत शासन के ऊपर एक दल की तानाशाही स्थापित हो जाती है। एक बार जनता का बहुमत प्राप्त कर लेने के बाद सत्तारूढ़ दल अपनी मर्जी से निर्धारित समय तक बिना किसी की परवाह किए हुए शासन करता चला जाता है। अल्पमत प्राप्त दल केवल आलोचना कर सकता है। वह सरकार को किसी कार्य को करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता।

(पप) सभी हितों व वर्गों का प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं होता – द्वि-दलीय प्रणाली में केवल दो ही दल होते हैं जो केवल दो वर्गों या हितों को पूरा करते हैं जिससे कि अन्यो को ही प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता।

(पपप) मतदाता की पसंदगी का सीमित होना – द्वि-दलीय प्रणाली में देश में केवल दो ही राजनीतिक दल होने के कारण मतदाता की पसन्द सीमित हो जाती है।

(3) बहु-दलीय प्रणाली – यदि किसी देश की राजनीति में काफी बड़ी संख्या में राजनीतिक दल हों, तो उसे बहुदलीय प्रणाली कहा जाता है। भारत और फ्रांस इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

बहु – दलीय व्यवस्था में यदि संसदीय व्यवस्था को अपनाया जाता है तो कोई भी राजनीतिक दल अकेले ही मंत्रिमंडल का निर्माण करने की स्थिति में नहीं होता है और

मिले-जुले मंत्रिमंडल का निर्माण किया जाता है। वर्तमान में भारत में यही स्थिति विद्यमान है।

बहुदलीय व्यवस्था के गुण

राजनीतिक सिद्धान्त

बहु – दलीय व्यवस्था के गुणों का विवेचन निम्नलिखित बिन्दुओं के अर्न्तगत किया गया है

(प) पसंदगी का व्यापक क्षेत्र – बहुदलीय व्यवस्था में पसंदगी का क्षेत्र अनेक दलों के माध्यम से व्यापक हो जाता है। इसमें मतदाताओं को उन दलों के प्रत्याषियों को मत देने का अधिक अवसर मिलता है जो उनके विचारों के अधिक निकट होते हैं। इसमें मतदाताओं की स्वतंत्रता का दायरा बढ़ जाता है।

(पप) सभी वर्गों व हितों का व्यवस्थापिका में प्रतिनिधित्व – बहु- दलीय व्यवस्था में समाज के सभी वर्गों और हितों को विधानमण्डल में प्रतिनिधित्व का अवसर मिल जाता है। इस प्रकार राष्ट्र के सभी वर्गों के विचारों को वहाँ सुना जा सकता है। इसमें मंत्रिमण्डल संयुक्त या मिले-जुले दलों के होते हैं। अतः अल्पमत समूहों को अपने हितों की रक्षा हेतु सौदेबाजी करने का अवसर मिल जाता है।

(पपप) निरंकुष बहुमत से मुक्ति दृ बहुदलीय प्रणाली में द्वि-दलीय व्यवस्था की बहुमत की तानाशाही से मुक्ति मिल जाती है। इसमें मिले-जुले मंत्रिमंडल का निर्माण होता है, जो कभी स्वेच्छाचारी या तानाशाही का रूप धारण नहीं कर सकता। इसमें मंत्रिमण्डल को साझेदार दलों के सुझावों को स्वीकार करना पड़ता है। इससे समझौता एवं समन्वय की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है।

(पअ) प्रशासन में योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति – बहुदलीय शासन प्रणाली में संयुक्त मंत्रिमण्डल होने से भिन्न-भिन्न दलों के योग्य व्यक्तियों को मंत्रिमण्डल में शामिल किया जाता है।

(अ) राष्ट्र दो परस्पर विरोधी गुटों में विभाजित नहीं होता – बहु-दलीय पद्धति में देश दो विरोधी गुटों में बंटने से बच जाता है। यहाँ दलबन्दी की भावना उतनी बड़ी – चढ़ी नहीं होती और न दलीय अनुशासन उतना कठोर होता है जितना कि द्वि-दलीय प्रणाली में होता है।

बहु – दलीय प्रणाली के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं

(प) निर्बल तथा अस्थिर शासन बहु – दलीय मंत्रिमण्डल स्वाभाविक रूप से निर्बल तथा अस्थिर होता है। बहु-दलीय मंत्रिमण्डल ऐसे व्यक्तियों का समूह होता है जिनमें सिद्धान्तों, प्रोग्रामों, नीतियों और विचारों में कोई एकरूपता नहीं पायी जाती। ऐसा मंत्रिमण्डल यदि संयुक्त रहता भी है तो भी वह प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य नहीं कर पाता है। बहु-दलीय प्रणाली से सरकारें कई-कई छोटे-बड़े दलों द्वारा मिलकर समझौते के आधार पर बनायी जाती हैं। जहाँ किसी बात पर इनके हितों में परस्पर टकराव होता है, वहीं संयुक्त मंत्रिमण्डल टूट जाते हैं। इसका परिणाम होता – शासन में अस्थिरता तथा निर्बलता। बहु-दलीय व्यवस्था के कारण ही फ्रांस को एक लम्बे समय तक राजनीतिक अस्थिरता के दौर से गुजरना पड़ा था।

नीति की अनिश्चितता – बहुदलीय प्रणाली में सरकारों की अस्थिरता के कारण नीति की अनिश्चितता पैदा होती है जिसका शासन के समस्त स्वरूप पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

विधानकारी प्रवृत्तियों को बढ़ावा

दलों की बहुलता विघटनकारी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देती है। भिन्न-भिन्न मत रखने वालों में अलगाव के तत्व गहरे पैठ जाते हैं जो फूट डालकर नये छोटे-छोटे दलों को जन्म देते हैं।

उत्तरदायित्व का अभाव

बहु – दलीय व्यवस्था में उत्तरदायित्व को निश्चित करना कठिन हो जाता है। इसमें प्रत्येक दल श्रेय तो प्राप्त करना चाहता है लेकिन त्रुटियों के लिए प्रत्येक दल दूसरे घटक दल को उत्तरदायी ठहराता है। इस प्रकार इसमें उत्तरदायित्व का अभाव पाया जाता है

(अ) कार्यकुशलता में कमी – बहु-दलीय व्यवस्था के अन्तर्गत राजनीतिक दलों के नेतृत्व का ध्यान सरकार तोड़ने, गठजोड़ करने तथा किसी भी प्रकार से सरकार बनाने की ओर रहता है, ऐसी स्थिति में प्रशासनिक कुशलता में कमी आना स्वाभाविक है।

(अप) स्वार्थी नीतियों का प्रभुत्व बहु – दलीय पद्धति में सरकार जनता के निर्णय का परिणाम न होकर, चालाक और स्वार्थी रानीतिज्ञों के पारस्परिक गठजोड़ का परिणाम होती है। इससे शासन में स्वार्थी नीतियों का प्रभुत्व रहता है।

राज्यों की वृद्ध जनसंख्या और क्षेत्र की विषालता के कारण वर्तमान काल में विषय के लगभग सभी राज्यों में प्रतिनिध्यात्मक प्रजातंत्रीय शासन – व्यवस्था प्रचलित है। प्रतिनिध्यात्मक प्रजातंत्रीय शासन – व्यवस्था के अन्तर्गत जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनती है और इन प्रतिनिधियों के द्वारा शासन कार्य किया जाता है। जनता द्वारा अपने-अपने प्रतिनिधियों के निर्वाचन और प्रतिनिधियों द्वारा शासन – व्यवस्था के सुचारु संचालन की इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को पूरा करने के लिए राजनीतिक दलों का अस्तित्व अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त प्रजातांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था लोकमत पर आधारित होती है और राजनीतिक दल लोकमत के निर्माण व उसकी अभिव्यक्ति के सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन होते हैं। इसलिए मैकाइवर, ब्राइस तथा बर्क आदि विद्वानों ने प्रजातंत्र की सफलता के लिए राजनीतिक दल प्रणाली को अपरिहार्य बताया है।

लोकतंत्रक राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों की आवश्यकता

आधुनिक लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में राजनीतिक दलों की आवश्यकता को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत स्पष्ट किया गया है

(1) राज्यों की विषालता में प्रतिनिधि – लोकतंत्र में राजनीतिक दलों की आवश्यकता राज्यों की वृद्ध जनसंख्या और क्षेत्र की विषालता के कारण आधुनिक काल में विषय के लगभग सभी राज्यों में प्रतिनिध्यात्मक प्रजातंत्रीय व्यवस्था प्रचलित है। इस शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनती है और इन प्रतिनिधियों के द्वारा शासन कार्य किया जाता है। जनता द्वारा अपने-अपने प्रतिनिधियों के निर्वाचन और प्रतिनिधियों द्वारा शासन-व्यवस्था के संचालन की इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को पूर्ण करने के लिए राजनीतिकदलों का अस्तित्व अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में मैकाइवर ने लिखा है कि “राजनीतिक दलोंके बिना सिद्धान्त का एक-सा विवरण, नीति का व्यवस्थित विकास और संसदीय चुनावोंकी वैधानिक विधि का नियमन नहीं हो सकता और न ही किसी प्रकार की स्वीकृत संस्थाएँ हो सकती हैं। जिनके आधार पर कोई दल शक्ति प्राप्त कर सके या उसे स्थिर कर सके।”

(2) मानव स्वभाव के अनुकूल – प्रकृति की तरह विभिन्न व्यक्तियों के स्वभाव और विचारों में भी कुछ भिन्नता पाई जाती है। स्वभाव से ही कुछ लोग अपने विचारों के प्रति हैं, कुछ अनुदार विचारों के होते हैं और कुछ के स्वभाव में विद्रोह की भावना विद्यमान होती है। विचारों और स्वभाव की यह भिन्नता विभिन्न राजनीतिक दलों के द्वारा की प्रकट हो सकती है। अतः राजनीतिक दलों को मानवीय प्रकृति के नितान्त अनुकूल कहा जा सकता है

(3) शासन की सुदृढ़ता के लिए आवश्यक दल प्रणाली शासन को शक्ति प्रदान करती है जिससे कि शासन व्यवस्था सुगमता और दृढ़तापूर्वक चल सके । यदि जनता का प्रत्येक प्रतिनिधि व्यक्तिगत रूप से कार्य करे तो न तो सरकार स्थायी हो सकती है और न ही शासन में उत्तरदायित्व निश्चित किया जा सकता है। इस प्रकार के अनिश्चय और अविश्वास के वातावरण में शासन कार्य बहुत अधिक कठिन हो जाता है, लेकिन एक राजनीतिक दल के सदस्यों में शासन सम्बन्धी नीति की एकता होती है, अतः शासन में दृढ़ता बनी रहती है।

(4) सार्वजनिक शिक्षा का साधन राजनीतिक दल को सार्वजनिक शिक्षा प्रदान कर सर्वसाधारण जनता को सार्वजनिक समस्याओं को स्पष्ट करते हैं । जैसाकि फाइनर ने लिखा है कि “राजीतिक दल इस प्रकार कार्य करते हैं कि प्रत्येक नागरिक को सम्पूर्ण राष्ट्र का ज्ञान प्राप्त हो जाये, जो समय और प्रदेश की दूरी के कारण अन्यथा असंभव है ।”

(5) राष्ट्रीय एकता का साधन

दलीय व्यवस्था व्यक्तियों को संकुचित क्षेत्र से ऊपर उठाकर देश और राष्ट्र के कल्याण के सम्बन्ध में विचार करने के लिए प्रेरित करती हैं। इस प्रकार यह समाज में व्यापक दृष्टिकोण का विकास कर राष्ट्रीय एकता को सशुद्ध करती है। पैटरसन के शब्दों में, “राजनीतिक दल राष्ट्रीय एकता का विकास करने और उसे बनाये रखने में सहायक होते हैं।”

(6) शासन की निरंकुषता पर नियंत्रण – दलीय व्यवस्था के अन्तर्गत बहुसंख्यक दल द्वारा शासन कार्य और अल्पसंख्यक दल द्वारा शासन के विरोधी दल के रूप में कार्य किया जाता है । विरोधी दल शासन की स्वेच्छाचारिता पर रोक लगाते हुए शासन में सन्तुलन बनाए रखता है। लॉवेल ने लिखा है कि “एक मान्यता प्राप्त विरोधी दल की स्थायी उपस्थिति से निरंकुषता के मार्ग में बाधा पड़ती है ।”

(7) शासन के विभिन्न अंगों में समन्वय व सामंजस्य के लिए आवश्यक राजनीतिक दल सरकार के विभिन्न अंगों में आपसी विरोध को दूर करके उनमें पारस्परिक सहयोग और सद्भावना उत्पन्न करते हैं । संसदीय शासन प्रणाली में तो राजनीतिक दलों के आधार पर ही व्यवस्थापिका और कार्यपालिका परस्पर सम्बन्धित होती है । अध्यक्षीय शासन प्रणाली के आदर्श राज्य अमेरिका जैसे राज्य में भी राजनीतिक दलों ने व्यवस्थापिका तथा कार्यप्रणाली के गतिरोध को दूर कर शासन के दोनों अंगों में सामंजस्य स्थापित किया है ।

(8) विभिन्न मतों का संगठन मनुष्य एक विवेकशील सामाजिक प्राणी है। इस कारण मनुष्यों में मतभेदों का होना स्वाभाविक है। इसके साथ ही आधारभूत समस्याओं के संदर्भ में अनेक व्यक्तियों के एक ही प्रकार के विचार भी होते हैं। राजनीतिक दल इस प्रकार के समान विचारधारा वाले व्यक्तियों को संगठित करता है ताकि वे एक ही इकाई के रूप में कार्य कर सकें ।

यदि राजनीतिक दल नहीं होंगे, तो लोकतंत्रीय समाज में अनेक संघर्षात्मक विचार – समूह होंगे, जिनमें सामंजस्य का अभाव होगा। इस प्रकार राजनीतिक दल एक प्रकार के विचार – समूह के व्यक्तियों को अपने संगठन का सदस्य बनाकर उन्हें अनुशासित करता है, जिससे मनुष्यों में परस्पर विचारों की उदारता बढ़ती है।

(9) श्रेष्ठ कानूनों का निर्माण लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में जहाँ प्रायः सत्तारूढ़ राजनीतिक दल व्यवस्थापिका में विद्यमान विरोधी दल के सदस्य शासक दल द्वारा प्रस्तुत सभी विधेयकों की बाल की खाल उधेड़ते हैं। इस प्रकार के वाद-विवाद से विधेयकों के सभी दोष सामने आ जाते हैं, जिन्हें दूर श्रेष्ठ कानूनों का निर्माण संभव होता है ।

(10) सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास – राजनीतिक दल अनेक बार सामाजिक सुधार एवं सांस्कृतिक विकास के अनेक कार्य कर सामाजिक समानता तथा सामाजिक व राष्ट्रीय

एकता की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं जो लोकतंत्र की सफलता के लिए अति आवश्यक होती है ।

निष्कर्ष – इस प्रकार स्पष्ट होता है कि राजनीतिक दल प्रजातंत्रिक राजनीतिक व्यवस्था की धुरी के रूप में कार्य करते हैं । प्रजातांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था के कुशल संचालन के लिए राजनीतिक दलों का होना नितान्त आवश्यक है। प्रजातंत्रीय राजनीतिक यंत्र के संचालन में राजनीतिक दल तेल के तुल्य हैं।

दबाव समूह

दबाव समूह का अर्थ समान हित रखने वाले व्यक्ति अपने हितों की पूर्ति और रक्षा के लिए अपने आपको संघों या समूहों में संगठित कर लेते हैं जैसे – कृषकों, मजदूरों, उद्योगपतियों, भूपतियों, अध्यापकों, विद्यार्थियों, सरकारी कर्मचारियों आदि के संघ या समूह आदि । ये समूह अपने वर्गीय हितों की पूर्ति के लिए सरकार पर अनेक प्रकार से जब दबाव डालते हैं, तो उन्हें दबाव समूह कहा जाता है । दूसरे शब्दों में, सार्वजनिक नीति को प्रभावित करने के उद्देश्य से निर्मित 'गैर-सरकारी समूह' को दबाव समूह कहा जा सकता है।

दबाव समूह की परिभाषा दबाव समूहों की प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

1. मायरन वीनर के शब्दों में, "हित या दबाव समूहों से हमारा तात्पर्य शासन के ढाँचे के बाहर स्वेच्छिक रूप से संगठित ऐसे समूहों से होता है जो प्रशासनिक अधिकारियों की नामजदगी और नियुक्ति, विधि निर्माण तथा सार्वजनिक नीति के क्रियान्वयन को प्रभावित करने में प्रयत्नीशील रहते हैं ।

2. ओडीगार्ड के मतानुसार, "दबाव समूह ऐसे लोगों का औपचारिक संगठन है जिनके एक या अनेक सामान्य उद्देश्य एवं स्वार्थ होते हैं और जो घटनाओं के क्रम को, विशेष रूप से सार्वजनिक नीति के निर्माण और शासन को, इसलिए प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं कि वे अपने हितों की रक्षा व वृद्धि कर सकें ।"

3. मैकाइवर के अनुसार, "दबाव समूह ऐसे संगठित या असंगठित व्यक्तियों का जोड़ है जो दबाव के दाँव-पेचों का प्रयोग करता है ।"

4. हेनरी ए. टर्नर के शब्दों में, "दबाव समूह गैर-राजनीतिक संगठन है, जो सार्वजनिक नीति के चरण को प्रभावित करने का प्रयत्न करता है ।"

5. एच. जेगलर ने लिखा है कि "दबाव समूह ऐसे संगठित समूह हैं जो अपने सदस्यों को सरकारी पदों पर बैठाये बिना सरकारी निर्णयों को प्रभावित करने की जिज्ञासा रखते हैं ।" दबाव समूह की विशेषताएँ (बिंबजमतपेजपबे वित्तमेनतम लतवनच)

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर दबाव – समूह की निम्नलिखित विशेषताएँ बतायी जा सकती हैं

1. सुनिश्चित स्व- हित एवं सीमित उद्देश्य दृ दबाव समूह में वे ही व्यक्ति संगठित होते हैं जिनके हित और उद्देश्य समान हों और जिनकी एक ही प्रकार की रुचि हो । दबाव समूह केवल उन लोगों का ही प्रतिनिधित्व नहीं करते जो उनके वास्तविक सदस्य होते हैं वरन् उनका भी प्रतिनिधित्व करते हैं जो उनके सम्भावित सदस्य होते हैं और जिनके समान लक्ष्य होते हैं।

इनके अतिरिक्त दबाव समूह के एक या कुछ विशेष निश्चित लक्ष्य होते हैं और ये अपनी गतिविधियाँ इस विशेष लक्ष्य तक ही समिति रखते हैं ।

2. समाज सापेक्षता – दबाव समूहों की रचना पर सामाजिक संगठन का विशेष प्रभाव पड़ता है। औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े, परम्परागत एवं बन्द समाज में पाये जाने वाले दबाव समूहों एवं तकनीकी दृष्टि से विकसित, आधुनिक व खुले समाज में दबाव समूहों की रचना तथा कार्यप्रणाली में अन्तर होता है।

राजनीतिक सिद्धान्त

3. औपचारिक तथा अनौपचारिक रूप से संगठित दबाव समूह औपचारिक या अनौपचारिक रूप से संगठित व्यक्ति समूह होते हैं। डॉ. इकबाल नारायण तथा डी. बी. टूमेन जैसे विद्वानों का मत है कि दबाव समूहों का औपचारिक रूप से संगठित होना आवश्यक नहीं है, ये अर्ध-औपचारिक रूप से संगठित हो सकते हैं या पूर्णतया अनौपचारिक रूप से असंगठित भी हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, भारत में मजदूर संघ औपचारिक रूप से संगठित दबाव-समूह है लेकिन जाति एक बहुत प्रभावशाली किन्तु असंगठित अनौपचारिक दबाव समूह है, जिसका राजनीतिक क्षेत्र और निर्वाचनों में बहुत महत्व व प्रभाव है।

4. सीमित एवं ऐच्छिक सदस्यता दबाव समूहों का वर्गीय हितों से विशेष सम्बन्ध होता है। इसलिए इनकी सदस्यता सीमित होती है। इनके अतिरिक्त एक व्यक्ति एक समय में एक से अधिक दबाव समूह का सदस्य हो सकता है। उदाहरण के लिए वह जातिगत समूहों, उपभोक्ता समूहों, मोहल्ला संघ और श्रमिक संघ का सदस्य हो सकता है। दबाव समूह सामान्य नागरिकों के सामान्य हितों का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं, वे समाज के एक वर्ग के एक भाग का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। इनकी सदस्यता ऐच्छिक होती है।

5. शासन सत्ता में परोक्ष भूमिका दृ. सभी दबाव समूह अपने प्रकट उद्देश्यों की दृष्टि से गैर-राजनीतिक संगठन होते हैं और वे खुलकर राजनीति में भाग लेने के बजाय वरन् परदे के पीछे रह-रह कर, गुप्त रूप से राजनीतिज्ञों और राजनीतिक निर्णयों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते रहते हैं, राजनीति में उनकी भूमिका लुका-छिपी की है। वे चुनावों में अपने उम्मीदवार खड़े नहीं करते, फिर भी उम्मीदवारों के चयन को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। वे प्रचार, घूस, लालच, राजनीतिक दलों को धन देने तथा बड़े औद्योगिक संस्थानों में राजनीतिज्ञों और बड़े सरकारी अफसरों के सम्बन्धियों को ऊंची नौकरियाँ दिलाने आदि का सहारा अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लेते हैं। वे विधायक नहीं बनना चाहते, परन्तु विधायकों के मतों को प्रभावित करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि दबाव समूह तो केवल अपने हित विशेष के लिए सरकारी नीतियों और राजनीतिक ढांचे को प्रभावित करते हैं। अतः ये केवल कार्यविधि की दृष्टि से ही राजनीतिक क्रिया अभिमुखी होते हैं। ये स्वयं शासन संरचना से अलग रहते हैं। वे बिना उत्तरदायित्व वहन किये सत्ता के संघर्ष और सत्ता

के लाभों के लिए सचेष्ट रहते हैं, इस कारण कुछ विद्वान इन्हें 'अनुत्तरदायी राजनीतिक दल' भी कहते हैं।

6. संवैधानिक एवं असंवैधानिक साधनों का प्रयोग

दबाव समूह का प्रमुख लक्ष्य विशेष हितों की पूर्ति ही होता है। अपने हितों की पूर्ति के लिए वे उचित और अनुचित, संवैधानिक और असंवैधानिक सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग करने से भी नहीं हिचकते हैं।

7. उद्देश्य – सापेक्ष कार्यकाल दबाव समूह अपने विशेष हितों की पूर्ति के लिए ही अस्तित्व में आते हैं और उद्देश्य प्राप्ति के बाद इनका अस्तित्व स्वतः समाप्त हो जाता है। इस प्रकार इनका कार्यकाल उद्देश्य सापेक्ष होता है। ये बनते हैं और समाप्त होते रहते हैं।

8. सर्वव्यापक प्रकृति दृ. दबाव समूह सर्वव्यापी है। वे प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में पाये जाते हैं। ये सर्वाधिकारवादी का स्वेच्छाचारी राज-व्यवस्था में भी विद्यमान होते हैं। रॉबर्ट सी. बोन अनुसार, "दबाव समूह सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में यहाँ तक कि सर्वाधिकारवादी राज्यों में भी पाये जाते हैं। केवल यह तथ्य कि दबाव समूह साम्यवादी राज्यों में भी होते हैं, उनकी सर्वव्यापकता का प्रमाण है।" सर्वसत्तावादी राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूहों की संख्या सीमित होती है और वे अप्रकट रूप से कार्य करते हैं। लोकतांत्रिक

राजनीतिक व्यवस्था दबाव समूहों के लिए अधिक अनुकूल होती है और इसलिए इसमें दबाव समूहों की संख्या पर्याप्त होती है और वे प्रकट रूप से भी कार्य करते हैं ।

प्रो. एच. फाइनर ने दबाव समूहों को 'अज्ञात (गुमनाम) साम्राज्य' की संज्ञा दी है। डी. डी. मैकियन ने इन्हें 'अदृश्य शासन' कहा है। सेलिन और लाम्बर्ट ने इन्हें 'गैर-सरकारी शासन' कहा है । एक अन्य लेखक ने इन्हें 'विधान मण्डल के पीछे विधान मण्डल' कहा है।

दबाव समूह के गुण दबाव समूह के प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं

(1) जनतांत्रिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति के साधन दबाव समूह विभिन्न तरीकों से विषिष्ट नीतियों के समर्थन या विरोध में, लोकमत को शिक्षित करके, आँकड़े इकट्ठे करके अपने अभीष्ट की प्राप्ति करते हैं। इस प्रकार दबाव समूह जनतांत्रिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति के साधन बन गये हैं ।

(2) शासन के लिए सूचनाएँ एकत्रित करने वाले संगठन शासन की सूचनाओं के गैर-सरकारी स्रोत के रूप में दबाव समूह महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं । वे आँकड़े इकट्ठे करते हैं यथोचित करते हैं तथा सरकार को कठिनाइयों से परिचित कराते हैं ।

(3) शासन को प्रभावित करने वाले संगठन दबाव समूहों के पास इस दृष्टि से पर्याप्त शक्ति होती है कि वे अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए सरकारी मशीनरी पर सफल प्रभाव डाल सकें
(4) सरकार की निरंकुषता को सीमित करना निरंकुषता को भी परिसीमित करते हैं ।

(5) समाज व शासन में सन्तुलन स्थापित करना

दबाव समूह अपने साधनों द्वारा सरकारी समाज में व्याप्त सभी दबाव समूहय

जैसे – व्यापारी, श्रमिक, किसान, जातीय समुदाय, स्त्रियाँ और धार्मिक समुदाय आदि सभी अपने स्वयं के हितों को प्राप्त करना चाहते हैं, किन्तु उन्हें परस्पर प्रतियोगिता करनी पड़ती है। इससे शासन व समाज में एक सन्तुलन स्थापित हो जाता है ।

(6) व्यक्ति और सरकार के मध्य संचार के साधन दबाव समूह नागरिक और सरकार

के बीच संचार साधन का भी कार्य करते हैं। रॉडो के अनुसार, "निर्वाचित नेता इन समूहों के माध्यम से अपने निर्वाचकों की इच्छा-आकांक्षाओं का पता लगा लेते हैं। अतः इन्हें गैर-सरकारी संचार-सूत्र कहा जा सकता है ।"

दबाव समूह के दोष

दबाव समूह के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं—

(1) संकीर्णता के प्रतीक

दबाव समूह विशेष हितों का प्रतिनिधित्व करने के कारण अपने सदस्यों में संकीर्ण दृष्टिकोण को जन्म देते हैं जो राष्ट्र और समाज के व्यापक हितों के विरुद्ध होते हैं ।

(2) अप्रजातांत्रिक दबाव समूह राजनीतिक प्रभाव और शक्ति का तो प्रयोग करते हैं, लेकिन अपनी इस स्थिति के लिए किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। अनुत्तरदायी रूप से राजनीतिक प्रभाव और शक्ति का प्रयोग किये जाने के कारण इन्हें अप्रजातांत्रिक कहा जाता है ।

(3) सार्वजनिक हितों की उपेक्षा अधिक शक्तिशाली और साधनयुक्त दबाव समूह अपना सामूहिक दबाव डालकर अपनी अनुचित माँगों की पूर्ति करते हैं। इससे महत्वपूर्ण सार्वजनिक हितों की उपेक्षा होती है ।

(4) भ्रष्ट आचरण

दबाव समूह भ्रष्ट आचरण के केन्द्र हैं। उनके द्वारा विधायकों को रिषत देने तथा अन्य अनुचित व अनैतिक आचरण के कार्य भी किए जाते हैं जिनका सार्वजनिक जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

राजनीतिक सिद्धान्त

(5) कमजोर वर्गों के हितों की उपेक्षा समाज में कुछ वर्ग ऐसे होते हैं जो असंगठित होते हैं और संगठित दबाव समूह इन कमजोर वर्गों की स्थिति का अनुचित लाभ उठाते हैं। उदाहरण के लिए भारत से ईट उद्योग में लगा श्रमिक वर्ग असंगठित है और ईट भट्टा मालिक संघ इनको बन्धुआ मजदूर बनाकर इनका शोषण करता है।

(6) राष्ट्रीय चरित्र को कमजोर करना – विभिन्न दबाव समूह अपने-अपने स्वार्थों पर बल देते हैं और इनकी प्राप्ति के लिए गैर-कानूनी, अनैतिक एवं दबाव साधनों को भी अपनाते हैं। इससे साधारण नागरिक यह निष्कर्ष निकालता है कि सफलता के लिए अनैतिक साधनों को अपनाना अनुचित नहीं है। इससे साधारण नागरिक के राष्ट्रीय चरित्र का स्तर गिरता है।

(7) अन्तर्राष्ट्रीयता में बाधक अनेक बार दबाव समूह अन्तर्राष्ट्रीय शांति में भी बाधा डालते हैं। उदाहरण के लिए, पश्चिमी देशों के अस्त्र निर्माण और उनके क्रय-विक्रय को प्रोत्साहित करने वाले ऐसे कुछ दबाव गुट हैं जो अपने लाभ के लिए तनाव की स्थिति और युद्ध के वातावरण को बनाए रखने का प्रयत्न करते हैं।

दबाव समूहों और राजनीतिक दलों में अन्तर

(वर्षाभितमदबमे इमजूममद च्त्मेनतम ळतवनचे 'दक च्वसपजपबंस च्त्तजपमे)

दबाव समूहों और राजनीतिक दलों में उद्देश्यों और कार्यक्षेत्र के आधार पर निम्नलिखित अन्तर हैं –

1. सत्ता प्राप्ति के सम्बन्ध में अन्तर दबाव समूह न तो राजनीतिक सत्ता प्रदान करने का प्रयत्न करते हैं और न ही अपने सदस्यों को पद दिलाने की इच्छा रखते हैं, वे तो विभिन्न तरीकों से निर्वाचित पदाधिकारियों, विधायकों और सरकारी कर्मचारियों पर प्रभाव डालने का प्रयास करते हैं, जिससे उनके उद्देश्यों की पूर्ति हो जाए। दबाव समूह षासक नहीं 'षासक निर्माता' होते हैं।

दूसरी तरफ, राजनीतिक दल राजनीति में प्रत्यक्ष रूप से सक्रिय भाग लेते हैं, चुनाव लड़ते हैं और जीतने पर राजनीतिक पद प्राप्त करते हैं। सत्ता प्राप्त कर वे सार्वजनिक नीतियाँ निर्धारित कर उन्हें लागू करते हैं।

2. कार्य – विधि के आधार पर अन्तर दबाव समूह निर्वाचन के समय कोई घोषणा – पत्र नहीं निकालते और न ही अपने उम्मीदवार खड़े करते हैं, वे तो राजनीतिक दल के चुनाव के लिए उम्मीदवारों के चयन पर प्रकाश डालते हैं और जो दल उनकी इच्छाओं की पूर्ति करे, उसे आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं।

दूसरी ओर, चुनाव राजनीतिक दलों का सत्ता प्राप्त करने का माध्यम होता है। राजनीतिक दल चुनाव घोषणा-पत्र निकालते हैं, उम्मीदवारों को खड़ा करते हैं, धुआँधार प्रचार करते हैं और चुनाव जीतने पर सत्ता प्राप्त कर अपने चुनाव घोषणा-पत्र के आधार पर षासन करते हैं।

3. सदस्यता की प्रकृति में अन्तर एक ही व्यक्ति एक ही समय पर अपने विविध हितों के आधार पर अनेक दबाव समूहों का सदस्य हो सकता है जैसे

जैसे – एक शिक्षक, उपभोक्ता संघ और शिक्षक संघ, मौहल्ला संघ, जातिगत समूह आदि का सदस्य हो सकता है। दबाव समूह एक षिथिल

संगठन होता है और इसके सदस्यों की निजी स्वतन्त्रता बनी रहती है।

दूसरी ओर एक व्यक्ति एक समय पर केवल एक ही राजनीतिक दल का सदस्य हो सकता है। इसी कारण राजनीतिक दल के सदस्यों की अपने दल के प्रति भक्ति एकाग्र होती है, अतः

राजनीतिक दल के सुदृढ़ संगठन होते हैं।

4. संगठन के आकार के आधार पर अन्तर राजनीतिक दल बड़े संगठन होते हैं। भारत, अमेरिका आदि देशों में इसके लाखों-करोड़ों सदस्य होते हैं। इसके विपरीत दबाव समूह आकार और सदस्यता की दृष्टि से अपेक्षाकृत बहुत छोटे होते हैं।

5. उद्देश्य के आधार पर अन्तर दबाव समूहों और राजनीतिक दलों के बीच अन्तर का एक अन्य आधार उद्देश्य है। दबाव समूह किसी वर्गीय समूह के हितों की पूर्ति का उद्देश्य रखते हैं। इनके उद्देश्य विषिष्ट तथा सुस्पष्ट होते हैं जो इनके लाभ से संबन्धित होते हैं। दूसरी तरफ राजनीतिक दलों के उद्देश्य सामान्य और सम्पूर्ण समाज व राष्ट्र – हित की साधना से सम्बन्धित होते हैं।

6. कार्य-क्षेत्र सम्बन्धी अन्तर दोनों में एक अन्य अन्तर कार्य-क्षेत्र सम्बन्धी बताया जा सकता है। इनके ऊपर दबाव और व्यापक होता है, क्योंकि उसे करोड़ों मतदाताओं का समर्थन पाना होता है और विषाल कार्यक्रम के आधार पर सामान्य समस्याओं से निपटना होता है

7. संगठन की प्रकृति सम्बन्धी अन्तर राजनीतिक दल अनिवार्य रूप से संगठित होते हैं और उनके संगठन की प्रकृति राजनीतिक होती है, किन्तु दबाव समूह संगठित अथवा असंगठित हो सकते हैं और इनके संगठन की प्रकृति गैर-राजनीतिक होती है।

8. विचारधारा सम्बन्धी अन्तर दबाव समूह उन व्यक्तियों का समूह होता है जिनके किसी विशेष विषय पर समान हित और समान दृष्टिकोण होते हैं। विचारधारा की दृष्टि से दबाव समूह अधिक संयुक्त और सजातीय संगठन होता है और इसलिए राजनीतिक दृष्टि से यह प्रभावशाली होता है।

दूसरी ओर, यद्यपि राजनीतिक दल के सदस्यों में आधारभूत बातों पर मतैक्य होता है, फिर भी विस्तृत नीति के सम्बन्ध में उनमें मतभेद हो सकते हैं। राजनीतिक दल का आधार और उसके उद्देश्य व्यापक होते हैं। राजनीतिक दलों को समाज के अनेक वर्गों का समर्थन प्राप्त होता है।

9. स्वरूप सम्बन्धी अन्तर दबाव समूह उन्हीं व्यक्तियों का समूह होता है जिनके विशेष मुद्दे (विषय) के सम्बन्ध में समान हित और समान रुचि होती है। विचारों की यह संगति दबाव समूह को एकता और सजातीयता प्रदान करती है और राजनीतिक दृष्टि से उसे प्रभावी बनाती है।

दूसरी तरफ राजनीतिक दल व्यापक सामाजिक व राजनीतिक कार्यक्रम पर आधारित होते हैं। उनके उद्देश्य व कार्य बहुरूपी होते हैं। अतः उनमें उस सीमा तक सजातीयता और एकता की स्थिति नहीं होती, जो दबाव समूहों में देखी जाती है।

10. साधन सम्बन्धी अन्तर राजनीतिक दल अपने लक्ष्य प्राप्ति के लिए केवल संवैधानिक साधन ही अपना सकते हैं, जबकि दबाव – समूह द्वारा आवश्यकतानुसार संवैधानिक और असंवैधानिक सभी प्रकार के साधन अपनाये जा सकते हैं।

दबाव व समूह के कार्य व भूमिका एवं उनका महत्व

MATs Centre for Distance and Online Education, MATs University

लोकतांत्रिक व्यवस्था में दबाव समूह न केवल आवश्यक वरन् वांछनीय हैं। दबाव समूहों के प्रमुख कार्य तथा लोकतांत्रिक व्यवस्था में उनका महत्व निम्नलिखित है

(1) वर्गीय हितों में तालमेल बैठाना

दबाव समूह लोकतान्त्रिक व्यवस्था में विद्यमान

विभिन्न वर्गों की माँगों तथा रचनात्मक विचारों में तालमेल बिठाकर सामाजिक असन्तोष तथा गुटीय हताशा पैदा करने वाले तत्वों को रोकते हैं। वे प्रायः मध्यम मार्ग अपनाते हैं और इस तरह वर्गीय एकता को भी बनाए रखते हैं।

(2) जनतांत्रिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति के साधन

विभिन्न देशों में दबाव समूह अपने कार्यों से लोकतांत्रिक प्रक्रिया एवं शासन के अनुपूरक की भूमिका निभाते हैं। वे लोकमत को शिक्षित करके, आंकड़े इकट्ठे करके, नीति-निर्माताओं के पास आवश्यक सूचनाएँ पहुँचाकर अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिए प्रयास करते हैं और ये सभी कार्य जनतांत्रिक प्रक्रिया के अंग बन गये हैं। इस प्रकार दबाव समूह लोकतंत्र की अभिव्यक्ति के महत्वपूर्ण साधन हैं।

समान रुचि वाले व्यक्तियों को संगठित करना दबाव समूह का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य है – समान रुचि वाले व्यक्तियों को गुटों में संगठित होने का अवसर प्रदान करना। ऐसा करके वे व्यक्तियों को षक्तिशाली तथा प्रभावशाली आधार प्रदान करते हैं।

(4) विषिष्ट राय प्रदान करना दबाव समूह अत्यधिक जटिल प्रश्नों पर विधायकों को विषिष्ट राय प्रदान करते हैं।

(5) विभिन्न विरोधी वर्गों में सन्तुलन बैठाना एक ही समाज में ऐसे वर्ग पाये जाते हैं जिनके हित परस्पर विरोधी होते हैं और इनमें से प्रत्येक वर्ग शासन सत्ता पर अपना प्रभाव स्थापित करके अपना हित पूरा करना चाहता है और विरोधी वर्ग की हानि चाहता है। विभिन्न विरोधी वर्गों से सम्बन्धित दबाव समूह एक-दूसरे के प्रभाव को सीमित करते हैं और इस प्रकार अन्त में उनके बीच विवेकपूर्ण एवं व्यावहारिक सन्तुलन स्थापित होता है।

(6) शासन के लिए सूचनाएँ एकत्रित करना प्रत्येक देश में सरकार तथा शासन के पास आवश्यक सूचनाएँ पर्याप्त रूप से होनी आवश्यक हैं। शासन की सूचनाओं के गैर-सरकारी स्रोत के रूप में दबाव समूह महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करते हैं। वे आंकड़े एकत्रित करते हैं, षोध करते हैं तथा सरकार को अपनी कठिनाइयों से परिचित कराते हैं।

(7) सूचनायें प्रसारित करना दबाव समूह सार्वजनिक विषयों पर सूचनाएँ प्रसारित करते हैं। अपने सदस्यों के हितों को लॉबीइंग द्वारा सुरक्षित रखने का प्रयास करते हैं। विधायकों और निर्णय लेने वाले अधिकारियों को अपने हितों से अवगत कराते हैं। इसके साथ ही साथ वे अपने सदस्यों को शासन की नीति और कार्यों के बारे में जानकारी और सूचनाएँ प्रदान करते हैं। इस प्रकार ये शासन के कार्य और अपने हित के बीच सूचना केन्द्र के रूप में कार्य करते हैं।

(8) भौगोलिक प्रतिनिधित्व के पूरक दबाव समूह भौगोलिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली पूरक हैं।

विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली क्षेत्रीय प्रणाली का प्रतिनिधित्व करते हैं जिससे क्षेत्रीय हितों में एकरूपता आती है और सामान्य कल्याण की सुरक्षा होती है।

(9) जनमत निर्माण में सहायक दबाव समूह अपने कुछ उद्देश्यों के लिए व्यापक प्रचार कर जनमत निर्माण का कार्य करते हैं। आवश्यकता पड़ने पर आन्दोलनों के माध्यम से किसी नीति विषेश के पक्ष या विपक्ष में वातावरण निर्माण करते हैं।

(10) राजनीतिक दलों की सहायता

दबाव समूह राजनीतिक दलों के साथ सहयोग कर

उम्मीदवारों के चयन तथा धनराशि के क्षेत्र में दलों की सहायता करते हैं ।

(11) उद्देश्यों की पूर्ति दबाव समूह विधायकों तथा प्रशासनिक अधिकारियों को अनुकूल नीति अपनाने के लिए बाध्य करते हैं तथा शासन अधिकारियों से निजी सम्पर्क बढ़ाकर अपने उद्देश्यों के औचित्य को सिद्ध करते हैं ।

(12) सामाजिक संघर्ष को कम करने में सहायक विभिन्न विचारों के सदस्यों के बीच के संघर्ष को कम करते हैं ।

(13) सरकार की निरंकुशता को सीमित करना सरकारी निरंकुशता को परिसीमित करते हैं ।

ये माध्यस्थ की भूमिका निभाते हुए दबाव समूह अपने साधनों द्वारा

(14) समाज और शासन में संतुलन स्थापित करना – व्यापारी, श्रमिक, किसान जातीय समुदाय, धार्मिक समुदाय आदि सभी समूह अपने स्वयं के हितों को प्राप्त करना चाहते हैं, किन्तु उनको एक-दूसरे से प्रतियोगिता करने के लिए मजबूर किया जाता है। इससे विभिन्न हितों के बीच संतुलन – सा बना रहता है। इसके परिणामस्वरूप समाज और शासन में संतुलन स्थापित हो जाता है और इस प्रकार कोई भी एकमात्र प्रभावशाली सत्ता स्थापित नहीं हो पाती ।

(15) व्यक्ति और सरकार के मध्य संचार के साधन

दबाव समूह लोकतांत्रिक राज्यों में व्यक्तिगत हितों का राष्ट्रीय हितों के साथ सामंजस्य स्थापित करते हैं । निर्वाचित नेता दबाव समूहों के माध्यम से अपने निर्वाचकों की इच्छा-आकांक्षाओं का पता लगा लेते हैं । अतः इन्हें गैर-सरकारी संचार सूत्र कहा जा सकता है ।

(16) क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व के पूरक – वर्तमान समय में प्रजातान्त्रिक प्रणाली में सामान्यतया क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व की प्रणाली को अपनाया जाता है। इसमें कुछ विषय प्रकार के व्यवसायों में संलग्न व्यक्तियों के हितों को प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हो पाता है । ये व्यक्ति अपने हितों की रक्षा एवं वृद्धि के लिए दबाव गुटों के रूप में संगठित हो सकते हैं। इस प्रकार ये दबाव समूह दलीय पद्धति में व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के कार्य को सम्पन्न करते हैं तथा क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व की कमी को दूर कर देते हैं। इसलिए प्रजातंत्र में ये क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व के पूरक की भूमिका निभाते हैं ।

निश्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि दबाव समूह उस आधार को जन्म देते हैं, जिनके बल पर लोकतंत्र और राष्ट्रीय एकता को प्राप्त किया जा सकता है।

दबाव समूहों का वर्गीकरण या प्रकार (बेसंपिबंजपवद वत जलचमे वचित्तेमेनतम ळतवनचे)

दबाव समूहों का वर्गीकरण करना कठिन है। ये समय, परिस्थिति, आवश्यकता और हितों पर निर्भर करते हैं। समाज में जितने अधिक हित, वर्ग या समूह होंगे उतने ही अधिक दबाव – समूह होंगे । सामान्यतः कुछ दबाव – समूह स्थायी होते हैं, तो कुछ अस्थायी । कुछ दबाव – समूह संगठित होते हैं, तो कुछ असंगठित य कुछ दबाव समूह आकार में बड़े होते हैं, तो कुछ छोटे । कुछ दबाव – समूह व्यावसायिक तथा वर्गीय प्रकृति के होते हैं, तो कुछ धार्मिक और सामाजिक प्रकृति के और कुछ आर्थिक एवं औद्योगिक प्रकृति के । कुछ दबाव – समूह उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं के, कुछ मालिकों एवं श्रमिकों के और कुछ सांस्कृतिक एवं साम्प्रदायिक होते हैं ।

विद्वानों ने भिन्न-भिन्न आधारों पर दबाव – समूहों को भिन्न-भिन्न प्रकारों में विभाजित किया है। ब्लॉण्डेल के अनुसार दबाव समूहों का निर्माण कुछ प्रेरक तत्वों के आधार पर होता है। इस आधार पर उसने दबाव समूहों को दो प्रकारों में विभाजित किया है

राजनीतिक सिद्धान्त

1. सामुदायिक समूह

2. संघात्मक समूह

आमण्ड ने समस्त दबाव समूहों को उनके चारित्रिक लक्षणों के आधार पर चार वर्गों में विभाजित किया है। ये हैं – (1) संस्थात्मक समूह (2) संघात्मक समूह (3) सामुदायिक दबाव समूह तथा (4) असामुदायिक या परम्परागत सामुदायिक दबाव समूह (5) प्रदर्शनात्मक समूह

यहाँ पर दबाव समूहों के इन प्रमुख प्रकारों का विवेचन निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत किया गया है—

(1) संस्थागत (पदेजपजनपवदंस) दबाव- समूह संस्थागत दबाव – समूह व्यवस्थापिकाओं, नौकरशाही, सेवा तथा कार्यपालिकाओं में ही कुछ हित विषेशों के इर्द-गिर्द बनने वाले समूहों को कहा जाता है। ये आन्तरिक समूह हैं जो शासनतन्त्र के अन्दर ही विषेश हितों की रक्षा या पूर्ति के लिए क्रियाशील रहते हैं। उदाहरण के लिए, भारत में, संसद, नौकरशाही तथा राजनीतिक दलों में ऐसे अनेक समूह देखे जा सकते हैं। इनका सामान्यतः औपचारिक संगठन नहीं होता है।

(2) संघात्मक समूह

जब किसी विषेश उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दबाव समूह का निर्माण होता है, तो इसे संघात्मक समूह कहते हैं। इस प्रकार के समूह आधुनिक औद्योगिक समाज की देन है।

संघात्मक समूह दो प्रकार के होते हैं संरक्षणात्मक समूह तथा उत्थानात्मक समूह (क्षेत्रवजपवदंस हतवनचे)। संरक्षणात्मक समूह अपने से संबंधित वर्ग के हितों का संरक्षण करता है, जैसे श्रमिक संघ तथा मिल – मालिक संघ आदि। उत्थानात्मक समूह का उद्देश्य समाज के सामान्य हित की रक्षा एवं उन्नति होती है, जैसे— नारी स्वातंत्र्य संघ, सर्व सेवा संघ, मानवाधिकार संघ आदि।

सामुदायिक दबाव- समूह, विषेश

(3) सामुदायिक (वर्गपंजपवदंस) दबाव समूह व्यक्तियों के हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिए औपचारिक रूप से संगठित होते हैं। इनका विषेश व सुनिश्चित लक्ष्य होता है। यह औपचारिक संगठन समूह के नियमों (संविधान) पर आधारित होता है। सदस्यता के निश्चित नियम तथा शुल्क होते हैं। इनकी नीति निर्धारण संस्था – कार्यकारिणी आदि होती हैं। इनके पास सतत प्रयत्नशील कर्मचारी होते हैं। प्रायः अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वे विधि – सम्मत प्रक्रिया का ही उपयोग करते हैं। श्रमिक संघ, विद्यार्थी संघ, व्यापारिक संघ, शिक्षक संघ तथा कृषक संघ ऐसे ही दबाव – समूहों की श्रेणी में आते हैं।

(4) असामुदायिक

या परम्परागत सामुदायिक दबाव समूह गैर-सामुदायिक या परम्परागत सामुदायिक दबाव समूह उन समूहों को कहा जाता है जो जाति या वर्ग, रक्त सम्बन्ध, धर्म, प्रजाति, क्षेत्रीयता आदि के किसी परम्परागत आधार पर बनते हैं। धार्मिक,

(5) प्रदर्शनात्मक या अनियमित (।दवउपब) दबाव समूह ये दबाव समूह होते हैं जो भीड़ व प्रदर्शन आदि के रूप में अनायास प्रकट व विलुप्त होते रहते हैं। ये प्रदर्शनों, जुलूसों, दंगों, धरनों, हड़तालों आदि के रूप में प्रकट होकर अचानक ही प्रभावी हो जाते हैं। इनका राजनीतिक व्यवस्था में प्रवेश इनके चमत्कारी व्यवहार से होता है। इनकी अनायास प्रकट होने की प्रकृति के कारण ये प्रायः सीमाओं व निश्चित प्रतिमानों के भीतर नहीं रह पाते हैं। फ्रांस, इटली, लैटिन अमेरिका में ऐसे समूह बनते-बिगड़ते रहते हैं ।

सारांश

लोकतांत्रिक व्यवस्था में समय परिस्थिति आवश्यकता और हितों पर आधारित स्थायी एवं अस्थायी दबाव समूह बनते बिगड़ते हैं, और अपने चमत्कारिक क्रिया कलापों और व्यवहारों से राजनीतिक व्यवस्था में प्रवेश कर अपने हित साधन का काम करते हैं। मूलरूप से प्रदर्शनों, जुलूसों दंगों, धरनों, हड़तालों, कभी-कभी अनशन और आमरण अनशन का सहारा लेकर राजनीतिक व्यवस्था पर दबाव डालते हैं और उद्देश्यों को सफलीभूत करते हैं ।

अभ्यास-प्रश्न

भिन्न होते हैं ।

राजनीतिक दलों के प्रमुख कार्यों का वर्णन करें ।

राजनीतिक दलों के अर्थ एवं लक्षण क्या होते हैं तथा वे दबाव समूह से किस प्रकार

दलीय प्रणाली के प्रमुख रूपों का वर्णन करें ।

द्वि-दलीय प्रणाली के दोषों की समीक्षा करें।

लोकतंत्र की सफलता में राजनीतिक दलों की भूमिका स्पष्ट करें।

दबाव – समूह को परिभाषित करते हुए इसकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन

दबाव समूह के कार्य एवं भूमिका पर टिप्पणी लिखें।

संदर्भ ग्रंथ सूची :-

- 1- भारतीय संविधान, लेखक एम. लक्ष्मीकांत, प्रकाशक Mc Graw-Hill Education, प्रकाशन वर्ष 2023
- 2- भारतीय शासन और राजनीति, वी. पी. वर्मा, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, 2021
- 3- भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, गोपाल कृष्ण, राजकमल प्रकाशन, 2020
- 4- राजनीतिक सिद्धांत, ओ. पी. गायकवाड, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, 2022
- 5- आधुनिक राजनीतिक विचारक, सुरेंद्र प्रताप सिंह, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स , 2021
- 6- भारतीय विदेश नीति, कु. एल. शर्मा, साहित्य भवन, 2019
- 7- भारतीय लोकतंत्र, राजीव भार्गव, राजकमल प्रकाशन, 2023
- 8- राजनीति शास्त्र का परिचय, सुरेश मिश्रा, विकास पब्लिशिंग हाउस, 2022
- 9- शासन और प्रशासन, राम अवधेश सिंह, किताब महल, 2020
- 10- भारत का संविधान और राजनीति, पी. एम. बखशी, यूनिवर्सल लॉ पब्लिशिंग, 2021

MATS UNIVERSITY

MATS CENTRE FOR DISTANCE AND ONLINE EDUCATION

UNIVERSITY CAMPUS: Aarang Kharora Highway, Aarang, Raipur, CG, 493 441

RAIPUR CAMPUS: MATS Tower, Pandri, Raipur, CG, 492 002

T : 0771 4078994, 95, 96, 98 Toll Free ODL MODE : 81520 79999, 81520 29999

Website: www.matsodl.com

